शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः
अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

द्वितीय-तृतीयाध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता • वृन्दावनम्

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[द्वितीय-तृतीयाध्यायात्मको भागः]

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

भाषानुवादकः

डॉ० प० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकरः

मीमांसा-वेदान्त-साहित्याचार्यः, एम० ए०, पी-एच० डी०

सम्पादकः

प० व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचर आचार्यश्च

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्

कलकत्ता • वृन्दावन

श्रीवृन्दावनम् प्रथमसंस्करणम् संवत् २०४६

प्रकाशक—

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्
कलकत्ता ● वृन्दावन

●

मूल्य : साठ रुपये मात्र

●

●

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

१. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो कैमिकल्स लिमिटेड
११३, पार्क स्ट्रीट, साततल्ला, कलकत्ता

२. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारदघाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

५. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई० ४/२४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली—८

मुद्रक—

तारा प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी



परब्रह्मस्वरूप

धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

भूमिका

अनन्तश्रीविभूषित-जगद्गुरुशङ्कराचार्य-पूर्वाम्नायगोवर्द्धनमठपुरीपीठाधीश्वर

स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवजी तीर्थ महाराज

वेदं वेदनिधिं विद्यां ब्रह्मविद्यां गणाधिपम् ।
सरस्वतीं गुरून् सर्वान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

भूमिका स्वामिपदानां भाष्यस्येयं निगद्यते ।
सारभूतैकविंशत्या विदुषां प्रीतिहेतवे ॥ २ ॥

स्वस्वरूपस्थितिर्मोक्षो वेदस्यैकं प्रयोजनम् ।
भगवद्भक्तियोगश्च द्वितीयं तत्प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

अत्रावतारवादोऽपि बहुधा सम्प्रकीर्तितः ।
मन्त्रोऽयं स्पष्टमेवाह 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' ॥ ४ ॥

शक्या एतादृशा मन्त्राः समुद्धर्तुं सहस्रशः ।
सगुणत्वं भगवतः साकारत्वं च साधितुम् ॥ ५ ॥

कर्मकाण्डप्रवृत्तिश्च वेदोद्देश्यं तृतीयकम् ।
कर्मणामननुष्ठानात् चित्तशुद्धिः कथं भवेत् ॥ ६ ॥

कर्मोपासनबोधाख्यं त्रयं वेदेन बोध्यते ।
कर्मभिश्चित्तशुद्धिः स्याद् भक्त्या चैकाग्रता भवेत् ॥ ७ ॥

ततो ज्ञानेन मुक्तिः स्यादेष वेदस्य डिण्डिमः ।
सायणाचार्यपादेन महीधरबुधेन च ॥ ८ ॥

विदुषा चोव्वटेनापि तथा व्याख्यानमीरितम् ।
परं प्रयोजनं मोक्षो वेदस्यास्तीति निश्चितम् ॥ ९ ॥

अवान्तरं तथाप्यस्ति कर्मज्ञानं प्रयोजनम् ।
यज्ञादीनि च कर्माणि प्रशस्तानि बुधैः सदा ॥ १० ॥

अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं श्रुति-स्मृतिमतानि हि ।
'तमेतं ब्राह्मणा' नूनं 'यज्ञेने'त्यादि वेदवाक् ॥ ११ ॥

ज्ञानेच्छायां नियोगं तु यज्ञादीनां ब्रवीति हि ।
अत एव महाभागैः सायणाद्यैः प्रकीर्तिताः ॥ १२ ॥

वेदार्थास्ते समीचीना नान्यैरुक्ताः कथञ्चन ।
इतिहासपुराणैश्च सूत्रवाक्यैस्तथैव च ॥ १३ ॥

निरुक्तैः प्रातिशाख्यैश्च शिक्षाव्याकृतिभिस्तथा ।
मन्वादिस्मृतिकारैश्च याज्ञिकार्थाः सुसम्मताः ॥ १४ ॥

इदानीन्तनविद्वद्भिर्दयानन्दादिभिस्तु यैः ।
पाश्चात्यैरपि यैः कैश्चिद् भारतीयैस्तदाश्रितैः ॥ १५ ॥

वेदार्था ये कृतास्ते वै न सत्या इति दर्शितम् ।
करपात्रमहाभागैस्ततो भाष्यं प्रकीर्तितम् ॥ १६ ॥

अत्र सर्वोऽपि वेदार्थः समीचीन उदीरितः ।
शिक्षाव्याकृतिकल्पादिसम्मतोऽथ निरुक्तगः ॥ १७ ॥

सर्वथानुमतः सत्य इतिहासपुराणगः ।
पूर्वैराचार्यवर्यैश्च मन्वादिस्मृतिभिस्तथा ॥ १८ ॥

अनुमोदित एवार्थः स्वामिपादैः प्रकीर्तितः ।
एतेषां सर्वशास्त्राणां ज्ञानं येषां न विद्यते ॥ १९ ॥

अज्ञात्वा भाष्यमेतत् ते खण्डनं कर्तुमुद्यताः ।
एतेनैव परास्तास्ते नोत्तरं तेषु विद्यते ॥ २० ॥

व्यर्थं ते खण्डनं कस्मात् कुर्वन्त्यविधिनोदिताः ।
इदं ते किं न जानन्ति स्यात्तु मोदकखण्डिका ॥ २१ ॥

—श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थः

वेद, वेदनिधि परमात्मा, वेद का ज्ञान कराने वाली अपरा विद्या, परब्रह्म का ज्ञान कराने वाली परा विद्या-ब्रह्मविद्या, विघ्नविनायक गणेश, सम्पूर्ण विद्याओं की अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती और सर्वविध ज्ञानों के स्रोत अपने सभी गुरुजनों को बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

विद्वानों की प्रसन्नता के लिये अनन्तश्री धर्मसम्राट् ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज द्वारा विरचित वेदभाष्य की सारभूता 'भूमिका' इक्कीस श्लोकों में लिख रहा हूँ ॥ २ ॥

'स्वरूप स्थिति मोक्ष का स्वरूप है'—जहाँ से कभी लौटकर नहीं आना पड़ता वही 'मोक्ष' वेदों का परम प्रयोजन, अर्थात् प्रधान प्रयोजन है । 'मोक्षोपयोगी भगवद्भक्ति का लाभ' भी वेदों का अवान्तर प्रयोजन है ॥ ३ ॥

इसी प्रसंग में वेदों के मन्त्र और ब्राह्मण भाग में भगवद्भक्ति के अत्यन्त उपयोगी भगवान् के सगुण-साकार विग्रह और अवतारवाद का भी निरूपण है । **'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पा॑ᳪसुरे स्वाहा'** (शुक्लयजुर्वेदसंहिता ५.१५) इत्यादि अनेक मन्त्रों में भगवान् के वामन अवतार का स्पष्ट प्रतिपादन उपलब्ध है ॥ ४ ॥

ऐसे और भी हजारों मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनसे भगवान् का सगुण-साकार रूप स्वतः स्पष्ट सिद्ध हो जाता है ॥ ५ ॥

कर्मकाण्ड के बिना भगवान् की भक्ति हो ही नहीं सकती, अतः कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति कराना भी वेद का गौण उद्देश्य है । कर्मकाण्ड के बिना चित्त-शुद्धि नहीं हो सकती, चित्त-शुद्धि के बिना ज्ञान नहीं हो सकता । **'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां**

क्षयात् पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥' (महा० शान्ति० २०४.८), **'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥'** (कठो० १.२.२५) इत्यादि वचन-समूह से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। 'कर्मकाण्ड का चित्त शुद्धि द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा में विनियोग है' इस बात में **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'** (बृहदारण्यको० ४.४.२२) इत्यादि श्रुति तथा **'स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥'** (मनु० २.२८) इत्यादि स्मृति-वचन प्रमाण हैं। 'कर्मकाण्ड से चित्तशुद्धि और भगवान् की भक्ति से चित्त की एकाग्रता होने पर ज्ञान से मोक्ष होता है' यही वेद का डिण्डिम घोष है। इसीलिये कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों का प्रतिपादन 'वेद' करते हैं ॥ ६-११½) ॥

इसी अभिप्राय से चतुर्वेद-भाष्यकार सर्वदर्शन-पारावारपारीण सायणाचार्य, उव्वट-महीधर, वेंकटमाधव आदि प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों ने भक्ति और मोक्ष को वेद का परम प्रयोजन मानते हुए भी कर्मकाण्ड के ज्ञान को वेद का अवान्तर प्रयोजन मानकर अधिकांश मन्त्रों का कर्मकाण्डपरक भाष्य किया है। भगवत्पाद आद्यशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि सभी पावन साम्प्रदायिक आचार्यों का कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में कहीं मतभेद नहीं, जब कि ज्ञानकाण्ड में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत आदि मतभेदों की भरमार है ॥ १२ ॥

वेद मन्त्रों के प्राचीन आचार्यों द्वारा किये गये यज्ञादि कर्मकाण्डपरक अर्थ ही वास्तविक अर्थ हैं। दयानन्द आदि आधुनिक विद्वानों तथा पाश्चात्य विद्वानों एवं उनकी लकीर के फकीर कुछ भारतीय विद्वानों द्वारा किये अर्थ ठीक नहीं हैं, क्योंकि सायण, उव्वट, महीधर, वेंकटमाधव आदि आचार्यों के अर्थ शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण (प्रातिशाख्य), निरुक्त, छन्द, ज्योतिषशास्त्र—इन वेदाङ्गों के सम्मत हैं। इतिहास, पुराण, पूर्वोत्तर मीमांसा आदि सभी दर्शनशास्त्र और मन्वादि स्मृतिकार भी इन्हीं अर्थों का समर्थन करते हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् श्रीकरपात्रस्वामीजी महाराज ने 'वेदार्थपारिजात' नामक वेदभाष्यभूमिका और वेदभाष्यरूप ग्रन्थ लिखा। इसमें जो वेद के अर्थ किये गये हैं, वे शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, प्रातिशाख्य (वैदिक-व्याकरण) और इतिहास, पुराण, मन्वादि स्मृतियों से पूर्णरूपेण समर्थित हैं ॥ १३-१८½ ॥

इन सभी शास्त्रों का जिन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है और स्वामिचरणों के वेदार्थपरिजात भाष्य की भूमिका को समझने में भी जो असमर्थ हैं, ऐसे कुछ लोग ग्रन्थ के खण्डन में प्रवृत्त हुए हैं, उनका खण्डन इसी से हो गया कि उन्हें किसी भी पूर्वाचार्य का समर्थन प्राप्त नहीं है, प्रत्युत उनका सिद्धान्त सर्वाचार्यविरुद्ध है। फिर भी दुर्दैव की प्रेरणा से वे खण्डन करने का दुस्साहस कर रहे हैं, क्या वे नहीं जानते कि उनके खण्डन की 'मोदक-खण्डिका' हो जायगी ॥ १९-२१ ॥

श्री निरंजनदेव तीर्थ

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित यजुर्वेदसंहिता के द्वितीय-तृतीय अध्याय के भाष्य को सानुवाद प्रकाशित करते हुए हमें बहुत हर्ष हो रहा है। इससे पूर्व प्रथम और चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) का भाष्य अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुका है, यह आप लोगों को विदित ही है।

प्रकाशन कार्य विस्तृत है। कई कठिनाइयों के कारण द्वितीय-तृतीय अध्याय का प्रकाशन शीघ्र नहीं हो पाया— देर हो गयी। चतुर्थ और पञ्चम अध्याय छप रहे हैं। प्रगति समुचित है। यथाशीघ्र आप लोगों को ये दोनों भाग प्राप्त हो सकेंगे।

विदित हो, पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज की अद्वितीय कृति देश के जिन सन्तों, विद्वानों, उच्च शिक्षाविदों और अधिकारियों के पास पहुँचती है, वे अत्यन्त प्रभावित होकर हम लोगों को शेष भाग शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा प्रदान करते हैं।

भाष्यभूमिका के लेखक, अनुवादक, समय-समय पर उचित परामर्शदाता, प्रूफ पुनरीक्षक, प्रेसकापी साधक, अनुच्छेद (पैराग्राफ) के निर्धारक के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जा को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने वाले के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, उन सभी परम सम्माननीय, आत्मीय, पूज्य आचार्य, विद्वन्मूर्धन्यों के चरणकमलों में धन्यवाद और अभिनन्दनस्वरूप नतमस्तक होकर हम सदा ही कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वे हैं—

(१) अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज

(२) स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज

(३) पण्डित श्री गजानन मुसलगाँवकरजी

(४) पण्डित श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारीजी

(५) पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी

(६) पण्डित श्री रमावंशी द्विवेदीजी

तारा प्रेस के सुयोग्य विद्वान् प्रबन्धक तथा सहृदय कर्मचारियों के स्नेहपूर्ण सौजन्यभरे मुद्रणादि कार्यों के सम्पादन को स्मरण कर इन्हें बहुत धन्यवाद देते हैं।

निवेदक
हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष

वृन्दावन धाम
गोवर्धन प्रतिपदा
२०४६ वि० सं०

विषय-सूची

कण्डिकासंख्या	प्रतिपाद्य विषय	पृष्ठसंख्या

द्वितीय अध्याय

१.	इध्म, वेदि और कुशा का प्रोक्षण	१–४
२.	प्रोक्षणावशिष्ट जल का विनियोग तथा परिधि के बाहर गिरे हविर्द्रव्य की आहुति	४–१२
३.	मध्यम, दक्षिण और उत्तर परिधियों की स्थापना	१२–१५
४.	आहवनीय में इध्म काष्ठ की स्थापना	१५–१७
५.	प्रस्तर की स्थापना और उसका दोनों हाथों से स्पर्श	१७–२१
६.	जुहू, उपभृत्, ध्रुवा और हविर्द्रव्य को यथास्थान रखना	२१–२६
७.	अग्निदेव, अन्य देवों और पितरों को प्रणामांजलि एवं जुहू और उपभृत् पात्रों का ग्रहण	२६–२९
८.	पात्रों की एवं अग्नि और पृथ्वी की प्रार्थना एवं आहुति दान	२९–३२
९.	अग्निदेवता की प्रार्थना तथा जुहू और ध्रुवा पात्र का एकत्रीकरण	३३–३७
१०.	यजमान की समृद्धि की कामना तथा अग्नीध्र द्वारा पुरोडाश भक्षण	३७–४१
११.	अग्नीध्र द्वारा बिना दाँत लगाये प्राशित्र का भक्षण	४२–४५
१२.	यज्ञ और यजमान की समृद्धि के लिये प्रार्थना	४५–४७
१३.	सविता देवता की प्रार्थना और उनके द्वारा प्रयाण की अनुज्ञा	४७–५०
१४.	अग्निदेव की प्रार्थना, संमार्जन और परिक्रमण	५०–५३
१५.	जुहू और उपभृत् का परस्पर विपरीत दिशा में व्यूहन	५३–५७
१६.	परिधि पर घृतलेपन, प्रस्तर ग्रहण, दर्भ का अग्नि में प्रक्षेप और आत्मस्पर्श	५७–६३
१७.	अग्निदेव की प्रार्थना के साथ तीनों परिधियों का अग्नि में प्रक्षेप	६३–६६
१८.	विश्वेदेवों की प्रार्थना और उनके लिये संस्रव भाग की आहुति	६६–६९
१९.	जुहू और उपभृत् पात्र का शकट की धुरा पर स्थापन एवं वेदी का स्पर्श	७०–७२
२०.	गार्हपत्य अग्नि से संवेश रक्षा की प्रार्थना एवं दक्षिणाग्नि में हवन	७२–७५
२१.	कुशमुष्टिनिर्मित वेद की प्रार्थना और ध्रुवा पात्र से हवन	७५–७८
२२.	घृत से दर्भ का अंजन कर उसकी आहुति देना	७८–८०
२३.	प्रणीता पात्र की स्थापना तथा मृत्कणों का भूमि पर प्रक्षेप	८१–८३
२४.	आहवनीय अग्नि की प्रदक्षिणा, पूर्णपात्रग्रहण और मुखमार्जन	८३–८६
२५.	विष्णुपद द्वारा तीनों लोकों के अतिक्रमण की भावना एवं सूर्य आदि का अवलोकन	८६–९०
२६.	सूर्यदेव की प्रार्थना, अवलोकन एवं प्रदक्षिणा	९०–९२
२७.	गृहपालक अग्नि से गृहस्थी की गाड़ी को सकुशल चलाते रहने की प्रार्थना	९३–९५
२८.	व्रतपति अग्नि की प्रार्थना के साथ व्रत का विसर्जन	९५–९६

कण्डिकासंख्या	प्रतिपाद्य विषय	पृष्ठसंख्या
२९.	क्रव्याग्नि में पितरों के लिये मेक्षण से अग्नि और सोम के निमित्त आहुति	९६–९८
३०.	असुरों और राक्षसों के अपसारण के लिये उल्मुक प्रक्षेप	९८–१००
३१.	पितृगणों की प्रार्थना के साथ श्वासनिरोधपूर्वक मन्त्रजप	१००–१०३
३२.	पितृगणों के निमित्त प्रदत्त पिण्डों पर ऊर्णातन्तु आदि का प्रदान	१०३–१०६
३३.	यजमानपत्नी द्वारा पुत्र-प्राप्ति के लिये मध्यम पिण्ड का भक्षण	१०६–१०७
३४.	पिण्ड के मूल प्रदेश में जलसिंचन	१०७–१०८

तृतीय अध्याय

१.	अग्न्याधान के प्रसंग में घृतसिक्त तीन समिधाओं की आहुति	१०९–११४
२–४.	यजमान द्वारा ऋत्विजों को आहुति देने की अनुमति	११४–११६
५.	भूः, भुवः, स्वः—नामक तीन व्याहृतियों की प्रार्थना के साथ अग्निस्थापन	११६–१२३
६.	आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि का प्रार्थनापूर्वक आधान	१२३–१३०
७.	प्राणापानरूपी वायु के रूप में अग्नि की स्तुति	१३०–१३२
८.	अहोरात्र में व्यवहृत होने वाली वाणी के रूप में अग्नि की स्तुति	१३३–१३७
	[भाष्य में अग्नि के विविध धाम और नाम]	१३३–१३४
९–१०.	अग्निहोत्री के लिये सायंकालीन और प्रातःकालीन हवन मन्त्र	१३७–१४७
११–४०.	आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि का उपस्थान (प्रार्थना)	१४८–१९९
४१–४३.	अग्न्याधान के बाद अग्निहोत्री की गृह सम्बन्धी प्रार्थना	१९९–२०४
	[भाष्य में चातुर्मास्य के चार पर्वों तथा वेदियों पर विचार]	२०४–२०६
४४.	प्रघासी मन्त्र का यजमानपत्नी द्वारा उच्चारण	२०६–२०८
४५.	पत्नीसहित यजमान द्वारा करम्भ पात्रों का दक्षिणाग्नि में हवन	२०८–२०९
४६.	यजमान द्वारा 'मोषूण' मन्त्र का जप	२१०–२१२
४७.	यजमानपत्नी द्वारा 'अक्रन् कर्म' मन्त्र का जप	२१२–२१४
४८.	पत्नीसहित यजमान का अवभृथ स्नान	२१४–२१५
४९.	दर्वी द्वारा स्थाली में से ओदन का ग्रहण	२१६–२१७
५०.	'देहि मे' मन्त्र द्वारा ओदन का हवन	२१८–२२०
५१–५२.	पितृयज्ञसंज्ञक कर्म में आहवनीय अग्नि का उपस्थान	२२०–२२३
५३–५५.	पितृयज्ञ में गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान	२२३–२२५
५६–६२.	साकमेघ पर्व के त्र्यम्बकहवि सम्बन्धी मन्त्र और रुद्र की प्रार्थना	२२६–२४०
	[भाष्य में कालमान का निरूपण]	२४०–२४२
६३.	क्षुर की प्रार्थना एवं यजमान का वपन	२४३–२४४

द्वितीयोऽध्यायः

ॐ कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे इध्म ! कठिन वृक्षपर निवास करनेवाले तुम कृष्णमृगरूपी यज्ञ के साधन हो। इसलिये अग्नि को प्रिय लगनेवाले तुम्हें जल से मैं सिञ्चित कर रहा हूँ। हे वेदी ! देवताओं ने तुम्हें असुरों से प्राप्त किया है। इसलिये कुश धारण करनेवाले को तुम्हारा उपयोग होता है। उस कारण जल से मैं तुम्हारा सिञ्चन कर रहा हूँ। हे दर्भ ! तुम वेदी का विस्तार करने में समर्थ हो, अतः स्रुचाओं को प्रिय लगनेवाले तुमपर मैं सिञ्चन कर रहा हूँ ॥ १ ॥

'इध्मं प्रोक्षति विस्रंस्य वेदिञ्च बर्हिः प्रतिगृह्य वेद्यां कृत्वा पुरस्ताद् ग्रन्थि कृष्णोऽसीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २।७।१९)। अध्वर्युरिध्मं तत्रस्थमेव विस्रंस्य कृष्णोसीति मन्त्रेण प्रोक्षेत। वेदिरसीति वेदिं प्रोक्षेत, अग्नीध्रार्पितं बर्हिर्हस्तेनादाय वेद्यां पुरस्ताद् ग्रन्थि यथा स्यात्तथा उदगग्रमासाद्य बर्हिरसीति बर्हिः प्रोक्षेत। मन्त्रार्थस्तु –हे इध्म त्वं कृष्णोसि कृष्णमृगरूपो यज्ञोसि, यज्ञसाधनत्वादिध्मपूले यज्ञत्वोपचारः। यद्यपि वर्णवचनोऽपि कृष्णशब्दस्तथाप्यन्तोदात्तः स भवत्ययं त्वाद्युदात्त इति कृष्णमृगपर एवायम्। तत्रापि यज्ञरूप एव कृष्णमृगो ग्राह्यः, 'यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम। स कृष्णमृगो भूत्वा चचार' (श० १।१४।१) इति श्रुतेः। यज्ञः कदाचिद्देवेभ्योऽपक्रान्तः कृष्णमृगो भूत्वा वने याज्ञयतरुषु प्रविश्य कुत्रचित् कठिने वृक्षे तस्थौ। अतः कृष्णमृगरूपयज्ञोऽसि त्वमित्यर्थः। कीदृशः ? आखरेष्ठः आसमन्तात् खरे कठिने वृक्षे तिष्ठतीति आखरेष्ठः। यद्वा आङध्यर्थकः। खं स्वर्गं राति ददातीति खर आहवनीयः। तदधि तदुपरि तिष्ठतीत्याखरेष्ठः। अतोऽग्नये त्वां जुष्टमभिप्रेतमभिरुचितं शुद्ध्यर्थं जलेन प्रोक्षामि। वेदिं प्रोक्षति। हे वेदे त्वं वेदिरसि देवैरसुरेभ्यो लब्धत्वाद् विद्यते लभ्यत इति वेदिः। (विद्लृ लाभे) बर्हिषे जुष्टां बर्हिषो धारणोपयोगितया जुष्टां प्रियां त्वां प्रोक्षामि। पृथिवीरूपाया वेदेः प्रजारूपस्य बर्हिषो धारयितृत्वं युज्यत एव। 'तद्यदेतेनेमां सर्वमविन्दत तस्माद्वेदिर्नाम'। बर्हिरसीति बर्हिषः प्रोक्षणम्। हे बर्हिः=दर्भ त्वं बर्हिरसि वेदिबृंहणसमर्थमसि प्रभूतैर्दर्भैर्वेदेरुपबृंहणात्, अतः स्रुग्भ्यो जुष्टं स्रुचां धारकत्वात् प्रियं त्वां प्रोक्षामि।

भाष्यसार—संहितागत मन्त्रों के रहस्यप्रकाशक श्रौतसूत्रों में से कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार अध्वर्यु नाम का ऋत्विक् यज्ञिय भूमि पर रखे हुए 'इध्म' को खोल कर 'कृष्णोऽसि' इस मन्त्र से उन पर प्रोक्षण करता है। 'इध्यते अग्निः अनेन' इस निरुक्ति के अनुसार यज्ञिय अग्नि के उत्तेजक ईन्धन को 'इध्म' कहते हैं। अग्नीध्र नामक ऋत्विक् के द्वारा अर्पित बर्हि को हाथ में लेकर बर्हि की ग्रन्थि को पूर्व की ओर करके और उनको उदगग्र रखकर क्रमशः तीन मन्त्रों से उनपर प्रोक्षण करे।

हे इध्म ! तुम 'कृष्णमृगरूप यज्ञ' हो, तथा तुम कठिन वृक्ष में व्याप्त होकर रहते हो। अथवा स्वर्गप्रदायक आहवनीय खर में व्याप्त होकर रहते हो, इसलिये तुम 'आखरेष्ठ' भी हो। यह यज्ञ किसी समय देवताओं से भागकर

दयानन्दस्तु—"ईश्वरेणैतत्सर्वमाद्येऽध्याये विधायेदानीं प्राणिनां सुखार्थायोक्तकार्यस्य सिद्धिं कर्तुं विशिष्टा विद्याः प्रकाश्यन्ते। तत्रादौ वेद्यादिरचनमुपदिश्यते। अग्निना छिन्नो वायुना कर्षितो यज्ञः असि भवति। सर्वत्र व्यत्ययः। समन्तात् खनति यं तत्र तिष्ठतीति आखरेष्ठः। अग्नये हवनार्थाय त्वा तद्धविः जुष्टं प्रीत्या संशोधितं प्रोक्षामि शोधितेन घृतेनार्द्रीकरोमि। वेदिः विन्दति सुखान्यनया सा असि भवति। बर्हिषेऽन्तरिक्षगमनाय। बर्हिरन्तरिक्षनामसु पठितम् (निघण्टु १।३)। त्वा तां वेदिं जुष्टां प्रीत्या सम्पादितां प्रोक्षामि घृतादिना सिञ्चामि। बर्हिः शुद्धमुदकं असि भवति। बर्हिरुदकम् (निघ० १।१२)। स्रुग्भ्यः स्रावयन्ति गमयन्ति हविर्येभ्यस्तेभ्यस्त्वा तत् जुष्टं पुष्ट्यादिगुणयुक्तं प्रीतिकरं जलं पवनं वा प्रोक्षामि शोधयामि। यतोऽयं यज्ञ आखरेष्ठः कृष्णो भवति तस्मात् त्वा त्वामहमग्नये जुष्टं प्रोक्षामि। यत इयं वेदिरन्तरिक्षस्थासि भवति, तस्मादहं त्वा तामिमां बर्हिषे जुष्टां प्रोक्षामि। यत इदं बर्हिरुदकमन्तरिक्षस्थं सत् शुद्धकारि असि भवति, तस्मात् त्वा तच्छोधितं जुष्टं हविः स्रुग्भ्योऽहं प्रोक्षामि। भावार्थः—ईश्वर उपदिशति सर्वैर्मनुष्यैर्वेदिं रचयित्वा पात्रादिसामग्रीं गृहीत्वा सम्यक् शोधयित्वा तद्धविरग्नौ हुत्वा कृतो यज्ञः शुद्धेन वृष्टिजलेन सर्वा ओषधीः पोषयति। तेन सर्वे प्राणिनः सुखयितव्याः" इति, तदपि विसङ्गतमेव, प्रकृतमन्त्रे वेदिनिर्माणविधानानुपलम्भात्। नहि वेदिनाम्नैव वेदिनिर्माणमुपदेष्टुं शक्यम्, व्यत्ययोऽपि यथा-श्रुतार्थानुपपत्तावेव सम्भवति। आसमन्तात् किं खन्यते ? यद्यपि वेदिः खन्यते, तथापि सा व्याममात्री मध्यसंग्राह्या त्र्यङ्गुला ओषधिमूलान्ता वा खन्यते। किञ्च, नहि मूर्तो यज्ञः क्वचित् खाते तिष्ठति। याज्ञिकानां व्यवहारे त्वाहवनीयगार्हपत्यान्वाहार्यपचनादिषु खरशब्दः प्रसिद्धः, न च तत्र खननं भवति। यद्यग्नौ होम एव यज्ञस्तदा तु स आहवनीयादावेव तिष्ठति न वेद्याम्। जुष्टं प्रीत्या सेवितमभिरुचितं वा भवति, न शोधनमपि तदर्थः। प्रोक्षामि घृतादिनार्द्रीकरोमीत्यपि चिन्त्यम्। वेदिशब्दोऽपि शतपथे विष्णोर्यस्य लाभाद्वेदिशब्दः प्रयुक्तः, न च वेदेः सुखलाभो दृश्यते। न च वेदिर्घृतादिभिः सिच्यते, तथा विध्यदर्शनात्। शतपथे तु—'तद्यदेनेनेमाः सर्वाः समविन्दत तस्माद्वेदिर्नाम' (श० १।२।५।७) इति श्रुतौ सर्वपृथिव्या लाभनिमित्तत्वाद् वेदिर्निरुक्ता। 'यन्नेवात्र विष्णुमन्वविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नामेति निरुक्तम्' (श० १।२।५।१०)। पूर्वं कृत्स्नपृथिवीलाभहेतुत्वेन नाम निरुक्तम्, अत्र तु यज्ञात्मकस्य विष्णोर्लाभाधिकरणतया वेदित्वमुक्तम्। एवं बर्हिषेऽन्तरिक्षगमनायेत्यप्यसङ्गतम्,

अपनी रक्षा के हेतु कृष्णमृग का रूप धारण कर वन के यज्ञिय वृक्ष में प्रविष्ट होकर किसी कठिन वृक्ष में स्थित हो गया। इसी अभिप्राय से उसको 'कृष्ण' और 'आखरेष्ठ' कहा गया है। अतः अग्नि को प्रिय लगनेवाले तुम्हारी शुद्धि के लिये मैं तुम्हारा जल से प्रोक्षण करता हूँ। उसके पश्चात् 'वेदिरसि' मन्त्र से वेदि का प्रोक्षण किया जाता है। 'विद्यते लभ्यते इति वेदिः' यह 'वेदि' शब्द की निरुक्ति है। हे वेदे ! तुम 'वेदि' हो। देवताओं ने तुमको असुरों से प्राप्त किया है। बर्हि को धारण करने में तुम्हारा उपयोग होने से तुम प्रिय प्रतीत होती हो। इसलिये मैं तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। तदनन्तर 'बर्हिरसि' मन्त्र से 'बर्हि' का प्रोक्षण किया जाता है। हे दर्भ ! तुम 'बर्हि' हो। तुम परिमाण में प्रभूत हो, अतः वेदि के बृंहण करने में समर्थ हो। तुम स्रुक्पात्रों को अपने पर धारण कर लेते हो, उस कारण स्रुक्पात्रों के तुम प्रिय हो ! मैं तुम्हारा भी प्रोक्षण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द ने उक्त मन्त्र की व्याख्या अपने मनमाने ढंग से की है, जो श्रौतसूत्र, शतपथ ब्राह्मण, तथा श्रौत यज्ञप्रक्रिया के विरुद्ध है। स्वामी दयानन्द इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि "ईश्वर ने प्रथम अध्याय में जो कहा है, उसी का सबको अनायास ज्ञान कराने के लिये इस द्वितीय अध्याय में विशिष्ट विद्याओं को प्रकाशित किया जा रहा है। उनकी सहायता से सब प्राणियों को सुखी बनाना चाहिये।"

बर्हिःशब्दस्यान्तरिक्षवाचकत्वेन नान्तरिक्षगमनं तदर्थः। अत एव—इयं वेदिरन्तरिक्षस्थास्तीत्यप्यसङ्गतम्, भूमिष्ठायास्तदसम्भवात्। बर्हिष उदकवाचकत्वे तस्य अन्तरिक्षस्थत्वमिति नार्थः सम्भवति। हिन्दी-व्याख्यारीत्या—"यतोऽयं यज्ञो वेदिरचनया खाते स्थिरः कृष्णो भौतिकाग्निना छिन्नो वायुगुणेनाकृष्टो भवति, अतो भौतिकाग्नौ होमाय प्रीत्या शोधितं यज्ञं होमसामग्रीं प्रोक्षामि घृतादिभिः स्निग्धं करोमि। यतश्च वेदिरन्तरिक्षे स्थितास्ति, अतो बर्हिषे हुतपदार्थानामन्तरिक्षे प्रेषणाय जुष्टां प्रीत्या सम्पादितां वेदितां वेदिं प्रोक्षामि घृतादिभिः सिञ्चामि स्निग्धं करोमि। यतश्च बर्हिर्जलमन्तरिक्षस्थं पदार्थशोधकं भवति, अतः पदार्थानां शुद्धये पुष्ट्यादिगुणोत्पादकं तद्धविः स्रुग्भिरग्नौ प्रक्षेपाय प्रोक्षामि शोधयामि" इत्यादिकम्, तदपि सर्वथा निर्मूलमसङ्गतं विप्रतिषिद्धं च। यज्ञशब्दार्थो होमश्चेत्, यज्ञसामग्री कथं यज्ञपदार्थः स्यात्। वेदिरन्तरिक्षस्थेत्यपि निर्मूलमेव। घृतादिना वेदेः संसेकेन कथं हुतपदार्थानामन्तरिक्षे प्रेषणं भविष्यति ?

कश्चित्तु स्वपक्षीयामनुपपत्तिमसमाधायैव उव्वटादिपक्षीयं व्याख्यानं दूषयितुं धृष्टतां करोति। तथाहि—"यत्तूव्वटमहीधराभ्याम् अस्ति कृष्णशब्दो मृगवचन आद्युदात्तः, तदिहाद्युदात्तत्वात् कृष्णमृगो गृह्यते, तदयुक्तम्; वेदेष्वन्तरेणापि मृगार्थग्रहणमाद्युदात्तत्वस्य दर्शनात्। तद्यथा—यमाय कृष्ण (वा० सं० २४।३०) इत्यत्र विशेषणत्वे वर्णवाचीति ताभ्यामेवोपर्युक्तमन्त्रभाष्ये व्याख्यातत्वात्, अतः परस्परविरुद्धत्वादुपेक्षणीयमेतत्" इति हि तदीया पङ्क्तिः, तन्मन्दम्, भाष्यार्थानवबोधात्। तथा चान्तोदात्तः कृष्णशब्दः वर्णमात्रपर्यवसायी, आद्युदात्तस्तु विशिष्टपर्यवसायीति तदर्थत्वात्। 'यमाय कृष्णः' इत्यत्रापि कृष्णो न वर्णमात्रपर्यवसायी, किन्तु कृष्णमेषपर एव। प्रकृते तु श्रुत्यनुसारेण कृष्णशब्दः कृष्णमृगपर इत्युक्तत्वात्। अत एव सायणाचार्योऽपि काण्वभाष्ये—अन्त्योदात्तः कृष्णशब्दो वर्णवाची, अत एव 'कृष्णं वासः', 'कृष्णं रूपम्' इत्यादौ अन्तोदात्त आम्नात इति। यथा पूर्वत्र कृष्णशब्दः श्रुत्यनुसारेण कृष्णमृगपरस्तथैवोत्तरत्र कृष्णशब्दोऽपि पूर्वमन्त्राक्षरानुरोधेन कृष्णमेषपर इति न मनागपि विरोधावकाशः। 'कृष्णो मृगसंयोगे' (प्रा० २।२५) इति प्रातिशाख्यानुरोधेन कृष्णशब्दस्य मृगपरत्व आद्युदात्तत्वं विहितम्।

शतपथे तु—"प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते। स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षति कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तन्मेध्यमेवैतदग्नये करोति" (श० १।३।३।१), "अथ वेदिं प्रोक्षति। वेदिरसि बर्हिषे करोति" (श० १।३।३।२)।

अथेध्मादीनां प्रोक्षणं विधत्ते। अग्नौ हीध्म आधास्यते। अतोऽग्न्यर्थप्रोक्षणेनेध्मं मेध्यं कृतवान् भवतीत्यर्थः।

किन्तु उनका किया अर्थ सर्वत्र विसंगत ही हो गया है। जो कार्य आहवनीय अग्नि में होता है, उसे वेदि में करना बता रहे हैं। जो प्रोक्षण जल से हुआ करता है, उसे वे घृत से करने के लिये बता रहे हैं। 'बर्हि' शब्द का 'अन्तरिक्ष गमन' अर्थ करते हैं, जो लोकविरुद्ध है। लोकव्यवहार में 'बर्हि' शब्द का अर्थ 'दर्भ' प्रसिद्ध है। 'वेदी' को अन्तरिक्ष में स्थित बता रहे हैं। हिन्दी में जो अर्थ बताया है, वह भी सर्वथा निर्मूल, असंगत और विप्रतिषिद्ध है। 'यज्ञ' शब्द का अर्थ 'होम' कर रहे हैं, किन्तु 'यज्ञ' और 'होम' भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं।

स्वामी दयानन्द के किसी अनुयायी ने दयानन्द स्वामीकृत अर्थ में उपस्थित होनेवाली अनुपपत्तियों का समाधान किये बिना ही उव्वटादि आचार्यों की व्याख्या में दोष प्रदर्शन करने की धृष्टता भी की है। किन्तु उव्वट भाष्य का अर्थ न समझने के कारण ही वह ऐसी धृष्टता कर बैठा है। यदि सायणाचार्य के काण्वभाष्य, प्रातिशाख्य, शतपथ ब्राह्मण का अनुशीलन कर लिया होता, तो ऐसी धृष्टता करने का दुःसाहस न हुआ होता। उक्त वैदिक ग्रन्थों के द्वारा दयानन्दीय अर्थ का समर्थन अंशतः भी उपलब्ध नहीं हो रहा है। अभी तक कही गई बातों को सविस्तर जानने के

वेदिं प्रोक्षति बर्हिषे इति मन्त्रलिङ्गात् स्तरिष्यमाणबर्हिरर्थः, वेदिं शुद्धां करोमि, प्रोक्षणेन बर्हिस्तरणयोग्यतां वेदेरापादयति। नह्यत्र दयानन्दीयार्थसमर्थनं मनागपि दृश्यते।

"अथास्मै बर्हिः प्रयच्छति तत्पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि ग्रन्थि यथास्यात्तथा सादयति। तत् प्रोक्षति बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति तन्मेध्यमेवैतत् स्रुग्भ्यः करोति" (श० १।३।३।३)। पुरस्तात्पूर्वभागे सन्नहनरज्जोर्ग्रन्थिर्यदा भवति तथा सादयति। तत्प्रोक्षति बर्हिरसीति मन्त्रेण, स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टम् अभिरुचितं त्वा त्वां प्रोक्षामि। बर्हिष उपरि स्रुचामासाद्यमानत्वाद् एतन्मन्त्रकरणकेन प्रोक्षणेन बर्हिषस्तद्योग्यतां सम्पादयति। एतावता याज्ञिकप्रसिद्ध एवार्थोऽभिप्रेतः। श्रुतिसूत्रसम्मत एवार्थः सायणादिभिः प्रतिपाद्यते। 'यदिमां विन्दन्ति तद्वेद्यै वेदित्वम्' (तै० ब्रा०) इति श्रुतेः, तादृशीं त्वां बर्हिषे जुष्टां बर्हिर्धारणोपयोगित्वेन प्रियां प्रोक्षामि। बर्हिषः प्रजारूपत्वाद् वेदेश्च पृथिवीरूपत्वाद् बर्हिर्धारकत्वं युक्तम्। तदप्याह तित्तिरिः—'प्रजा वै बर्हिः पृथिवी वेदिः; तेन प्रजामेवं पृथिव्यां प्रतिष्ठापयतीति'। स्रुचां यजमानरूपत्वाद् यजमानस्य प्रजानां मध्येऽवस्थातुं युक्तत्वात् प्रजारूपे बर्हिषि यजमानस्यावस्थानं युक्तमेव।

अध्यात्मपक्षेऽपि —हे जीव! त्वं कृष्णोऽसि सदानन्दरूपोऽसि। 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥' आसमन्तात् खरे कठिने कूटवदभेद्येऽधिष्ठाने ब्रह्मणि तिष्ठतीत्याखरेष्ठोऽसि। अग्नये परमात्मने जुष्टमभिरुचितं त्वा त्वामहं प्रोक्षामि कर्मोपासनादिविधानेन शोधयामि। त्वं वेदिर्ज्ञप्तिरसि। बर्हिषे परमाकाशरूपाय ब्रह्मणे तत्प्राप्तये त्वा प्रोक्षामि शोधयामि। बर्हिरसि चिदाकाशमिति। स्रावयन्ति नानाविधानि सुखानीति स्रुचो देवास्तेभ्यो जुष्टं प्रियं त्वा प्रोक्षामि, 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥' (भ० गी० ३।११) इति गीतावाक्यात्। ब्रह्मदृष्ट्या संस्कृत आत्मा क्रमेण धर्मब्रह्मप्राप्तियोग्यो भवति॥ १॥

इच्छुक वेदार्थरसिक वेदभक्त लोग ऊपर दिये गये मूल करपात्र भाष्य को सावधानी से पढ़ेंगे, तो सभी शंकाओं का यथार्थ समाधान प्राप्त कर सकेंगे।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—हे जीव! तुम कृष्ण हो, सदानन्दस्वरूप हो। भूवाचक शब्द 'कृष्' है और सुखवाचक शब्द 'ण' है, उन दोनों का जो ऐक्य है, वही 'परब्रह्म' है, वही 'कृष्ण' है। कूटवत् अभेद्य ऐसे अधिष्ठानभूत ब्रह्म में स्थित रहने के कारण तुम आखरेष्ठ हो। परमात्मा को प्रिय लगने वाले तुम्हारा हम शोधन, कर्मोपासना आदि के द्वारा करते हैं। तुम ज्ञप्तिरूप हो। परमाकाशरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिये मैं तुम्हारा शोधन करता हूँ। तुम चिदाकाशरूप हो। नानाविध सुखों को देने वाले देवताओं के तुम प्रिय हो, इसलिये मैं तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता (३।११) में भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से कह रहे हैं—"तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवता लोग तुम लोगों की उन्नति करें। इस प्रकार आपस में कर्तव्य समझकर उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त करोगे।" इस गीतावाक्य से स्पष्ट है कि ब्रह्मदृष्टि करने से संस्कृत हुआ जीवात्मा क्रमशः धर्म-ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य होता है॥ १॥

अदि॑त्यै व्युन्द॑नमसि॒ विष्णो॑ स्तु॒पोऽस्यूर्ण॑म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासु॒स्थां दे॒वेभ्यो॒ भुव॑पतये॒ स्वाहा॒ भुव॑नपतये॒ स्वाहा॑ भू॒तानां॒पत॑ये॒ स्वाहा॑॥ २॥

मन्त्रार्थ—हे प्रोक्षणावशिष्ट जल! तुम पृथ्वी को आर्द्र कर देने वाले हो। हे कुशमुष्टिरूप प्रस्तर! तुम यज्ञ की शिखा के समान हो। हे वेदे! ऊर्णावस्त्र के समान मृदु और देवताओं को सुख से बैठने योग्य तुम बन सको, इसलिये

तुम पर मैं दर्भों को बिछा रहा हूँ। हविर्ग्रहण के समय हविर्द्रव्य का भाग, जो परिधि के बाहर गिर जाता है, वह अग्नि के जो तीन भाई भुवपति, भुवनपति और भूतानांपति हैं, उनके लिये सुहुत हो। (ये तीनों अग्नि के भाई, परिधिरूप बन गये, उनपर गिरा हुआ हविर्भाग उन भाइयों को देना चाहिये, यह कथा वेद में है।) ॥ २ ॥

'शेषं मूलेषूपसिञ्चन्त्यदित्यै व्युन्दनम्' (का० श्रौ० २।७।२०)। अध्वर्युः प्रोक्षणीशेषं मूले निनयेत्। हे प्रोक्षणशेषोदक ! त्वमदित्यै अदित्या भूमेः, व्युन्दनमसि विशेषेण उन्दनं क्लेदनं व्युन्दनमसि। 'पवित्रे निधाय प्रणीतासु बर्हिर्विस्रंस्य पुरस्तात् प्रस्तरग्रहणं विष्णोरिति' (का० श्रौ० २।७।२१)। अध्वर्युर्हस्तेन बर्हिर्विस्रंस्य बर्हिर्भागस्य पुरस्तात् कुशमुष्टेर्ग्रहणं कुर्यात्। हे प्रस्तर दर्भमुष्टिरूप ! त्वं विष्णोर्यज्ञस्य स्तुपोऽसि (ष्टुै स्त्यै शब्दसंघातयोः) धात्वोः औणादिके डुप्प्रत्यये तद्रूपनिष्पत्तिः। दर्भसङ्घातरूपत्वात् केशसङ्घातरूपा शिखेव भवसि। 'वेदिं स्तृणात्यूर्णम्रदसमिति' (का० श्रौ० २।७।२२)। अध्वर्युः प्रस्तरं ब्रह्मणे समर्प्य बन्धनरज्जुं विस्रंस्य रज्जुत्वरूपं परित्याज्य दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ उदगग्रं निधाय संनहनाच्छादनैस्तृणैः संनहनं प्रच्छाद्य ऊर्णम्रदसमिति मन्त्रावृत्त्या त्रिवृतं प्रागग्रं वेदिमाच्छादयेत्। हे वेदे ! त्वां स्तृणामि बर्हिषाच्छादयामि। कीदृशीं त्वाम् ? ऊर्णम्रदसम् ऊर्णमिव मृदुतराम्। अतिशयेन मृदुर्म्रदीयसी ईयलोपश्छान्दसः। तथा च ऊर्णाभिर्मृद्वीं कर्तुं स्तृणामि। यथा विशिष्ट-पुरुषाणामुपवेष्टुं कम्बलादिना भूमिराच्छाद्यते काठिन्याभावाय, तथा दर्भैराच्छादिता भूमिर्मृदुः स्यात्। पुनः कीदृशीम् ? देवेभ्यः स्वासस्थां देवानामुपकाराय सुखेनासितुं स्थानभूतां सुखेन आसेन आसनेन स्थीयते यस्यां सा स्वासस्था, ताम्। सुष्ठु साधुमर्यादया यस्यामासीदन्ति देवास्तां त्वां देवेभ्योऽर्थाय स्तृणामि दर्भैराच्छादयामि। 'स्कन्नमभिमृशति भुवःपतये स्वाहेति' (का० श्रौ० २।७।२२)। भुवःपतये स्वाहा। अस्याग्नेर्ये भ्रातरः पूर्वे त्रयो बभूवुः, ते वषट्कारभयाद् इमां पृथिवीं प्राविशन्। अयं चाग्निः प्रपलाय्याप्सु प्राविविक्षत प्रवेष्टुमैक्षत। स देवैरानीय स्वाधिकारे पुनः स्थाप्यमान एवमुवाच–यदेतैर्मद्भ्रातृभिर्मा परिधत्तैषाञ्च यज्ञभागः कल्प्यताम्। ततस्तेऽग्नेर्भ्रातरः परिधयो जाताः। तेषाञ्च स्कन्नं हविर्भागः कृतः। भुवःशब्देन मध्यमा व्याहृतिरुच्यते, भुवनशब्देन जगदुच्यते, भूतानामिति शब्देन भूतान्येवोच्यन्ते। तेषां येऽधिपतयस्तेभ्यः स्वाहेति सम्बन्धः।

दयानन्दस्तु—"यतोऽयं विष्णुर्यज्ञोऽदित्या व्युन्दनकारी भवति, तस्मात्तमहमनुतिष्ठामि। अस्य विष्णोर्यज्ञस्य स्तुपः प्रस्तर उलूखलाख्यः साधकोऽस्ति। तस्मात् त्वा तमहमूर्णम्रदसं स्तृणामि। वेदिर्देवेभ्यो हिता भवति। तस्मात् तामहं स्वासस्थां रचयामि। कस्मै प्रयोजनाय ? यतोऽयं भुवःपतिः, भुवनपतिः, भूतानांपतिरीश्वरः प्रसन्नो भवति, भौतिको वा सुखसाधको भवति, तस्मै भुवपतये स्वाहा विधेया, भुवनपतये स्वाहा वाच्या, भूतानां पतये स्वाहा प्रयोज्या भवतीत्यस्मै प्रयोजनाय" इत्याह। तदपि तदीयकल्पनामात्रम्। यज्ञः कथं पृथिव्या व्युन्दनम्, विविधानामोषधीनां क्लेदनं भवतीति न स्पष्टम्। यज्ञ एव उलूखलः, कथं यज्ञस्य स्तुपः शिखा।

भा० सा०—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार प्रोक्षण करके बचे हुए जल को मूल पर डाल दे। हे प्रोक्षणशेषोदक ! तुम अदिति यानी भूमि को आर्द्र बना देते हो, अर्थात् भूमि के सेचक हो, अत एव 'उदक' कहलाते हो। तदनन्तर अध्वर्यु अपने हाथ से बर्हियों को खोल कर उनके अगले भाग से कुशमुष्टिरूप प्रस्तर का ग्रहण करे। अध्वर्यु कहता है कि हे प्रस्तर ! तुम यज्ञरूपी विष्णु के स्तुप हो, अर्थात् दर्भसंघातरूप होने से केशसंघातरूप शिखा के समान हो। यह कहने के पश्चात् अध्वर्यु उस प्रस्तर को ब्रह्मा के हाथ में देकर बाँधी हुई रज्जु को खोल कर वेदी के दक्षिण श्रोणि

न च 'यज्ञो वै विष्णुस्तस्येयमेव शिखा स्तुपः' (श० १।३।३।५) इति श्रुतिरेव तत्र मानमिति वाच्यम्, तस्या अन्यार्थत्वात्। 'अथ विस्रंस्य ग्रन्थिं पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति विष्णोः स्तुपोऽसीति। यज्ञो वै विष्णुस्तस्येयमेव शिखा स्तुप एतामेवास्मिन्नेतद्दधाति पुरस्ताद् गृह्णाति'। अत्र उलूखलस्य प्रसङ्ग एव नास्ति। अत्र प्रस्तरग्रहणं विधत्ते–बर्हिःसन्नहनरज्जुग्रन्थिं विमुच्य पुरस्तात् पूर्वदिनभागे करोति विष्णोः स्तुपोऽसीति मन्त्रेण प्रस्तरं गृह्णीयादिति विधानम्।

मन्त्रार्थस्तु—हे प्रस्तर कुशमुष्टे ! त्वं विष्णोर्यज्ञस्य स्तुपोऽसि शिखाकेशसङ्घातरूपोऽसि। आहवनीयनिकटे तद्ग्रहणात् शिखामेव तस्मिन् स्थापितवान् भवतीत्यर्थः। पिण्डीभावेन बद्धो मानुषः स्तुपः केशसङ्घातः शिरसः पूर्वभागे भवति। अतो यज्ञस्यापि पूर्वभागे स्तुपधारणाय पुरस्ताद् ग्रहणं युज्यत इत्यर्थः। इति तत्रत्यं सायणभाष्यम्। ऊर्णम्रदसमिति पदस्य पाषाणमय उलूखलोऽर्थ इत्यपि निर्मूलम्। न च ऊर्णा धान्याच्छादनानि तुषाणि म्रदयति, येन तम् ऊर्णम्रदसं पाषाणमयमिति व्युत्पत्तिस्तत्र मूलमिति वाच्यम्, ऊर्णापदस्य धान्याच्छादकतुषार्थकत्वे मानाभावात्। एवं तुषापनोदकं तं पाषाणमुलूखलं च स्तृणामि पदार्थैराच्छादयामीत्यप्युन्मत्तप्रलपितमेव, तादृग्विधानानुपलम्भात्। एवमेव वेदिर्विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो हिता भवति, तां स्वासस्थां हुतपदार्था यत्र स्थिरा भवेयुस्तथाभूतां तां करोमीत्यपि निरर्थकम्, हुतानां पदार्थानामाहवनीयादिषु खरेष्ववस्थानं भवति, न वेद्यामिति याज्ञिकविधानाज्ञानात्। वेदिनिर्माणेन संस्तरपतिः लोकलोकान्तरपतिः सांसारिकपदार्थपतिः प्रसीदतीत्यपि निर्मूलम्, प्रमाणानुपलम्भात्। स्वाहाशब्दार्थविचारः—स्वाहा विधेया, स्वाहा वाच्या, स्वाहा प्रयोज्या इत्यपि निःसारम्, स्वाहाशब्दस्यार्थैक्यात् प्रयोगभेदासम्भवात्। यत्तु –"स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति" (नि० ८।२०) इति निरुक्तमुद्धृत्य तदर्थतया 'यत् शोभनं वचनं सत्यकथनं स्वपदार्थान् प्रति ममत्ववचः, मन्त्रोच्चारणे हवनं चेति स्वाहाशब्दार्था विज्ञेयाः' इत्युक्तम्, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, 'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः' (ऋ० सं० १०।११०।११) इति मन्त्रान्ते श्रवणात्। तस्मिन्नेवार्थे कथं स्वाहाशब्दनिरुक्तिरित्याह –अथ स्वाहेति। कस्मात् तत्राह—सुष्ठु आह इति वा यदेव सम्प्रदानदेवतायै किञ्चिदाज्यस्य इत्यनेन मन्त्रेणाह तुभ्यमिदमिति तदेव सु आह शोभनमाह। अत्र सुः पूर्वपदम्, आहेत्युत्तरपदम्। अथवा इदमन्यद् ब्राह्मणान्तर्गतं निर्वचनं स्वा वागाहेति। 'विज्ञायते हि तं स्वा वागवदज्जुहुधीति तत्स्वाहाकारस्य जन्म' (मैत्रा० सं० १।८।१) । अत्र स्वशब्दः पूर्वपदम्, आहेत्युत्तरपदम्। अथवा स्वं प्राहेति को विशेषः पूर्वस्मादिति चेत्, पूर्वपदस्य कारकान्यत्वम्, स्वा वागाहेति कर्तरि स्वं प्राहेति कर्मणि प्रपूर्वकं चोत्तरपदं प्रकर्षद्योतनाय स्वाहुतं हविर्जुहोतीति तदेव सुष्ठ्वापाद्य यथाभिधानमग्नौ जुहोति। अत एव नहि सत्यवचने शोभनवचने वेदपठने स्वस्वत्वग्रहणे वा स्वाहा-

पर उसे उदगग्र रख कर सन्नहनाच्छादन रूप तृणों से सन्नहन को आच्छादित करके 'उर्णम्रदसम्' मन्त्र की तीन बार आवृत्ति करके उसे त्रिवृत् और प्रागग्र कर के वेदि में बिछा दे। हे वेदे ! मैं तुझ को बर्हि से आच्छादित करता हूँ। जिससे तू ऊर्णावस्त्र की तरह मृदुतर हो और देवताओं के लिये 'स्वासस्था' बन सको, यानी देवता तुझ पर सुख से बैठ सकें, ऐसी तुझे बना रहा हूँ। भुवपति आदि तीन भाई वषट्कार के भय से भूमि में प्रविष्ट हो गए। उससे दुःखी होकर अग्नि भी पलायन करके उदक (जल) में प्रविष्ट हो गया। पश्चात् देवगण, वहाँ से उसको लाकर अपने अधिकार में रखने लगे। तब वह अग्नि कहने लगा कि भुवपति आदि मेरे भाइयों ने मेरी रक्षा की है, इसलिये उनके भाग की भी कल्पना की जानी चाहिये। तब वे भाई अग्नि के परिधिरूप बन गये। उनके लिये स्कन्न (गिरा हुआ) हवि का भाग देने का निश्चय किया गया। 'भुवः' शब्द से मध्यमा व्यावृत्ति, 'भुवन' शब्द से जगत् और 'भूतानाम्' शब्द से समस्त भूतप्राणिवर्ग बताया गया है। उनके जो अधिपति हैं, उनके लिये यह स्वाहा

काराः शिष्टग्रन्थेषु प्रयुज्यमाना दृश्यन्ते । अधिकं तु भूमिकायामुक्तम् । भुवःपतये, भुवनपतये इत्यादौ सम्प्रदाने चतुर्थीति देवतायै हविर्दान एव स्वाहाकारो युक्तः । शतपथे तु सनातनभाष्यानुसार्येव व्याख्यानम् । तथाहि —'अथ विस्रंस्य ग्रन्थिं पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति' (श० १।३।३।५) । व्याख्यातप्रायमेतत् । 'अथ सन्नहनं विस्रंसयति प्रक्लृप्तं हैवास्य स्त्री विजायत इति तस्मात् सन्नहनं विस्रंसयति तद्दक्षिणायां श्रोणौ निदधाति । नीविर्हैवास्यैषा दक्षिणत इव ह्ययं नीविस्तस्माद् दक्षिणायां श्रोणौ निदधाति । तत्पुनरभिच्छादयति । अभिच्छन्नेव ह्ययं नीविस्तस्मात् पुनरभिच्छादयति ।' (श० १।३।३।६) इति ।

सन्नहनरज्जोर्विस्रंसनं विधाय प्रशंसति -अथेति । सन्नहनस्य विस्रंसने सत्यस्य यजमानस्य स्त्री प्रक्लृप्तं प्रकर्षेण क्लृप्तं दशमाससंपूर्णावयवमपत्यं विजायते प्रसूयते । इतिशब्दो हेतौ । यस्मादेवं तस्मात् सन्नहनरज्जोर्देशविशेषे स्थापनं विधत्ते दक्षिणायां श्रोणौ निदधाति । नीविर्हि वै अस्य यजमानस्य एषा रज्जुर्नीवी भवतीत्यर्थः । नीवीरूपत्वं दृष्टान्तेनोपपादयति—लोके वाससः परिधाने दक्षिणपार्श्वे एव हि नीविः परिकल्प्यते । तस्माद् दक्षिणश्रोणौ सन्नहनरज्जुनिधानं नीविपरिकल्पनमेव । सन्नहनस्योपरि दर्भान्तरैश्छादनं विधत्ते । तदुपपादयति—अथ बर्हिः स्तृणाति । अयं ह वै स्तुपः प्रस्तरोऽथ यान्यवाञ्चि लोमानि तान्येवास्य यदितरं बर्हिस्तान्येवास्मिन्नेतद्दधाति तस्माद् बर्हिः स्तृणाति । (श० १।३।३।७)

बर्हिषः स्तरणं विधत्ते—अथेति । स्तृणाति वेदिं छादयति तत्प्रशंसति—अयं हेति । अयं प्रस्तरः ऊर्ध्वबद्धकेशसंघातात्मकः स्तुपः । अथ यान्यवाञ्चि लोमानि श्मश्रुप्रभृतीनि यान्यवाङ्मुखानि लोमानि तान्येवास्मिन्निदधाति । स्तीर्यमाणेन बर्हिषा अस्य यज्ञस्य तान्येव सम्पद्यन्त इत्यर्थः । तस्माद् बर्हिः स्तृणाति । प्रकारान्तरेणापि बर्हिस्तरणं समर्थयते । योषा वै वेदिः । तामेतद्देवाश्च पर्य्यासते ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्तेष्वेवैनामेतत्पर्यासीनेष्वनग्नां करोत्यनग्नताया एव तस्माद् बर्हिः स्तृणाति । (श० १।३।३।८)

हविर्ग्रहणायागत्य ये देवा वेदेः परित उपविशन्ति, ये च शुश्रुवांसः प्रयोगाभिज्ञाना अनूचाना अनुष्ठातार ऋत्विजो ब्राह्मणास्तेषु पर्यासीनेषु स्त्रीरूपा इयं वेदिः स्वयमनावृता सती तेभ्यो लज्जावती भवति, अतस्तस्या बर्हिषाच्छादनमनग्नतायै सम्पद्यते । तस्माद् बर्हिस्तरणं कर्तव्यम् । यावती वा वेदिस्तावती पृथिव्योषधयो बर्हिस्तदस्यामेवैतत्पृथिव्यामोषधीर्दधाति । ता इमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्माद् बर्हिः स्तृणाति ॥' (श० १।३।३।९) ।

है । 'स्वाहा' शब्द 'निपात' है, देवताओं के प्रति 'दान' वाचक है, क्योंकि श्रुति ने कहा है—'स्वाहाकारं च वषट्कारं च देवा उपजीवन्ति' । स्वाहाकार और वषट्कार के आश्रय से देवता रहते हैं ।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए जो कहा है, वह सब उनकी कल्पनामात्र है, उस कल्पना का कोई आधार नहीं है । यज्ञ को पृथिवी का व्युन्दन कहा है, किन्तु वह सम्भव नहीं है । विविध ओषधियों के क्लेदन की बात को स्पष्ट नहीं किया है । यज्ञ को जब उलूखल कह दिया तो वही उसकी शिखा कैसे होगी । किसी श्रुति को भी अपने समर्थन में नहीं पा सकते, क्योंकि जिस श्रुति को आप देंगे, उसमें उलूखल का प्रसंग ही नहीं है । उस श्रुति में तो प्रस्तरग्रहण का विधान किया है । अतः स्वामी दयानन्द की व्याख्या निराधार रहने से सर्वथा उपेक्षणीय है । इस सम्बन्ध में विस्तार से जानना हो तो ऊपर दिये गये करपात्रभाष्य का अध्ययन करना चाहिये । हिन्दी में तो बहुत ही संक्षेप में भाष्य का सारमात्र दे दिया गया है ।

प्रकारान्तरेण तत्प्रशंसति। वेदिरियं सम्पूर्णपृथिवीरूपा बर्हींषि चौषधिरूपाणि बर्हिस्तरणं पृथिव्यामोषधीनामेव प्रतिष्ठापनं मन्तव्यम्। तस्मात्तद्युक्तमेव। तद्वै बहुलं स्तृणीयादित्याहुः। यत्र वा अस्यै बहुलतमा ओषधयस्तदस्या उपजीवनीयतमं तस्माद् बहुलं स्तृणीयादिति तद्वै तदाहर्तर्येवाधि त्रिवृत् स्तृणाति त्रिवृद्धि यज्ञोऽथो अपि प्रबर्हं स्तृणीयात् स्तृणन्ति बर्हिरानुषगिति ह्युषिणाऽभ्यनूक्तमधरमूलं स्तृणात्यधरमूला इव हीमा अस्यां पृथिव्यामोषधयः प्रतिष्ठितास्तस्मादधरमूलं स्तृणाति। (श० १।३।३।१०)

स्तरणस्य श्लक्ष्णतां विधत्ते—बहुलं निरन्तरं यथा भूमिर्न दृश्येत तथा स्तृणीयादित्यभिज्ञा आहुः। तथा वदतामभिप्रायमाह—यत्र वा अस्यै इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (पा० सू० २।३।६) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन। अस्याः पृथिव्याः संबन्धिनि स्थाने ओषधीनां बाहुल्यं भवति। तदेव स्थानं सर्वैः प्राणिभिरतिशयेनोपजीव्यं भवति। तस्मादुपजीवनीयत्वसिद्धये बहुलं स्तरणं कर्तव्यमित्यनेनाभिप्रायेण। भूमेरुपजीवनीयतमत्वेऽपि यजमानस्य को लाभ इत्यपेक्षायामाह—तद्वै तदाहर्तर्येव तस्य बर्हिषो य आहर्ता यजमानः, तस्मिन्नेव बहुलस्तरणकृतमुपजीवनीयतमं भवति, अनुष्ठेयक्रियाफलस्य कर्तृगामित्वात्।

'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्' (मी० सू० ३।७।१८)। स्तरणस्य त्रिवृत्त्वं विधत्ते—त्रिभिर्मुष्टिभिर्बर्हिस्त्रिधा यथा भवति तथा वेदिं छादयेत्। सवनत्रयवत्त्वेन त्रिवृद्धि यज्ञः। तत्रैकं मुष्टिं वेदेः पूर्वभागे स्तीर्त्वा द्वितीयं तन्मध्यभागे पूर्वमुष्टिना सम्बद्धं स्तृणीयात्। ततस्तृतीयं मुष्टिमपि वेदेरपरार्धे द्वितीयमुष्टिना संबद्धं स्तृणीयात्। एवं स्तरणं प्रत्यक्परिसमाप्तिरित्येकः पक्षः। पक्षान्तरमाह—अथो अपि प्रबर्हं प्रवृह्य प्रथममुष्टिं वेद्यपरार्धे स्तीर्त्वा तस्याग्रमुद्यम्याधस्तात् तत्सम्बद्धद्वितीयं मुष्टिं स्तृणीयात्। एवमेव तृतीयमपि। एवं मुष्टित्रयस्य परस्परसम्बन्धं ऋङ्मन्त्रोद्धरणेन द्रढयति—स्तृणन्तीति। अनुषक्तं परस्परसम्बद्धं बर्हिरध्वर्यवः स्तृणन्तीति ऋक्पादस्यार्थः। अतोऽस्मान्मन्त्रलिङ्गात् पूर्वमुष्टिं प्रवृह्य अधस्तात् तत्संसक्तमेवापरं मुष्टिं स्तृणाति। अस्मिन् पक्षे स्तरणस्य प्रागवर्गता पक्षद्वयेऽपि। बर्हिर्मूलस्याधरत्वं विधाय प्रशंसति—'स स्तृणातीति। ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्य इति साध्वीं देवेभ्य इत्येवैतदाहोर्णम्रदसं त्वेति। स्वासस्थां देवेभ्य इति स्वासदां देवेभ्य इत्येवैतदाह।' (श० १।३।३।११)। विहितं स्तरणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स स्तृणातीति। ऊर्णम्रदसमिति मन्त्रगतपदद्वयस्य पर्यवसितमर्थमाह—साध्वीमिति। ऊर्णासूत्रनिर्मितकम्बलवद् मृदुभूतां त्वां हे वेदे स्तृणामीत्यस्य साध्वीं देवेभ्यः प्रीतिकरीमित्यर्थः सम्पद्यते। मन्त्रस्य द्वितीयभागमनूद्य व्याचष्टे—स्वासस्थामिति। सुखेनासितुमुपवेष्टुं योग्यां स्वासस्थाम्। एतस्यैवाभिप्रायः स्वासदां सुखेनासितुमुपवेशनं कर्तुं शक्या स्वासदा तामित्यर्थः। अत्र ऊर्णपदस्य धान्याच्छादनतुषार्थकरणेनोलू-

मन्त्र का अर्थ यह है—हे प्रस्तर! तुम यज्ञरूप विष्णु को शिखा (स्तुप) हो, क्योंकि यज्ञ के समीप ही पूर्व भाग में तुम्हारी स्थापना होने से तुम्हें शिखा के रूप में समझा जाता है। शिखा भी निकट और शिर के पूर्वभाग में रहती है।

स्वामी दयानन्द ने 'ऊर्णम्रदसम्' का अर्थ 'पाषाणमय उलूखल' किया है, किन्तु वह निर्मूल है। आगे चलकर 'देवेभ्यः स्वासस्थाम्' का अर्थ भी याज्ञिक विधि परम्परा (प्रक्रिया) का ज्ञान न रहने से निरर्थक हो गया है। इसी तरह 'स्वाहा' शब्द का अर्थ भी नहीं कर पा रहे हैं। स्वाहा शब्दों का यहाँ एक ही अर्थ होता, तो उनके भिन्न-भिन्न प्रयोग करने की आवश्यकता ही क्यों होती? निरुक्त का उद्धरण देकर जो जो अर्थ बताया है, उससे स्पष्ट होता है कि उन्हें निरुक्त का भी ज्ञान नहीं है। 'स्वाहाकृतमदन्तु देवाः' ऋग्वेद की इस ऋचा को और मैत्रायणी श्रुति को देखने से 'स्वाहा' शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इससे सम्बद्ध चर्चा सम्यक्तया विस्तार के साथ भूमिका

खलार्थग्रहणम्, तस्य च यज्ञस्तुपत्वाङ्गीकरणं सर्वथा वैदिकसम्प्रदायानभिज्ञतामूलकमेव। शतपथदृष्ट्या मनुष्यातिरिक्ता जातिविशेषा देवा भवन्ति। तेषाञ्च यज्ञे समागमनं भवति। वेदिश्च योषारूपेति तस्या अनग्नतायै बर्हिराच्छादनं युज्यते। प्रस्तरपदेन कुशमुष्टिरभिप्रेयते। तस्मिन् ऊर्ध्वसम्बद्धकेशसङ्घातरूपत्वाद् यज्ञस्य स्तुपत्वारोपः। अथाग्निं कल्पयतीत्यग्नेः प्रबलीकरणविधानं क्लृप्तं हविर्दहनसमर्थं करोति। तच्चाहवनीयस्यैवेति तत्र शिरस्त्वारोपः। यथा देहस्य पूर्वभागः शिरो भवति, तथैवाहवनीयोऽपि वेदेः पूर्वभागेऽवस्थानाद् यज्ञस्य शिरो भवति। अत आहवनीयाग्निप्रबलीकरणेन यज्ञस्य शिर एव क्लृप्तं भवति। तदानीमेव अग्नेरत्यन्तसन्निकृष्टोपरिभागे प्रस्तरस्य धारणं विधत्ते—उपर्युपरि प्रस्तरं धारयन्तं कल्पयति। यज्ञशिरस आहवनीयस्योपरि प्रस्तरं धारयन् एतमेव केशसंघातरूपं स्तुपमेवैतस्मिन् प्रतिसन्दधातीति द्वादशकण्डिकाभिप्रायः।

'अथ परिधीन् परिदधाति' इति परिधिविधानम्। परितो धीयन्त इति परिधयः। 'उपसर्गे घोः किः' (पा० सू० ३।३।९२) कर्मणि प्रत्ययः। परिधिपरिधानोपपादनायेतिहासमाह–यत्रेममग्निं पुरा देवा होत्राय होतृकर्मणे प्रावृणत प्रवृतवन्तः। तदानीमग्निरुक्तवान्—न खल्वहमिदानीमुत्साहं करोमि यद् युष्माकं होता स्यां हव्यं च वहेयमिति। यतो हे देवा यूयं मदीयान् पूर्वपुरुषान् त्रीनग्नीन् प्रवृतवन्तः स्थ। ते च तत एव प्राधन्विषु प्रामृषन्। तच्च पूर्वमाम्नातम्—'चतुर्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास' (श० १।२।३।१)। तान् मदीयान् पूर्वजान् अवकल्पयत मूर्तिसामर्थ्ययुक्तान् कुरुत। अथ होता भवितुमुत्साहं करिष्ये। ते च देवास्तथेत्यङ्गीकृत्य एतान् समर्थान् मूर्तियुक्तानकुर्वन्। ते चेमे परिधयो जाताः। आख्यायिकारूपोऽयमितिहासः सुखावबोधार्थः, न घटनामूलकः, मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यानादित्वात्। एवमाख्यायिकया परिधीनामुत्पत्तिं प्रतिपाद्य तैरग्नेः परिधानं कार्यमित्यपि प्रतिपादितम्। देवान् प्रत्यग्निरुवाच—प्रावृणकवषट्काराद्भीतं मां प्रकर्षेणावर्जयत रक्षत येन परिधानेन हे देवा वषट्कारात्मको वज्रो मां यथा न हिंस्यात् तदेतन्मम परिधानं कुरुत। देवास्तथाङ्गीकृत्य परिधिभिः पर्यदधुः। अतो देवैः परिधानकरणात् तमग्निं वज्रात्मको वषट्कारो नाबाधिष्ट। अतः परिधिपरिधानमग्नेः कवचबन्धनमेवेत्यवश्यं तत्कर्तव्यमिति भावार्थः। (श० १।३।३।१४)

'ते उ हैत ऊचुः। इदमु चेदस्मान् यज्ञे युङ्क्थास्त्वेवास्माकमपि यज्ञे भाग इति' (श० १।३।३।१५)। तथेति देवा अब्रुवन्। यद् बहिष्परिधि स्कन्त्स्यति तद्युष्मासु हुतमथ यद्धि उपर्युपरि होष्यन्ति तद्वोऽभविष्यत्यथ यदग्नौ होष्यन्ति तद्वो भविष्यतीति। स यदग्नौ जुह्वति तदेनानवति। अथ यदेनानुपर्युपरि जुह्वत्यथ यद् बहिष्परिधि स्कन्दति तदेतेषु हुतं तस्मादु ह नाग इव स्कन्नं स्यादिमां वैते पृथिवीं प्राविशन्। यद्वा इदं किञ्च स्कन्दत्यस्यामेव

में की गई है। शतपथ ब्राह्मण में जैसी व्याख्या है, तदनुसार ही प्राचीन आचार्यों ने व्याख्या की है। एवं च शतपथ, काण्वभाष्य, पारस्करगृह्यसूत्र, कात्यायनश्रौतसूत्र, तैत्तिरीयब्राह्मण, छान्दोग्यब्राह्मण आदि प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों के विरुद्ध व्याख्यान स्वामी दयानन्द ने किया है। अतः स्वामी दयानन्द का व्याख्यान उनका अपना कल्पनाजाल रहने से निराधार ही है। तथा भुवपति, भुवनपति, भूतानाम्पति—इन मन्त्रगत शब्दों का मन-माना अर्थ स्वामी दयानन्द ने किया है। ये तीनों नाम जिनके हैं, उनके न बताकर और ही किसी के बता रहे हैं। माता-पिता ने 'दयानन्द' नाम जिसका रखा है, उसका न बताकर, यदि 'दया का आनन्द है जिसमें, वह 'दयानन्द' है' कहा जाय, तो किसी भी व्यक्ति को 'दयानन्द' शब्द से समझा जा सकेगा, तब स्वामी जी का बोध नहीं हो पायगा। अतः 'नाम' शब्दों में मन-मानी व्युत्पत्ति नहीं की जाती। जिसका नाम है, उसी का बोधन उस नाम से किया जाता है। दयानन्द स्वामी के किसी अनुयायी ने 'परिधियों' को 'इध्म' के अवयव बताया है, जब कि 'परिधि' को पलाशरूप ब्रह्म का विकार होना शतपथ ब्राह्मण बता रहा है। अतः शतपथ ब्राह्मण के विरुद्ध व्याख्यान

तत्सर्वं प्रतितिष्ठति ।' (श० १।३।३।१६) । अथ स्कन्नमभिमृशति—भुवपतये स्वाहा, भुवनपतये स्वाहा, भूतानां-पतये स्वाहेत्येतानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद्भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानांपतिस्तद्यथा वषट्कृतं हुतमेवमस्यै-तेष्वग्निषु भवति ।' (श० १।३।३।१७)। प्रसङ्गाद् भुवःपतये इत्यादिमन्त्रैः स्कन्नस्य हविषोऽभिमर्शनं विधित्सुः परिधिरूपेणावस्थितानां भुवपत्यादिसंज्ञकानां तेषामग्नीनां स्कन्नद्रव्यभाक्त्वमुच्यते—ते उ हेत्यादिना । त ऊचुः—अस्मांश्चेद्यज्ञे पुनः युङ्क्थाः, तर्ह्यस्माकमपि यज्ञे कश्चिद्भागोऽस्त्विति । ते देवास्तथेति प्रत्यश्रृण्वन् चैवमब्रुवन् परिधीनां बाह्यदेशे यद्धविः स्कन्त्स्यति तद्युष्मासु हुतमस्तु, युष्मद्भागो भवत्वित्यर्थः । अथ च युष्माकमुपर्युपरि यद्धविः होष्यन्ति तद्वो युष्मान् अविष्यति तृप्तान् करिष्यति । 'अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमेषु'। यच्चाग्नौ होष्यन्ति तदपि युष्माकं तृप्तिकरमस्त्विति । एवं देवैस्तेषामग्नीनां भागो दत्तः । यस्मादेवं तस्मादिदानी-मप्यग्नौ हवनादिकमेनांस्तर्पयति । यस्मादेवं परिधिरूपाग्नीनां स्कन्नं हविर्भागत्वेन परिकल्पितं तस्मात् स्कन्नं यद् आगः अपराधो न भवति । ते प्रगता अग्नय इमां भूमिं प्रविष्टाः । यदाज्यादिकं किमपि हविः स्कन्दति तत्सर्वं पृथिव्यामेव प्रतितिष्ठति । एवं तेन स्कन्नेन तत्रत्याग्नीनां सम्बन्धात् तृप्तिर्भविष्यतीति न स्कन्नदोषः । एवं स्कन्नं हविः परिधिरूपेणावस्थितानां भूमौ प्रविष्टानामग्नीनां भाग इत्युपपाद्य तत्तदग्नीनां नामधेययुक्तैर्मन्त्रै-स्तस्याभिमर्शनं विधत्ते—स स्कन्नमिति । तत्रैवं नामोद्देशेनाभिमर्शने कृते सति यथा वषट्कृतं वषट्कारेण प्रत्तं हविस्तस्यै देवतायै हुतं भवति, एवमेवास्य यजमानस्य भुवपत्यादिनामकेषु परिधिरूपाग्निषु तत्स्कन्नं हविर्हुतं भवति । एतत्सर्वमविज्ञायैव भुवपतये इत्यादिभिर्भूपतिलोकलोकान्तरपतितत्रत्यभूतानांपतिभ्यः स्वाहा वाच्येत्याद्यर्थः कृतः । अत्र स्पष्टमेव तेषामग्नीनां नामानि यद्भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिरित्यग्निनामान्येतानि । नहि दयानन्दपदेन दयाया आनन्दो यत्र स दयानन्दो यः कश्चिदपि ग्रहीतुं शक्यते ।

तेषां परिधीनामिध्मावयवत्वं केचिन्मन्यन्ते, तदपाकरोति । अग्निसमिन्धनाय हीध्मः क्रियते, अतस्तदवयवानां समिन्धनसामर्थ्यमेव, न तु परिधानसामर्थ्यमिति तदनवक्लृप्तिरेव । (श० १।३।३।१८) 'ते वै पालाशाः स्युः । ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्माग्निरग्नयो हि तस्मात् पालाशाः स्युः' (श० १।३।३।१९)। परिध्युपादानवृक्षानुत्तराननुकल्पतयोपादेयान् विधत्ते—पालाशा इति । ते खलु पलाशवृक्षजा भवेयुः । 'ब्रह्म वै पलाशः। ब्रह्मविषयस्य श्रवणात् पलाशवृक्षो ब्रह्मात्मकः। देवा वै ब्रह्मन्नवदन्त तत् पर्ण उपाश्रृणादिति' (तै० ब्रा० ३५।७।३)। अग्निवाय्वादित्यरूपेण हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मण एवास्थानादग्निरपि ब्रह्मात्मकः। तादृगग्न्यात्म-कत्वं च परिधीनां प्रतिपादितमेव । अतोऽग्निरूपब्रह्मात्मकानां परिधीनां पलाशरूपब्रह्मविकारत्वं युक्तमित्यर्थः। 'यदि पलाशान्न विन्देत्, अथो अपि वैकङ्कताः स्युर्यदि वैकङ्कतान्न विन्देदथो अपि कार्ष्मर्यमयाः स्युर्यदि कार्ष्मर्यमयान्न विन्देदथो अपि बैल्वाः स्युरथो खादिरा अथो औदुम्बरा एते हि वृक्षा यज्ञियास्तस्मादेतेषां वृक्षाणां

करना दयानन्दीय कल्पनाजाल होने से निराधार ही है। 'स्तुप' शब्द में सायणाचार्य के द्वारा प्रदर्शित व्याकरण प्रक्रिया को तथा महीधराचार्य की उक्ति को दूषित बताने का जो दुःसाहस किया है, वह भी व्याकरण प्रक्रिया न जानने का ही परिणाम है । अतः सायण-महीधर आदि की उक्ति युक्तियुक्त ही है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ यह होगा—हे आत्मन् ! तुम अखण्ड चिदानन्दरूप अदिति भगवती के चित्त को आर्द्र कर देने वाले हो । सर्वपालक विष्णु यज्ञ के शिखा (स्तुप) रूप हो । उसी के अंश रूप तुम हो, इसलिये ऊर्णा वस्त्र के समान कोमल भूमि बनाने के निमित्त सुखपूर्वक आसन पर बैठ सको, इस उद्देश्य से उस भूमि पर कुशाओं को बिछा रहा हूँ । जैसे प्रभु के बैठने के लिये बड़े कम्बल को तह करके पृथ्वी पर बिछाया जाता है, जिससे पृथिवी की कठोरता दूर होकर वह मृदु प्रतीत होती है, उसी तरह देवताओं के उपकारार्थ उनके सुखपूर्वक बैठने योग्य तुम्हें बना

भवन्ति' (श० १।३।३।२०)। स्पष्टमेवातो न व्याख्यायते। 'ते वा आर्द्राः स्युः। एतद्ध्येषां जीवनमेतेन सतेजस एतेन वीर्यवन्तस्तस्मादार्द्राः स्युः।' (श० १।३।४।१) इति परिधीनामार्द्रताविधानं प्रशंसनं च। आर्द्रत्वं खलु जीवतां जीवनलिङ्गम्। स्थावरजङ्गमादिशरीरे यत्र खल्वार्द्रत्वं भवति, ते सतेजसोऽवयवकान्तिलक्षणेन तेजसा युक्ता भवन्ति वीर्यवन्तश्च भवन्ति। अतः सतेजस्त्वादिसिद्धये ते परिधय आर्द्राः कार्याः। आर्द्रस्य सजीवत्वं शुष्कस्य निर्जीवत्वं छन्दोगैराम्नायते—'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याद् जीवन् स्रवेत्...... यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति' (छा० ब्रा० ८।११।१–३)। काण्वोऽपि स्कन्नमभिमृशति भुवपतये स्वाहेति ... भुवपत्याद्यास्त्रयोऽग्नेर्भ्रातरः। स्वाहाशब्दो देवान् प्रति दानवाची निपातितः। अत एव बृहदारण्यके श्रूयते—देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं चेति। एतेऽग्निभ्रातरो देवेभ्यो हव्यं वहन्तो यदा मृतास्तदानीमग्निः स्कन्नं हविर्भ्रातृभ्यो भवत्विति वरं वृतवान्। अग्नेस्त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन् देवेभ्यो हव्यं वहन्तः प्रमीयन्तेत्यारभ्यान्ते स्पष्टमुवाच सोऽब्रवीद्वरं वृणै यदेवागृहीतं स्याद्धुतस्य बहिःपरिधि स्कन्देत्तन्मे भ्रातॄणां भागधेयमसदिति। तस्माद्यदगृहीतं स्यात् यद्धुतस्य बहिःपरिधिः स्कन्दति, तेषां तद्भागधेयं तानेव तेन प्रीणातीति। तस्माद्‌यानन्दीयकल्पनाजालं निराधारमेव।

स्तुप इति। 'स्त्यः सम्प्रसारणमूश्च' (उ० ३।२५) इत्यनेन स्त्यैधातोः सम्प्रसारणमिकारस्थान ऊश्चकारात् पश्चप्रत्ययः निश्च, नित्वादाद्युदात्तः। यत्तु 'निदित्यनुवृत्तेराद्युदात्तत्वम्' इति सायणोक्ति दूषयतोक्तम्—'निद्ग्रहणं कुतोऽनुवर्तत इति न ज्ञायते, पूर्वं निद्ग्रहणस्याभावात्' इति, तदज्ञानविजृम्भितम्, 'स्त्यः सम्प्रसारणमूश्च' (उ० ३।२५), 'सशूभ्यां निच्च' (उ० ३।३६) (उणादिप्रक्रियासर्वस्वे) इत्यनुवृत्तिशब्दस्यानुकर्षार्थत्वात्। तथा च सायणोक्तिर्निदित्यनुकर्षादाद्युदात्तत्वमित्यर्थिका। वस्तुतस्तु 'उणादयो बहुलम्' (पा० सू० ३।३।१) इत्यनेनैव सर्वकार्यसिद्धेरुणादिप्रक्रियाया अव्यवस्थैवाङ्गीकार्या। अत एव 'ष्टुचै स्त्यै शब्दसङ्घातयोः, औणादिको डुप्प्रत्ययः' इति महीधरोक्तिरपि समीचीनैव। यत्तु'—यलोपाभावाद्रूपासिद्धिः, प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तत्वापत्तिश्च प्रकृते चान्तोदात्त एवास्ति' इति, तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, बाहुलकत्वेनोभयसिद्धौ बाधाभावात्। एतेन काण्वसंहिताभाष्यकारसायणोक्तिरपि समाहितैव।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे आत्मन् त्वमदित्यै अखण्डचिदानन्दस्वरूपाया भगवत्याश्चित्तस्य व्युन्दनमसि क्लेदनं यथा स्यात्तथा भवसि। विष्णोर्यज्ञस्य सर्वपालकस्य स्तुपोऽसि शिखारूपोऽसि, तदंशत्वात्। ऊर्णम्रदसं ऊर्णावन्मृद्वीं भूमिं त्वां स्वासदां स्तृणामि। यथा प्रभोरुपवेष्टुं कम्बलं बहुभक्तियुक्तत्वेन सङ्कोच्य भूमावास्तृणन्ति, सा च भूमिः काठिन्यं परित्यज्य मृदुर्भवति, तथा देवेभ्यः स्वासस्थां देवानामुपकारार्थं सुखेनासितुं स्थानभूतां त्वां करोमि। यथा शेषो विष्णोः शेषः सन् तत्सेवार्थं स्वात्मानं तदुपकरणभूतशय्यारूपेणोपकल्पयति, तथैव साधको भगवन्तं प्रति स्वमपि स्वासस्थामूर्णम्रदसं करोति, तादृशी भावना च वेदपुरुषेण साध्यते। अतः स एवाह—ऊर्णम्रदसं त्वां स्तृणामीति। भक्ताश्च तथैव स्वां भावनां व्यञ्जयन्ति। तथा चोक्तम्—

रहा हूँ। जैसे शेषराज भगवान् विष्णु का अंग बनकर उनकी सेवा करने के लिये अपने आपको उनके उपकरण रूप शय्या के स्थान में कल्पित करता है, उसी तरह साधक व्यक्ति भगवान् के प्रति अपने को भी सुख से बैठने योग्य ऊर्णा वस्त्र के समान कोमल बना देता है, यह भावना वेदपुरुष के द्वारा प्रकट की गई है। अत एव वह वेद ही 'ऊर्णम्रदसं त्वां स्तृणामि' कह रहा है। उसी तरह भक्तजन भी अपनी भावना को व्यक्त करते हैं। एक पद्य के द्वारा भक्त ने अपनी भावना को इस प्रकार प्रकट किया है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशं विशन्तु स्फुटम्, धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गणव्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥

उपासकश्च स्वात्मानं सोपकरणं परमात्मने समर्पयति - भुवपतये विराड्रूपायाहं स्वीयं पार्थिवदेहादिकं समर्पयामि । भुवनपतये सर्वलोकाधिपतये हिरण्यगर्भाय भगवते सूक्ष्मदेहं मनोबुद्ध्यादिकं समर्पयामि । भूतानां प्राणिनां पतये शुद्धपरमेश्वराय शुद्धमात्मानं समर्पयामि । स्वाहाशब्दो देवान् प्रति दानवाचीत्युक्तमेव ॥ २ ॥

'गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्टयै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः । इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्टयै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः । मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्टयै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः ॥ ३ ॥

'परिधीन् परिदधाति मध्यमदक्षिणोत्तरान् गन्धर्व इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २।८।१)। गन्धर्व इति मन्त्रत्रयेण आर्द्रानेकवृक्षोद्भवान् बाहुप्रमाणान् पलाशविकङ्कतकाष्मर्यबिल्ववृक्षीयान् पूर्वपूर्वालाभे उत्तरोत्तरान् मध्यमे दक्षिणे उत्तरे च त्रीन् परिधीन् परिदध्यादध्वर्युः । हे परिधे ! विश्वावसुर्गन्धर्वः,

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशं विशन्तु स्फुटम्, धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम् ।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गणव्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥

उपासक अपने को उपकरण के सहित परमात्मा के चरणारविन्द पर अर्पण कर देता है। विराट् रूप भुवपति के लिये अपने पार्थिव देह आदि को समर्पित कर देता है। सर्व लोकाधिपति भुवनपति हिरण्यगर्भ भगवान् के लिये मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म देह को अर्पण कर देता है। 'भूतानांपतये' अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र के पति शुद्ध परमेश्वर के प्रति अपनी आत्मा को ही अर्पित कर देता है। 'स्वाहा' शब्द देवताओं के प्रति दिये जाने वाले 'दान' का वाचक है ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे परिधे ! विश्वावसु नाम का गन्धर्व आहवनीय अग्नि के पश्चात् चारों ओर तेरी स्थापना करे, जिससे जगत् की हिंसा नहीं हो सकेगी। तू यजमान का परिधि है और तू आहवनीय का भुवपति नाम का भाई है, इस कारण होता आदि ऋत्विजों ने तेरी स्तुति की है। हे दक्षिणपरिधे ! तू इन्द्र का दक्षिण हस्त है। तू यजमान का परिधि है और आहवनीय का तू भुवनपति नाम का दूसरा भाई है। होता आदि ऋत्विजों ने तेरी स्तुति की है। विश्व की अहिंसा के निमित्त वह इन्द्र दक्षिण की ओर तेरी स्थापना करे। हे उत्तरपरिधे ! मित्रावरुण (वायु और आदित्य) स्थिर धारणा के द्वारा विश्व की अहिंसा के हेतु उत्तर दिशा में तुम्हारी स्थापना करे। तू यजमान का परिधि है। तू आहवनीय का भूतानांपति नाम का तीसरा भाई है। होता आदि ऋत्विजों ने तुम्हारी स्तुति की है। 'गन्धर्वस्त्वा' आदि प्रत्येक मन्त्र से 'मध्यमः' दक्षिण और उत्तर की ओर परिधियों को रखे ॥ ३ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार 'गन्धर्वः' इस मन्त्र से अध्वर्यु यज्ञिय वृक्षों से सुलभ होने वाली एक ही वृक्ष की और आर्द्र, बाहु प्रमाण के बराबरी की परिधियों को मध्यम, दक्षिण और उत्तर में स्थापित करे। इन तीन

विश्वस्मिन् सर्वस्मिन् प्रदेशे वसतीति विश्वावसुः। द्युलोकस्थं सोमं रक्षितुं तत्पार्श्वे सर्वत्र गन्धर्वोऽसदिति श्रुतिकथा। त्वां परिदधातु आहवनीयस्य पश्चात् सर्वतः स्थापयतु। किमर्थम्? विश्वस्य अरिष्टयेऽनपघाताय। (रुष रिष हिंसायाम्) रिष्टिर्हिंसा, न रिष्टिररिष्टिः। यद्वा आहवनीयस्थानरूपस्य विश्वस्य हिंसापरिहाराय। परिध्यभावेऽसुरा प्रविश्य हिंसन्ति। न केवलमाहवनीयस्य किन्तु त्वं यजमानस्यापि परिधिरसि यजमानमपि रक्षितुं पश्चिमदिशि स्थापितोऽसि। किञ्च, अग्निरसि आहवनीयस्य प्रथमो भ्राता भुवपति-नामाग्निस्त्वमसि इडे स्तोत्राय यद्वा ईडयते स्तूयते इतीड् प्रथमान्त एव, स्तुतियोग्यस्त्वमित्यर्थः। अत एव ईडितः होत्रादिभिः स्तुतः। दक्षिणं परिधिं दधाति। इन्द्रस्य बाहुरसि हे द्वितीयपरिधे त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि। रक्षणसमर्थत्वात् तत्रेन्द्रबाहुत्वोपचारः। व्याख्यातमन्यत्। अत्राग्निशब्देन भुवनपतिनामा द्वितीयो भ्रातोक्तः। तृतीयमुत्तरं परिधिं परिदधाति—हे तृतीयपरिधे! मित्रावरुणौ वाय्वादित्यौ ध्रुवेण स्थिरेण धर्मणा धारणेनोत्तरस्यां दिशि त्वां परिधत्तां परितः स्थापयताम्। अत्राग्निर्भूतानांपतिस्तृतीयो भ्राता। अन्यत् पूर्ववत्।

अत्र स्वामिदयानन्दः–'यो गां पृथिवीं वाणीं वा धरति धारयति वा स गन्धर्वः सूर्यलोकः, त्वा तं विश्वावसुं विश्वं वासयति यः स परि सर्वतोभावे दधातु दधाति, लडर्थे लोट्। विश्वस्य सर्वस्य जगतोऽरिष्टये दुःखनिवारणेन सुखाय यजमानस्य यज्ञानुष्ठातुः परिधिः परितः सर्वतः सर्वाणि वस्तूनि धीयन्ते येन सः असि भवति, पुरुषव्यत्ययः। अग्निः इडः स्तोतुमर्हः, वर्णव्यत्ययेन ह्रस्वादेशः। ईडितः स्तुतः। इन्द्रस्य सूर्यस्य बाहुः बलं बलकारी असि अस्ति। दक्षिणो वृष्टेः प्रापकः। दक्षधातोर्गत्यर्थत्वादत्र प्राप्त्यर्थो गृह्यते। विश्वस्य प्राणिसमूहस्य अरिष्ट्यै सुखाय यजमानस्य शिल्पविद्यां चिकीर्षोः परिधिः विद्यापरिधानम्, असि भवति। अग्निः विद्युत् इडः दाहप्रकाशादिगुणाधिक्येन स्तोतुमर्हः, ईडित अध्येषितः, मित्रावरुणौ विश्वस्य प्राणापानौ 'प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः' (श० ८।२।४।६)। त्वा तम् उत्तरत उत्तरकाले परिधत्तां सर्वतो धारयतो वा। ध्रुवेण निश्चलेन धर्मणा स्वाभाविकधारणशक्त्या विश्वस्य अरिष्ट्यै सुखहेतवे यजमानस्य सर्वमित्रस्य परिधिः सर्वशिल्पविद्यावधिः, असि भवति। अग्निः प्रत्यक्षो भौतिकः, इडो विद्याप्राप्तये स्तोतुमर्हं ईडितो विद्यामीप्सुभिः सम्यगध्येषितः। विद्वद्भिर्योऽयं गन्धर्वो विश्वावसुः परिधि-रिडोऽग्निरीडितोऽस्ति, स विश्वस्य यजमानस्य चारिष्ट्यै यज्ञं परिदधाति। तस्मात् त्वा विद्यासिद्धयर्थं मनुष्यो यथावत्परिदधातु। विदुषां यो वायुरिन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणः परिधिरिड ईडितोऽस्याग्निश्चास्ति, स सम्यक्-प्रयोजितो यजमानस्य विश्वस्य चारिष्ट्यै भवति। यौ ब्रह्माण्डस्थौ गमनागमनशीलौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ स्तस्तौ ध्रुवेण धर्मणोत्तरतो विश्वस्य यजमानस्यारिष्ट्यै त्वा तं यज्ञं परिधत्तां सर्वतो धारयतः। यो विद्वद्भिरिडः

परिधियों के नाम क्रमशः 'भुवःपति', 'भुवनपति' और 'भूतानांपति' हैं। इनकी स्थापना करने से विश्व की रक्षा होती है।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की जो व्याख्या और मन्त्र का भावार्थ दिया है, वह सब निःसार ही है। उनकी व्याख्या और भावार्थ ऊपर भाष्य में दिया गया है। उसे पाठकगण ऊपर के मूल भाष्य में पढ़ लें। वह व्याख्या लोकसिद्ध अर्थ की ही अनुवादक होने से अनधिगत अर्थ की ज्ञापक नहीं है, अतः उसे प्रामाण्य नहीं है। 'गन्धर्व, विश्वावसु, परिधि' शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ का त्याग किया है, किन्तु वह भी निर्मूल है। सूर्य वैद्युत अग्नि को यदि जड़ मान रहे हो, तो उनकी स्तुति क्यों कर रहे हो? जहाँ-तहाँ पुरुष व्यत्यय आदि का स्वीकार किया जाना भी निर्मूल है। उक्त मन्त्र की व्याख्या में आपने 'वायु' को इन्द्र का दक्षिणबाहु बिना किसी प्रमाण के ही बता दिया है और मजे की बात तो यह है कि मूल में कहीं भी 'वायु' शब्द का प्रयोग न होने पर भी उसकी व्याख्या की जा रही है। यह

त्वा मित्रावरुणौ नामकौ देवौ ध्रुवेण स्थिरेण धर्मणा धारणेन पोषणेन वा उत्तरत उत्तरस्यां दिशि परिधत्तां परितः स्थापयताम्। विश्वस्येत्यादि पूर्ववद्व्याख्येयम्। अत्राग्निशब्देन भूतानांपतिनामकस्तृतीयो भ्राता विवक्षितः।

अध्यात्मपक्षे हे परमेश्वर! विश्वावसुगन्धर्वस्त्वा विश्वस्यारिष्टचै परिदधातु। यजमानस्य परमेश्वराराधनलक्षणे यज्ञे प्रवर्तनस्य परिधिरसि यजमानं रक्षितुं स्थापितोऽसि। त्वमेवाग्निः, इडः स्तुत्यः, ईडितोऽसि। त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि उपेन्द्ररूपत्वात्। मित्रावरुणौ देवौ त्वा उत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण स्थिरेण धर्मणा धारणेन पोषणेन वा स्थापयताम्। सर्वात्मत्वाच्च शतपथाद्युक्तभुवपत्यादिपरिध्यग्न्यादिरूपेणापि परमेश्वर एव स्तूयते ॥ ३ ॥

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि ।
अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥ ४ ॥

'प्रथमं परिधिं समिधोपस्पृश्य वीतिहोत्रमित्यादधाति' (श० १।२।८।२)। अग्निकल्पनार्थं गृहीतया समिधा परिधिमुपस्पृश्य उत्थाय तां समिधमाहवनीये प्रक्षिपेदध्वर्युः। इयमग्निदेवत्या गायत्रीछन्दस्का ऋक्। हे कवे सन्निकृष्टविप्रकृष्टातीतानागतवर्तमानसर्वज्ञानवत् क्रान्तदर्शिन् अग्ने! अध्वरे निमित्ते त्वां वयं समिधीमहि इध्मकाष्ठेन दीपयामः। कीदृशम्? वीतिहोत्रं विशिष्टा इतिः गतिः वीतिः पुत्रपौत्रपशुधनादिसमृद्धिः, तस्यै वीतये तादृक् समृद्धचै होत्रं होमो यस्य तं वीतिहोत्रम्, यत्र होमे कृते पुत्रादिसर्वाभीष्टसमृद्धिर्भवति, तादृशं त्वां दीपयामः। यद्वा वी गतिप्रजननकान्त्यसनस्वादनेषु। वीतिरभिलाषो होत्रे होतृकर्मणि यस्य तम्। तत एवाग्निर्देवहोतेति श्रुतिस्मृतिषु प्रसिद्धिः। पुनः कीदृशम्? द्युमन्तं द्यौः कान्तिरस्यास्तीति द्युमान्, तं द्युमन्तं स्वतो द्योतमानं स्वप्रकाशं बृहन्तं महान्तं त्वां समिधीमहि।

अत्र दयानन्दः—'वीतयो विज्ञापिता होत्राख्या यज्ञा येनेश्वरेण, यद्वा वीतयः प्राप्तिहेतवो होत्राख्या यज्ञक्रिया भवन्ति यस्मात् तं परमेश्वरं भौतिकं वा। 'वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनस्वादनेषु' इत्यस्य रूपम्। त्वा त्वां तं वा पक्षे व्यत्ययः, कवे सर्वज्ञक्रान्तप्रज्ञ कविं क्रान्तदर्शिनं भौतिकं वा द्युमन्तं द्यौर्बहुप्रकाशो यस्मिंस्तम्,

के लिये तुम्हारी स्थापना की गई है। तुम ही स्तुति करने योग्य 'अग्नि' स्वरूप हो, इसीलिये तुम्हारी स्तुति की जा रही है। तुम उपेन्द्र हो, अतः इन्द्र के दक्षिण बाहुरूप हो। मित्रावरुण नामक दोनों देवता, उत्तरदिशा में तुम्हारी स्थापना स्थिरतापूर्वक धारण-पोषण करते हुए करें। वह परमेश्वर सर्वात्मरूप होने से शतपथ आदि प्रामाणिक वचनों से बताये गये भुवपति आदि परिधि, अग्नि आदि के रूप में परमेश्वर की ही स्तुति की जा रही है ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे त्रिकालदर्शिन् अग्ने! समृद्धि के हेतु जिसका हवन किया जाता है, उस प्रकाशक महान् अग्नि को हम इन इध्मकाष्ठों से प्रकाशित करते हैं। प्रथम परिधि को समिध् से स्पर्श करके 'वीतिहोत्रम्' मन्त्र से आहवनीय में इध्मकाष्ठ का स्थापन करे ॥ ४ ॥

भाष्यसार—शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्नि की कल्पना करने के लिये गृहीत की हुई समिधा से परिधि का स्पर्श करके तदनन्तर खड़े होकर अध्वर्यु उस समिधा को आहवनीय में डाल दे। इस ऋक् की देवता 'अग्नि' है और 'गायत्री' छन्द है। हे कवे! तुम सन्निकृष्ट तथा विप्रकृष्ट, अतीत, अनागत और वर्तमान कालिक सर्वज्ञानवान् हो, इसीलिये तुम्हें क्रान्तदर्शी कहते हैं। अतः हे अग्ने! अध्वर (यज्ञ) के निमित्त हम तुमको इध्मकाष्ठ से सन्दीप्त करते हैं। तुम वीतिहोत्र

इधीमहि प्रकाशयेमहि। अग्ने ज्ञानस्वरूपपरमेश्वरप्राप्तिहेतुं भौतिकं वा बृहन्तं सर्वेभ्यो महान्तं सुखवर्षकमीश्वरं बृहतां कार्याणां साधकं भौतिकं वा अध्वरे मित्रभावेऽहिंसनीये यज्ञे वा हे कवे अग्ने जगदीश्वर! वयमध्वरे बृहन्तं द्युमन्तं वीतिहोत्रं त्वां समिधीमहि इत्येकः, वयमध्वरे वीतिहोत्रं द्युमन्तं बृहन्तं कवे कविं त्वां तमग्निं भौतिकं तमभिधीमहि इति द्वितीयः। भावार्थस्तु—यावन्ति क्रियासाधनानि क्रियया साध्यानि च वस्तूनि सन्ति तानि सर्वाणीश्वरेणैव रचयित्वा ध्रियन्ते। मनुष्यैस्तेषां सकाशाद् गुणज्ञानक्रियाभ्यो बहव उपकाराः संग्राह्याः' इत्याह।

तदपि तुच्छम्, सम्भवतीष्वपि परमेश्वरपरत्वव्याख्यानेऽग्निपरत्वव्याख्याने च तादृशीषु व्युत्पत्तिषु शतपथानुसारिव्याख्याविरुद्धत्वात्। अध्वरपदस्य प्रसिद्धयज्ञार्थतावाधोऽपि दूषणमेव। शतपथे तु—'अथ समिधमभ्यादधाति। स मध्यममेवाग्नेः परिधिमुपस्पृशति। तेनैतानग्रे समिन्धेऽथाग्नावभ्यादधाति तेनो अग्निं प्रत्यक्षं समिन्धे।' (श० १।३।४।५)। पूर्वाघारसमिधोऽभ्याधानं विधत्ते—अथ समिधमिति। वायव्यां दिशमारभ्याग्नेयदिग्भागपर्यन्तमविच्छिन्नधारया होमः पूर्वाघारः, स च यत्र समाप्यते तत्रैकां समिधमादध्यादित्यर्थः। तत्र धर्मविशेषमाह—स मध्यममेवेति। अग्रेऽभ्याधानात् पूर्वं मध्यमं परिधिं तया समिधा संस्पृशेदित्यर्थः। तस्य प्रयोजनमाह तेनैतानिति। तेनोपस्पर्शनेन परिधिरूपानेतानग्नीन् प्रथमं समिन्धे प्रज्वालयति। अथानन्तरमग्नावभ्याधानेन तेनाहवनीयरूपेण प्रत्यक्षमग्निं समिन्धे। 'सोऽभ्यादधाति वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे' इत्येतया गायत्र्या गायत्रीमेवैतत्समिन्धे। सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दांसि समिन्धे। छन्दांसि समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति।' (श० १।३।४।६)। विहितमभ्याधानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स इति। अस्याभ्याधानसाधनमन्त्रस्य गायत्रीछन्दस्कत्वात् छन्दसां मध्ये गायत्र्याख्यमपि छन्दः प्रथमं समिन्धे सन्दीपयति। समिद्धा च सा गायत्री उष्णिगादीन्यन्यानि चतुरुत्तराणि छन्दांसि सन्दीपयति, समिद्धायाश्चतुर्विंशत्यक्षराया गायत्र्यास्तत्र सर्वत्रानुगमात्। गायत्र्या समिद्धानि तानि छन्दांसि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति प्रापयन्ति।

ब्राह्मणानुसारेणैव सायणव्याख्यानम्—हे अग्ने! त्वामध्वरे यागे निमित्तभूते सति समिधीमहि। अनेनाघारसमिध ऊर्ध्वस्थापनेन सम्यग्दीपयामि। कथंभूतं त्वां वीतिहोत्रम्, इण गतावित्यस्माद्धातोः। ईतिर्गतिः, विविधा ईतिर्व्याप्तिः समृद्धिः। वीतये होत्रं होमो यस्याग्नेस्तं वीतिहोम्। तथैवाह तित्तिरिः- वीतिहोत्रं त्वा... अग्निमेव होत्रेण समर्धयतीति। द्युमन्तं स्वत एव द्योतनोपेतं बृहन्तं बृहद्यागवर्तित्वेनेति।

अध्यात्मपक्षे तु—हे कवे क्रान्तदर्शिन् परमसर्वज्ञ परमेश्वर! वीतिहोत्रं त्वां वीतयेऽभीष्टसिद्धये होत्रं सर्वस्वसमर्पणं यस्मै तं सर्वस्वार्पणेन समर्हणीयं त्वां द्युमन्तं प्रकाशान्तरानपेक्षतया स्वप्रकाशम्। हे अग्ने सर्वकर्म-

हो। समृद्धि के लिये जो होम करता है, उसे वीतिहोत्र कहते हैं। अर्थात् जहाँ होम करने पर समृद्धि की प्राप्ति होती है, अथवा होतृकर्म में जिसका अभिलाष रहता है उसे वीतिहोत्र कहते हैं। तुम कान्तिसम्पन्न हो, अर्थात् स्व-प्रकाश हो और महान् हो, इसलिये तुमको हम प्रदीप्त कर रहे हैं।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या और भावार्थ किया है, वह अपनी कल्पित व्युत्पत्ति के द्वारा किया है, जिसे भाष्य में देखा जा सकता है। किन्तु वह सब शतपथानुसारी व्याख्यान के विरुद्ध रहने से उपेक्षणीय है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ होगा कि हे क्रान्तिदर्शिन् कवे! परमसर्वज्ञ परमेश्वर! अभीष्ट सिद्धि के लिये सर्वस्व समर्पण करने के कारण पूजनीय बने हुए तथा प्रकाशान्तर की अपेक्षा न रखने वाले, स्वप्रकाश रहनेवाले तुमको हे अग्ने.

इधीमहि प्रकाशयेमहि । अग्ने ज्ञानस्वरूपपरमेश्वरप्राप्तिहेतुं भौतिकं वा बृहन्तं सर्वेभ्यो महान्तं सुखवर्षकमीश्वरं बृहतां कार्याणां साधकं भौतिकं वा अध्वरे मित्रभावेऽहिंसनीये यज्ञे वा हे कवे अग्ने जगदीश्वर ! वयमध्वरे बृहन्तं द्युमन्तं वीतिहोत्रं त्वां समिधीमहि इत्येकः, वयमध्वरे वीतिहोत्रं द्युमन्तं बृहन्तं कवे कविं त्वां तमग्निं भौतिकं तमभिधीमहि इति द्वितीयः । भावार्थस्तु—'यावन्ति क्रियासाधनानि क्रियया साध्यानि च वस्तूनि सन्ति तानि सर्वाणीश्वरेणैव रचयित्वा ध्रियन्ते । मनुष्यैस्तेषां सकाशाद् गुणज्ञानक्रियाभ्यो बहव उपकाराः संग्राह्याः' इत्याह ।

तदपि तुच्छम्, सम्भवतीष्वपि परमेश्वरपरत्वव्याख्यानेऽग्निपरत्वव्याख्याने च तादृशीषु व्युत्पत्तिषु शतपथानुसारिव्याख्याविरुद्धत्वात् । अध्वरपदस्य प्रसिद्धयज्ञार्थताबाधोऽपि दूषणमेव । शतपथे तु—'अथ समिधमभ्यादधाति । स मध्यममेवाग्नेः परिधिमुपस्पृशति । तेनैतानग्रे समिन्धेऽथाग्नावभ्यादधाति तेनो अग्निं प्रत्यक्षं समिन्धे ।' (श० १।३।४।५) । पूर्वाघारसमिधोऽभ्याधानं विधत्ते—अथ समिधमिति । वायव्यां दिशमारभ्याग्नेयदिग्भागपर्यन्तमविच्छिन्नधारया होमः पूर्वाघारः, स च यत्र समाप्यते तत्रैकां समिधमादध्यादित्यर्थः । तत्र धर्मविशेषमाह—स मध्यममेवेति । अग्रेऽभ्याधानात् पूर्वं मध्यमं परिधिं तया समिधा संस्पृशेदित्यर्थः । तस्य प्रयोजनमाह—तेनैतानिति । तेनोपस्पर्शनेन परिधिरूपानेतानग्नीन् प्रथमं समिन्धे प्रज्वालयति । अथानन्तरमग्नावभ्याधानेन तेनाहवनीयरूपेण प्रत्यक्षमग्निं समिन्धे । 'सोऽभ्यादधाति वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि । अग्ने बृहन्तमध्वरे' इत्येतया गायत्र्या गायत्रीमेवैतत्समिन्धे । सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दांसि समिन्धे । छन्दांसि *समिद्धानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ।*' (श० १।३।४।६) । विहितमभ्याधानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स इति । अस्याभ्याधानसाधनमन्त्रस्य गायत्रीछन्दस्कत्वात् छन्दसां मध्ये गायत्र्याख्यमपि छन्दः प्रथमं समिन्धे सन्दीपयति । समिद्धा च सा गायत्री उष्णिगादीन्यन्यानि चतुरुत्तराणि छन्दांसि सन्दीपयति, समिद्धायाश्चतुर्विंशत्यक्षराया गायत्र्यास्तत्र सर्वत्रानुगमात् । गायत्र्या समिद्धानि तानि छन्दांसि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति प्रापयन्ति ।

ब्राह्मणानुसारेणैव सायणव्याख्यानम्—हे अग्ने ! त्वामध्वरे यागे निमित्तभूते सति समिधीमहि । अनेनाघारसमिध ऊर्ध्वस्थापनेन सम्यग्दीपयामि । कथंभूतं त्वां वीतिहोत्रम्, इष गतावित्यस्माद्धातोः । ईतिर्गतिः, विविधा ईतिर्व्याप्तिः समृद्धिः । वीतये होत्रं होमो यस्याग्नेस्तं वीतिहोम् । तथैवाह तित्तिरिः- वीतिहोत्रं त्वा'''' अग्निमेव होत्रेण समर्धयतीति । द्युमन्तं स्वत एव द्योतनोपेतं बृहन्तं बृहद्यागवर्तित्वेनेति ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे कवे क्रान्तदर्शिन् परमसर्वज्ञ परमेश्वर ! वीतिहोत्रं त्वां वीतयेऽभीष्टसिद्धये होत्रं सर्वस्वसमर्पणं यस्मै तं सर्वस्वार्पणेन समर्हणीयं त्वां द्युमन्तं प्रकाशान्तरानपेक्षतया स्वप्रकाशम् । हे अग्ने सर्वकर्म-

हो । समृद्धि के लिये जो होम करता है, उसे वीतिहोत्र कहते हैं । अर्थात् जहाँ होम करने पर समृद्धि को प्राप्ति होती है, अथवा होतृकर्म में जिसका अभिलाष रहता है उसे वीतिहोत्र कहते हैं । तुम कान्तिसम्पन्न हो, अर्थात् स्व-प्रकाश हो और महान् हो, इसलिये तुमको हम प्रदीप्त कर रहे हैं ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या और भावार्थ किया है, वह अपनी कल्पित व्युत्पत्ति के द्वारा किया है, जिसे भाष्य में देखा जा सकता है । किन्तु वह सब शतपथानुसारी व्याख्यान के विरुद्ध रहने से उपेक्षणीय है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ होगा कि हे क्रान्तिदर्शिन् कवे ! परमसर्वज्ञ परमेश्वर ! अभीष्ट सिद्धि के लिये सर्वस्व समर्पण करने के कारण पूजनीय बने हुए तथा प्रकाशान्तर की अपेक्षा न रखने वाले, स्वप्रकाश रहनेवाले तुमको हे अग्ने.

दाहक ! सूर्यकान्तमण्यभिव्यक्तसूर्याग्निवद् महावाक्यजन्यब्रह्माकारवृत्त्यभिव्यक्तब्रह्माग्ने ! अध्वरे उपासनालक्षणे यज्ञे बृहन्तं निरतिशयबृहद्रूपं परमात्मानं समिधीमहि प्रकाशयामः स्वात्मस्वरूपेण साक्षात्कुर्मः ॥ ४ ॥

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै सवितुर्बाहू स्थ ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु ॥ ५ ॥

'अनुपस्पृश्य द्वितीयां समिदसीति' (का० श्रौ० २।८।३) द्वितीयां समिधमादाय अनुपस्पृश्याहवनीये प्रक्षिपत्यध्वर्युः । हे इध्म काष्ठ ! त्वं समिदसि अग्नेः समिन्धनं दीपनमसि । 'सूर्यस्त्वेति जपत्याहवनीयमीक्षमाणः' (का० श्रौ० २।८।४) । सूर्यस्त्वेति मन्त्रस्याहवनीयपरत्वाद् आहवनीयं विलोकयन्नमुं मन्त्रं संहितास्वरेण पठेदध्वर्युः । हे आहवनीय ! सूर्यः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि कस्याश्चिदभिशस्त्यै सर्वस्या अभिशस्तेर्हिंसायाः सकाशात् त्वां पातु रक्षतु । यः कश्चिदभिशस्तिरभिशापस्तस्मात् पातु । पञ्चम्यर्थे चतुर्थी । यद्वा या काचिदभिशस्तिर्हिंसा तां परिहरतु । इतरदिक्त्रये परिधित्रयं रक्षकम् । पूर्वस्यां तदभावात् सूर्यो रक्षकः, 'गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्ति । अथैतत् सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तारं करोति ।' (श० १।३।४।८) इति श्रुतेः । 'आवृत्य वेदिं बर्हिषस्तृणे तिरश्च्यौ निदधाति सवितुरिति' (का० श्रौ० २।८।५) । अध्वर्युर्वेदिं

सर्वकर्मदाहक सूर्यकान्तमणि से अभिव्यक्त हुए सूर्याग्नि के समान महावाक्यजन्य ब्रह्माकारवृत्ति से अभिव्यक्त होनेवाले ब्रह्मज्ञानरूप अध्वर में, अर्थात् उपासनालक्षण यज्ञ में निरतिशय बृहद् रूपवाले परमात्मा को हम प्रकाशित करते हैं, अर्थात् अपने आत्मस्वरूप के रूप में ही उसका साक्षात्कार करते हैं ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ- हे इध्मकाष्ठ ! तुम अग्नि के उद्दीपक हो । हे आहवनीय अग्ने ! यह सूर्य पूर्व दिशा में किसी भी प्रकार के पाप से तुम्हारी रक्षा करे । हे दो तृणों ! तुम सविता के दो हाथ हो । ऊर्णावस्त्र के समान कोमल और देवता के लिये सुखकर 'प्रस्तर' रूप आसन के आधारहेतु हम तुम्हें रख रहे हैं । प्रस्तर के धारण करने से तुम दोनों सूर्य के दो हाथों के तुल्य हो । सवनत्रय के देवता वसु, रुद्र और आदित्य, ये तीनों तुमको सर्वतः प्रसारित करें ।

'समिदसि' मन्त्र से 'परिधि' को बिना स्पर्श किये ही द्वितीय काष्ठ को अग्नि में स्थापित करे । आहवनीय की ओर देखकर 'सूर्यस्य' मन्त्र का जप करे । प्रस्तर के स्थापनार्थ 'दो तृणों' को 'सवितुः' मन्त्र से तिर्यक् रखे । स्थापित किये हुए उन दो तृणों पर 'ऊर्णम्रदसम्' मन्त्र से 'प्रस्तर' को स्थापित करे, अर्थात् फैलावे । 'आ त्वा' मन्त्र से 'प्रस्तर' पर दोनों हाथों को टेके ॥ ५ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार अध्वर्यु द्वितीय समिधा को आहवनीय में डाल दे । आहवनीयपरक 'सूर्यस्त्वा' मन्त्र को संहितास्वर से पढ़े । सूर्य पूर्व दिशा में सभी प्रकार की हिंसाओं से आहवनीय की रक्षा करे । अन्य तीन दिशाओं में तीन परिधियाँ तुम्हारी रक्षक हों । पूर्व दिशा में तीन परिधियों के न रहने से उस दिशा में 'सूर्य' रक्षक होता है । जिन तिर्यक् रखे हुए दो तृणों पर 'प्रस्तर' का स्थापन किया है, उस प्रस्तर के आलम्बनार्थ आधारभूत रहने से उन दो तृणों को सूर्य के दो बाहुओं के तुल्य कहा गया है । वसु, रुद्र और आदित्य ये तीनों प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन के अभिमानी देवता हैं ।

प्रत्यागत्य स्तृतस्य बर्हिष उपरि उदगग्रे द्वे तृणे निदध्यात् । हे तृणे ! युवामुभे सवितुर्देवस्य बाहू स्थः प्रस्तरधारणे सूर्यस्य बाहू इव भवथः । 'तयोः प्रस्तरं स्तृणात्यूर्णम्रदसमिति' (का० श्रौ० २।८।१०) । तयोर्विधृत्योरुपरि प्रागग्रं प्रस्तरं स्थापयेत । ऊर्णमिव मृदुतरं देवेभ्यो देवानां स्वासस्थं सुखेनासने स्थीयते यत्र तादृशं त्वां स्तृणामि । 'अभिनिदधात्या त्वा वसवः' (का० श्रौ० २।८।११) । अध्वर्युर्हस्तद्वयेन प्रस्तरं पीडयेत् । वसवो रुद्रा आदित्याः सवनत्रयाभिमानिनो देवास्त्वा त्वाम् आसदन्तु आसादयन्तु सर्वतः प्रसारयन्तु ।

अत्र स्वामी दयानन्दः—'समित् सम्यगिध्यतेऽनयानेन वा सा समित्, अग्निप्रदीपकं काष्ठादिकं वसन्त ऋतुर्वा असि अस्ति । अत्र व्यत्ययः । सूर्यः सुवर्त्यैश्वर्यहेतुर्भवति सोऽयं सूर्यलोकः, त्वा तं पुरस्तात् पातु रक्षतु । कस्याः कस्यै सर्वस्यै 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी । अभिशस्त्यै आभिमुख्यायै स्तुतये (शंसु स्तुतौ) सवितुः सूर्यलोकस्य बाहू बलवीर्याख्यौ स्थः स्तः । व्यत्ययः । ऊर्णम्रदसं ऊर्णानि सुखाच्छादनानि म्रदयति येन तं यज्ञं त्वा तं स्तृणामि सामग्र्याच्छादयामि । स्वासस्थं शोभने आसे उपवेशने तिष्ठतीति तं देवेभ्यो दिव्यगुणेभ्यो आसमन्तात् क्रियायोगे त्वा तं वसवोऽग्न्यादयोऽष्टौ, रुद्राः प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयाख्या दश प्राणा एकादशो जीवश्चेति एकादशरुद्राः । आदित्याः द्वादशमासाः । 'कतमे वसवः ? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च ते वसवः । एतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयते ……' (श० १४।६।९।४–६) । सदन्तु अवस्थापयन्ति । 'षद्लृ' इत्यस्य स्थाने 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० १।४।९) वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति सीदादेशाभावो लडर्थे लोट् च । अन्वयः–चिद् यथा कश्चिन्मर्त्यः सुखार्थं क्रियासिद्धानि द्रव्याणि रक्षित्वाऽऽनन्दयते, तथैवं योऽयं यज्ञः समिदसि भवति त्वा तं सूर्यः कस्या अभिशस्त्यै पुरस्तात् पातु पाति । यौ सवितुर्बाहू स्तः, यो ह याभ्यां नित्यं विस्तार्यते त्वा तम् ऊर्णम्रदसं स्वासस्थं यज्ञं वसवो रुद्राः सदन्त्ववस्थापयन्तु प्रापयन्ति । तं यज्ञमहमपि सुखाय देवेभ्य आस्तृणामि । भावार्थस्तु—ईश्वरः सर्वेभ्य इदमुपदिशति यन्मनुष्यैर्वसुरुद्रादित्याख्येभ्यो यद्यदुपकर्तुं शक्यम्, तत्तत्सर्वस्याभिरक्षणाय नित्यमनुष्ठेयम् । योऽग्नौ द्रव्याणां प्रक्षेपः क्रियते, स सूर्यं वायुं वा प्राप्नोति । तावेव तत्पृथग्भूतं द्रव्यं रक्षित्वा पुनः पृथिवीं प्रति विमुञ्चतः । येन पृथिव्या दिव्या ओषध्यादयः पदार्था जायन्ते । येन च प्राणिनां सुखं भवति । तस्मादेतत् सदैवानुष्ठेयम्' इति ।

तदेतत् सर्वं पिष्टपेषणमप्रामाणिकं व्यत्ययाश्रितं च । चिदित्यस्य निरुक्त(१।४)रीत्योपमार्थत्वे सम्भवत्यपि नहि तद्बलाद् यथा कश्चिन्मर्त्यः सुखार्थक्रियासिद्धानि द्रव्याणि रक्षित्वा आनन्दयते इत्यर्थो निःसरति, तथैव समित्पदस्य काष्ठार्थत्वेऽपि नहि सर्वं काष्ठं तदर्थः, किन्त्वश्वत्थादिपरिगणितवृक्षसम्बद्ध-काष्ठविशेष एव । वसन्तस्तु कथं समिदिति नोक्तम् । यज्ञः समिदिति सामानाधिकरण्यं कथम् ?

उक्त मन्त्र की व्याख्या स्वामी दयानन्द ने जो की है, वह सब पिष्टपेषण के ही समान है, अप्रामाणिक और व्यत्यय बहुल है । 'चित्' को उपमार्थक मानकर जिस अर्थ का उद्भावन किया है, वह अर्थ नहीं निकल पाया है । तथा 'समित्' शब्द का अर्थ, काष्ठ करने पर भी उसका अर्थ साधारण काष्ठ नहीं हो सकता, अपितु अश्वत्थादि परिगणित वृक्षसम्बन्धित 'काष्ठविशेष' ही करना चाहिये । 'वसन्त' को जो 'समित्' आपने कहा है, उसमें कोई प्रमाण आपने नहीं दिया है । यज्ञ और समित् का सामानाधिकरण्य कैसे संभव हो सकता है, क्योंकि दोनों एकार्थक नहीं हैं, अपितु भिन्नार्थक हैं । इत्यादि बहुत सी बातें स्व-मनःकल्पित ही कही हैं । उसी तरह हिन्दी अर्थ में भी निरर्थक बातें

तयोर्भिन्नार्थबोधकत्वात्। सूर्यश्च समिधं काष्ठं यज्ञं वा रक्षति कथम्? कस्या इत्यस्य सर्वस्या इति कथमर्थः? तद्रक्षणेन च कथं सर्वस्याभिशास्तिः? हिन्दीभाषायां सूर्यः सर्वपदार्थानां रक्षयिता। तं पुरस्तादेव रक्षति। सूर्यलोकस्य किं बलं किं वा वीर्यम्? बलं वीर्यं च जडे निरर्थकम्, प्रयोगासम्भवात्, प्रयोगस्य चेतनधर्मत्वात्। सूर्यलोकस्य बलवीर्याभ्यां कथं यज्ञस्य विस्तार इत्यप्यस्पष्टमेव। पूर्वं चोर्णाशब्देन धान्याच्छादनानि तुषाण्युक्तानि, इदानीं सुखाच्छादनानीति तदर्थः कथम्? कथं च यज्ञः सुखाच्छादकविघ्नान्नाशयति? जलवायुशुद्धिमन्तरा तत्कार्यस्य त्वयानभ्युपगमात्। अन्तरिक्षलक्षणे शोभन आसने यज्ञः कथं तिष्ठति? यज्ञस्तु हवनरूपः, स तु पृथिव्यामेव तिष्ठति। अन्तरिक्षे तु हुतद्रव्यांशा एव त्वयाभ्युपगम्यन्ते। नहि त एव यज्ञपदव्यपदेश्याः? सुखविघ्नाच्छादकस्यान्तरिक्षमयस्वासनस्थस्य यज्ञस्य सामग्र्याच्छादनं कथं सम्भवति? नहि यज्ञकर्तृसामाजिकप्रक्षिप्तसामग्रीभिरन्तरिक्षस्थो यज्ञ आच्छाद्यते? तं च यज्ञं वसुरुद्रादित्यादयः कथं प्राप्नुवन्ति? तस्य चेहैव परिसमाप्तत्वात्। दिव्यगुणप्राप्तये तस्य यज्ञस्यानुष्ठानं कर्तव्यमथवा निष्पन्नस्य यज्ञस्य सामग्रीभिराच्छादनं युक्तम्? वस्तुतस्त्विदं सर्वमव्यापारेषु व्यापारमात्रम्।

शतपथविरुद्धं चेदं सर्वम्। तथाहि—'अथ यां द्वितीयां समिधमादधाति वसन्तमेव तया समिन्धे। स वसन्तः समिद्धोऽन्यानृतून् समिन्धे। ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्त्योषधीश्च पचन्ति। सोऽभ्यादधाति समिदसीति। समिद्धि वसन्तः।' (श० १।३।४।७)।

अथोत्तराघारसमिधोऽभ्याधानं विधत्ते—अथ यामिति। द्वितीयाघारो हि नैर्ऋतदिशमारभ्यैशानीं दिशं प्रत्यनवच्छिन्नधारया होमः। स यत्र परिसमाप्यते तत्रैकां समिधमादध्यात्। पूर्वाघारसमिदपेक्षया द्वितीयामिति व्यपदेशः। तया च समिधा वसन्त ऋतुः सन्दीप्यते। अत्र स्पष्टं समिद्वसन्तयोर्भेद उक्तः। तया समिधा वसन्तः समिध्यते। वसन्तेनेतरा ऋतवः समिध्यन्ते। ऋतवश्च समिद्धाः प्रजाः प्रजनयन्ति ओषधीश्च पचन्ति। समिदसीति मन्त्रेण द्वितीयामादधाति। वसन्ते चेतरर्तुसमिन्धनादेव समित्प्रयोगः। समिद्धि वसन्त इति समिधो यजतीति तद्विधानात्। 'अथाभ्याधाय जपति सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्या इति। गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्त्यथैतत् सूर्यमेव पुरस्ताद् गोप्तारं करोति। नेत्पुरस्तान्नाष्ट्रा रक्षांस्यभ्यवचरानिति। सूर्यो हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता।' (श० १।३।४।८)।

एवमाघारसमिदभ्याधानानन्तरं मन्त्रविशेषस्य जपं विधत्ते। मन्त्रस्य प्रयोजनमाह—राक्षसादिसञ्चरणनिरसनगोपनम्। गुप्त्यर्थं हि परिधिविधानम्। पूर्वस्यां दिशि परिधिर्नास्ति। तथा चैतत्! एतेन सूर्यस्त्वा इति मन्त्रोच्चारणेन तमुद्यन्तं सूर्यमेव यज्ञस्य रक्षितारं करोति। अन्यत् स्पष्टमेव। तैत्तिरीयकेऽपि—'परिधीन् परिदधाति। रक्षसामपहत्यै। संस्पर्शयति रक्षसामनन्ववचाराय। पुरस्तात् परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्ति' (तै० ब्रा० ३।३।७।८)। 'परिधय इमे अभितो गुप्तये परिहिता भवन्ति सूर्यमेवास्यैतत् पुरस्तात् पुरोगां करोतीति' काण्वश्रुतेः।

कही गई हैं। कहीं पर 'ऊर्णा' शब्द का अर्थ 'तुष' बताया है तो दूसरी जगह 'सुखाच्छादन' बता दिया है। अन्यान्य कितनी ही बातें असम्बद्धार्थक बताकर अव्यापारेषु व्यापारमात्र का प्रदर्शन किया है। जो शतपथ के विरुद्ध है।

अध्यात्मपक्ष में उक्त मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—हे जीवात्मन्! तुम देह, इन्द्रिय आदि सबके अवभासक हो। सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु 'स्वरति लयं गच्छति यस्मिन् स सूर्यः'—इस निरुक्त वाक्य से 'सूर्य' का अर्थ 'परमेश्वर' है। वह परमेश्वर स्वसत्तास्फूर्ति प्रदान के द्वारा तुम्हारी रक्षा करे। अथवा जीवादि देहान्त तक प्रकाशशक्ति प्रदान के

'अथ यामेवामूं तृतीयां समिधमाऽदधाति। अनुयाजेषु ब्राह्मणमेव तया समिन्धे। स ब्राह्मणः समिद्धो देवेभ्यो यज्ञं वहति'। अनुयाजकालेऽभ्याधानायैका समिदवशेषयितव्येत्यभिप्रेत्य तस्याः समिधोऽभिधास्यमानमभ्याधानमनूद्य प्रसङ्गात्तस्य प्रयोजनमाह—अमूमिति। विप्रकृष्टेऽनुयाजप्राक्काले तृतीयां समिधमभ्यादधाति। तया 'एषा तेऽग्ने समित्' (वा० सं० २।१४) इत्यादिना मन्त्रेण यजमानगामिनो वर्धनाप्यायनादिलक्षणस्य प्रतिपादनात् तेनाभ्याहितया समिधा यजमानरूपं ब्राह्मणमेव समिन्धे सन्दीपयति। ब्राह्मणः समिद्धो देवेभ्यो यज्ञं वहति। 'अथ स्तीर्णां वेदिमुपावर्तते। स द्वे तृणे आदाय तिरश्ची निदधाति। सवितुर्बाहू स्थ इत्ययं वै स्तुपः प्रस्तरोऽथास्यैते भ्रुवावेव तिरश्ची निदधाति तस्मादिमे तिरश्च्यौ भ्रुवौ क्षत्रं वै प्रस्तरो विश इतरं बर्हिः क्षत्रस्य चैव विशश्च विधृत्यै तस्मात्तिरश्चो निदधाति तस्माद्वेव विधृती नाम' (श० १।३।४।१०)।

एवमाहवनीये कर्तव्याः परिधिपरिधानानपो विहिताः। अथ वेद्यां हविरासादनार्थं प्रस्तरस्तरणं विधित्सुस्तदर्थं विधृत्योः सादनं विधत्ते। बर्हिषा स्तीर्णां वेदिमुपलक्ष्याहवनीयसमीपादुपावर्तेत। उपावृत्य च बर्हिषः सकाशाद् द्वे तृणे आदाय बर्हिष उपरि तिरश्ची तिर्यगग्रे निदधाति सवितुरिति मन्त्रेण। तन्निधानं प्रशंसति—अयं प्रस्तरो यज्ञस्य स्तुपः शिखारूपः केशसङ्घातः। बर्हिषि श्मश्रुप्रभृतीनि लोमानि तथा च बर्हिषि प्रस्तरबर्हिषोर्मध्ये तिर्यङ्‌निहिते एते तृणे भ्रुवावेव भ्रूस्थानीये। लोकप्रसिद्ध्यै तद् दृढयति–तस्मादिति। यस्मादेवं यज्ञे यज्ञकेशश्मश्रुरूपेण संस्तुतयोः प्रस्तरबर्हिषोर्मध्ये संस्थिते तृणे तिर्यङ्‌निधीयेते, तस्मात् कारणात् पुरुषस्य भ्रुवौ तिरश्च्यौ दृश्येते इत्यर्थः। तिर्यङ्‌निधानस्य प्रयोजनमाह—क्षत्रं वेति। क्षत्रियवैश्यजातिस्थानीये प्रस्तरबर्हिषी, अतस्तयोर्विविधं धारणाय तत्तिर्यक्तृणनिधानं सम्पद्यते। इतरथा हि प्रस्तरबर्हिषोः साङ्कर्यात् क्षत्रियवैश्ययोरपि साङ्कर्यं स्यात्। यस्मादेवमेते तृणे तिर्यङ्‌निहिते विधारणप्रयोजने तस्मादनयोर्विधृती इति नाम सम्पद्यते।

'तत्प्रस्तरं स्तृणाति। ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य इति साधु देवेभ्य इत्येवैतदाह। यदाहोर्णम्रदसं त्वेति स्वासस्थं देवेभ्य इति स्वासदं देवेभ्य इत्येवैतदाह।' (श० १।३।४।११)। प्रस्तरस्य समन्त्रकं स्तरणं विधत्ते। मन्त्रस्तु व्याख्यातप्रायः। प्रस्तरणमन्त्रस्तु बर्हिषः स्तरणवदेव व्याख्येयः। तत्र स्तीर्यमाणाया वेदेरभिधेयत्वात् साध्वी देवेभ्य इति स्त्रीलिङ्गतया व्याख्यातः। अत्र प्रस्तर एवाभिधेय इति साधुं देवेभ्य इति पुल्लिङ्गतया व्याख्यायते। तथैव मन्त्रो व्याख्यात एव। 'तमभिनिदधाति। आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्त्वित्येते वै त्रयो देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या एते त्वा सीदन्त्वित्येवैतदाहाभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति।' (श० १।३।४।१२)। स्तीर्णस्य स्पर्शनं विधत्ते—आ त्वेति मन्त्रेण प्रस्तरस्योपरि हस्तं निदध्यादित्यर्थः। जुह्वादीनामासनपर्यन्तं प्रस्तरस्यान्वारम्भं विधत्ते—सव्यहस्तेन प्रस्तरोऽभिनिहितः संस्पृष्ट एव भवेत्।

द्वारा तुम्हारा पालन करे। स्वप्रकाश ब्रह्मात्ममान के अनन्तर ही जीव आदि पदार्थ भासमान होते हैं। अविद्यमान दोषों के आरोपों से वह परमेश्वर तुम्हारा रक्षा करे। जीवात्मा में अविद्यमान कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का आरोप किया जाता है, किन्तु ब्रह्मात्मसाक्षात्कार से उन सब का निरास हो जाता है। हे जीवात्मन्! अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के लिये तथा देवाधिदेव परमेश्वर के लिये ऊर्णासन के तुल्य कोमल-सुन्दर आसन के समान बैठने योग्य तुम्हें बना रहा हूँ। जो देवताओं के प्रति अपनी आत्मा को उनके शय्या आदि उपकरणों के रूप में परिणत करके उनकी आराधना करता है, वही व्यक्ति उन देवताओं के अनुग्रह से देवाधिदेव परमेश्वर की भी सर्वात्मभाव से अर्चना करने में समर्थ हो पाता है। किञ्च, वे वसु, रुद्र, आदित्यादि देवता भृत्यरूप से और

हे प्रस्तर एते वस्वादयो देवास्त्वां सीदन्तु त्वामभिलक्ष्य सीदन्तु तिष्ठन्तु त्वामासादयन्तु वा। नैतद् द्वयमपि जडेषु सम्भवति । तस्माद् वस्वाद्यधिष्ठातृदेवा एवेह विवक्षिताः ।

अध्यात्मपक्षे—समिदसि हे जीवात्मन् ! त्वं समिद् सर्वदीपको देहेन्द्रियादिसर्वभासकोऽसि । सूर्यः स्वरति लयं गच्छति यस्मिन् स सूर्यः परमेश्वरस्त्वां पुरस्तात् पूर्वं पात् स्वसत्तास्फूर्तिप्रदानेन रक्षतु, अथवा जीवादि-देहान्तप्रकाशशक्तिदानेन त्वां पालयतु, स्वप्रकाशब्रह्मात्मभानानन्तरमेव जीवादेर्भासमानत्वात्, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुतिभ्यः । कस्याश्चित् कस्या अपि अभिशस्त्यै कस्याश्चिदभिशस्त्या अविद्यमानदोषारोपणात् त्वा पातु । आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकं सर्वमविद्यमानमेवारोप्यते। ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण च तत्सर्वमपोह्यते । ननु सूत्रात्महिरण्यगर्भाभ्यामेव प्राणबुद्धिशक्तिभ्यामेव जीवस्य क्रियाज्ञानशक्तिदानं भवति, न परमेश्वरस्येति चेन्न, तयोरपि तद्बाहुस्थानीयत्वात् । तद्बाहू—हे सूत्रात्म-हिरण्यगर्भौ ! युवां सवितुः सर्वोत्पादकस्य परमेश्वरस्य बाहू दक्षिणोत्तरभुजस्थानीयौ स्थः भवथः । प्राणबुद्ध्युपाधिकाभ्यां ताभ्यामेव सर्वकार्यनिर्वाहात् । हे जीवात्मन्, त्वा त्वां देवेभ्योऽग्नीन्द्रादिभ्यो देवदेवाय परमेश्वराय च ऊर्णासनमिव म्रदसं कोमलं स्वासस्थं शोभनासनमिवासितुं योग्यं स्वासदं करोमि । यो देवान् प्रति स्वात्मानं तदीयशय्याद्युपकरणरूपेण विपरिणमय्य संराधते, स एव तेषामनुग्रहेण देवदेवस्यापि सर्वात्मभावेन सपर्यां कर्तुं प्रभवति । किञ्च, त्वा त्वां वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु भृत्यरूपेणोपकरणरूपेण च प्राप्नुवन्तु । तदनु विशिष्टयोग्यतापूर्णः परमात्मोपासने स्वात्मसमर्पणेन सर्वात्मभावेन तदङ्गोपाङ्गः सन् तदुपासितुं प्रभवति । अत एव वर्णाश्रमाचारवता तत्तद्देवताराधनतत्परेण परमेश्वरः प्राप्तुं शक्यते ॥ ५ ॥

घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदम्प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद । ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम् ॥ ६ ॥

'सव्याशून्ये जुहूं प्रतिगृह्य निदधाति घृताचीत्येवमितरे उत्तराभ्यां प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २।८।१२-१३) । अध्वर्युरग्नीधा समर्पितां जुहूमादाय सव्यहस्तेन अविमुक्ते प्रस्तरे प्रागग्रामासादयीत । हे जुहूः ! त्वं घृताची

उपकरण रूप से तुम्हें प्राप्त हों। उसके पश्चात् विशिष्ट योग्यता से पूर्ण होकर परमात्मा की उपासना में स्वात्मसमर्पण के द्वारा सर्वात्मभाव से उसका अंग-उपांग होता हुआ उस परमेश्वर की उपासना करने में समर्थ होता है। अत एव वर्णाश्रमाचार का पालन करने वाला व्यक्ति ही तत्तद् देवताओं के आराधन में तत्पर होता हुआ परमेश्वर को प्राप्त कर सकता है ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे जुहू ! तू घृत से पूर्ण है। तेरा नाम 'जुहू' है। तू देवताओं को प्रिय लगने वाले गृहस्वरूपी घृत के सहित इस प्रस्तर पर बैठ। हे स्रुक् ! तू घृत से पूर्ण है। तेरा नाम 'उपभृत्' है। तू देवताओं को प्रिय लगने वाले गृहस्वरूपी घृत के सहित इस प्रस्तर पर बैठ। हे स्रुक् ! तू घृत से पूर्ण है। तुझे 'ध्रुवा' कहते हैं। देवताओं को प्रिय लगनेवाले गृहस्वरूपी घृत के सहित तू प्रस्तर पर बैठ। हे हविर्द्रव्य ! देवताओं के लिये प्रिय गृहरूपी आज्य

घृतमञ्चति प्राप्नोतीति घृताची घृतपूर्णा असि। यद्वा घृतमञ्चितं प्राप्तं यस्यां स्रुचि घृतं वा अच्यते यया सा घृताची असि। नाम्ना जुहूः। हूयतेऽनयेति जुहूः। हवनक्रिया यया क्रियते सा जुहूः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तदध्याहारः कार्यः। या त्वं घृताची असि जुहूश्च नाम्ना सा त्वं प्रियेण धाम्ना देववल्लभेन आज्येन सह इदं प्रियं सदः प्रस्तरलक्षणम् आसीद अधितिष्ठ, 'एतद्वै वेदानां प्रियतमं धाम यदाज्यम्' (श० २।३।२।१७) इति श्रुतेः। उपभृतं सादयति समीपे स्थित्वा बिभर्ति आज्यं धारयतीत्युपभृत्। एवं ध्रुवामासादयति। 'ध्रुव स्थैर्ये' यथा होमे जुहूपभृतोश्चलनं तद्वदस्याश्चलनाभावेन स्थिरत्वान्नाम्ना ध्रुवा। प्रियेण धाम्नेति हवींषि वेद्यां कृत्वा ध्रुवा असदन्निति सर्वाण्यालभते। प्रियेणेति मन्त्रेण आवृत्त्या आज्यपुरोडाशादीनि हवींषि ध्रुवाया उत्तरतो वेद्यामासाद्य ध्रुवा आसदन्नृतस्येति मन्त्रावृत्त्या आज्यस्थालीस्थाज्यस्य जुहूपभृद्ध्रुवास्थस्याऽऽज्यस्य पुरोडाशयोश्च उपयोगक्रमेणालम्भनं कुर्यात्। हे हविः! प्रियेण धाम्ना आज्येन सह प्रियं सद आसीद इत्येवमेकैकं हविः संबोध्य वचनम्। 'ध्रुवा असदन्निति सर्वाण्यालभते।' (का० श्रौ० २।८।१९)। ऋतस्यावश्यं भाविफलोपेतत्वेन सत्यस्य यज्ञस्य योनौ स्थाने ध्रुवाणि यानि हवींषि असदन्नतिष्ठन् स्थितानि, हे विष्णो व्यापक यज्ञपुरुष! तानि पाहि यज्ञपतिं यजमानं च पाहि। 'पाहि मामित्यात्मानम्' (का० श्रौ० २।८।२०) यज्ञन्यम्, यज्ञं नयतीति यज्ञनीस्तम्, यज्ञनेतारमध्वर्युं मां पाहि।

अत्र दयानन्दः—'या जुहूर्नाम्ना घृताच्यसि भवति, या यज्ञे प्रयुक्ता सती प्रियेण धाम्ना सह वर्तमानमिदं प्रियं सद आसीद आसादयति। योपभृन्नाम्ना घृताच्यसि भवति सा यज्ञे प्रयुक्ता प्रियेण धाम्नेदं प्रियं सद आसीद समन्तात् प्रापयति। या ध्रुवा नाम्ना घृताची भवति सा सम्यक् स्थापिता सती प्रियेण धाम्नेदं प्रियं सद आसीद समन्तात् प्राप्नोति सा सर्वैर्नित्यं साध्या। हे विष्णो यथेमानि ऋतस्य योनौ ध्रुवा ध्रुवाणि वस्तून्यसदन् भवेयुस्तथैव एतानि निरन्तरं पाहि। कृपया यज्ञं पाहि यज्ञन्यं यज्ञपतिं पाहि यज्ञन्यं मां पाहि। भावार्थस्तु—यो यज्ञो पूर्वोक्ते मन्त्रे वसुरुद्रादित्यैः सिद्धयति, स वायुजलशुद्धिद्वारा सर्वाणि स्थानानि सर्वाणि च वस्तूनि प्रियाणि, निश्चलसुखसाधकानि ज्ञानवर्धकानि च करोति, तेषां वृद्धये रक्षणाय च सर्वव्यापकेश्वरस्य प्रार्थना सम्यक् पुरुषार्थश्च कार्यः' इत्याह।

(घृत) के सहित तू अपने प्रिय स्थान पर बैठ। समस्त हविर्द्रव्य अभीष्ट फलदायी यज्ञ में स्थिरतापूर्वक स्थित हुए। हे व्यापक यज्ञपुरुष! उस हविर्द्रव्य का, यजमान का, यज्ञ का और मुझ अध्वर्यु का तू रक्षण कर।

वाम हस्त को प्रस्तर पर वैसे ही रखे हुए दक्षिण हस्त से 'जुहू' पात्र को लेकर 'घृताची' मन्त्र से प्रस्तर पर रखे और अन्य दो पात्रों को 'घृताची' इत्यादि दो मन्त्रों से रखे। तदनन्तर 'प्रियेण धाम्ना' मन्त्र से वेदी पर एक-एक हविर्द्रव्य को रखे। तदनन्तर 'ध्रुवा असदन्' इस मन्त्र से सब को स्पर्श करे और 'पाहि' मन्त्र से स्वयं अपने को स्पर्श करे ॥ ६ ॥

भाष्यसार—'घृतम् अञ्चति प्राप्नोतीति घृताची' अर्थात् घृत से पूर्ण। 'हूयते अनया इति जुहूः' अर्थात् जिससे हवन किया जाता है, उसे 'जुहू' पात्र कहते हैं। उप समीपे स्थित्वा आज्यं बिभर्ति धारयति इति 'उपभृत्'। समीप रहकर जो घृत का धारण करती है, उसे 'उपभृत्' कहते हैं। जुहू और उपभृत् के समान एक 'ध्रुवा' पात्र भी है। 'ध्रुव स्थैर्ये' स्थिरता के अर्थ में 'ध्रुव' शब्द है। जैसे होमार्थ जुहू और उपभृत् का चलन होता है, वैसे इस 'ध्रुवा' का चलन न होने से, अर्थात् स्थिर रहने से इस पात्र को 'ध्रुवा' कहते हैं।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह बिना आधार के चित्र बनाने के समान ही है। वे लिखते हैं कि वसु, रुद्र, आदित्य के द्वारा किया गया यज्ञ वायु और जल की शुद्धि करता है। उसी के द्वारा सम्पूर्ण स्थानों को, समस्त

तदप्यविचारमूलकम्, प्रसिद्धार्थत्यागे व्यवहारानुपपत्तेः। अनेकार्थत्वेऽपि प्रसङ्गानुसारेणार्थो भवति। यात्राप्रसङ्गे सैन्धवमानयेत्युक्त्या न सैन्धवं लवणमानीयते। जुह्वाग्नौ घृतं हूयते तत्तु श्लिष्यते। सुखं चानया दत्ते इति कथं सङ्गतिः? पारम्पर्येण तु सर्वाभिर्विहितक्रियाभिः सुखमेवादीयते। तत्र जुह्वां को विशेषः? यत्तु—इदं प्रत्यक्षं प्रियेण सुखैस्तर्पकेण कमनीयेन धाम्ना स्थानेन प्रीणाति सुखयति यत्तत् सदः। सीदन्ति प्राप्नुवन्ति सुखानि यस्मिंस्तद् गृहम्। आ समन्तात् सीद सादयति, तदपि तुच्छम्, आदानक्रियया गृहनिर्माणासिद्धेः। एवमेवोपभृच्छब्दः। यत्तु—'यज्ञे प्रयुक्ता या होमक्रिया घृतमुदकमञ्चति प्रापयति सा घृताची' इति, तदपि तुच्छम्, जुह्वादिविशेषणत्वानुपपत्तेः। यदपि—'योपगतं बिभर्त्यनया हस्तक्रियया सा' इति, तदपि विसङ्गतम्, तथात्व उपागतग्राहिकायाश्चौरादिहस्तक्रियाया अपि उपभृत्त्वापत्तेः। वस्तुतस्तु श्रुतिसूत्रादिरीत्या यज्ञादिपात्रबोधका एते शब्दाः। यदपि—'समीपप्राप्तधारणक्रिया यज्ञोपयुक्ता। इदमोषध्यादिकं प्रियेण प्रीतिहेतुधाम्ना स्थलेन प्रियं सुखयत्यारोग्येण यत्तत् सदः सीदन्ति घ्नन्ति दुःखानि येन तदौषधसेवनं पथ्याचरणं च आसमन्तात् सीद प्रापयेति' इति, तदपि न संगतम्, तादृशप्राप्यप्रापकभावस्य निष्प्रमाणत्वात्। स्थिरसुखप्रापिकायुर्निमित्ता विद्या सोत्तमकार्येषु प्रयुक्ता प्रियेण प्रीत्युत्पादकेन धाम्ना स्थिरताया निमित्तेन प्रियमानन्दकरं सदः वस्तु आसादयति, तादृशकार्यकारणभावस्यापि प्रमाणसापेक्षत्वात्। किञ्चायुर्निमित्ता विद्या आयुष्कार्य एव प्रयुज्यते। उत्तमकार्याण्यनेकानि भवन्ति। तत्र कथं तस्याः प्रयोगः? 'सीदति जानाति येन तज्ज्ञानं तत्प्रापयति' इत्यपि यत्किञ्चित्, प्रमाणविरहादेव। यदपि च—'हे विष्णो ऋतस्य योनौ शुद्धयज्ञे यथा वस्तूनि स्थिराणि भवेयुस्तथा पाहि यज्ञं यज्ञन्यं यज्ञपतिं यजमानं यज्ञप्रकाशकं मां यजमानं होत्रादींश्च रक्ष पालय' इति, तदपि न किञ्चित्, यज्ञेन प्रार्थनया चास्थिराणां वस्तूनां स्थैर्यादर्शनात्। किञ्च, यज्ञस्य कादाचित्कत्वात् तत्रत्यानां वस्तूनां सुतरां कादाचित्कत्वमेव। सिद्धान्ते तु पूर्वोक्तो ध्रुवशब्दः स्रुग्विशेषपरः, तस्याश्चान्यापेक्षया स्थिरत्वात् तत्र ध्रुवापदप्रयोगः। द्वितीयो ध्रुवाशब्दस्तु जुह्वादीनि यज्ञसमाप्तिपर्यन्तं बर्हिषि स्थिराणि भवन्तीति ध्रुवास्तिष्ठन्त्वित्यभिप्रायेण ध्रुवाशब्दप्रयोगः।

शतपथरीत्या तु—'अथ दक्षिणेन जुहूं प्रतिगृह्णाति। नेदिह पुरा नाष्ट्रा रक्षांस्याविशन्तीति। ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता। तस्मादभिनिहित एव सव्येन पाणिना भवति' (श० १।३।४।१३)। अथानन्तरमेव दक्षिणेन हस्तेन जुहूं प्रतिगृह्णीयात्। जुहूसादनपर्यन्तं प्रस्तरविमोको न कार्यः। यतो ब्राह्मणो रक्षसामपहन्ता, अतस्तत्स्पर्शाभावे रक्षसामावेशः सम्भाव्यते। 'अथ जुहूं प्रतिगृह्णाति घृताच्यसि जुहूर्नाम्नेति घृताची हि जुहूर्हि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीदेति घृताच्यस्युपभृन्नाम्नेत्युपभृतं घृताची ह्युपभृद्धि नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीदेति घृताच्यसि ध्रुवा नाम्नेति ध्रुवा घृताची हि ध्रुवा हि नाम्ना............प्रियं सद आसीदेति यदन्यद्धविः' (श० १।३।४।१४)। अथ जुह्वाः सादनं विधत्ते-अथेति। जुहूमादायानेन मन्त्रेण प्रस्तरे सादयेन्न तु ग्रहणमात्रम्, मन्त्रस्य

वस्तुओं को निश्चल सुखसाधक और ज्ञानवर्धक बनाता है। उनकी वृद्धि के लिये, रक्षण करने के लिये सब लोग उस व्यापक ईश्वर की प्रार्थना और सम्यक् पुरुषार्थ करें।

किन्तु उनका किया हुआ यह सम्पूर्ण अर्थ अविचारमूलक ही है। व्यवहार की अनुपपत्ति होने पर प्रसिद्ध अर्थ का त्याग किया जाता है, अन्यथा नहीं। उसी तरह अनेकार्थक शब्दों के रहने पर प्रसंग के अनुसार अर्थ किया जाता है। 'जुहू' पात्र के विषय में सब असंगत ही लिखा गया है। 'प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद' का अर्थ भी ठीक नहीं हुआ है। तथा 'उपभृत्' का अर्थ भी ठीक नहीं है। 'घृताची' शब्द का भी अर्थ ठीक नहीं है। सबका कारण

सादनप्रकाशनलिङ्गत्वात्। 'सव्याशून्ये जुहूं प्रतिगृह्य निदधाति घृताचीति' (का० श्रौ० २।८।१२) इति सूत्रेभ्यः। घृतमञ्चतीति घृताचीत्येतत्प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः। प्रसिद्धघृताञ्चनाद् नाम्ना नामधेयेन एषा स्रुग् जुहूः, केवलं होमसाधनत्वात्। एतावता जुहूनाम्नी स्रुगेव, नादानक्रिया। अथोपभृतः सादनं विधत्ते। शेषं पूर्ववत्। ध्रुवायाः सादनं विधत्ते–घृताच्यसि ध्रुवा नाम्नेति। स्रुग्गताज्यव्यतिरिक्तस्य हविषः सादनं विधत्ते—यद् आज्याद् अन्यद् हविः पुरोडाशादिकं सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीदेति (वा० सं० २।६) मन्त्रेण सादयेदिति शेषः।

'स वा उपरि जुहूं सादयति। अध इतराः स्रुचः। क्षत्रं वै जुहूर्विश इतराः स्रुचः। क्षत्रमेवैतद्विश उत्तरं करोति। तस्मादुपर्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते। तस्मादुपरि जुहूं सादयत्यध इतराः स्रुचः' (श० १।३।४।१५)। जुह्वादीनां सादने विशेषः। प्रस्तरस्योपरि जुहूमेव सादयेत्। तस्याधस्ताद् बर्हिषी इतरा उपभृदाद्याः स्रुचः सादयेत्। तदुपपादयति—स्वातन्त्र्येण होमसाधनत्वाद् जुहूः क्षत्रियजातिः। उपभृदादीनां तथा स्वातन्त्र्याभावे तत्स्थस्याज्यस्य जुह्वामानेयत्वात् ता वैश्यजातिस्थानीयाः। मूलं स्पष्टम्। अत्र स्पष्टमाज्यसम्बन्धेन जुहूपभृद्ध्रुवादिषु घृताचीपदप्रयोगो न होमक्रियाभिप्रायेण। सोऽभिमृशतीत्यादिना समन्त्रकमासन्नानां हविषामभिमर्शनं विधत्ते–ध्रुवा असदन्निति। कर्मसमाप्तिपर्यन्तं निश्चलतया वेद्यां जुह्वाद्या उपसन्ना इत्यर्थः।

ऋतस्य योनाविति यज्ञो वा ऋतस्य योनिर्यज्ञे ह्यसदंस्ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिमिति तद्यजमानमाह—पाहि मां यज्ञन्यं तदप्यात्मानं यज्ञान्नान्तरेति। यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतत् सर्वं परिददाति गुप्त्यै तस्मादाह ता विष्णो पाहीति। ऋतयोनावित्यस्याभिप्रायमाह—ऋतशब्दः सत्यार्थकः, सत्यफलकारणत्वाद् यज्ञ ऋतस्य योनिः। यज्ञे खल्वेता जुह्वाद्या असान आसादिताः। अत ऋतस्य योनावित्यनेन यज्ञप्रतिपादनं युक्तम्। फलभोक्तृतया यज्ञस्वामित्वाद्यजमानो यज्ञपतिः। यज्ञं नयति निष्पादयतीति यज्ञनीरध्वर्युः। तेन यज्ञन्यमित्यनेनाध्वर्युर्न यजमानः। स्वात्मानं यज्ञसकाशान्नान्तरेति वियुक्तं न करोति। तस्माच्छतपथविरुद्धमेव दयानन्दीयं व्याख्यानम्।

एकमात्र यही प्रतीत हो रहा है कि उन्हें 'वैदिक यज्ञप्रक्रिया' का परिचय नहीं होगा। शतपथद्वारा प्रतिपादित यज्ञप्रक्रिया का परिचय प्राप्त करके यदि व्याख्या की गई होती तो ऐसी गलतियाँ न होतीं। वेद की व्याख्या करने वाले को व्याख्या का आरम्भ करने से पहिले—शतपथ, श्रौतसूत्र, प्रातिशाख्य, सायण, महीधर, उव्वट, स्कन्दस्वामी आदि पूर्वाचार्यों के भाष्यादि ग्रन्थों का अध्ययन, अवलोकन मनन कर लेना आवश्यक होता है, जिससे ऐसी गलतियां नहीं हो पाती। 'ऋत' शब्द का अर्थ 'सत्य' है। 'यज्ञ' जो है वह 'ऋत' की योनि है। अतः 'ऋतस्य योनौ' के द्वारा यज्ञ का प्रतिपादन जो उव्वट, महीधर ने किया है, वह उचित ही है। फल का भोक्ता होने के कारण 'यजमान' को यज्ञपति कहा गया है। तथा यज्ञ का निष्पादन करने के कारण 'अध्वर्यु' को 'यज्ञनी' कहा गया है। अतः 'यज्ञन्यम्' से अध्वर्यु को बताया गया है, यजमान को नहीं। इन सब बातों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्दीय व्याख्या शतपथ के विरुद्ध है।

अध्यात्मपक्ष में—हे भगवति! तुम ही यज्ञों में 'जुहू' के नाम से प्रसिद्ध हो। तुम्हारे द्वारा ही इन्द्रादि देवताओं को घृत आदि हवि की प्राप्ति होती है, इस कारण तुम ही 'घृताची' हो। देवताओं के लिये घृत आदि का आदान जिससे किया जाता है, उसे 'जुहू' कहते हैं। उसकी अधिष्ठात्री परदेवता तुम ही हो। अथवा प्रत्यक्चितिस्वरूपिणी

अध्यात्मपक्षे तु—हे भगवति ! त्वमेव यज्ञेषु जुहूनाम्ना प्रसिद्धा। घृताची घृतमञ्चतीति घृताची, त्वद्द्वारैवेन्द्रादीनामाज्यादिप्राप्तेः। देवानामर्थे जुहोति घृताद्यादत्ते यया सा जुहूः, तदधिष्ठात्री परदेवता त्वमेवासि। यद्वा जुहोत्यादत्ते सर्वमनया प्रत्यक्चितिरूपयेति जुहूः। सा त्वमिदं सदो निवासस्थानं मूर्तिमयं शरीरं भक्तहृदयं वा प्रियेण प्रेमास्पदेन स्वरूपभूतेन तेजसा अधितिष्ठ। त्वमेव उपभृन्नाम्ना घृताची घृताद्युपलक्षितदिव्यहविर्भोक्त्री असि भवसि। उप जुह्वाः समीपे स्थित्वा आज्यं बिभर्ति धारयतीत्युपभृत् पात्रविशेषस्तदधिष्ठात्री। उपेति सामीप्यवाची, सामीप्यस्य पर्यवसानमात्मन्येव। तथा च प्रत्यगात्मानं बिभर्तीत्युपभृत् परमात्मस्वरूपासि। हे राजराजेश्वरि ! त्वं ध्रुवासि नाम्ना ध्रुवा स्रुगसि। जुहूपभृतोश्चलनवदस्याश्चलनाभावेन ध्रुवात्वम्। तदधिष्ठात्री सती सर्वदेवतर्पयित्री ध्रुवा कूटवन्निर्विकारतया तिष्ठतीति वा, कूटस्था वासि। सा त्वं प्रियेण सर्वप्राणिप्रेमास्पदेन तेजसा स्वरूपभूतेन तेजसा प्रियं सदः स्थानं मूर्ति हृदयं वाधितिष्ठ। ऋतस्य सत्यस्य योनौ अङ्के जुह्वादीनि पात्राणि पुरोडाशादीनि, असदन्निति तद्रूपाणि सन्तु। विष्णो हे व्यापनशील परमेश्वर ! पाहि रक्ष यज्ञं कर्मविशेषमुपासनं वा। पाहि यज्ञपतिं यजमानं यज्ञन्यं यज्ञनेतारमध्वर्युम्। यद्वा ऋतस्य सत्यस्य योनौ कारणभूतायां चिदात्मिकायां भगवत्यां सर्वाणि वस्तूनि सर्वाणि कर्माणि ध्रुवा स्थिराणि कारणात्मनाऽविनश्वराणि, असदन् आसादितानि सन्ति। हे विष्णो व्यापनशील सर्वकारण ! व्यवहारेऽपि यज्ञादीनि सुखसाधनानि यज्ञपतिं यज्ञकर्तारं यज्ञन्यं यज्ञनेतारमध्वर्युं च पाहि पालय।

कश्चित्तु—'यज्ञे त्रीणि स्रुक्पदाभिधेयानि हवनसाधनानि भवन्ति—जुहूः, उपभृत्, ध्रुवा च। त्रीणि चेमानि ब्रह्माण्डे दिवोऽन्तरिक्षस्य पृथिव्याश्च प्रतीकभूतानि। राष्ट्रे च राजभृत्यप्रजाना प्रतीकानि। हे राजन् ! त्वं जुहूरसि समस्तप्रजागणेभ्यः शक्तीरादाय सर्वेभ्यः सुखप्रदानसमर्थः, घृताची तेजसा पराक्रमेण च युक्तः। जुहूरिति त्वदीयं नाम। सा राजशक्तिरिदमस्मिन् राजभवने राजपदे वा प्रियं सदः स्वप्रिये आश्रये आसनेऽनुकूलतेजसान्वितः, आसीद विराजताम्। हे राजाधिकारिवर्ग ! त्वमपि घृताची असि तेजःसम्पन्नोऽसि। नाम्ना उपभृत्। कुत इति चेत्, राज्ञा स्वसमीपे त्वां रक्षित्वा भृति(वेतन)द्वाराप्नोति सा अधिकारिगणरूपा प्रकृतिः, इदं स्वप्रियं सदः प्रीतिकरासनमारुह्य प्रीतिकरेण तेजसा युक्त आसीद। हे प्रजागण ! त्वमपि घृताची असि घृततुल्यपुष्टिकरान्नादिपदार्थप्रापकत्वेन तेजस्वी भव। नाम्ना ध्रुवा पृथिवीवदेव स्थिरा भव। सा त्वमिदं स्वीयं प्रियमासनं प्रियेण तेजसा आसीद। सर्वेऽपि स्वीयेष्वासनेषु वा स्वानुकूलतेजसि च ऋतस्य योनौ सत्यज्ञानस्याश्रयभूतेश्वराश्रयाश्रिता भूत्वा त्रयोऽपि राज-कर्मचारि-प्रजाः स्वाश्रितैरुपादेयपदार्थैर्ध्रुवा असदन् स्थिरा भवन्तु। हे विष्णो व्यापक प्रभो ! ताः पाहि। यज्ञं रक्ष यज्ञपालकं स्वामिनं पाहि मां यज्ञन्यं यज्ञनेतारं रक्ष' इति।

तुम्हारे द्वारा ही सब कुछ ग्रहण किया जाता है, इसलिये तुम ही 'जुहू' हो। ऐसी तुम, निवासस्थानभूत मूर्तिमय शरीर में अथवा भक्त के हृदय में प्रेमास्पद स्वरूपभूत अपने तेज से निवास करो। तुम ही 'उपभृत्' नाम से घृतादि के द्वारा उपलक्षित दिव्य हवियों की भोक्त्री हो। अतः तुम ही उपभृत् नाम की घृताची हो। जुहूपात्र के समीप स्थित रहकर आज्य का धारण करने से उस पात्र विशेष को 'उपभृत्' कहते हैं, उसकी तुम अधिष्ठात्री देवता हो। 'उप' शब्द 'समीप' वाचक है। उस सामीप्य का पर्यवसान 'आत्म' में ही होता है। तथा च प्रत्यगात्मा का धारण करने से तुम परमात्मस्वरूपा हो। हे राजराजेश्वरि ! तुम 'ध्रुवा' नाम की स्रुक् हो। 'जुहू' और उपभृत् पात्रों के समान 'ध्रुवा' पात्र का चलनाभाव रहने से उस पात्रविशेष का नाम 'ध्रुवा' प्रसिद्ध हुआ है। उस पात्रविशेष की तुम अधिष्ठात्री सर्वदेवतर्पयित्री हो और कूट के समान निर्विकारभाव से स्थित रहती हो। सत्य की योनि, अर्थात् अंग में जुहू आदि पात्र

तदपि विविच्यते । अस्यां कण्डिकायां यज्ञशब्दः पठितो व्याख्यात्रा च यज्ञे तिस्रः स्रुचो भवन्तीत्युक्तम् । तत्र कोऽयं यज्ञः किं प्रमाणकश्च ? पात्राणि च किं प्रमाणकानि ? सर्वेऽपि मन्त्रा आयुष्मता राजाद्युपदेशपरा आस्थीयन्ते, यज्ञे जुहूपभृद्ध्रुवाख्यानि पात्राणि चास्थीयन्ते । कानि च तानि ? यदि च श्रौतसूत्रपद्धतियाज्ञिक-सम्प्रदायानुरोधेनैव यज्ञादिव्याख्यानमाद्रियते, तर्हि तदनुरोधि मन्त्रव्याख्यानमप्याद्रियताम् । तथात्वे हूयतेऽनयेति जुहूरित्येवं व्याख्यायताम् । न च राजा जुहूरूपः सम्भवति, तस्य होमं प्रत्यकरणत्वात् । जुह्वां यदेव घृतमादीयते तदेवाग्नौ देवतोद्देश्येन हूयते । राज्ञा तु न तथा यदेवादीयते तदेव दीयते । प्रजाभ्यः कर आदीयते न शक्तिः, प्रजाभ्यश्च सुखं तत्साधनानि च दीयन्ते, न यदेवादीयते तदेव । जुहूपभृद्ध्रुवासु यद्वैलक्षण्यं न तद्राजभृत्यप्रजासु व्यञ्जितम् । दिवादिषु किंनिमित्तकं जुह्वादित्वमिति नोक्तम् । अपि च, यथा मुख्यसिंहनिरूपणानन्तरमेव देवदत्तादिगौणसिंहनिरूपणं भवति, तथैव मुख्यजुहूपभृद्ध्रुवादिनिरूपणानन्तरमेव राजादिगौणजुह्वादिनिरूपण-मुचितम् । किञ्च, यज्ञ-यज्ञपति-यज्ञनीरक्षणं प्रार्थितम् । नहि राष्ट्रे राष्ट्रपतौ नेतृषु चैते शब्दाः प्रसिद्धाः । न च तत्र जुह्वादयोऽपेक्ष्यन्ते । अपि चैतेषां मन्त्राणां य उच्चारयिता स एव मांपदार्थः । स च नेश्वरः सम्भवति, तस्य रक्षणप्रार्थनानुपपत्तेः । न च कश्चन नेतास्य मन्त्रस्योच्चारकः, निष्प्रमाणत्वात् । सिद्धान्ते श्रौतसूत्रानु-सारेणाध्वर्युकर्तृकं मन्त्रोच्चारणम्, स एव च यज्ञनेता भवति, यजतिजुहोत्योस्तत्कर्तृकत्वात् । किञ्च, ऋतस्य योनौ परमेश्वरे कथमेषामवस्थानम् ? ता इति पदेन केषां व्यपदेशः ? राजादीनां तथात्वे च पौनरुक्त्यमेव । सिद्धान्ते सूत्रानुसारेण तु यत्तदोः सम्बन्धाद्यान्येतानि ध्रुवाणि असदन् आसादितानि ऋतस्य योनौ यज्ञस्योत्सङ्गे तास्तानि हवींषि गोपाय । अस्मिन्नर्थे मन्त्राणां परम्परसङ्गतिस्तु स्पष्टं भासते । सिद्धान्ते तु यज्ञानुसारेण स्पष्टैव सङ्गतिः ॥ ६ ॥

अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितꣳ सम्मार्ज्मि । नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः सुयमे मे भूयास्तम् ॥ ७ ॥

'इध्मसंनहनैरनुपरिधि संमाष्टर्यग्ने वाजजिदिति त्रिस्त्रिः परिक्रामम्' (का० श्रौ० ३।१।१३) । इध्मबन्धनार्थैस्तृणैरग्नेः पूर्वेण परिक्रम्य यजतिस्थानस्थः सम्मार्ज्य द्विस्तूष्णीं मार्जयेत् । ततोऽप्रादक्षिण्येन

और पुरोडाशादि हवि स्थित हैं, अतः उनके स्वरूप से तुम ही हो । हे व्यापनशील परमेश्वर ! तुम यज्ञरूप कर्मविशेष की अथवा उपासना की रक्षा करो । तथा यज्ञपति यजमान की और यज्ञन्य (यज्ञनेता) अध्वर्यु की रक्षा करो ।

अथवा सत्य की कारणभूत चिदात्मिका भगवती में समस्त वस्तुजात, समस्त कर्म, स्थिर कारणरूप से अविनश्वर रूप में आसादित हैं । हे विष्णो ! व्यवहार में मा यज्ञादि सुखसाधनों को, यज्ञकर्ता को और अध्वर्यु को सुरक्षित रखो ।

किसी व्याख्याता ने यज्ञपात्रों को अन्तरिक्ष और पृथिवी के प्रतीक मानकर राष्ट्र में राजा, भृत्य और प्रजा के प्रतीक रूप में माना है । किन्तु वह सब असंगत है । उस असंगति को भाष्य में अच्छी तरह से बताया गया है, वहीं पर देखना चाहिये ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अन्नोत्पादक अग्ने ! मैं अन्न के उद्देश्य से गमन करने वाले और विजय प्राप्त करने वाले तुम्हारी शुद्धि जल से करता हूँ । कर्म पर अनुग्रह करने वाले देवताओं को नमस्कार है । पालन करनेवाले पितरों को यह हवि सुहुत हो । हे जुहू और उपभृत् पात्रों ! मेरे लिये तुम स्थिर रहो, अर्थात् तुममें स्थित रहने वाले घृत को नीचे गिरने

यजतिस्थानमागत्य पश्चिमपरिधिमुदक्संस्थं सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीं सम्मार्जयेत, अनुपरिधिं परिधिसमीपे अग्निं संमृड्ढि इति प्रैषबलात् । वाजमन्नं जयतीति वाजजित्, तत्सम्बुद्धौ हे वाजजिदग्ने त्वा त्वामहं सम्मार्ज्मि शोधयामि । कीदृशं त्वां सरिष्यन्तमन्नमुद्दिश्य गमिष्यन्तम् अन्नप्रतिबन्धनिवारकम्, अन्नसम्पादनोपयुक्तमित्यर्थः । वाजं यज्ञं वा प्रापयिष्यन्तमन्नस्य जेतारमग्निं शोधयामि । 'अपरमाहवनीयादञ्जलिं करोति नमो देवेभ्यः' (का० श्रौ० ३।१।१५) । अध्वर्युरुपभृतोः पुरस्तादाहवनीयस्य पश्चाद् ओं नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्य इत्यञ्जलिपुटं निदधाति । तस्मादञ्जलिकरणस्थानाद् दक्षिणतो द्वितीयमञ्जलिमुत्तानं करोति, ये देवा अनुष्ठानमनुगृह्णन्ति तेभ्यो नमस्करोति । 'स्वधा पितृभ्य इति दक्षिणत उत्तानम्' (का० श्रौ० ३।१।१५) प्राङ्मुखेनादौ देवनत्यर्थमञ्जलिः कृतः । इदानीं पितृनत्यर्थं दक्षिणामुख उत्तानमञ्जलिं कुर्यात् । ये पितरः पालकाः सन्ति तेभ्यः स्वधाऽस्तु । स्वधाशब्दो निपातः पितॄनुद्दिश्य देयद्रव्यस्य पिण्डादेर्दाने वर्तते । अनेन मन्त्रद्वयेन देवाः पितरश्च पूज्यन्ते । 'सुयमे म इति जुहूपभृतावादाय' (का० श्रौ० ३।१।१६) । हे जुहूपभृतौ मे मदर्थं सुयमे सुष्ठु नियमने युवां भूयास्तं भवतम्, यथा युवयोः स्थितमाज्यं न स्कन्दति तथा धारयतम् । तदाह कण्वोऽपि —'अथ स्रुचावाघारमाकृष्यन्नग्रेण स्रुचोरञ्जलिं निदधाति नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः' इति ।

अत्र दयानन्दः—'यतोऽयमग्निर्वाजजिद् अन्नप्रापको भूत्वा सर्वान् पदार्थान् सम्मार्ष्टि शोधयति, तस्मात् त्वा तमहं वाजं सरिष्यन्तं सर्वान् पदार्थान् अन्तरिक्षे गमिष्यन्तं वाजजितं युद्धजितं संमार्ज्मि येन यज्ञे प्रयुक्तेनाग्निना देवेभ्यः सुखकारकेभ्यो वस्वादिभ्यो नम उदकं पितृभ्यः पालनहेतुभ्य ऋतुभ्यः स्वधान्नं 'ऋतवो वै पितरः' । सुयमे सुशोभनेऽर्थे यमे यच्छन्ति बलपराक्रमौ याभ्यां ते मम भूयास्तं भूयास्ताम्' इति, तदपि निर्मूलम्, अग्नेः केवलस्यान्नप्रापकत्वाभावात् । न वाग्नेः केवलस्य युद्धजयहेतुत्वं सम्भवति । अग्निना चेहैवान्नं दह्यते न चान्तरिक्षे नीयते । न वाग्नेस्तादृशं सम्मार्जनं शोधनं दृश्यते श्रूयते वा, येन वस्वादिभ्यो जलं प्राप्येत । न तु ऋतुभ्योऽन्नं प्राप्यते, वसूनामृतूनां च समुच्चितानामेवान्नादिप्रापकत्वसम्भवात् ।

शतपथविरुद्धं चैतत् । तथाहि—'अथ संमार्ष्टि । युनक्त्येवैनमेतद्युक्तो देवेभ्यो यज्ञं वहादिति तस्मात् संमार्ष्टि । परिक्रामं सम्मार्ष्टि । परिक्रामं हि योग्यं युञ्जन्ति त्रिस्त्रिः संमार्ष्टि त्रिवृद्धि यज्ञः' (श० १।४।४।१४) । इति विधित्सितस्य सम्मार्जनस्याघारानन्तर्यमुपपादयति—यथेति । यथा अनडुहः स्कन्धदेशे धुरं युगधुरं अध्यूहेत योजयेत, एवमग्नौ धुरोऽध्यूहनमेव पूर्वाघारहोमेन क्रियते । तत्रैव लोकप्रसिद्धिमाह—अध्युह्येति । हि

मत दो । 'अग्ने वाजजित्' इस मन्त्र से 'अग्नि' का तीन बार संमार्जन करे । आहवनीय के पश्चिम भाग में 'नमो देवेभ्य.' इस मन्त्र से नमस्काराञ्जलि करे । तदनन्तर 'स्वधा पितृभ्यः' इस मन्त्र से दक्षिण की ओर उत्तान अञ्जलि करे । 'सुयमे मे' इस मन्त्र से जहू और उपभृत् पात्रों का ग्रहण करे ॥ ७ ॥

भाष्यसार—अग्नि का संमार्जन एक बार समन्त्रक और दो बार तूष्णीं करना चाहिये । यह अग्नि अन्नसम्पादनोपयुक्त है तथा अन्न का जेता है, अर्थात् अन्न-प्रतिबन्ध का निवारण करने वाला है । तदनन्तर देवता और पितरों को प्रणामाञ्जलि के द्वारा प्रणाम किया जाता है । तदनन्तर जुहू और उपभृत् की घृतधारण करने के लिये प्रार्थना की गई है ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह मूलरहित ही है । शतपथब्राह्मण के विरुद्ध भी है । दयानन्दजी की व्याख्या और उसका शतपथ के साथ विरोध ऊपर दिये गये भाष्य में देखना चाहिये ।

यतो रथादेर्वहनेऽनडुदश्वादिकं योज्यमानास्तदीयस्कन्धस्योपरि युगधुरमध्युह्य पश्चात् पाशैर्युञ्जन्ति, अतो धुरोऽध्यूहनस्थानीयः पूर्वाघारहोमः। इतः पूर्वं सामधेन्यनुवचनम्। तथेध्मसामधेनीनाम्नोर्निर्वचनम्। तत्र होतृपदमुपादेयमित्येकीयमतनिरसनम्। सामिधेनीनामृचां छन्दोदेवतासंख्यादिकं च। पञ्चदशो वज्र इत्युपपत्तिः। त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामित्येकादशानामृचां प्रथमाया उत्तमायाश्च त्रिस्त्रिरन्वाख्यानेन पञ्चदशत्वम्। तासां संख्यासाम्यात् पक्षस्य रात्र्यात्मना सम्पत्तिः। अक्षरसंख्यासाम्यात् षष्ट्युत्तरत्रिशतसंवत्सराहःसम्पत्तिः। सामिधेन्यनुवचने उपांशु हिङ्करणादिधर्मविशेषविधानम्। हिंकारप्रणवयोस्तादात्म्योपवर्णनम्। सामिधेनीनामृचां व्याख्यानम्। प्रसङ्गाद् मागध-विदेह-राजकथाप्रस्तावः। अग्नेर्दूतत्वेतिहासः। होता यो विश्ववेदस इति मानुषपरिकल्पितपाठान्तरनिरासः। सामिधेनीष्वृक्षु सप्तदशसंख्यापूरकयोर्धाय्याभूतयोर्ऋचोः स्थाननिर्धारणम्। दशम्या ऋचः प्राग् अनुयाजसमिद्वर्जमवशिष्टसर्वेध्मानामाधानम्। अन्तिमाया ऋचः प्रोक्षणीप्रैषरूपत्वम्। अध्वरपदस्य निरुक्तिपूर्वकं सोमयागे रूढिं प्रतिपाद्य दर्शपूर्णमासे तद्योगं दर्शयित्वा द्वयोः समानफलजनकत्वोक्तिः।

'अग्ने महाँ२ असि ब्राह्मण भारतेति। ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति। भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति। तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह भारतेति।' (श० १।४।२।२)। अथार्षेयप्रवरणम्—देवेद्धमन्विद्ध ऋषिष्टुत् विप्रानुमोदित वाविशस्त ब्रह्मसँ२शितादिनिवित्पाठः। यथादेवतं देवतावाहनम्। सामिधेनीपुरोनुवाक्ययोस्तिष्ठतानुवचनम्। याज्याया आसीनेनानुवचनमिति धर्मविशेषविधानम्। शान्तिकर्म। तत्र सामिधेनीभिः समिद्धोऽग्निः प्रदीप्ततमो भवति। ततो रक्षःप्रभृतिभिरहिंस्यः स्प्रष्टुमशक्यश्च जायते। आघारसंज्ञकयोर्होमयोर्विधानम्। मनोवाग्देवत्यौ च तौ पूर्वोत्तरावाघारौ समिद्धेऽग्नौ होतव्यौ। तत्र पूर्वाघार उपांशु स्रुवेण तूष्णीमुत्तरतः उपविष्टेन सता होतव्यः। उत्तराघारश्चोच्चैः स्रुचा स्वाहाकारेण दक्षिणतस्तिष्ठता होतव्यः। पूर्वाघारोत्तरं संप्रैषमग्निसम्मार्जनम्। देवेभ्यो यक्ष्यमाणहविर्द्रव्यं वाहयित्वा प्रदानार्थं शकटसम्पत्त्या द्वयोराघारयोर्मध्येऽग्निसम्मार्जनानुष्ठानस्य प्रशसनम्। 'स सम्मार्ष्टि। अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितँ२संमार्ज्मीति यज्ञं त्वा वक्ष्यन्तं यज्ञियँ२संमार्ज्मीत्येवैतदाहाथोपरिष्टात् तूष्णीं त्रिस्तद्यथा युक्त्वा प्राजेत्प्रेहि वहेत्येवमेवैतत् कशयोपक्षिपति प्रेहि देवेभ्यो यज्ञं वहेति। तस्मादुपरिष्टात्तूष्णीं त्रिस्तद्यदेतदन्तरेण कर्म क्रियते तस्मादिदं मनश्च वाक्च समानमेव सन्नानेव।' (श० १।४।४।१५)।

विहितं सम्मार्जनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते-स सम्मार्ष्टीति। मन्त्रस्याभिप्रायमाह—यज्ञं त्वेति। यज्ञसाधनत्वाद् हविरत्र यज्ञः। यज्ञसाधनं हविर्लक्षणमन्नं देवेभ्यो वक्ष्यन्तं वहनं करिष्यन्तं वाजं सरिष्यन्तमिति पदद्वयस्यार्थः। वाजजिदित्यस्य व्याख्या यज्ञियमिति। वाजं यज्ञसाधनं हविर्लक्षणमन्नं जयतीति वाजजित्। तथा च यज्ञ

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—वेदपुरुष अथवा आचार्य कह रहा है कि हे वाजजित् अग्ने! विविध प्रकार के अन्न को अपने कर्म से जीतने वाले भोक्ता अथवा जीवात्मन्! कर्मफल के भोगग्रहणार्थ कर्म के अनुसार वेगशाली बने हुए तुमसे गर्भाधानादि अड़तालीस संस्कारों के द्वारा समस्त मल का अपसारण कर और तुममें अतिशय का आधान कर तुम्हारा शोधन कर रहा हूँ। तदर्थ अग्नि आदि देवताओं के लिये प्रणाम कर रहा हूँ तथा पितरों के लिये स्वधा, अर्थात् दिव्यान्न अर्पित करता हूँ। हे वाणी और मन! तुम दोनों अच्छी तरह से नियमित रूप से रहना, जिससे ईश्वराराधन रूप कर्म सम्यक्तया अनुष्ठित हो सके।

अथवा हे वाजजित्! मायामय अन्न को जीतने वाले हे परमेश्वर! भोग के योग्य प्रभूत अन्न को अपने अधीन रखने वाले और भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये अथवा फलदानार्थ गमन करने वाले तुम्हारा अभिषेक हम कर रहे हैं।

यज्ञसाधनं हविरर्हतीति यज्ञियशब्दार्थः सम्पद्यते। उपरिष्टात् सम्मार्जनं विधत्ते—अथेति। परिधित्रयानुसारेण परितोऽग्निं संमृज्य तदनन्तरमग्नेरुपरिष्टात् तूष्णीं त्रिः सम्मृज्यात्। तदेतत् स्तौति–तद्यथेति। यथा लोके युगधुरेऽनड्वहं संयोज्य प्रेहि प्रगच्छ वोढव्यं भारं वह इत्येवं वदन् कशया ताडनेन प्राजेत् प्रेरयेत्, एवं कशयोपक्षेपणमेव तदुपरिमार्जनम्। अन्यत् स्पष्टम्। स्रौवस्रुग्व्याघारयोर्मध्येऽनुष्ठानं संमार्जनस्य प्रशंसति--तद्यदिति। मनोवाक्संस्तुतयोरनयोराघारयोर्मध्ये सम्मार्जनस्य करणात् तद्व्यवधाने सति मनश्च वाक् च एतदुभयं समानविषयं समानाश्रयमपि नानेव भिन्नमिव भवति। एवं श्रुतिसूत्राभ्यां सायणादिपक्ष एव समर्थ्यते, न दयानन्दीयोऽन्यदीयो वा। नात्र वाजस्यान्तरिक्षे प्रेषणं न वाग्निसंशोधनेनास्त्रशस्त्रनिर्माणादिना युद्धजयः सूच्यते। सिद्धान्तपक्षीयस्त्वर्थः पूर्वमेवोक्तः।

अध्यात्मपक्षे वेदपुरुष आचार्यो वाह—हे वाजजिदग्ने वाजमन्नं विविधं स्वकर्मणा जयतीति वाजजिद् भोक्तर्जीवात्मन्! वाजजितं त्वा कर्मफलभोगाय सरिष्यन्तं कर्मानुसारेण वाजं वेगवन्तं त्वा त्वां संमार्ज्मि गर्भाधानादिभिरष्टाचत्वारिंशत्संस्कारैर्मलापनयनेनातिशयाधानेन च सम्मार्ज्मि शोधयामि। तदर्थं देवेभ्योऽग्न्यादिभ्यो नमः प्रह्वीभावोऽञ्जलिबन्धोऽस्तु। तथा पितृभ्यः स्वधा दिव्यान्नमर्पितमस्तु। हे वाङ्मनसी! युवां सुयमे सुष्ठु नियते भूयास्तम्, यथा परमेश्वराराधनलक्षणं कर्म स्वनुष्ठितं स्यात्। यद्वा—हे वाजजित्! वाजं मायामयमन्नं जयतीति वाजजित् तत्सम्बुद्धौ वशीकृतमाय परमेश्वर अग्ने! वाजजितं वशीकृतभोग्यं वाजं प्रभूतान्नादिमन्तं सर्वैश्वर्यशालिनं भक्तानुग्रहार्थं फलदानार्थं वा गमिष्यन्तं संमार्ज्मि अभिषिञ्चामः। तस्य त्वदभिषेकादिलक्षणस्य निर्विघ्नसिद्ध्यर्थं देवेभ्यस्त्वदंशेभ्यो नमोऽञ्जलिबन्धोऽस्तु। पितृभ्यश्च त्वदङ्गेभ्यः स्वधास्तु। तदर्थं स्वीये वाङ्मनसी पूर्ववत्सम्बोध्य सुयमे सुष्ठु नियते भवतमित्यवधापयति॥ ७॥

अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यꣳसम्भ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णोः स्थानमसीत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर आस्थात्॥ ८॥

यथाहं संयताभ्यां स्रुग्भ्याम् अस्कन्नं सकलं घृतमद्य अस्मिन् कर्मणि अनुष्ठानदिने वा देवेभ्यो देवोपकाराय सम्भ्रियासं सम्यक्पोषणं धारणं वा करोमि। आशीर्लिङि उत्तमे रूपम्। 'दक्षिणातिक्रामत्यङ्घ्रिणा विष्णो' (का० श्रौ० ३।१।१६) इति कात्यायनः। हे विष्णो व्यापक यज्ञपुरुष! अङ्घ्रिणा पादेन त्वा त्वामहं मा अवक्रमिषं मावक्रमणं कार्षम्। 'परिधीनपरेण सञ्चरो होष्यतः, सव्येनेतो दक्षिणेनामुतः, वसुमतीमित्यवस्थाय' (का० श्रौ० ३।१।१७-१९)। परिधीनां पश्चिमभागः सञ्चारदेशस्ततो होमायोद्युक्तस्य सव्येन पादेनेतः परिधेः

उस अभिषेक की निर्विघ्नता सिद्धि के लिये तुम्हारे अंशभूत देवताओं को प्रणाम और तुम्हारे अंगभूत पितरों को स्वधा अर्थात् जो देय है, उसे दे रहे हैं। तदर्थ हमारी वाणी और मन को सर्वदा नियत रखो॥ ७॥

मन्त्रार्थ—आज इस कर्म के दिन देवताओं के लिये तुममें (जुहू, उपभृत् पात्रों में) भरा हुआ घृत, जो पृथिवी पर न गिर सके, उस प्रकार से मेरे द्वारा उसको धारण किया जाय। उसे मेरा पाँव न लगे। हे अग्ने! तेरे समीप छाया के समान रहने वाली पृथ्वी का मैं सेवन करता हूँ। हे वसुमति! तू यज्ञ का स्थान है। हे अग्ने! धन देनेवाली वसुमती नामकी तुम्हारी छाया का मैं सेवन करता हूँ। इन्द्र इस देवयजन स्थान से ऊर्ध्व होकर ही वृत्रवधरूप कर्म कर पाया। उसी कारण यज्ञ ऊर्ध्व हुआ है। 'वसुमतीम्' इस मन्त्र से अग्नि के समीप सेवा करने के लिये खड़ा रहे। 'इत इन्द्रः' इस मन्त्र से होम करे॥ ८॥

पश्चिमदिश्यवस्थानं दक्षिणेन पादेनामुतः पूर्वस्यां दिश्यवस्थानम्। परिधीनां पश्चात् स्रुचां पूर्वेण तेमं करिष्यतोऽध्वर्योर्गमनागमनमार्गो ज्ञेयः। इतो जुहोतिस्थानाद् यजतिदेशं गच्छन्नध्वर्युः सव्येन पादेन गच्छेत्। अमुतो यजतिस्थानात् प्रत्यागच्छन् दक्षिणेन पादेनागच्छेत्। एकैकेन पादेन गन्तुमशक्यत्वात् तस्य प्रथमप्रवृत्तिर्विवक्षिता। उत्तरतो जुहोतिस्थानं दक्षिणतो यजतिस्थानम्। यजतिस्थाने ईशानाभिमुखस्तिष्ठेदध्वर्युः। क्रमणदोषो मे मा भूदित्यग्निः प्रार्थ्यते। हे अग्ने! ते छायां छायावत्समीपवर्तिनीं भूमिमाश्रयभूतां वा भूमिमहमुपस्थेषम् उपतिष्ठेयं सेवेय। उपपूर्वकस्य तिष्ठतेः सेवार्थत्वात् स्तुतिरूपा सेवैवोच्यते, युष्माकं पादच्छायायां वसामीत्यादौ तथा प्रयोगदर्शनात्। तथा चादिकाव्यं रामायणम्—'पादच्छायामुपागम्य सुखमस्य महात्मनः। उपवासपरैकाग्रा वरा त्वं जनकात्मजे॥' (वा० उ० ४७।१७) इति। हे वसुमति! त्वं विष्णोर्यज्ञस्य स्थानमसि। अत्र स्थित्वा यज्ञः कर्तुं शक्यते। आहवनीयसमीपवर्तित्वाच्चास्या भूमेर्यज्ञस्थानत्वम्। यद्वा हे अग्ने! तव वसुमतीं धनवतीं धनप्राप्तिकरीं छायामाश्रयम् उपस्थेषं सेवेय। 'इत इन्द्र इति जुहोति' (का० श्रौ० ३।२।१)। यज्ञसम्बन्धि यत्स्थानमुक्तम्, तदेव देवानां विजयहेतुत्वाद् इतःशब्देन परामृश्यते। देवयजनव्यतिरिक्तभूमेरसुराधीनत्वे तत्र देवानां पराजयेऽपि यज्ञप्रदेशोऽजेयः। तदुक्तम्—'विष्णो स्थानमसीत्याह। यज्ञो वै विष्णुः। एतत्खलु देवानामपराजितमायतनं यद्यज्ञः। देवानामेवापराजित आयतने तिष्ठति' (तै० ब्रा० ३।३।७।७) इति। इत इन्द्र इतोऽस्माद् यजनस्थानात् स्वकीयभुजबलोपार्जिताद् युद्धार्थमुद्युक्तः सन् वीर्यमकृणोद् वीरस्य कर्म वीर्यं शत्रुवधरूपमकरोत्। अत एवाध्वरो यज्ञ ऊर्ध्वमास्थाद् उन्नतः स्थितः। इन्द्रेण वीर्ये कृते शत्रुकृतविघ्नाभावात् तस्यौन्नत्यमर्थसिद्धम्।

अत्र दयानन्दः—'अहं देवेभ्य उत्तमसुखप्राप्तयेऽस्कन्नमविक्षुब्धं निश्चलसुखदायकमाज्यादिपदार्थप्रापकमग्निमद्य सम्भ्रियासं धारयेयम्। विष्णो हे व्यापक परमेश्वर! त्वां तमङ्घ्रिणा गमनसाधनेनाग्निना मावक्रमिषं कदाचिदपि नोल्लङ्घयेयम्। हे अग्ने परमेश्वर भौतिकाग्ने वा! ते वसुमती बहूनि वस्तूनि भवन्ति यस्यां तां विविधपदार्थदात्रीं छायामाश्रये उपस्थेषं प्राप्नुयाम्। योऽयमग्निर्विष्णोर्यज्ञस्य स्थानमस्ति तस्याप्युत्तमपदार्थप्रापकमाश्रयं प्राप्याहं यज्ञं साधयामि। तथा य ऊर्ध्वमाकाशस्थोऽध्वरोऽग्नौ चास्थात् तिष्ठति तं यज्ञमित इन्द्रः सूर्यो वायुश्च धारयित्वा वीर्यं वीरस्य कर्म पराक्रमं वा अकृणोत् करोति' (पृ० १६०) इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणव्यत्ययादिदोषदुष्टत्वात्। देवेभ्य इत्यस्य उत्तमसुखप्राप्तिरूपोऽर्थोऽपि निष्प्रमाण एव। आज्यादिपदार्थे निश्चलसुखदायकत्वमपि निर्मूलमेव। अङ्घ्रिणा गमनागमनसाधनाग्निना धारितस्याज्यादेरग्निरेव कर्ता भवति नान्यः। उल्लङ्घनं च तस्य कीदृगित्यस्पष्टम्।

भाष्यसार—यज्ञानुष्ठान के दिन यज्ञिय पात्र, अग्नि, वसुमती, इन्द्र आदि की स्वरूपयोग्यता को बताया गया है और उनसे अपने शील के अनतिक्रमण की प्रार्थना की गई है। अध्वर्यु के गमनागमन का मार्ग नियत है। होमस्थान से यागस्थान तक अध्वर्यु को सव्य पैर से जाना चाहिये और यागस्थान से वापस आते हुए दक्षिण पैर से आना चाहिये। किन्तु एक पैर से जाना आना संभव न रहने से तत्तत् पैर की प्रथम प्रवृत्ति यहाँ विवक्षित है। जुहोतिस्थान उत्तर की ओर है और यजतिस्थान दक्षिण की ओर है। यजतिस्थान में ईशानाभिमुख होकर अध्वर्यु को खड़े रहना चाहिये। अपनी गमनागमन क्रिया में कोई दोष न हो पाये, तदर्थ अग्नि की प्रार्थना की गई है। 'उप' पूर्वक 'स्था' धातु का अर्थ 'सेवा' है। अतः यहाँ स्तुतिरूप 'सेवा' ही कही गई है। यह जो देवयजन स्थान है, वही देवताओं के विजय में कारण है। इस भूमि के अतिरिक्त जो भूमि है, वह असुरों के अधीन है। वहाँ देवताओं की पराजय होने पर भी यह यज्ञप्रदेश, अर्थात् देवयजनभूमि 'अजेय' है। इन्द्र ने यहीं से बल प्राप्त किया और शत्रुओं का वध किया। अत एव यज्ञ को उन्नतिकारक समझा जाने लगा।

'ईश्वर उपदिशति येन पूर्वोक्तेन यज्ञेनान्नजले शुद्धे पुष्कले भवतस्तदेतस्य सिद्ध्यर्थं मनुष्यैः पुष्कलाः सम्भाराः सदा चेतव्याः। नैव मम व्यापकस्याज्ञामुल्लङ्घ्य वर्तितव्यम्, किन्तु बहुसुखप्रापकं मदाश्रयं गृहीत्वा अग्नौ यो यज्ञः क्रियते, यमिन्द्रः स्वकीयैः किरणैश्छित्वा वायुना सहोर्ध्वमाकृष्योर्ध्वं मेघमण्डले स्थापयति, पुनस्तस्माद् भूमिं प्रति निपातयति, येन भूमौ महद्वीर्यं जायते, स सदानुष्ठातव्यः' (पृ० १६०) इति भावार्थोऽपि तदीयो मूलाक्षरासम्बद्ध एव, प्रकृतिप्रत्ययलिङ्गविभक्तिव्यक्तार्थविरुद्धश्च।

'स स्रुचोत्तरमाघारमाघारयिष्यन् पूर्वेण स्रुचावञ्जलिं निदधाति नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्य इति। तद्देवेभ्यश्चैवैतत् पितृभ्यश्चार्त्विज्यं करिष्यन् निह्नुते सुयमे मे भूयास्तमिति स्रुचावादत्ते सुभरे मे भूयास्तम्। भर्तुं त्वाऽशकेयमित्येवैतदाहास्कन्नमद्य देवेभ्यः आज्यꣳसम्भ्रियासमित्यविक्षुब्धमद्य देवेभ्यः' (श० १।४।५।१)। स्रुच्याघारस्य प्रयोगः प्रतिपाद्यते। जुहूपभृतोः पूर्वभागेऽञ्जलिं निदधाति। समन्त्रकस्याञ्जलिनिधानस्य प्रयोजनमाह -तद्देवेभ्य इति। आर्त्विज्यं करिष्यन् तदतिक्रमजनितमपराधं तन्नमस्कारेण निह्नुते शमयति। समन्त्रकं जुहूपभृतोरादानं विधत्ते-सुयमे इति। मन्त्रभागस्य विवक्षितमर्थमाह—सुभरे इति। सुष्ठुमनुनियन्तुं भर्तुं शक्ये हे जुहूपभृतौ ! युवामीदृश्यौ सुभरे भूयास्तम्। भर्तुं शकेयमिति तात्पर्यम्। मन्त्रस्य द्वितीयभागमनूद्य व्याचष्टे—अस्कन्नमद्येति। यज्जुहूपभृतोः स्थितमाज्यं तद् अस्कन्नं यथा भवति तथा सम्भ्रियासं संभर्तुं शक्तो भूयासमित्यर्थः। अविक्षुब्धमिति। आज्यस्य स्कन्दने हि यज्ञस्य विक्षोभः स्यात्। स च मा भूदिति प्रार्थ्यते।

'अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषमिति। यज्ञो वै विष्णुस्तस्मा एवैतन्निह्नुते मा त्वावक्रमिषमिति वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषमिति साध्वीमग्ने ते छायामुपस्थेषमित्येवैतदाह' (श० १।४।५।२)। लिङ्गादेवातिक्रमणे विनियोगः सिद्ध इत्यभिप्रेत्य केवलं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—अङ्घ्रिणेति। हवीरूपेण वेद्यामवस्थितो यज्ञोऽत्र विष्णुशब्देन विवक्षितः। दक्षिणातिक्रमवेलायां तस्यातिक्रमशङ्का मा भूदिति तदभावः प्रार्थ्यते। हे विष्णो हवीरूप यज्ञ ! त्वा त्वां मावक्रमिषम् अवज्ञया त्वां नावक्रमामि, अपि तु होमार्थम्। तत्रापराधो यथा न भवति तथैव सञ्चरदेशे नातिक्रमामीत्यर्थः। एतल्लिङ्गकल्पितमेव विनियोगं कात्यायन आह—'दक्षिणातिक्रामत्यङ्घ्रिणा विष्णाविति' (का० श्रौ० ३।१।१६)। स्रुग्व्याघारहोमार्थं यद्दक्षिणतोऽवस्थानं तदपि मन्त्रलिङ्गसिद्धमित्यभिप्रेत्य तं मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—वसुमतीमिति। वसुमतीं प्रशस्तबहुधनवतीं वासयोग्यां साध्वीं त्वदीयां छायां हे अग्ने ! उपस्थेषम् उपेत्य तिष्ठेयम्। 'विष्णोः स्थानमसीति। यज्ञो वै विष्णुस्तस्यैव ह्येतदन्तिकं तिष्ठति तस्मादाह विष्णोः स्थानमसीतीत इन्द्रो वीर्यमकृणोदित्यतो हीन्द्रस्तिष्ठन् दक्षिणतो नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपाहंस्तस्मादाहेत इन्द्रो वीर्यमकृणोदित्यूर्ध्वोऽध्वर आस्थादित्यध्वरो वै यज्ञ ऊर्ध्वो यज्ञ आस्थादित्येवैतदाह' (श० १।४।५।३)। प्रकृतमन्त्रेनाङ्घ्रिपदेन गमनागमनसाधनोऽग्निरभिप्रेतः, किन्तु हे विष्णो हवीरूपेणावस्थित-

स्वामी दयानन्दजी ने इस मन्त्र की जो व्याख्या की है, वह प्रमाणरहित है तथा व्यत्ययादि दोषों से दूषित है। 'देवेभ्यः' इत्यादि के अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति-प्रत्यय-लिङ्ग-विभक्तिव्यत्यय आदि अप्रामाणिक रहने से विरुद्ध अर्थ का ही प्रतिपादन कर दिया है। शतपथब्राह्मण के अनुसार जो यज्ञप्रक्रिया है, उसे ऊपर भाष्य में बताया है, वहीं से अवगत कर लेना चाहिये। इसी प्रक्रिया का अवलम्बन काण्वश्रुति, तैत्तिरीयश्रुति, श्रौतसूत्र आदि ने किया है। तदनुसार ही सायण, महीधर, उव्वटादि आचार्यों ने व्याख्याएँ की हैं। हमने भी उन्हीं आचार्यों के प्रदर्शित तथा श्रुति-सूत्रप्रदर्शित मार्ग का ही अनुसरण किया है।

यज्ञपुरुष ! त्वामङ्घ्रिणा पादेन मावक्रमिषं मावक्रमणं कार्षम्। पादेनातिक्रमणदोषो मे माभूदित्यर्थः। काण्वश्रुतिरपि तथैवाह—'यज्ञो वै विष्णुस्तमेतदतिक्रमिष्यन् प्रभवति तस्मा एवैतन्निह्नुते मा त्वावक्रमिषम्' इति। परिधीनां पश्चिमभागः सञ्चारदेशस्ततो होमायोद्युक्तस्य सव्येन पादेनेतः परिधेः पश्चिमदिश्यवस्थानम्। दक्षिणेन पादेनामुतः पूर्वस्यां दिश्यवस्थानमित्यर्थः। हे अग्ने ! तव छायां वसुमतीं यथा पुरुषस्य छाया समीपवर्तिनी तद्वत्तव समीपवर्तिनीं भूमिमुपतिष्ठेयं सेवेय। स एव सेवाप्रकारः स्पष्टीक्रियते—विष्णोः स्थानमसि हे वसुमति त्वं यज्ञस्य स्थानमसि, अत्र स्थित्वा यागः कर्तुं शक्यत इत्यर्थः। आहवनीयसमीपवर्तित्वादस्या भूमेर्यज्ञस्थानत्वं युक्तम्। तेनात्र वसुमती पृथिवी एव समीपवर्तित्वेन छायोच्यते। उपचारेण यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञस्य वा एतदन्तिकं तिष्ठतीति, तस्मादाह विष्णोः स्थानमसीति काण्वश्रुतेः। देवानां पराजयेऽपि यज्ञप्रदेशः पराजयरहितः। अत एवाह तित्तिरिः—'यज्ञो वै विष्णुः। एतत्खलु वै देवानामपराजितमायतनं यद्यज्ञः। देवानामेवापराजित आयतने तिष्ठति' (तै० ब्रा० ३।३।७।७)। तथाविधादितोऽस्माद् देवयजनस्थानात् स्वकीयभुजबलोपार्जिताद् युद्धार्थमुद्यत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्। वीरस्य कर्म शत्रुघातमकरोत्। इन्द्रेण वीर्ये कृते शत्रुप्रयुक्तविघ्नाभावात् अध्वरो यज्ञ ऊर्ध्व आस्थाद् उन्नतावस्थः सञ्जातः।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे अग्ने विष्णो ! त्वदंशेभ्यो देवेभ्य उपकाराय अद्यास्मिन् दिने अस्कन्नं विच्युतिरहितमाज्यं दिव्यं हविः सम्भ्रियासं संबिभ्रियाम्। हे विष्णो ! अङ्घ्रिणा त्वा सर्वात्मभूतं त्वां मावक्रमिषम्—'भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम्। त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं प्रभो॥' वसुमतीं प्रभूतहिरण्यरत्नादिमतीं पादच्छायामुपस्थेयम्। यद्वा पद्भ्यां भूमिरित्यनुसारेण वसुमतीं भूमिं त्वदीयां छायामाश्रयमुपस्थेयं सेवेय। हे वसुमति ! त्वं विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमेश्वरस्य यज्ञस्य वा स्थानमसि, तत्रैव यज्ञसम्पत्तेः। अन्येषां तु तत्र स्वत्वाभिमानमात्रम्। इन्द्रो महेन्द्र इत एव विष्णोर्यज्ञबलेनाप्यायितो वृत्रादीन् जेतुं वीर्यं पराक्रममकरोत्। त्वत्स्थानत्वादेवात्राध्वरो भगवदाराधनलक्षणो यज्ञ ऊर्ध्व उन्नतावस्थो जातः॥ ८॥

अध्यात्म पक्ष में मन्त्र का अर्थ यह है—

हे अग्ने विष्णो ! तुम्हारे अंशभूत देवताओं के उपकारार्थ आज विच्युतिरहित आज्यरूप दिव्य हवि को मैं सम्हाल कर धारण कर सकूँ। हे विष्णो ! मेरे पादस्पर्श से सर्वात्मभूत तुम्हारा अपराधी में न बन पाऊँ। क्योंकि—

भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम्।
त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं प्रभो॥

अर्थात् भूमि पर पैर फिसले हुए लोगों का अवलम्ब (आधार = सहारा) भूमि ही होती है। अतः तुम्हारे प्रति अपराध किये हुए अपराधियों के शरण (रक्षक) हे प्रभो ! तुम ही रहोगे। अतः मुझसे अपराध बन जाने पर मुझे क्षमा करना, मेरी रक्षा करना। यह पृथ्वी जो हिरण्य-रत्न आदि से भरी पड़ी है, वह तो तुम्हारी पैर की छाया है। तुम्हारे पैरों की छाया का आश्रय ले पाऊँ। हे वसुमति ! तुम व्यापनशील विष्णु की अथवा यज्ञ की भूमि हो, तुम पर ही यज्ञसम्पत्ति विद्यमान है। तुमसे अन्य जो लोग हैं, उनका तो केवल स्वामित्व मात्र है। इन्द्र ने इसी विष्णुस्थान से, अर्थात् यज्ञबल से परिपुष्ट होकर वृत्रादि असुरों को जीतने का पराक्रम किया था। तुम्हारे कारण ही भगवदाराधनलक्षण यज्ञ उन्नत अवस्था को प्राप्त हो पाया है॥ ८॥

अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमवतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत्स्वाहा संज्योतिषा ज्योतिः ॥ ९ ॥

यस्मादध्वरो निर्विघ्नोऽवसितस्तस्माद् हे अग्ने ! त्वं होतुः कर्म वेर्विद्धि जानीहि। वेरिति 'विद् ज्ञाने' धातोर्लङि अडभावे रूपम्। तथा दूत्यं दूतसम्बन्धि कर्म वेर्विद्धि। मया होत्रं कर्तव्यं दूत्यं कर्म च कर्तव्यमित्यवगतार्थो भवेत्यर्थः। होतृदूतत्वयोरग्निसम्बन्धित्वं दर्शयति कण्वोऽपि—'अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमित्युभयं ह वा एतदग्निर्देवानां होता तद्दूतश्च। उभयं वा एतदग्निर्देवानाᳪहोता दूतश्चेति' (का० श० १।४।५।४) इति श्रुतेः। त्वां द्यावापृथिवी अवतां पालयताम्। हे अग्ने ! त्वमपि द्यावापृथिवी लोकद्वयदेवते अव पालय। इत्यन्योन्यपालने सति इन्द्र आज्येन हविषाऽस्माभिर्दत्तेन देवेभ्यो देवार्थं स्विष्टकृद् भूत् सुष्ठु इदं करोतीति स्विष्टकृद् भवतु। यद्यदस्माभिरिज्यते तत्तदिष्टं वैकल्यरहितं करोतु। स्वाहा सुष्ठु हुतमस्तु। देवेभ्योऽन्येभ्यः सकाशात् प्रथमं इन्द्र आज्येनेति 'अज गतिभक्षणयोः' अजनेन हविषा हवनेन भूद् भूयात्। इन्द्रं देवमुद्दिश्य आज्यं दत्तमस्त्वित्यर्थः। देवोद्देश्येन दाने स्वाहेति निपात्यते। 'जुह्वा ध्रुवां समनक्ति संज्योतिषेति' (का० श्रौ० ३।२।२)। आघारानन्तरं जुहूपभृतोः परस्परं स्पर्शमकुर्वन्नेव यजतिस्थानाद् वेदेः पश्चादागत्य जुहूस्थेनाज्येन ध्रुवास्थमाज्यं जुह्वैव समञ्ज्यात्। ध्रौव्याज्यमध्ये जुह्वाज्यबिन्दुं सम्पातयेत्। सङ्गच्छतामित्यध्याहारः। तथा च ध्रुवास्थिताज्यरूपज्योतिषा सह ज्योतिर्जुह्वा सिच्यमानं ज्योतिः सङ्गच्छताम्। आघारशेषाज्यस्य ध्रौवाज्यस्य च संगमनम्। तथा च तैत्तिरीये—'शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदाघार आत्मा ध्रुवा आघारमाघार्य ध्रुवाᳪसमनक्त्यात्मन्नेव यज्ञस्य शिरः प्रतिदधाति'। (तै० सं० २।५।११।२४) इति।

अपरस्तु—'हे अग्ने राजन् ! अग्निर्यथा यज्ञं सम्पादयति, तथैव होत्रं राष्ट्रसुव्यवस्थां कृत्वा संग्राहकं कर्म दूत्यं सन्धिविग्रहादिलक्षणं वा कर्म वेः रक्ष। द्यावापृथिव्यौ यथा ब्रह्माण्डीयं महायज्ञं रक्षतस्तथैव द्यौः प्रकाशवत्त्वेन न्यायविभागः पृथ्वी महती राजसभा उभे अपि त्वामवतां त्वमपि ते रक्ष। त्वं देवानां विदुषां हिताय स्विष्टकृद् उत्तमकार्यकरो भव। यथैवाज्येन पुष्टिकारकेण हविषा इन्द्रो वायुरधिकमुपकारको भवति, तथैव बलकरेण हविषाऽन्नेन शस्त्रादिसामग्र्या च इन्द्रो राजा समर्थो भवति। स्वाहा देववाणी इत्युपदिशति। ज्योतिः सुवर्णादिकान्तिमद्बलैश्वर्योपेताः पदार्थास्तेजस्विना राज्ञा सङ्गता भवेयुः' इति, तदपि न शोभनम्, मुख्यार्थं परित्यज्य गौणार्थग्रहणे बीजानुक्तेः। होत्रशब्देन राष्ट्रसुव्यवस्था कथं बोध्यते ? स्वाहाशब्दे सु + आह इत्यर्थकरणे हकारे कथं दैर्घ्यम् ? इत्यप्रतिपादनान्निष्प्रमाणकोऽयमर्थः। पूर्वोक्तस्तु कात्यायनश्रौतसूत्रादिसमर्थितो ब्राह्मणादिसमर्थितश्च। अत एव सोऽर्थ एव शोभनः, स एव च ग्राह्यः।

मन्त्रार्थ – **हे अग्ने ! तुम होता का और दूत का कर्तव्य जान लो। तुम जैसे सुज्ञ का द्यावा-पृथिवी पालन करे। हे अग्ने ! तुम भी द्यावा-पृथिवी का पालन करो। इस रीति से परस्पर के द्वारा परस्पर का पालन किये जाने पर इन्द्र आज्यहवि देकर देवताओं का याग करे। अर्थात् हम लोग जो यज्ञ करते हैं, उन सबको इन्द्र पूर्ण करे। इन्द्र को दिया हुआ यह हवि सुहुत हो। ध्रुवा पात्र में स्थित और जुहू पात्र में स्थित घृतरूपी ज्योति एकत्रित हों। जुहू पात्र के और ध्रुवा पात्र के घृत को 'संज्योतिषा' मन्त्र से एकत्रित करे॥ ९॥**

भाष्यसार—'होत्रं' का अर्थ है होता का कर्म। 'होतृत्व' और 'दूतत्व' ये दोनों कर्म 'अग्नि' के हैं। 'अग्नि' 'द्यावापृथिवी' का और द्यावापृथिवी 'अग्नि' का परस्पर एक-दूसरे का पालन करने पर हमारे द्वारा दिये गये

अत्र दयानन्दः—'हे अग्ने परमेश्वर भौतिकाग्ने वा ! ये द्यावापृथिवी अस्मत्प्राप्ते न्यायप्रकाशपृथिवीराज्ये त्वा तं यज्ञमवतां रक्षतः, यथायमग्निहोत्रं दूत्यं च कर्म वा प्राप्तो द्यावापृथिवी रक्षति, तथा हे भगवन् ! देवेभ्यो विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा स्विष्टकृत् शोभनमिष्टं करोति सः । त्वमस्मान् वेः विद्धि वेदयति प्रापयति वा पालय । यथायमाज्येन हविषा ज्योतिषा सह ज्योतिः स्विष्टकृदिन्द्रो द्यावापृथिव्यो रक्षकोऽभूद् भवति, तथा त्वं विज्ञानज्योतिःप्रदानेन अस्मान् समवेति स्वाहा । हे अग्ने परमेश्वर ! ये द्यावापृथिव्यौ न्यायप्रकाशपृथिवीराज्यरूपे त्वा तं यज्ञमवतां रक्षतः, ते त्वं वेः विद्धि पालय । यथायं भौतिकोऽग्निर्होत्रं यज्ञं दूतकर्म च प्राप्य द्यावापृथिव्यौ प्रकाशमयं सूर्यलोकं पृथिवीं च रक्षति, तथैव देवेभ्यो विद्वद्भ्यः स्विष्टकृत् तदिच्छानुसारेण शोभनकर्मकृद् अस्मान् वेः रक्ष । यथा आज्येन यज्ञनिमित्तमग्नौ त्यक्तुं योग्येन घृताद्युत्तमोत्तमपदार्थेन हविषा सम्यक् शोधितेन होमयोग्यकस्तूरीकेसरादिपदार्थेन च ज्योतिषा प्रकाशयुक्तैर्लोकैः सह प्रकाशमयैः किरणैरुत्तमोत्तमकर्मकृत् सूर्यलोकप्रकाशं पृथिवीं च रक्षति, तथैव विज्ञानस्वरूपज्योतिर्दानेन अस्मान् समव सम्यग् रक्ष । इदं कर्म स्वाहा वेदवाणी प्राह । ईश्वरो मनुष्येभ्यो वेदेषूपदिष्टवानस्ति मनुष्यैर्यद्यदग्निपृथिवीसूर्यवाय्वादिभ्यः पदार्थेभ्यो होत्रं दूत्यं च कर्म निमित्तं विदित्वानुष्ठीयते, तत्तदिष्टकारि भवति' (पृ० १६१–१६२) इति, तत्सर्वं वेदबाह्यं निर्युक्तिकं च, अग्निवाय्वादिभ्यो होत्रं दूत्यं च किं भवति ? तदनुष्ठानं च कथमिष्टकारीत्यनिरूपणात् । एवं द्यावापृथिव्यौ यज्ञं रक्षत इत्यपि निर्मूलम्, शतपथविरुद्धं चैतत् ।

तत्र हि—'अग्ने वेर्होत्रं वेर्दूत्यमिति । उभयं वा एतदग्निर्देवानाᳬहोता च दूतश्च । तदुभयं विद्धि यद्देवानामसीत्येवैतदाहावतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी इति नात्र तिरोहितमिवास्ति । स्विष्टकृद्देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत् स्वाहेतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्र आज्येनेति । वाचे वा एतमाघारमाघारयतीन्द्रो वागित्यु वा आहुस्तस्माद् द्वे वाहेन्द्र आज्येनेति' (श० १।४।५।४) । अग्नेर्वेरित्यनूद्य व्याचष्टे–उभयं वा इति अग्नेर्होत्रं होतृकर्म दूत्यं दूतकर्म च वेः बुध्यस्व । अग्निर्वै देवानां होता अग्निं दूतं वृणीमहे इत्यादिभिरग्नेस्तदद्वयं प्रसिद्धम् । 'विद् ज्ञाने' (अ० प० ५४) इत्यस्माच्छान्दसो लङ् 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६), 'दश्च' (पा० सू० ८।२।७५) इति दकारस्य रुत्वे वेरिति रूपम् । उभयं वा देवानामर्थेऽग्निर्होतृत्वं दूतत्वं

हवि (आज्य) देवताओं के लिये स्विष्टकृद् हों, अर्थात् जो हमारे द्वारा यजन किया जाता है, वह समस्त 'इष्ट' वैकल्य रहित हो । स्वाहा का अर्थ 'सुहुत' रहे । इन्द्र देवता को उद्देश्य करके यह आज्य प्रदत्त किया गया है । स्वाहा इस निपात का प्रयोग देवता को उद्देश्य कर 'दान' देने में किया जाता है । 'संज्योतिषा ज्योतिः' का अर्थ यह है कि ध्रुवा स्थित आज्यरूप ज्योति के साथ जुहूपात्र के द्वारा आसिच्यमान ज्योति (आज्य) 'संगच्छताम्' एकत्रित हो जाय ।

किसी व्याख्याकार ने मन्त्रगत शब्दों के मुख्यार्थ को छोड़कर गौण अर्थ को स्वीकार करके व्याख्या की है । गौणार्थ वाली व्याख्या ऊपर भाष्य में प्रदर्शित की गई है । यह गौण अर्थ वाली व्याख्या इसलिये उचित नहीं है कि मुख्यार्थ को त्याग कर गौणार्थ का स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है । 'होत्र' शब्द का अर्थ 'राष्ट्र में सुव्यवस्था' यह किस आधार पर किया है ? 'स्वाहा' शब्द का अर्थ 'सु + आह' इस प्रकार सन्धिविच्छेद करके किया है, किन्तु 'सु + आह' में 'स्वाह' सन्धि तो हो सकती है, परन्तु मूलमन्त्र में तो 'स्वाहा' शब्द है, न कि 'स्वाह' शब्द । अतः यह अप्रामाणिक व्याख्या है । वेदमन्त्र की व्याख्या तो सर्वदा और सर्वथा श्रौतसूत्र, ब्राह्मण, प्रातिशाख्य आदि से समर्थित हुआ करती है । किन्तु इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है ।

चाङ्गीकृतवान्। अवतां त्वां द्यावापृथिवी रक्षतः। त्वं च द्यावापृथिवी अव। देवेभ्यो देवानामर्थे सोऽग्निः स्विष्टकृत् शोभनस्य यागस्य कर्ता। हे अग्ने! त्वं यस्मादेवं भवसि, तस्मादनेनाज्येन हविषा आहुतेन इन्द्रः सङ्गतो भूत् भवतु। स्वाहा स्वाहुतमिदमाज्यमस्त्विति मन्त्रवाक्यार्थः।

ननु 'मनसे चैव वाचे च' (श० १।४।४।१) इति द्वितीयाघारस्य वाग्देवतार्थत्वं प्रागाम्नातमिति कथमिन्द्रो देवतेत्याशङ्क्य तयोस्तादात्म्यमाह – इन्द्रो वागित्यु वा आहुः। इन्द्रेण व्याकृतत्वात् तत्तादात्म्यम्। तथा च तैत्तिरीयके—'इमां नो वाचं व्याकुरु' इत्युपक्रम्याम्नातम् 'तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्' (तै० सं० ६।४।७।४)। तस्माद्वेव वाच इन्द्रस्य च भेदाभावात्। अर्थाद् हे अग्ने! त्वं होत्रं दूत्यं च बुध्यस्व, यत उभयं वा एतदग्निर्देवानां होता च दूतश्चासि। इत्युभयं विद्धि। तादृशं त्वां द्यावापृथिवी अवतां रक्षतः। त्वं च ते द्यावापृथिवी अव रक्ष। स्पष्ट एवात्र मन्त्रार्थः, नात्र तिरोहितमिव किञ्चित्। देवेभ्यो देवानामर्थे शोभनस्य यागस्य कर्ता स्विष्टकृत् हे अग्ने! त्वं यस्मादेवं भवसि तस्मादाज्येन आहुतेन हविषा इन्द्रः संगतो भूत् भवति। इन्द्रायेदं हविरस्त्वित्यर्थः। कुतः? इन्द्रो वै प्रकृतस्य द्वितीयाघारयज्ञस्य देवतासम्प्रदानम्। यद्यपि मनसे वाचे इति वाग्देवतैवाभाति, तथापि वाचो व्याकर्तृत्वेनेन्द्रस्य तस्याश्चाभेदादिन्द्रो देवता भवत्येव।

'अथासꣳस्पर्शयन् स्रुचौ पर्येत्य ध्रुवया समनक्ति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार आत्मा वै ध्रुवा तदात्मन्येवैतच्छिरः प्रतिदधाति। शिरो वै यज्ञस्य उत्तर आघारः श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्तस्माद्योऽर्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्यार्धस्य शिर इत्याहुः' (श० १।४।५।५)। होमानन्तरं प्रत्याक्रम्य ध्रुवासमञ्जनं विधत्ते—अथेति। ध्रुवया समनक्ति। तदेतत् समञ्जनं प्रशंसति—शिरो वा इति। उत्तराघारस्य यज्ञशिरस्त्वं प्रशंसति श्रीर्वा इति। 'आसीनस्तमाघारयति यो मूलं यज्ञस्य निषण्णमिव हीदं मूलं तिष्ठंस्तमाघारयति यः शिरो यज्ञस्य तिष्ठतीव हीदं शिरः।' (श० १।४।४।१२)। प्राग्विहितयोरासीनस्थितयोर्मूलशिरस्त्वोपजीवनेन प्रशंसा क्रियते—यो मूलमिति। इदं वृक्षादिमूलं निषण्णमिव एकत्रोपविष्टमिव भवति, खातत्वेन चाञ्चल्याभावात्। अतो मूलभूतस्याघारस्यासनसम्बन्धो युक्तः। हि यतो मनुष्यादीनां शिरस्तिष्ठतीव अस्तीति स्थितिक्रिया-विशिष्टमिवोर्ध्वमिव दृश्यते। अतः शिरः संस्तुतस्याघारस्य तिष्ठता कर्त्रा निष्पादनं युक्तमित्यर्थः। शिरो वै यज्ञस्योत्तर आघार आत्मा वै ध्रुवः, ध्रुवास्थस्याज्यस्य सर्वयज्ञसाधारण्यात्। यज्ञस्य मध्यदेह एव ध्रुवा, आघारशेषस्य तस्यां समञ्जनात्। शिर एव तस्मिन् प्रतिदधाति। यज्ञशिरस्त्वमुपजीव्य श्रीरूपत्वेनाघारं प्रशंसति—शिरो वा यज्ञस्योत्तर आघार इति। शिरसः श्रीत्वमुपपाद्यते। श्रीर्हि वै शिर इति प्रसिद्धिरेव। तस्मादर्धस्य देशभागस्य ग्रामादेर्यः श्रेष्ठो भवति, अमुष्य ग्रामादेरसौ देवदत्तादिः शिर इति लौकिकाः कथयन्ति। अतः शिरसः श्रीरूपत्वम्। 'यजमान एव ध्रुवामनु योऽस्मा अरातीयति स उपभृतमनु स यद्धोपभृता समञ्ज्याद् यो यजमानायारातीयति तस्मिञ्छ्रियं दध्यात्तद्यजमान एवैतच्छ्रियं दधाति तस्माद् ध्रुवया समनक्ति' (श० १।४।५।६)। यजमान एव ध्रुवामनु 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा० सू० २।३।८) इति

उक्त मन्त्र की व्याख्या स्वामी दयानन्द ने भी अपनी मन-मानी पद्धति से ही की है। इन्होंने अपनी व्याख्या में 'द्यावा-पृथिवी' को यज्ञ का रक्षक बताया है। 'मनुष्य जो कुछ अग्नि, वायु, सूर्य आदि पदार्थों से हौत्र और दूत्य कर्म का निमित्त जानकर करता है, वह सब इष्टकारी होता है।' यह कहा है।

किन्तु वह सब वेदबाह्य और युक्तिरहित है। शतपथ और श्रौतसूत्रादि के अनुकूल प्रामाणिक अर्थ ऊपर भाष्य में दिया गया है।

द्वितीया। ध्रुवाभागो यजमानोऽतोऽस्मै योऽरातीयति शत्रुवदाचरति स उपभृद्भागः। उपभृता इति द्वितीयार्थे 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इति तृतीया। यद्ध उपभृतं समञ्ज्याद् यो यजमानायारातीयति तस्मिञ्छ्रियं दध्यात् तद्यजमान एव श्रियं दधात्यतस्तस्माद् ध्रुवया समनक्ति। 'स समनक्ति सञ्ज्योतिषा ज्योतिरिति ज्योतिर्वा इतरस्यामाज्यं भवति ज्योतिरितरस्यां ते ह्येतदुभे ज्योतिषी सङ्गच्छेते। तस्मादेवꣳ समनक्ति' (श० १।४।५।७)। विहितं समञ्जनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स समनक्तीति। मन्त्रगतज्योतिः-शब्दद्वयस्यार्थमाह—ज्योतिर्वा इति। ध्रुवापेक्षया इतरा जुहूस्तस्यां यदाज्यं तत्तृतीयान्तज्योतिःशब्दार्थः। जुह्वपेक्षया इतरा ध्रुवा तस्यां यदाज्यं तत्प्रथमान्तज्योतिःशब्दार्थः। एते चाज्यज्योतिषी क्रमेण सूर्याग्न्यात्मके तदुभये समञ्जनेन संगच्छेते संगते भवतः। तथा च ब्राह्मणानुसारेणायमेव मन्त्रार्थः सम्बध्यते हे अग्ने! त्वं होत्रं होतुः कर्म दूत्यं दूतसम्बन्धि कर्म वेर्विद्धि। ईदृशं त्वामग्निमुभे द्यावापृथिवी देवते अवतां पालयताम्। हे अग्ने! त्वमपि द्यावापृथिवी लोकद्वयदेवते अव पालय। इत्थमन्योन्यपालने सति देवेभ्यो देवानामुपकारार्थम् इन्द्र आज्येन हविषाऽस्माभिर्दत्तेन स्विष्टकृद् भूत् तादृशो भवतु। अडभावश्छान्दसः। यद्यदस्माभिरिज्यते तत्तदिष्टं सर्वं वैकल्यरहितं करोतु। स्वाहा इन्द्रदेवमुद्दिश्य दत्तं हविः सुहुतमस्त्वित्यर्थः। अथवा शोभनस्य यागस्य कर्ता स्विष्टकृत् हे अग्ने! आज्येन हविषा इन्द्रः सङ्गतो भवतु। 'उत्तराघारमाघार्यासꣳस्पर्शयन् स्रुचावेत्य जुह्वा ध्रुवाꣳसमनक्ति संज्योतिषेति' (का० श्रौ० ३।२।१-२) इति कात्यायनः। अत्रागच्छतामित्यध्याहर्तव्यम्। ध्रुवायां स्थितमाज्यरूपं यज्ज्योतिस्तेन ज्योतिषा सह जुह्वां सिच्यमानमाज्यरूपं ज्योतिः संगच्छताम्। आघार-शेषस्याज्यस्य ध्रौवाज्यस्य च संगमनं तित्तिरिरप्याह—'शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदाघार आत्मा ध्रुवा। आघार-माघार्य ध्रुवाꣳसमनक्ति। आत्मन्येव यज्ञस्य शिरः प्रतिदधाति' (तै० सं० २।५।११।२४)। कण्वोऽपि तथैवाह।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने आत्मन् हनूमन् वा, 'आत्मा वै अग्निः' इति श्रुतेः, लौकिकव्यवहारस्याग्रेनयनाच्च। त्वं होतृकर्म लङ्कादहनकर्म दूतत्वं च वेः जानासि। द्यावापृथिवीदेवते त्वाम् अवतां पालयताम्। त्वं च द्यावापृथिवी अव। आत्मनः कर्मानुष्ठानद्वारा द्यावापृथिव्यो रक्षा भवति, ताभ्यां चात्मनो वृष्ट्यन्नादिद्वारा रक्षणं भवति। देवेभ्योऽर्थाय देवेभ्योऽन्येभ्यः सकाशात् प्रथमं स्विष्टकृद् इन्द्र आज्येन हुतेन हविषा इन्द्रः परमेश्वरः सङ्गतो भूत् भूयात्। अडभावश्छान्दसः। तस्मै स्वाहा इदं हविः सुहुतमस्तु। तेन परमेश्वराय ज्योतिर्मयस्याज्यस्य हविषो दानेन ज्योतिरिन्द्रियमनोबुद्ध्यादिप्रकाशको ज्योतिरात्मा ज्योतिषामपि ज्योतिषा परमेश्वरेण संगच्छताम् 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' (भ० गी० १३।१७) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात्। वायोर्जातोऽग्निर्हनुमानपि द्यावापृथिवी देवते रक्षति, ते देवते च तं रक्षतः।

आध्यात्मिक पक्ष में उक्त मन्त्र का अर्थ यह होगा—हे अग्ने! आत्मन्! हनूमन्! वा। श्रुति कहती है—'आत्मा वै अग्निः'। तथा लौकिक व्यवहार को अग्रसारित करने के कारण भी उक्त अर्थ किया गया है। होतृकर्म यानी लङ्कादहन—कर्म को दूत और तुम 'वेः' जानते हो। द्यावा और पृथिवी दोनों देवताएँ तुम्हारा पालन करें और तुम भी द्यावा-पृथिवी का पालन करो। अपने कर्मानुष्ठान के द्वारा द्यावा-पृथिवी की रक्षा होती है और उन दोनों से वृष्टि, अन्न आदि के द्वारा अपनी रक्षा होती है। अन्य लोगों से पूर्व हवि के रूप में दिये हुए आज्य हवि से परमेश्वर सङ्गत हों। उस परमेश्वर के लिये यह हवि सुहुत रहे। उस सुहुत से, अर्थात् परमेश्वर के लिये ज्योतिर्मय आज्यहवि के देने से इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रकाशक ज्योति आत्म ज्योतियों की ज्योतीरूप परमेश्वर के साथ मिल जाय। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः तमसः परमुच्यते' (भ० गी० १३।१७)। वायु से उत्पन्न हुआ अग्नि और हनुमान् भी द्यावा और पृथिवी देवता की रक्षा करते हैं और वे

स्विष्टं रामस्य शोभनं कार्यं करोतीति स्विष्टकृद् इन्द्रः कपीन्द्रो देवेभ्यो हिताय आज्येन हविषा स्निग्धहविषा भूत् सङ्गतो भवतु। तस्मा इदं स्वाहा सुहुतमस्तु। ज्योतिः सीतामयं रामाख्येन ज्योतिषा सङ्गतमस्तु ॥ ९ ॥

मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा ॥ १० ॥

'मयीदमिति यजमानो जपति' (का० श्रौ० ३।४।१८)। प्रधानयागानन्तरं पुरोडाशशेषप्राशनसमये होतरि आशिषं प्रयुञ्जाने सति यजमानो जपति। मन्त्रार्थस्तु—इन्द्र. परमेश्वर इदमिन्द्रियं मयि यजमाने दधातु। इदमित्यपेक्षितमाह -इन्द्रियमिति। वीर्यमाह—इन्द्रवद्वीर्यमिति काण्वव्याख्याने सायणः। रायो धनानि मानुषदैवभेदभिन्नानि मयि दधातु। मघवानो धनवन्तश्चास्मान् सचन्तां सेवन्ताम्। धननिधानेन नश्चास्मान् सेवन्ताम्। किञ्चास्माकमाशिषोऽभीष्टार्थस्याशंसनानि सन्तु समीचीनानि भवन्तु, केवलानामाशिषां स्वाभाविकत्वेनाभ्यर्हणीयत्वात्। 'मनश्च भद्रं भजतात्' (भा० पु० ५।१८।९), 'भद्रं कर्णेभिः' (वा० सं० २५।२१), 'भद्रं नो अपि वातय' इत्यादिवचनेभ्यः। नः पूर्वोक्ता आशिषः सत्या अवितथाः सफलाः सन्तु। 'एकैकमाहरति। द्यावापृथिव्योरुपह्वानेऽग्नीधे षडवत्तम्। प्राश्नात्युपहूता पृथिवीति' (का० श्रौ० ३।४।१५-१७)। यदा होता द्यावापृथिव्योरुपह्वानं करोति तदोभयोः पुरोडाशयोरेकैकमंशं षडवत्तं कृत्वा अग्नीधे ददाति। स चोपहूतेति मन्त्रेण तत्प्राश्नाति। अत्र चतुर्धा कृत्वादिष्टानां भागानां ब्रह्मादिभ्यो भक्षणार्थं यजमानोऽर्पयेत्। उपहूते द्यावापृथिवी इति होत्रा पठ्यमाने अग्नीधे षडवत्तं अग्नीद्भागं यजमानो दद्यात्। अत्र षडवत्तशब्दो रूढ्याऽग्नीद्भागवाचकः, न त्ववयववृत्त्याऽवदानषट्कबोधकः। अत एव द्विः समर्पणम्, द्विरभिघारणम्, द्विरवदानमिति रीत्या षडवत्ता नाभिप्रेता। उपहूता पृथिवीति षडवत्तं प्राश्नायात्। उपहूतो द्यौरिति द्वितीयं भागं प्राश्नाति।

द्यावा-पृथिवी देवता भी अग्नि और हनुमान् की रक्षा करती हैं। रामचन्द्र के लिये शोभन कार्य का करने वाला स्विष्टकृत् यानी इन्द्र, अर्थात् कपीन्द्र (हनुमान्) देवताओं के हितार्थ स्निग्ध हवि से संगत हो। उसके लिये यह स्वाहा यानी सुहुत रहे और सीतामय ज्योति रामनाम की ज्योति के साथ संगत होती रहे ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—मुझे अभीष्ट लगनेवाले इन्द्रियजन्य तेज को मुझमें परमेश्वर स्थापित करे। तथा दैव और मानुष द्विविध प्रकार के द्रव्य भी हम यजमानों के पास आवें। हमारे द्वारा पूर्व याचना किये गये 'वर' पूर्ण हों। जगत् की माता जो पृथिवी है, उसे मैंने अनुज्ञा दी है। हमें माता के समान प्रतीत होने वाली पृथिवी मुझे हविःशेष के भक्षण करने की आज्ञा दे। मैंने अग्नीध्र का कार्य किया है, उस कारण मैं अग्नि होकर इस हवि को भक्षण करता हूँ। यह जाठराग्नि में सुहुत हो। प्रधान याग के अनन्तर होता जब आशीर्वाद दे रहा होता है, तब यजमान 'मयीदम्' मन्त्र का जप करता रहे। 'उपहूता पृथिवी' मन्त्र से पुरोडाश का एक-एक भाग अग्नीध्र भक्षण करे ॥ १० ॥

भाष्यसार—जब होता द्यावा-पृथिवी का उपह्वान करता है, तब दोनों पुरोडाशों के एक-एक षडवत्त करके अग्नीध्र को देता है और वह 'उपहूत' मन्त्र कह भक्षण करता है। यहाँ पर बताये गये भागों का चतुर्धाकरण करके ब्रह्मादि ऋत्विजों को भक्षण करने के लिये यजमान उन्हें अर्पित करता है। 'उपहूते द्यावापृथिवी' यह होता के द्वारा कहे जाने पर यजमान अग्नीध् नामक ऋत्विक् को षडवत्त (अग्नीद् भाग) दे। यहाँ पर 'षडवत्त'

मन्त्रार्थस्तु—उपहूता येयं पृथिवी दृश्यते सा जगतो माता निर्मात्री मयोपहूता अभ्यनुज्ञाता। सा च पृथिवी माता मातृत्वेनास्माभिर्भाविता सती मां हविःशेषभक्षणायोद्यतमुपह्वयताम् अनुजानातु हविःशेषभक्षणायानुज्ञां ददातु। अग्नीध इदं कर्म आग्नीध्रम्, तस्माद् आग्नीध्रनामकादार्त्विज्यात् कर्मणो हेतोर्वह्निस्वरूपोऽग्निः सन् तं भागं प्राश्नामीति शेषः। तस्मात् स्वाहा मदीयमुखाग्नाविदं हविः सुहुतमस्तु।

आधुनिकस्तु—'हे इन्द्र परमेश्वर! मयि इदं प्रत्यक्षमिन्द्रियं तेज आत्मबलं च दधातु। अस्मान् मघवानो बलादिपूर्णानि राय ऐश्वर्याणि प्राप्नुवन्तु। अस्माकमाशिषः कामनाः सत्याः सफलाः सन्तु। पृथिवीतुल्या अन्नदात्री माता पालयित्री उपहूता सादरास्तु। इयं पृथिवी माता विशालसुखदात्री माम् उपह्वयताम् उपदिशतु। ततः पश्चाद् आग्नीध्राद् ज्ञानोपदेशकाचार्यस्थानाद् अग्निः ज्ञानी मां स्वाहा उपदिशतु' इति, तन्न, असामञ्जस्यात्। यद्यपि इदमित्यस्य प्रत्यक्षमित्यर्थोऽपि सम्भवति, तथापीन्द्रियशब्दस्य तेज आत्मबलं च कथमर्थ इति तु नोक्तम्, कथं च तयोः प्रत्यक्षत्वम्? किञ्चाग्नीध्राद् इत्यस्य आचार्यस्थानादित्यर्थ इत्यत्र किं मूलम्? पृथिव्या उपदेशे सिद्धे किमन्येनोपदेशस्थानेन?

अत्र दयानन्दः ‑'इन्द्रो मयि इदं शुद्धं ज्ञानयुक्तं प्रत्यक्षं स्थानम् इन्द्रियं रायश्च दधातु। तत्कृपया स्वपुरुषार्थेन च यथा वयं मघवानो भवेम तथाऽस्मान् रायः सचन्ताम्। एवं चास्माकमाशिषः सन्तु सत्या न आशिषः सन्तु। एवं सतीयं पृथिवी विद्योपहूता च सती पृथिवी माता मामुपह्वयतामुपदिशताम्। तथा मयानुष्ठितोऽयमग्निराग्नीध्रादिष्टकृतः सन् अस्माकं सुखान्युपाह्वयति। एवं सम्यग्घुतमिष्टकारि भवतीति स्वाहा वेदवाणी आह' (पृ० १६५) इति। तदपि यत्किञ्चित्, स्वाहापदस्य वेदवाणी आहेत्यर्थस्य खण्डितत्वात्। सचन्तामिति क्रियापदेनैव मघवान इत्यस्याप्यन्वये सम्भवति भवेमेत्यध्याहारानुपपत्तेः। इदंपदस्य शुद्धज्ञानयुक्तं प्रत्यक्षमित्यपि नार्थः, तस्य सन्निकृष्टप्रत्यक्षमात्रबोधकत्वात्। इन्द्रस्यैश्वर्यप्राप्तेर्लिङ्गं चिह्नमिन्द्रियमित्यपि न सङ्गतम्, ऐश्वर्यप्राप्तेरभीष्टत्वेऽपि तच्चिह्नस्याधित्साभावात्। परमेश्वरेण दृष्टं सृष्टं वेत्यप्यसङ्गतम्, आकाशादीनामपीन्द्रेण दृष्टत्वात्सृष्टत्वाच्चेन्द्रियत्वव्यवहारास्पदत्वापातात्। एवमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिन्द्रियमित्यप्यसङ्गतम्, इन्द्रजुष्टसोमादौ इन्द्रदत्तधनादावपि तत्प्रयोगापत्तेः। न च 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तम्' (पा० सू० ५।२।९३) इति प्रमाणेन सिद्धं तदिति वाच्यम्; विशेषणपर्यवसायित्वेन तथात्वेऽपीन्द्रस्य देहादिनामकस्य जीवस्येदं लिङ्गं चिह्नमिति व्युत्पत्त्यैव तस्य प्रसिद्धेन्द्रियपरत्वोपपत्तेः। उपहूयते जनै राज्यसुखार्थं या पृथिवी पृथुसुखनिमित्तेत्यपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या जडायाः पृथिव्या उपाह्वानासिद्धेः, पृथुदुःखानामपि ततः सम्भवाद् वैपरीत्यापत्तेश्च। माता मान्यकरणहेतुरित्यपि प्रमाणसापेक्षमेव। पृथुसुखदात्री विद्या इत्यपि न शोभनम्, पृथुदुःखदात्रीत्वेनाविद्याया अपि ग्रहणापत्तेः। ह्वयतामुपदिशतामित्यपि निर्मूलम्, ह्वयतेरुपदेशार्थताऽप्रसिद्धेः। 'अग्निरीश्वरः, आग्नीध्रादग्निरिध्यते प्रदीप्यते यस्मिन् तस्येदं श्रयणमाश्रयणं तस्मात्' (पृ० १६५) इत्यपि यत्किञ्चित्, कस्मिन्नग्निः प्रदीप्यते कस्याश्रयणादग्निरीश्वरः किमिति न स्पष्टम्। हिन्दीभाष्ये तु —भौतिकोऽ-

शब्द रूढि के बल पर 'अग्नीद् भाग' का वाचक है, न कि अवयववृत्ति से 'अवदानषट्क' का बोधक है। अत एव 'दो बार समर्पण', 'दो बार अभिघारण' और 'दो बार अवदान'—इस रीति से 'षडवत्ता' यहाँ अभिप्रेत नहीं है। 'उपहूता पृथिवी' इस मन्त्र से 'प्रथम षडवत्त' का प्राशन करता है और 'उपहूतो द्यौः' मन्त्र से द्वितीय भाग का प्राशन करता है। धन और धनी हमारा सेवन करें। हमारे आशीर्वाद सत्य हों। पृथिवी माता भक्षण करने की मुझे आज्ञा दे। यह अग्नीध् का कर्म होने से इसे 'आग्नीध्र' कहा गया है। उस कारण मैं अग्नि के रूप में 'होता' हुआ उस भाग को भक्षण करता हूँ।

ग्निर्यमिन्धनादिभिः प्रज्वालयन्ति स वाञ्छितसुखकरो भूत्वाऽस्मान् सुखान्युपगमयतु' (भौतिक अग्नि, जिसको कि इन्धनादि से प्रज्वलित करते हैं, वह वाञ्छित सुखों का करने वाला हमारे सुखों को आगम कराये)' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, वज्रवैयाकरणानुहारात् । स यथा मध्येमार्गं संलीनो व्याघ्रो मा पुरतो व्राजीरिति केनचिदाप्तेनोक्तो विशेषेण आसमन्ताज्जिघ्रतीति व्याघ्र इति व्युत्पत्तिबलाद् आगत्याघ्रास्यति किमन्यत् करिष्यतीति मन्वानोऽपरिगणयन्नाप्तनिषेधं पुरतो व्रजन् व्याघ्रेण व्यापाद्यते, तद्वत् । सिद्धान्ते तु ऋत्विग्विशेषपरोऽयं शब्दो व्याख्यात एव । शतपथविरुद्धं च तत्सर्वम् ।

'प्राणेष्वेव हूयते । होतरि त्वद्यजमाने त्वदध्वर्यौ त्वदथ यत्पूर्वार्धं पुरोडाशस्य प्रशीर्य पुरस्ताद् ध्रुवायै निदधाति यजमानो वै ध्रुवा तद्यजमानस्य प्राशितं भवत्यथ यत्प्रत्यक्षं न प्राश्नाति नेदसꣳस्थिते यज्ञे प्राश्नानीत्येतदेवास्य प्राशितं भवति सर्वे प्राश्नन्ति सर्वेषु मे हुतासदिति पञ्च प्राश्नन्ति पशवो वा इडा पाङ्क्ता वै पशवस्तस्मात् पञ्च प्राश्नन्ति' (श० १।८।१।३९) । अष्टमे इडाकर्मप्रसङ्गे इडोत्पत्तिसम्बन्धिन्याख्यायिकाख्याता । तस्यां च मत्स्यावतारेतिहासः । इडाया मैत्रावरुणीत्वकथनम् । प्रजाकामोऽर्चन् श्राम्यन् पाकयज्ञेन घृतादिभिरिष्टवान् । तस्मात् पाकयज्ञानां संवत्सरे पूर्णे योषिद् मिश्रीभावात्मिका संभूता । तया च मित्रावरुणौ सङ्गतौ । तौ होचतुः कासीति । सा मनोर्दुहितेत्यब्रवीत् । तौ होचतुरावयोर्दुहितेति ब्रूष्व । सा नेत्युवाच । सा यावता मैत्रावरुणी व्यपदिश्यते तावत्तयोर्दुहितृत्वमङ्गीकृतवती । तस्या मनोर्दुहितृत्वप्रतिपादनम् । मनुना आशीरूपायास्तस्या यज्ञे सम्भवकल्पनम् । ततो मनोः सर्वाशीःसम्प्राप्त्या इडायागफलनिष्पत्तिः । इडामिष्टवतस्तन्निदानं ज्ञातवतस्तदेव फलमिति कथनम् । सहेतुकपञ्चावत्तताकरणविधिः । तत्र इडायां पात्र्यां हुतशेषान् चरुपुरोडाशादीन् रक्षित्वा तामुपस्पृश्य सर्वैर्ऋत्विग्भिरिडोपह्वानं क्रियते । तां वै सर्वे प्राश्नन्ति तां नाग्नौ जुह्वति प्राणेष्वेव सा हूयते होतरि च यजमाने चाध्वर्यौ चेति । यत्पूर्वार्धं पुरोडाशस्य प्रशीर्य पुरस्ताद् ध्रुवायै निदधाति । यजमानो वै ध्रुवा । तद्यजमानस्य प्राशितं भवति । ननु प्रत्यक्षमेव यजमानः कुतो न प्राश्नाति, किमर्थं ध्रुवायै निदधातीति तत्राह—नेदसंस्थिते यज्ञे प्राश्नानीति, असंस्थितेऽसमाप्ते यज्ञे नाश्नातीति वचनात् । अग्नौ हुत्वाथ भक्षयति—दैवो वा अस्यैष आत्मा मानुषोऽयं यजमानभागमनुपहूतं प्राश्नाति । इडां तु विशेषत उपहूतां प्राश्नात्येव । इडाभक्षणकालेऽप्यनुयाजपत्नीसंयाजदेवता नेज्यन्ते इति तास्वनिष्टासु न युक्तमशनमिति तत्राह –एतदेवास्य प्राशितं भवति सर्वे प्राश्नन्ति सर्वेषु मे हुतासदिति सर्वेषु मदीयो भागो हुतः असद् इत्यर्थः । सन्धिरार्षः । पञ्च प्राश्नन्ति होमानन्तरमेव प्राशितं भवति । अन्ते तु प्रत्यक्षमेव प्राशिष्यति ।

किसी आधुनिक ने जो व्याख्या की है, वह समञ्जस न होने के कारण उचित नहीं है । आधुनिक की व्याख्या ऊपर भाष्य में देखिये । उस व्याख्या में 'इन्द्रिय' का 'तेज' और 'आत्मबल' अर्थ किया गया है, उनका प्रत्यक्ष होना कहा गया है, तथा 'आग्नीध्रात्' का अर्थ 'आचार्य स्थान से' किया है, इत्यादि अप्रामाणिक और निर्मूल अर्थ किया है । वेद का अर्थ करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है । स्वामी दयानन्द इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए यथेच्छ अध्याहार की कल्पना, मन्त्रगत शब्दों के मनमोक्त अर्थ तथा वैदिक प्रक्रिया के विपरीत व्याख्या करते हैं । 'स्वाहा' पद का अर्थ 'वेदवाणी कहती है'—किया है । 'सचन्ताम्' इस क्रिया से ही 'मघवानः' का भी अन्वय संभव रहते अध्याहार कर रहे हैं । 'इदम्' पद सन्निकृष्ट प्रत्यक्षमात्र का बोधक रहते हुए भी उसका कुछ अन्य अर्थ ही बता रहे हैं । इस प्रकार पूर्व परम्परागत वैदिक प्रक्रिया के विरुद्ध यह दयानन्दीय व्याख्यान सर्वथा उपेक्षणीय ही है । स्वामी दयानन्दजी की व्याख्या और उसका खण्डन दोनों को ऊपर के संस्कृत भाष्य में पाठकवृन्द देख लें ।

अप्राश्यमाने यजमाने भागत्वव्यपदेशानुपपत्तिः। 'अथ यत्र प्रतिपद्यते तच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति तदत्र पितॄणां भाजनेन। चतस्रो वा अवान्तरदिशोऽवान्तरदिशो वै पितरस्तस्माच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति' (श० १।८।१।४०)। अथ यत्र प्रतिपद्यते यत्र काले होता प्रतिपद्यते इडोपहूतेत्येतं निगदं तत्तदा चतुर्धा कृत्वा पुरोडाशम्, आग्नेयं चतुर्धा करोतीति शाखान्तरात्। बर्हिषि सीदतीति बर्हिषत्। यथा बर्हिषद् भवति तथा करोति, बर्हिषि सादयतीत्यर्थः। एवमाग्नेयस्य पुरोडाशस्य चतुर्धा करणेन ब्रह्महोत्रध्वर्य्वग्नीधां भक्षः। नन्वेवमत्र अयजमानाश्चत्वारः प्राश्नन्तीति, पञ्च प्राश्नन्तीति विरोधः स्यादिति चेन्न, यतश्चतुर्धा कृतस्य बर्हिषः सादनम् अत्र दर्शपूर्णमासयोः पितॄणां भाजनेन हेतुना क्रियते पितॄणां संविभागार्थम्, तर्हि किं तत्पितृभ्यो दीयते ? नेत्याह— किन्तर्हि चतुःसंख्यासामान्याद् बर्हिःसम्बन्धाच्च गौणमेव पितृभाजनम्। तदाह चतस्रो वै दिशः। अवान्तरदिशो वै पितरः। तासु पितृयज्ञेन तेभ्यो दीयते। तस्माच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा बर्हिषदं करोति।

'अथ यत्राहोपहूते द्यावापृथिवी इति। तदग्नीध आदधाति तदग्नीत् प्राश्नात्युपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहोपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहेति द्यावापृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्रस्तस्मादेवं प्राश्नाति' (श० १।८।१।४१)। अथ यत्राह उपहूते द्यावापृथिवी इति तदग्नीध आदधाति। अत्रार्पणे आदधातिः। तदग्नीत् प्राश्नाति। न चैष इडाभागः, किन्त्वन्य एवायमग्नीद्भागः, प्राशित्रं चेडा च यच्चाग्नीधे दधातीति इडाया भेदेन व्यपदेशात्। एतेन ब्रह्मभागयजमान-भागयोरपीडाव्यतिरेकः सिद्धः। द्यावापृथिव्यो वा एष यदाग्नीध्रः। अग्निमिन्धे दीपयति संमार्गेणेति अग्नीत्। अग्निसमिन्धनादियोगाद् आग्नीध्रस्य तत्परत्वम्। स इन्द्रो द्यावापृथिव्यौ तर्पयति। 'धूमेनामूं वृष्ट्येमाम्' (ऋ० सं० १।१६४।५१)। धूमेन अमूं द्यां वृष्ट्या इमां पृथिवीमिति द्यावापृथिव्यौ आग्नीध्रः। तस्मिन् भक्षणादिना प्रीते सिद्धा द्यावापृथिव्योः प्रीतिः। 'अथ यत्राशिषमाशास्ते। तज्जपति मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्। अस्माकꣳसन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष इत्याशिषामेवैष प्रतिग्रहस्तद्या एवार्त्विजो यजमानायाशिष आशासते, ता एवैतत् प्रतिगृह्यात्मन् कुरुते' (श० १।८।१।४२)। यत्र काले आशिषमुपहूतोऽयं यजमान उत्तरस्यां देवयज्यायामिति होता आशास्ते, तत्तदा जपति यजमानः। कुतः ? आशिषां तदर्थत्वात्। न होमार्थं तद्व्याख्यानं स्पृशति। आग्नीध्रपदं तु ऋत्विग्विशेषपरमेव। तस्माच्छ्रुतिसूत्रानुसारेण सिद्धान्तानुसार्येवार्थः।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार होगा—हे इन्द्र ! हे राम परमेश्वर ! क्योंकि 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' यह श्रुति बता रही है। दृश्य होने के कारण जो इदङ्कारास्पद है, अतः अन्तःकरण और बाह्यकरण समूह ये सब परमात्मा के चिह्न हैं। इसलिये इन्हें 'इन्द्रिय' कहा जाता है। जैसे सातिशय अनित्य दाहक लौहपिण्ड को देखकर कल्पना होती है कि इससे भी अधिक, नित्य, दाहक, प्रकाशक कोई और भी हो सकता है, उसी तरह अनित्य सातिशय शब्दादि प्रकाश सामर्थ्य-सम्पन्न श्रोत्र की अपेक्षा किसी अन्य नित्य, निरतिशय, शब्दादि प्रकाश सामर्थ्य वाले श्रोत्र की, तथा उसी तरह नेत्र से नेत्र की, मन से मन की कल्पना हो सकती है। संहत वस्तु अपने से विलक्षण—असंहत वस्तु के लिये ही हुआ करती है। स्वर्गापवर्गादि पुरुषार्थोपयोगी और वीर्यविशिष्ट उसे कर दे। हे इन्द्र ! हमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मोक्षरूप श्री तथा श्री से युक्त, अर्थात् भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मोक्षरूप श्रीसे युक्त लोग प्राप्त हों और वे हम पर अनुग्रह करें। अहर्निश हमारे मन में महापुरुषों की सङ्गति प्राप्त करने की उत्सुकता होती रहे।

सिद्धान्ते त्वभिमतस्य बुद्धिसिद्धत्वाद् इदमर्थतायां शङ्कापि न सम्भवति । इन्द्रस्य देवराजस्य वीर्यं प्रसिद्धमिति वीर्यमिन्द्रस्येदमिन्द्रियमिति निश्चप्रचम् । 'सत्या नः सन्त्वाशिषः' इत्यंशस्य व्याख्याने व्यस्तस्य व्याख्यातुः 'अस्माकं सन्त्वाशिषः' इति पूर्वांशस्य विस्मृतिरेव जाता । पुनरुक्तिबुद्धिरपि न जाता । किञ्च, यद्युपह्वानमुपदेशस्तदोपहूता इत्यस्योपदिष्टा इत्यर्थोऽस्तु । तथा च मयोपदिष्टा पृथिवी मामुपदिशत्विति सुव्याख्यातमार्यब्रुवेण । 'उपहूता सादरास्तु' इत्यपि व्याख्यानं तथाविधमेव । सिद्धान्ते च—इन्द्रः परमेश्वरः, इदमस्मदपेक्षितमिन्द्रियमिन्द्रवद्वीर्यमपि यजमाने दधातु स्थापयतु । रायो धनानि दैवमानुषभेदेन द्विविधानि । मघवानो धनवन्तश्चास्मान् यजमानान् सचन्तां समवयन्तु सेवन्ताम् । किञ्चास्माकमाशिषोऽभीष्टार्थस्याशंसनानि ब्रह्मप्रेप्साद्या यज्ञादिभिः सन्तु विद्यन्ते, शुभाशंसनानामपि शुभावहत्वात् । किञ्चास्माकमाशिषः पूर्वोक्ताः सत्या अवितथा भवन्तु । अन्यत् सर्वं सिद्धान्तव्याख्याने स्पष्टम् ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे इन्द्र हे राम परमेश्वर ! 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति श्रुतेः, इदं इदङ्कारास्पदं दृश्यत्वादिन्द्रियमिन्द्रस्य परमात्मनो लिङ्गम् अन्तःकरणबाह्यकरणग्रामम् । यथा दग्धुरप्ययःपिण्डस्य सातिशयानित्यदाहकत्ववतः केनचिदन्येन नित्यदाहकत्वप्रकाशकत्ववता दग्ध्रा भाव्यम्, तथैवानित्यसातिशयस्य शब्दादिप्रकाशसामर्थ्यवतः श्रोत्रादेः केनचिदन्येन नित्यनिरतिशयशब्दादिप्रकाशसामर्थ्यवतः श्रोत्रस्य श्रोत्रेण चक्षुषश्चक्षुषा मनसो मनसावश्यं भाव्यम्, संहतानां स्वविलक्षणासंहतार्थत्वात् । तच्च दधातु स्थापयतु स्वर्गापवर्गादिपुरुषार्थोपयोगिवीर्यवत् करोति । हे इन्द्र ! अस्मान् रायो भक्तिज्ञानवैराग्यरूपाः श्रियो मघवानस्तद्वन्तो भक्तिज्ञानवैराग्यश्रद्धावन्तः सचन्तां समवयन्तु प्राप्ता भूत्वानुगृह्णन्तु । अस्माकमाशिषो भक्तिज्ञानवैराग्यभक्तज्ञानिमहापुरुषसङ्गतिसमुत्कण्ठाः सन्तु नित्यमेव विद्यन्ताम् । कदाचिदपि तेष्वनादरो मा भूत् । ताश्चाशिषः सत्या अवितथाश्च भवन्तु । उपहूता श्रद्धाऽऽकारिता पृथिवी पृथिवीजन्या सत्तासामान्यरूपा परमपुरुषार्थरूपा सीता माता सर्वप्रमापिका, सर्वस्य चिद्व्याप्यत्वेनैव भास्यमानत्वात् । मां तच्चरणानुरागिणं तदेकाश्रयं डिम्भं पृथिवी माता पृथिव्याः समुद्भूता अयोनिजा माता जननी प्रसवित्री वात्सल्यवती उपह्वयतां स्वाङ्कमुपवेशयतु । अग्निमिन्धे दीपयतीति अग्नीत् परमात्मा रामः 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः' (वा. रा. २ ।) 'अग्नीधः शरणे रण् भं च' (पा. सू. ४।३।१२०) इति सूत्रस्थवार्त्तिकेन तस्येदमाश्रयणमाग्नीध्रं तस्माद् रामाश्रयणाद्धेतोरहमग्निः सन् सर्वाणि कर्माणि ज्ञानाग्निना दग्ध्वा निरावरणश्चिदग्निः सन् स्वात्मानं तस्मा अग्नीधे रामाय समर्पयामि । इदमस्मत्समर्पितं वस्तु सुहुतमस्तु । 'आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि योऽहमस्मि ब्रह्मामहस्मि अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा' इति श्रुतेः ॥ १० ॥

उसमें कभी भी किसी प्रकार का विघ्न न हो। वे आशिष् संकल्प कभी भी असत्य न हों, अपितु सर्वथा सत्य होते रहें। श्रद्धा से बुलाई हुई पृथिवीजन्या सत्तासामान्यरूपा परमपुरुषार्थरूपा सीता माता, सब जाननेवाली है। क्योंकि चिद्व्याप्य होने से ही सब भास्यमान होता है। अतः उसी को एकमात्र अपना आश्रय समझने वाले, उसके चरणों में अनुराग रखने वाले अपने बालक को, वह पृथिवी से उत्पन्न, अयोनिजा, वात्सल्यपरिपूर्णा सीता माता, मुझे अपनी गोद में बैठा ले। अग्नि को जो प्रज्वलित करता है, उसे अग्नीत् कहते हैं। वह अग्नीत् परमात्मा राम है। उस राम का आश्रय कर लेने से मैं भी अग्निरूप होता हुआ, अर्थात् ज्ञानाग्नि से समस्त कर्मों को जलाकर निरावरण हुए अपने को उस अग्नीत् रूप राम के चरणों में अर्पित करता हूँ। यह हमारी समर्पित वस्तु 'सुहुत' हो जाय। यह समस्त कथन श्रुति से समर्थित हो रहा है।। १० ॥

उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि ॥ ११ ॥

एवं द्यौःपिता जगत्पालकः पितृत्वेनाभ्यनुज्ञातोऽस्माभिर्मामुपह्वयताम्। द्वितीयहविःशेषभक्षणोद्यतं मामभ्यजानातु। त्वद्भक्षणार्थं मुखमपि दिव्यमेवापेक्षितम्, न प्राकृतेन मुखेन त्वं भक्षणीय इत्यग्नेरास्येन अग्निदेवतासम्बन्धिना मुखेन तथा बृहस्पतिसम्बन्धिना मुखेन च भक्षयामि। पुरा कदाचिद्देवानां यागे बृहस्पतिः प्राशित्रं प्रतिगृह्णन् भक्षयंश्च मां हिंसिष्यतीति भीतः सन् हिंसापरिहाराय देवस्य त्वेति मन्त्रेण प्रतिगृह्य अग्नेष्ट्वेति मन्त्रेण प्राशितवान्, इत्येतादृशमभिप्रायं तित्तिरिराह—'सोऽबिभेत् प्रतिगृह्णन्तं मा हिंसिष्यतीति देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीत्यब्रवीत्। सवितृप्रसूत एवैतद् ब्रह्मणा देवताभिः प्रत्यगृह्णात्' (तै. सं. २।६।८।१३)। सोऽबिभेत् प्राश्नन्तं मा हिंसिष्यतीत्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामीत्यब्रवीत्। नह्यग्नेरास्यं किञ्चन हिनस्तीति। अहमाग्नीध्रात् कर्मणो हेतोरग्निस्वरूपः सन् प्राश्नामि। मन्मुखाग्नाविदं सुहुतमस्तु। इत उत्तरम् ओं प्रतिष्ठ (ख. १३) इत्यन्तं ब्रह्मत्वम्। तस्याङ्गिरसो बृहस्पतिर्ऋषिः। 'देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णाति' (का. श्रौ. २।२।१४)। ब्रह्मा देवस्य त्वेति प्राशित्रं गृह्णाति। हे प्राशित्र! त्वा त्वां सवितुः परमेश्वरस्य प्रसवे प्रेरणे सत्यश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि, न प्राकृतभौतिकप्रायाभ्यां लौकिकाभ्यां स्वीयाभ्यां बाहुभ्यां न वा तथाभूताभ्यां हस्ताभ्याम्, दिव्यस्य तव प्रतिग्रहे तादृशयोरयोग्यत्वात्। 'अग्नेष्ट्वेति प्राश्नाति दन्तैरनुपस्पृशन्' (का. श्रौ. २।२।१६)। हे प्राशित्र! अग्नेः अग्निदेवताया आस्येन मुखेन त्वा त्वां प्राश्नामि भक्षयामि। या अप्स्वन्तर्देवतास्ता इदं शमयन्तु स्वाहा कृतं जठरमिन्द्रस्य गच्छ ऊर्ध्वं नाभेः सीद इन्द्रस्य त्वा जठरे सादयामि। अतो ममोपद्रवो न भविष्यति।

आधुनिकस्तु—'यथा वर्षणेनाकाशं संसारपालकम्, तथैव पितापि बालानां सुखदानायोपहूतः शिक्षितोऽस्तु। मां सुखवर्षकः पितापि शिक्षयतु। आचार्यपदाद् आचार्य उत्तमं ज्ञानमुपदिशतु। हे अग्ने! सर्वोत्पादकस्य परमेश्वरस्य प्रसवे जगत्यहं प्राणापानयोर्बाहुभ्यां पोषकस्य वायोर्हस्ताभ्यां सर्वाङ्गरसदायकाभ्यामुभाभ्यां बलाभ्यां त्वा त्वामन्नं प्रतिगृह्णामि। त्वां सदोद्दीप्तजाठराग्नेरास्येन प्राश्नामि सम्यक्खादामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आकाशस्य वर्षकत्वेन पालकत्वं शिक्षकत्वमध्यात्मविमुखानां विप्रतिपन्नमेव, तदपेक्षया लौकिकस्य पितुः पोषकत्वं शिक्षकत्वं च प्रसिद्धमेव। प्रसिद्धमुदाह्रियते नाप्रसिद्धम्। आग्नीध्रपदं कथमाचार्यपदबोधकम्? कथं चाग्निशब्द आचार्यवाचकः। यदि प्रकाशकत्वसाम्याद् भाक्तोऽयमाचार्यस्तदाप्याग्नीध्रस्थानं कथमग्निस्थानम्? नह्यग्निरेवाग्नीत्। अस्मिन्नर्थे सर्वत्र प्रसिद्ध्यतिक्रमो दोषः। प्राणापानयोरश्वित्वं वायोश्च

मन्त्रार्थ—मैंने द्युलोक को बुलाया है। वह द्युलोकरूपी पिता मुझे बुलाकर द्वितीय हविर्भक्षण की आज्ञा मुझे दे। मैंने अग्नीध्र का कार्य किया है। उस कारण मैं अग्निरूप होकर इस हवि का भक्षण करता हूँ। वह जठराग्नि में सुहुत होकर रहे। हे प्राशित्र! प्रेरक परमेश्वर की प्रेरणा से अश्विनीकुमारों की दोनों बाहुओं से और पूषा देवता के दोनों हाथों से मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ और अग्नि के मुख से मैं तुम्हारा भक्षण करता हूँ। ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् 'देवस्य त्वा' मन्त्र से प्राशित्र का ग्रहण करे और 'अग्नेष्ट्वा' मन्त्र से बिना दाँत लगाये प्राशित्र का भक्षण करे॥ ११॥

भाष्यसार—भाष्य का सार ऊपर भावार्थ में ही दे दिया गया है। अतः पुनः उसकी आवृत्ति करना यहाँ उचित नहीं है।

पूषत्वमप्रसिद्धमेव। नहि बाह्वादिभी रसप्राप्तिर्दृश्यते। जाठराग्नेर्मुखं क्वास्ते ? सर्वोऽपि स्वप्रसिद्धमुखेनैवाश्नाति न जाठराग्निमुखेन। गौणार्थत्वेऽपि किमुद्दिश्य तथाभिधानम् ? सिद्धान्ते तु 'मनो ब्रह्म' (छा० ३।१८।१), 'अन्नं ब्रह्म' (तै० ३।२।२) इति मनोऽन्नादिषु ब्रह्मदृष्टिवद् ब्रह्मनामकर्त्विजः स्वबाहुहस्तमुखेष्वश्विपूषाग्निबाहुहस्त-मुखदृष्टिराधीयते वीर्यवत्तरतायै, 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति श्रुतेः।

श्रीदयानन्दस्तु—'मया द्यौःपितेश्वर उपहूतो मामुपह्वयतां स्वीकरोत्वेवं मया द्यौःपिता पालनहेतुः सूर्यलोक उपहूतः स्पर्धितः सन् मां विद्यायै उपह्वयतु। योऽग्निः स्वाहा सुहुतं भुक्तमन्नमाग्नीध्रात् पचति यो देवस्य सवितुः प्रसवे वर्तमानोऽस्ति त्वा तमहं भोगमश्विनोर्बाहुभ्यां प्रतिगृह्णामि। गृहीत्वा च प्रदीप्तस्याग्नेर्मध्ये त्वा तं पाचयित्वास्येन प्राश्नामि। सर्वैः परस्याह्वानं नित्यं कार्यम्, तथा विद्यासिद्धये चक्षुषा संशोध्य जाठराग्निं प्रदीप्य संस्कृतं मितमन्नं नित्यं भोक्तव्यम्। ईश्वरेण जगत्युत्पादितैः पदार्थैर्यः सर्वो भागः सिद्ध्यति, स च विद्याधर्मयुक्तेन व्यवहारेण भोक्तव्यो भोजयितव्यश्चेति तदीयो भावार्थः' (पृ० १६७-१६८) इति, तदपि यत्किञ्चित्, तदुक्तस्यार्थस्य लोकेनायुर्वेदेन च सिद्धत्वात्, ज्ञातज्ञापकत्वेन मन्त्रस्य तत्राप्रामाण्यात्। मन्त्रे च चक्षुषा शोधनजाठराग्निप्रदीपनाद्यर्थानां दूरतोऽपि चर्चा नास्ति। 'आग्नीध्रात् पचति' इति तु न सङ्गतम्, आग्नीध्रस्यान्नाशयार्थत्वेऽपि तस्य पाचकत्वाभावात्। यत्तु 'ल्यब्लोपेन पञ्चमीमाश्रित्य अन्नाशयं प्राप्य पचति' इति, तदपि न युक्तम्, आग्नीध्रपदस्य अन्नाशयार्थत्वासम्भवात्, अग्निरिध्यते यत्रेत्यग्नीच्छब्दस्यैव तदर्थकत्वात्। अग्नेर्मध्ये पाचयित्वाऽऽस्येन प्राश्नामीत्यपि न सङ्गतम्, अग्नेरास्येनेति सम्बन्धे सम्भवत्यग्निर्मध्ये इत्यध्याहारासङ्गतेः, वैयर्थ्याच्च। सर्वोऽप्यग्नौ पचत्यन्नं नाग्निमध्ये। न चैतद्वक्तव्यम्, सर्वोऽपि अन्नमग्नौ पच्यत इति जानात्येव।

यदत्रोक्तम्—'अयं मन्त्रः (श० १।८।१।३९-४०) इत्यत्र व्याख्यातः' इति, तदपि न सम्यक्, प्रकृत-मन्त्रस्य तत्राव्याख्यानात्। 'अथ पवित्रयोर्मार्जयन्ते। पाकयज्ञियेव वा एतदिडयाचारिषुः पवित्रपूता यदुत

किसी आधुनिक व्याख्याकार ने श्रुति-स्मृत्यनुमोदित परम्परा को त्याग कर मनमानी व्याख्या की है—जिस प्रकार वर्षा के द्वारा संसार का पालन होता है, उसी तरह पिता भी बालकों को सुख देने के लिये शिक्षित रहे। मुझपर सुख की वर्षा करने वाला पिता भी शिक्षा दे। आचार्य उत्तम ज्ञान का उपदेश दे। हे अग्ने! सर्वोत्पादक परमेश्वर के जगत् में प्राण-अपान के बाहुओं से, अर्थात् पोषक वायु के हाथों से सर्वाङ्गरसदायक दोनों बलों से अन्न को स्वीकार करता हूँ। सदा उद्दीप्त जाठराग्नि के मुख से तुम्हें अच्छी प्रकार से खाता हूँ।

किन्तु यह अर्थ परस्पर असम्बद्ध है, जो सिद्धान्त के विरुद्ध है। सैद्धान्तिक अर्थ वही होता है, जो श्रुति-स्मृत्यनुमोदित, कल्पसूत्र आदि से समर्थित रहता है।

स्वामी दयानन्द ने भी इस मन्त्र की व्याख्या के द्वारा श्रुति, कल्पसूत्र, पूर्वाचार्यों के भाष्य का ध्यान न रखते हुए स्वाभिप्रेत अर्थ को ही अभिव्यक्त किया है। तथा भावार्थ में बताया है कि ईश्वर के द्वारा उत्पन्न हुए पदार्थों से जो भाग सिद्ध होता है, उसका भोग विद्या-धर्म से युक्त व्यवहार के द्वारा करना चाहिये और कराना चाहिये।

किन्तु यह व्याख्या भी वैदिक पद्धति के विरुद्ध है, क्योंकि वैदिक पद्धति में अज्ञात-ज्ञापन करना ही विधि का कार्य होता है। स्वामी दयानन्दोक्त अर्थ तो लोकव्यवहार तथा आयुर्वेद से ही ज्ञात है। उसी ज्ञात अर्थ का ज्ञापन

ऊर्ध्वमस७स्थितं यज्ञस्य तत्तनवा महा इति तस्मात् पवित्रयोर्मार्जयन्ते ।' (श० १।८।१।४३), 'अथ ते पवित्रे प्रस्तरेऽपि सृजति । यजमानो वै प्रस्तरः प्राणोदानौ पवित्रे यजमाने तत्प्राणोदानौ दधाति तस्मात्ते पवित्रे प्रस्तरेऽपि सृजति ।' (श० १।८।१।४४) पवित्राभ्यां (व्यत्ययेन) मार्जयन्ते पाकयज्ञसम्बन्धिन्येव एतदिड्या अचारिषुः आचरितवन्तः । कुतो व्यत्यय इति चेत्, पवित्रपूता यदत ऊर्ध्वमस७स्थित(मपूर्णं) यज्ञस्यांशं तत् तं तनवामहै, इति वाक्यशेषात् । तस्मात् पवित्राभ्यां मार्जयन्ते । 'अथ ते पवित्रे प्रस्तरे अपि सृजति । यजमानो वै प्रस्तरः प्राणोदानौ पवित्रे तस्मात्पवित्रयोः प्रस्तरे संसर्जनेन यजमाने प्राणापानौ दधाति तस्मात्ते पवित्रे प्रस्तरेऽपि सृजति' एतेन मन्त्रव्याख्यानरूपमेव ब्राह्मणमित्यपास्तं वेदितव्यम्, प्रकृतकण्डिकयोर्मन्त्र-व्याख्यानरूपत्वाभावात् । ब्राह्मणं यथा कर्मणि विद्यातदङ्गद्रव्यसंस्कारं विदधाति, तथैव कर्माङ्गमन्त्रमपि तदानुगुण्येन व्याख्याय संस्करोति ।

अध्यात्मपक्षेऽपि—द्यौः द्योतनात्मकः स्वप्रकाशोऽखण्डबोधात्मको रामः पिता सर्वाधिष्ठानत्वेन सकल-जगतः सत्तास्फूर्तिप्रदत्वात् सोऽस्माभिरुपहूतः श्रद्धयानुकूल्यमुपनीतो मामुपासकमुपह्वयताम् अनुग्रहपूर्णया-ऽमृतवर्षिण्या कृपादृष्ट्या वात्सल्येन उपह्वयतां स्वसामीप्यमुपनयतु स्वात्मतादात्म्यं वा प्रापयतु । अग्निरहं ज्योतिर्मयोऽहं शोधितत्वंपदार्थो देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारेभ्यः संहतेभ्यः सुखदुःखमोहात्मकेभ्यो दृश्येभ्यः पराग्भ्यो वैपरीत्येनासंहतत्वेन सुखदुःखमोहातीतत्वेन दृक्त्वेन प्रत्यक्त्वेन अच्यते स्वप्रकाशत्वेनावगम्यत इति प्रत्यक्चैतन्यं तदात्मकोऽहमाग्नीध्रात् तत्पदलक्ष्यार्थस्य शुद्धब्रह्मणः समाश्रयणात् स्वाहा स्वात्मानमर्पयामि । तत्पदार्थेऽनन्तचैतन्ये प्रत्यक्चैतन्यं सुहुतमस्त्वित्यर्थः । ननु मायातत्कार्यात्मकस्य प्रपञ्चस्य जागरूकत्वे कथमात्म-ज्योतिषो ब्रह्मज्योतिषि प्रविलापनं सम्भवतीति चेत्तत्राह–देवस्य प्रपञ्चक्रीडापरायणस्य सवितुर्जगदुत्पत्तिस्थिति-लयलीलस्य भगवतः प्रसवेऽनुशासनेऽश्विनोर्देवभिषजो रत्नालङ्कृताभ्यां बाहुभ्यां पूष्णः सूर्यस्य हिरण्यालङ्कृत-

करने से तो वेदवाक्य का अप्रामाण्य होने लगेगा । मन्त्रगत शब्द से जिस अर्थ की चर्चा भी नहीं है, उसकी चर्चा स्वामी दयानन्दजी कर रहे हैं । अतः उनकी व्याख्या को सारहीन ही कहना पड़ रहा है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—द्योतनात्मक स्वप्रकाश अखण्डबोधात्मक राम पिता हैं, क्योंकि सर्वाधिष्ठान होने से सम्पूर्ण जगत् को सत्तास्फूर्तिप्रद है, जो हमारे द्वारा श्रद्धापूर्वक आनुकूल्य को प्राप्त हुआ है, वह मुझ उपासक को अपनी अनुग्रहपूर्ण अमृतवर्षिणी कृपादृष्टि से अपने समीप ले आवे, अथवा स्व-तादात्म्य को प्राप्त करा दे । ज्योतिर्मय मैं (अहम्) से शोधित जो त्वम् पदार्थ है, वह यच्च-यावत् दृश्य को दृक्रूप से समझा जाता है, इसलिये प्रत्यक्चैतन्यरूप मैं आग्नीध्र से, अर्थात् तत्पदलक्ष्यार्थ शुद्धब्रह्म के आश्रय से अपने को अर्पित कर रहा हूँ । अभिप्राय यह है कि अनन्त चैतन्य तत्पदार्थ में प्रत्यक् चैतन्य सुहुत हो ।

शंका—माया और उसके कार्यरूप प्रपञ्च के जागरूक रहते आत्मज्योति का ब्रह्मज्योति में प्रविलापन कैसे सम्भव होगा ?

समा०—प्रपञ्चक्रीडापरायण सविता देव के अनुशासन में अश्विनीकुमारों के रत्नालंकृत बाहुओं से और सूर्य के हिरण्यालंकृत हाथों से परापर विद्या का उपदेश देने वाले भवरोग के वैद्य कहलाने वाले गुरुओं के आचार-विचार रूप बाहुओं से ज्ञान प्रचण्डमार्तण्ड ब्रह्मविद्वरिष्ठ गुरु के परोक्ष-अपरोक्ष तत्त्वज्ञान–साक्षात्कार रूप पाणि से तुझ साधिष्ठान प्रपञ्च का ग्रहण करता हूँ । अधिष्ठानभूत परमेश्वरस्वरूप ब्रह्म के मुख से मैं प्राशन करता हूँ, अर्थात्

पाणिभ्यां परापरविद्योपदेष्ट्रोर्भवरोगवैद्ययोर्गुर्वोराचारविचाराभ्यां बाहुभ्यां पूष्णो ज्ञानप्रचण्डमार्तण्डस्य ब्रह्मविद्वरिष्ठस्य गुरोः परोक्षापरोक्षतत्त्वज्ञानसाक्षात्काराभ्यां पाणिभ्यां त्वा त्वां साधिष्ठानं प्रपञ्चं गृह्णामि। अग्नेः परमेश्वरस्याधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मण आस्येन मुखेन प्राश्नामि स्वात्मतादात्म्यापादनं करोमि, अधिष्ठानसाक्षात्कारेण प्रपञ्चं बाधित्वा निरावरणब्रह्मात्मना स्थितो भवामीत्यर्थः ॥ ११ ॥

एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे । तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव ॥ १२ ॥

'एतं त इति समिदामन्त्रितः प्रसौति' (का० श्रौ० २।२।२१), 'ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि' (आप० श्रौ० ३।४।५) इत्यनुयाजार्थमध्वर्युणा पृष्टो ब्रह्मा एतं ते (२।१२–१३) इति मन्त्रद्वयेनाध्वर्युमाज्ञापयेत। समिच्छब्देन तदर्थत्वादनुयाजा अभिधीयन्ते। एतं त इत्यादिः ओं प्रतिष्ठ इत्यन्तो मन्त्रः। हे देव दानादिगुणयुक्त हे सवितः प्रसवितः! एतं ते यज्ञमिदानीं क्रियमाणमिमं मखं ते तुभ्यं त्वदर्थं प्राहुर्यजमानाः कथयन्ति। उव्वटरीत्या एकवचनस्य स्थाने बहुवचनम्। प्राह ब्रवीति। 'एतत्सवितारमेव प्रसवायोपधावति' (श० १।७।४।१४) इति श्रुतिः। त्वया प्रेरितो देवानां यज्ञे यो ब्रह्मा तस्मै ब्रह्मणे बृहस्पतये च प्राहुः 'बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा' तदधिष्ठित एवायं मानुषो ब्रह्मत्वं करोति। तेन हेतुना त्वदीयत्वेन यज्ञमव रक्ष। तेनैव च यज्ञपतिं यजमानं रक्ष। तथा तेनैव च हेतुना मां ब्रह्माणमव। हे सवितर्देव! एतं त्वा सवितृरूपं त्वां बृहस्पतिं ब्रह्माणं बृहस्पतिरूपं ब्रह्मनामकमृत्विजं वृणते याज्ञिका वरणं कुर्वन्ति। सवितृशब्दाभिधः परमेश्वर एव बृहस्पतिरूपेणावतीर्यास्मद्यागे ब्रह्मेति भावयन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे देव दिव्यसुखगुणानां दातः सवितः सकलैश्वर्यविधातः! वेदा विद्वांसश्च यमेतं ते यज्ञं सुखाय यष्टुमर्हं भवत्प्रकाशितं प्राहुः, येन बृहस्पतये बृहत्या वेदवाण्याः पालकाय ब्रह्मणे चतुर्वेदाध्ययनेन ब्रह्मत्वाधिकारं प्राप्य सुखाधिकाराः प्राप्नुवन्ति। तेन बृहद्विज्ञानदानेन इमं यज्ञं पूर्वोक्तं त्रिविधम् अव नित्यं रक्ष। तेन कर्मानुष्ठानेन विद्याधर्मप्रकाशनेन मां अव रक्ष' (पृ० १६९), 'ईश्वरेण सृष्ट्यादौ दिव्यगुणवद्भ्योऽग्निवायुरव्यङ्गिरोभ्यश्चतुर्वेदोपदेशेन सर्वेषां मनुष्याणां विद्याप्राप्त्या सुखाय यज्ञानुष्ठानविधिरुपदिष्टोऽनेनेव सर्वरक्षाविधानं च नैव विद्याशुद्धिक्रियाभ्यां विना कस्यचित् सुखरक्षणे भवितुमर्हतः। तस्मात् सर्वैः परस्परं प्रीत्यै तयोर्वृद्धिरक्षणे प्रयत्नतः सदैव कार्ये इति भावार्थः' (पृ० १७०) इत्याह, तदपि न क्षोदक्षमम्, सर्वस्यास्यार्थस्य निर्मूलत्वात्। न च ब्राह्मणं तत्र प्रमाणम्, तस्य त्वया स्वतः प्रामाण्यानभ्युपगमात्, परतः प्रामाण्ये तु तस्य बीजत्वेन मन्त्रप्रामाण्यस्य वक्तव्यत्वापत्तेः। यज्ञानुष्ठानविधिस्तु

स्वात्मतादात्म्यापादन करता हूँ, यानी अधिष्ठान साक्षात्कार से प्रपञ्च का बाधकर निरावरण ब्रह्मरूप से स्थित होता हूँ ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे दानगुणविशिष्ट प्रेरक परमेश्वर! यह किया हुआ यज्ञ तुम्हारे लिये है, ऐसा यजमान कहते हैं और तुम्हारी प्रेरणा से देवताओं के यज्ञ में ब्रह्मा बने हुए बृहस्पति के लिये है, ऐसा भी यजमान कहते हैं। इसलिये तुम इस अपने यज्ञ की, यजमान की और ब्रह्मा बने हुए मेरी रक्षा करो। समिधा के होम करने की आज्ञा दो—यह कहने पर ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् 'एतं ते' से 'ॐ प्रतिष्ठ' तक के दो मन्त्रों से वैसा करने की आज्ञा प्रदान करे॥ १२ ॥

ब्राह्मण एवोपलभ्यते न मन्त्रेषु, ज्योतिष्टोमादेर्यज्ञस्य सेतिकर्तव्यताकस्य मन्त्रेष्वनुपदिष्टत्वात् । ब्राह्मणं तु त्वया नेश्वरोक्तमभ्युपगम्यते । मन्त्रब्राह्मणात्मके वेद एव यज्ञानुष्ठानविधानं सर्वरक्षणविधानमुक्तम्, न केवलेषु मन्त्रेषु । देवश्च कर्मानुसारेणैव दिव्यसुखगुणानां दाता भवति, न तन्निरपेक्षतया, अन्यथा संसारे सर्वेषामपि दिव्यसुखादिगुणवत्त्वापातात् । न च यज्ञः सुखायैव यष्टुमर्हः, निष्कामानामपि यज्ञानुष्ठानदर्शनात् । कोऽयं ब्रह्मा यो बृहत्या वेदवाण्याः पालकः ? यश्च चतुर्वेदाध्ययनेन ब्रह्मत्वाधिकारं प्राप्तः ? किं तत्र प्रमाणम् ? कीदृक् च तस्येतिवृत्तम् ? तेनेतिपदत्रयाणां बृहद्विज्ञानदानेनेति कथमर्थः ? द्वितीयेन धर्मानुष्ठानग्रहणे किं बीजम् ? तृतीयेन विद्याधर्मप्रकाशेनेति कथमर्थः ? सिद्धान्ते तु ब्रह्मा विशिष्टो भगवदवान्तरभूतस्तदर्थमेव च यज्ञः, तेन त्वदीयत्वेन हेतुना त्वं यज्ञं रक्ष, तेनैव च हेतुना यज्ञपतिं रक्ष, तेनैव च हेतुना मां ब्रह्माणं रक्षेति कथनं सङ्गच्छते।

शतपथविरुद्धं चेदम् । तथाहि—'तद्यथैवादो बृहस्पतिः सवितारं प्रसवायोपाधावत् सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत्तदेनꣳसवितृप्रसूतं नाहिनद्देवमेवैष एतत्सवितारमेव प्रसवायोपधावति सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुवेति तदस्मै सविता प्रसौति तदेनꣳसवितृप्रसूतं न हिनस्ति' (श० १।७।४।१४) । बृहस्पतिः प्रसवाय सवितारमुपाधावत् । इदं मे प्रसुवेति कामनया तस्मादस्मै बृहस्पतये सविता देव एनं बृहस्पतिं प्रासुवत् तस्मादेनं बृहस्पतिं सवितृप्रसूतं नाहिनत्, न हिनस्तीत्यर्थः । इत्युपक्रम्य 'तत्प्राश्नाति.......' (श० १।७।४।१५) अग्नेरास्येन त्वामहं प्राश्नामि न मनुष्यमुखेनेत्यर्थः । अग्नेरप्रधृष्यत्वादग्निं न किञ्चन वस्तु हिनस्ति तथैवैतं भक्षितं न हिनस्ति । 'तन्न दद्भिः खादेत्.......' (श० १।७।४।१६) यत इदं रुद्रियं वस्तु मे दतो दन्तान् न हिंस्यादेतदर्थं न दद्भिः खादेत् । 'अथाप आचामति.......' (श० १।७।४।१७) शान्तिरापस्तस्माद् दद्भिरस्पर्शनेन शान्त्या च तद्रुद्रियं शमयते । अथ पात्रं परिक्षाल्य 'नाभिमालभते' इति शाखान्तरान्नाभेरालभनं तच्छेष इति हरिस्वामी । 'अथास्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति ब्रह्मा वै यज्ञस्य दक्षिणत आस्तेऽभिगोप्ता । स एतं भागं प्रतिविदान आस्ते यत् प्राशित्रं तदस्मै पर्याहार्षुस्त-त्प्राशीदथ यमस्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति तेन भागी स यदुत ऊर्ध्वमसꣳस्थितं यज्ञस्य तदभिगोपायति तस्माद्वा अस्मै ब्रह्मभागं पर्याहरन्ति ।' (श० १।७।४।१८), 'स वै वाचंयम एव स्यात्' (श० १।७।४।१९) । स ब्रह्मा वाचंयमः स्यात् 'ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि' इत्यध्वर्युवचनपर्यन्तम् । वि बृहन्ति विच्छिदन्ति वा एते यज्ञं सण्वन्ति ये मध्ये यज्ञस्य पाकयज्ञियया पाकयागार्हया विलक्षणयेत्याचरन्ति पाकयज्ञेषु हुतशेषो भक्ष्यते । इडाभक्षणेऽपि हुतशेषो भक्ष्यते । इत्तीडा पाकयागार्होच्यते । 'स यदि पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत् तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत् । यज्ञो वै विष्णुस्तद् यज्ञं पुनरारभते तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः' (श० १।७।४।२०) ब्रह्मा वा ऋत्विजां भिषक्तमः, अतिशयेन यज्ञस्य चिकित्सकः । स प्रायश्चित्तैर्यज्ञं भिषज्यति स वाचंयमो यज्ञं सन्दधाति । अन्यथा तु

भाष्यसार—यजमान सविता से कहता है कि हे सवितृदेव ! यह अनुष्ठीयमान याग तुम्हारे लिये है । तुमसे प्रेरित होकर ही देवताओं के यज्ञ में जो ब्रह्मा है, उस ब्रह्मा और बृहस्पति के लिये कहता है । क्योंकि देवताओं का 'ब्रह्मा' बृहस्पति है । उससे अधिष्ठित होकर ही यह मनुष्य 'ब्रह्मत्व' कर पाता है । इसलिये यह यज्ञ तुम्हारा ही है । इस यज्ञ की रक्षा करो । उसीके लिये यज्ञ करने वाले यजमान की और मुझ ब्रह्मा की रक्षा करो ।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या करके निष्कर्ष बताया है कि सब लोग परस्पर प्रेमसम्पादनार्थ तपोवृद्धि और उसके रक्षणार्थ सर्वदा प्रयत्न करते रहें ।

नैनं सन्दध्यात्। तस्माद्वाचंयम एव स्यात्। 'स यत्राह—ब्रह्मन् प्रस्थास्यामीति तद्ब्रह्मा जपत्येतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुरिति तत्सवितारं प्रसवायोपधावति। सहि देवानां प्रसविता बृहस्पतये ब्रह्मण इति बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा तद्य एव देवानां ब्रह्मा तस्मा एवैतत्प्राह। तस्मादाह बृहस्पतये ब्रह्मण इति तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामवेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। (श० १।७।४।२१)। 'ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि' (आप० श्रौ० ३।४।५) इत्यध्वर्युणा समिधमाधातुमनुज्ञाप्रदानाय बोधितो ब्रह्मा 'एतं त इति समिदामन्त्रितः प्रसौति' (का० श्रौ० २।२।१९), अर्थाद् एतं त इति मन्त्रेणानुजानीयात्। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव।

अध्यात्मपक्षे तु—हे देव जगत्क्रीडाविनोदिन् सवितः प्रपञ्चोत्पादयितः! एतं पूर्वोक्तं ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं ज्ञानयज्ञं वेदा वेदान्ता ब्रह्मविद्वरिष्ठाश्च बृहस्पतये बृहत्या वाचः पतये वेदान् वाचो विधेयान् कुर्वते ब्रह्मणेऽपरब्रह्मोपासनया तद्भावितत्वेन ब्रह्मभावापन्नाय ब्रह्मभूताय प्राहुस्तात्पर्येण वर्णयन्ति। तेन हेतुना हे सवितस्तादृशं ज्ञानयज्ञमव साफल्यसम्पादनेन रक्ष। तेन साफल्येन यज्ञपालकमाचार्यमव पालय। तेनाचार्यपालनेन आचार्यप्रवचनसामर्थ्यप्रदानेन मां शिष्यं तद्ग्रहणधारणसामर्थ्यप्रदानेन अव रक्ष ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कारं प्रदाय रक्ष ॥ १२ ॥

मनो॑ जू॒तिर्जु॑षता॒माज्य॑स्य॒ बृह॒स्पति॑र्य॒ज्ञमि॒मं त॑नो॒त्वरि॑ष्टं य॒ज्ञꣳस॒मि॒मं द॑धातु विश्वे॑ दे॒वास॑ इ॒ह मा॑दयन्ता॒मो३म्प्रति॑ष्ठ ॥ १३ ॥

हे सवितः! मनस्त्वदीयं चित्तम् आज्यस्य आज्यं घृतं कर्मणि षष्ठी जुषतां सेवताम्। त्वदीयं चित्तं यज्ञसम्बन्धिन्याज्ये स्थापयेत्यर्थः। कीदृशं मनः? जूतिः अतीतानागतादिसर्वपदार्थेषु गमनशीलं गतिकर्मणो जवतेः क्तिन्प्रत्ययान्तो निपातः। स्त्रीत्वं छान्दसम्। जवते शीघ्रं गच्छतीति जूतिः। किञ्च, बृहस्पतिरिमं यज्ञं तनोतु विस्तारयतु ब्रह्मत्वात्। इमं यज्ञमरिष्टं हिंसारहितं दधातु सन्दधातु। इडाभक्षणेन हि मध्ये यज्ञो

किन्तु स्वामी दयानन्दोक्त अर्थ मन्त्र के किसी शब्द से नहीं निकल रहा है। यज्ञानुष्ठान की विधि तो ब्राह्मणग्रन्थों में ही होती है, मन्त्रों में नहीं। किन्तु स्वामी दयानन्द तो ब्राह्मणग्रन्थ को 'वेद' नहीं मानते और न ही उसे ईश्वरोक्त मानते हैं। उनका स्वतःप्रामाण्य भी वे स्वीकार नहीं करते। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद में ही 'सर्वरक्षणविधान' आदि कहा गया है, केवल मन्त्रों में नहीं। देव यानी ईश्वर तो कर्म के अनुसार ही दिव्य सुखादि गुणों का दाता होता है, कर्मनिरपेक्ष होकर नहीं। अन्यथा संसार में सभी लोग दिव्य सुख गुणों से सम्पन्न हुए दिखाई देंगे। इत्यादि कारणों से दयानन्दोक्त अर्थ उचित नहीं प्रतीत हो रहा है। अतः उव्वट-महीधरोक्त अर्थ ही शतपथानुसारी होने से उचित है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा—हे सवितः! तुम ही प्रपञ्च को उत्पन्न करने वाले हो। आचार्य प्रवचन का ग्रहण, धारणसामर्थ्य हमें प्रदान कर और ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार करा कर हमारी रक्षा करो ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे मन! तू घृत का सेवन कर। हे सविता! अपने शीघ्रगामी मन को यज्ञसम्बन्धित घृत में स्थापित करो। बृहस्पति इस यज्ञ को वृद्धिङ्गत करे और हिंसारहित करके उसे धारण करे। समस्त देवगण इस यज्ञ कर्म में सन्तुष्ट हों। इस प्रकार से प्रार्थित हुआ सूर्य 'ओम् प्रतिष्ठ' ठीक है, प्रयाण करो—ऐसी आज्ञा दे ॥ १३ ॥

भाष्यसार—उक्त मन्त्र के द्वारा सवितृ देवता की प्रार्थना की गई है। समिदाधान काल में यजमान के अभिप्रेत प्रयाण को जानकर और उसे स्वीकार कर सविता देव प्रयाण की प्रेरणा दे।

विच्छिन्न इत्येवमुच्यते। विश्वेदेवासः सर्वे देवा इह कर्मणि मादयन्ताम्। 'मद तृप्तौ' चुरादिस्तृप्यन्तामित्यर्थः। एवं प्रार्थितः सविता देव ओं प्रतिष्ठ इत्यनुज्ञां प्रयच्छतु। ओमित्यङ्गीकारार्थः, तथास्त्वित्यर्थः। प्रतिष्ठ प्रयाणं कुरु। समिदाधानकाले यजमानस्याभिप्रेतं प्रयाणमवगम्य सविता देवोऽङ्गीकृत्य प्रयाणे प्रेरयतीत्यर्थः। 'ब्रह्मसदनात् तृणं निरस्यति निरस्तः पाप्मा' (का० श्रौ० २।१।२२) इति नैर्ऋत्यां तृणं ब्रह्म क्षिपेत्। 'इदमहं बृहस्पतेः सदसि सीदामि' (का० श्रौ० २।१।१)। ब्रह्मा इदमहमिति मन्त्रेण स्वस्थान आहवनीयाभिमुख उपविशेत्।

कश्चिदाधुनिकस्तूभयोः कण्डिकयोः सम्बन्धमाह—'हे देव सवितः सर्वप्रेरक प्रकाशक ! ते तव उपर्युक्तं यज्ञं प्राहुः। अयं यज्ञो बृहस्पतये वेदलक्षणाया वाण्याः पालकाय विदुषेऽस्तु। तेन यज्ञेन मदीयमिमं यज्ञमव रक्ष तेनैव यज्ञपतिमव तेन मामपि अव। कोऽयं यज्ञ इति नात्र स्पष्टम्। स च बृहस्पतये कथमस्तु। यज्ञादीनां पालकत्वे च कथं हेतुत्वम् ? मनो जूतिरिति जूतिर्वेगवत्सावधानं मन आज्यस्य ज्ञानयोग्यसाधनं जुषताम्। बृहस्पतिः वेदवाणीपरिपालको विद्वान् इमं यज्ञं तनोतु सम्पादयतु। ब्रह्मविद् इमं हिंसारहितं यज्ञं सम्यग्रीत्या पारयतु। इहलोके समस्ता विद्वांसो मादयन्ताम् आनन्दिनो भवन्तु। ओं हे विद्वन् प्रतिष्ठ त्वं प्रतिष्ठां प्राप्नुहि। योऽयं श्रौतसूत्रब्राह्मणादिनिर्दिष्टः प्रसिद्धः, मन्त्रेषु च यः प्रसिद्धस्तमनभ्युपगच्छन्नपि यज्ञस्य पालनीयत्वं पालनहेतुत्वं च कथयन्निस्त्रप एव। ओमित्यस्य रूढमर्थमुपेक्ष्यावयववृत्त्या विद्वन्नित्यर्थं लापयन् विदुषश्च प्रतिष्ठालाभे प्रेरयन् हेतुमपि नापेक्षत इति चित्रम्।

सिद्धान्ते तु—दानादिगुणयुतः सर्वोत्पादकः परमेश्वरोऽत्र प्रार्थ्यते। इमं क्रियमाणं यज्ञं त्वदर्थमेव यजमानः करोति, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (भ० गी० १८।४६) इति परमेश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानस्य यज्ञस्य प्रशस्तत्वोक्तेः। तस्यैवान्तर्यामिणः प्रेरणया देवानां यज्ञे बृहस्पतिः, मनुष्याणां यज्ञे ब्रह्मा यज्ञनिर्वाहको ब्रह्मनामक ऋत्विग्भवति। तदीयत्वेनैव यज्ञस्य यज्ञपतेर्ब्रह्मणश्च तत्कर्तृकरक्षा प्रार्थ्यते। त्रयोदश्यां कण्डिकायामपि स एव सविता प्रार्थ्यते—त्वदीयमतीतानागतवर्तमानकालान् तद्गतवस्तूनि च वेगेन युगपदेव गन्तृ मनो यज्ञसम्बन्धिन्याज्ये स्थापय। यथा भक्तः स्वनिवेदिते यथोपलब्धे नैवेद्ये भगवद्रागास्पदत्वं प्रार्थयते—हे विभो ! मदीयमिदं नीरसमपि पत्रपुष्पफलं जलादिकं श्रमणा(शबरी)-फलदृष्ट्या सौदामपृथुकदृष्ट्या गोपाङ्गनार्पितदधिनवनीतदृष्ट्या यशोदास्तन्यदृष्ट्या राधाधरसुधादृष्ट्या वा गृहाणेति तद्वत्। वेगेन सर्वदेशकालवस्तुगाम्यपि त्वदीयं मनो मदीये यज्ञाज्ये स्थिरं भवत्वित्यर्थः। किञ्च, त्वदीयांशो बृहस्पतिर्ब्रह्मा सन् यज्ञमिममरिष्टं हिंसारहितं कृत्वा तनोतु सन्दधातु। सर्वे च देवा अत्र यज्ञे तृप्यन्ताम्। त्वत्तृप्तिकरो यज्ञोऽपि त्वदनुग्रहादेव सम्पद्यताम्। एवं प्रार्थितः सविता देवः ओं प्रतिष्ठ इत्यनुज्ञां प्रयच्छतु

किसी आधुनिक विद्वान् ने दोनों कण्डिकाओं का सम्बन्ध बताया है। यह यज्ञ वेदलक्षणवाणी के पालन करने वाले विद्वान् के लिये हो। उस यज्ञ से मेरे इस यज्ञ की, उसीसे यज्ञपति की और उसी से मेरी भी रक्षा करो।

किन्तु इस व्याख्या में कोई किसी प्रकार का कार्य-कारण भाव न होकर भी व्याख्या कर दी गई है, अतः कोई निष्कर्ष ही नहीं निकल पाता है। अतः निरर्थक ही है।

उव्वट-महीधर ने सैद्धान्तिक दृष्टि से जो व्याख्या की है, उससे स्पष्ट होता है कि परमेश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठीयमान यज्ञ ही प्रशस्त है। उस अन्तर्यामी की प्रेरणा से ही बृहस्पति ब्रह्मा के रूप में यज्ञ का निर्वाहक बनता है। यह उस

प्रतिष्ठ प्रयाणं कुरु । समिदाधानकाले यजमानस्याभिप्रेतं प्रयाणमवगम्य सविता देवोऽङ्गीकृत्य प्रयाणे प्रेरयतीत्यर्थः ।

अत्र दयानन्दः—'मम मनः मननशीलं ज्ञानसाधनं जूतिः वेगेन व्याप्तिकर्म आज्यस्य आज्यं यज्ञसामग्रीं 'सुपां सुलुक्..........' (पा. सू. ३।३।९७) इति द्वितीयास्थाने षष्ठी। जुषतां प्रीत्या सेवताम् । बृहस्पतिः बृहतां प्रकृत्याकाशादीनां पतिः पालक ईश्वरो यज्ञं संसाराख्यमिमं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं सुखभोगहेतुं तनोतु विस्तारयतु । अरिष्टं रिष्यते हिंस्यते यः स रिष्टो न रिष्टोऽरिष्टस्तं यज्ञमस्माभिरनुष्ठातुमहमिमं समक्षं प्रत्यक्षं विज्ञानयज्ञं सन्दधातु धारयतु । विश्वेदेवासः सर्वे विद्वांसः, अरिष्टं यज्ञद्वयं संतत्या सन्धाय अस्मिन् संसारे हृदये वा मादयन्तां हर्षन्ताम् । ओम् इतीश्वरवाचको वेदविद्या वा, प्रतिष्ठ प्रतिष्ठति । हे ओङ्कारवाच्यबृहस्पते ! त्वमिह प्रतिष्ठ कृपयेमं यज्ञं विद्यां च प्रतिष्ठापय' (पृ० १७१–१७२) । 'ईश्वर आज्ञापयति -हे मनुष्याः ! युष्मन्मनः सत्कर्माण्येव प्राप्नोतु । मया योऽयं संसारे यज्ञः कर्तुमाज्ञाप्यते तमेवानुष्ठाय सुखिनो भवन्तु भावयन्तु च । ओमिति परमेश्वररस्यैव नाम । नैव सत्क्रियां विना प्रतिष्ठा भवति । तस्मान्मनुष्यैः सर्वथाऽधर्मं विहाय धर्मकार्याण्येव सेवनीयानि । यतः खल्वविद्यान्धकारनिवृत्तये विद्यार्कः प्रकाशत इति भावार्थः' (पृ० १७२) इति ।

तदेतत्सर्वं व्यत्ययबाहुल्येन स्वातन्त्र्येणार्थकरणे वेदाक्षरबाह्यमेवार्थो भवति, तद्रीत्या धर्माधर्मयोरप्यनिर्णयात् । येऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यज्योतिष्टोमादयो यज्ञा धर्मत्वेनाख्यायन्ते, ते तद्रीत्या वायुजलौषधिशुद्ध्यर्था एव । परोपकारो धर्म इत्यपि न सङ्गतम्, तस्याप्यनिर्णयात् । परसुखापादनं परोपकार इत्यप्यसङ्गतम्, तथा सति गुरुदारादिगमने धर्मत्वापत्तेः, शिष्यताडनादावधर्मत्वापत्तेः, रुग्णस्य कुपथ्याभिलाषिणो नियन्त्रणे वैद्यस्य पातकापातात् तद्दातुर्धार्मिकत्वापत्तेश्च । सत्यां वायुजलाद्यशुद्धावेव त्वदीयस्य यज्ञस्योपयोगः । आधुनिकसभ्यतारीत्यापि तदुपपत्तौ वैयर्थ्यमेव स्याद्यज्ञस्येति यज्ञानुष्ठानेनैव सुखिनो भवन्त्विति रिक्तं वचः । यज्ञं संसाराख्यमित्यपि चिन्त्यम् । इममित्यस्य प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं सुखहेतुमित्यपि प्रमाणसापेक्षम् । समक्षं विज्ञानयज्ञमित्यपि प्रमाणापेक्षम् । हिन्दीभाष्ये तु वेगेन सर्वगामिविचारकं मन्मन आज्यं यज्ञसामग्रीं सेवतामिति लिखितम् । वेदे तु देवतोद्देश्येनाज्यादियज्ञसामग्री प्रयुज्यते न मनःसेवनार्थमिति विचित्रोऽर्थः । किञ्च, बृहस्पतिरिमं प्रकटाप्रकटमहिंसनीययज्ञं सुखानां भोगरूपं यज्ञं तनोतु इत्यपि किं सुखभोगरूप एव यज्ञः ? ओमिति चेत्, कृतं वाय्वादिशुद्ध्यर्थेनापि होमेन, प्रकटाप्रकटसुखानां भोगेनैवाहिंसनीययागोपपत्तेः ।

यदुक्तं तेन 'अयं मन्त्रः शतपथे (१।७।४।२२) व्याख्यातः' इति, तदपि न स्वत्समीहितसाधनम्, तस्यान्यार्थत्वात् । तथाहि—'मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्येति । मनसा वा इदꣳ सर्वमाप्तम्, तन्मनसैवैतत्सर्वमाप्नोति बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳ समिमन्दधात्विति यद्विवृढं तत्सन्दधाति विश्वेदेवास इह मादयन्तामिति सर्वं वै विश्वेदेवाः सर्वेणैवैतत् सन्दधाति । स यदि कामयेत ब्रूयात् प्रतिष्ठेति यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत' (श० १।७।४।२२) । एतदर्थस्तु देवानां जूतिः वेगवन्मनः जुषतां प्रीयतां तृप्यत्वाज्येनेत्यर्थः । बृहस्पतिर्ब्रह्मरूपो

अन्तर्यामी परमेश्वर से ही सम्बन्धित होने से उसकी रक्षा की प्रार्थना उससे की गई है । तेरहवीं कण्डिका में भी उसी सविता की प्रार्थना की गई है ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, उसमें भी व्यत्ययबहुलता है, स्वतन्त्रतापूर्वक अर्थ किया गया है, अतः वेदाक्षरों से असम्बद्ध अर्थ हो गया है, उस कारण धर्माधर्म का निर्णय नहीं हो सकता । शतपथ की व्याख्या से दयानन्दोक्त अर्थ का समर्थन नहीं हो पा रहा है ।

यज्ञं सन्दधातु विश्वे च देवास्तृप्यन्तु। त्वयानुज्ञातेऽध्वर्यौ तस्मादनुजानीहीत्यभिप्रायमालक्ष्य सवितुः स्वयमाह ब्रह्मा-सार्वात्म्यादहमेव सविता ततश्च प्रतिष्ठा अध्वर्यौ। अतिसर्जने लोट् (पा० सू० ३।३।१६३) इति हरिस्वामी। उव्वटस्तु—मनो जुषतां सेवतामाज्यस्य स्वमंशं जूतिः अतीतानागतवर्तमानकालेषु पदार्थेषु यद् गन्तृ तन्मन इत्यर्थः। अत्रापि छान्दसं स्त्रीत्वम्।

अध्यात्मपक्षे—हे मनः, आज्यस्येव करुणया द्रवद्धृदयस्य भगवतः स्निग्धं स्वरूपं जुषतां सेवताम्। कीदृशं मनोजूतिर्वेगेन गमनशीलं मनो भगवतः स्वरूपचिन्तनेऽपि तस्य नायासः।- नन्वेवं चाञ्चल्ये कथं नैरन्तर्येण भगवतः प्रीतिपूर्वकं सेवनं सम्भवतीति चेदाह—बृहस्पतिः बुद्ध्यधिष्ठातृदेव इमं चिन्तनध्यानादिलक्षणं वृत्तिनिरोधयज्ञं तनोतु विस्तारयतु। न केवलं तनोतु किन्तु अरिष्टमविनष्टं यथा स्यात्तथा इमं यज्ञं सन्दधातु व्याधिस्त्यानादिविघ्नैर्यथा न प्रतिबद्धयेत तथा इमं भगवद्ध्यानलक्षणं यज्ञं सन्दधातु स्वरूपसाक्षात्कारफलपर्यन्तं सम्पादयतु। इह लोकोत्तरे आध्यात्मिके यज्ञे विश्वे सर्वे देवा मादयन्तां तृप्यन्ताम्, भगवदाराधनेन सर्वेषां देवानां तृप्तिसम्भवात्। यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखास्तथैव परमात्मोपासनेन तदंशभूता देवाः स्वयमेव तृप्यन्ति। सत्यामेवमभ्यर्थनायां देवो भगवान् बृहस्पतिः ओमिति तथास्त्वित्यङ्गीकृत्य प्रतिष्ठ भगवदुपासने सुस्थिरो भवेति प्रेरयति॥ १३॥

एषा ते॑ अग्ने स॒मित्तया॒ वर्द्ध॑स्व॒ चा च॑ प्यायस्व। व॒र्धि॒षी॒महि॑ च व॒यमा च॑ प्यासिषीमहि। अग्ने॑ वाजजि॒द्वाजं॑ त्वा ससृ॒वाᳪं सं॑ वाज॒जितᳪं सम्मा॑र्ज्मि॥ १४॥

'एषा त इति होतानुमन्त्रयते' (का० श्रौ० ३।५।२)। प्राकृतमार्षम्। इयमनुष्टुप् अग्निदैवत्या। हे अग्ने! एषा ते तव समित् समिन्धनहेतुः काष्ठविशेषो यः प्रक्षिप्यते, तया समिधा त्वं वर्धस्व वृद्धिं गच्छ। आप्यायस्व अस्मानपि वृद्धिं प्रापय। तथा च त्वत्प्रसादाद्वयं वर्धिषीमहि पुत्रपश्वादिभिः। आ च प्यासिषीमहि

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार होगा—हे मन! आज्य की तरह करुणा से द्रवित हुए हृदय को भगवान् के स्वरूप की सेवा में लगाओ। क्योंकि मन की गमनशीलता बहुत ही वेगवती है, अतः उस परमेश्वर के स्वरूप-चिन्तन में भी उसे कोई आयास नहीं होगा। मन की अति चंचलता रहने पर भी निरन्तर और प्रीतिपूर्वक भगवत्सेवा को, अर्थात् भगवद्ध्यानलक्षण यज्ञ को, यानी स्वरूपसाक्षात्कारात्मक फल को सम्पन्न कर सकता है। इस प्रकार भगवदाराधन करने से समस्त देवताओं को तृप्ति हो जाती है॥ १३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने! तुम्हें प्रदीप्त करने वाली यह समिध् है। उसके सम्पर्क से तुम वृद्धिङ्गत हो और हमें भी वृद्धिङ्गत करो। तुम्हारे अनुग्रह से हमारी वृद्धि होगी और तब हम अपने पुत्र-पशु आदि की सर्वथा सब प्रकार से वृद्धि कर पायेंगे। हे अन्नोत्पादक अग्ने! अन्न के उद्देश्य से गमन करने वाले और उसे प्राप्त करने वाले तुमको मैं जल से शुद्ध करता हूँ। होता नामक ऋत्विज् 'एषा ते' मन्त्र को कहे। पहले जिस प्रकार 'अग्ने वाजजित्' मन्त्र से परिक्रमण करके तीन-तीन बार अग्निसंमार्जन किया था, उसी प्रकार यहाँ परिक्रमण रहित 'प्रसृवांसम्' मन्त्र से एक बार संमार्जन करे॥ १४॥

भाष्यसार—हे अग्ने! इस समिदाधान से तुम वृद्धि को प्राप्त हो और हमें भी वृद्धि को प्राप्त कराओ। तुम्हारे प्रसाद से हम पुत्र-पशु आदि के साथ वृद्धि को प्राप्त हों। तदनन्तर अग्नि का संमार्जन करने के लिये कहा है।

आप्यासिषीमहि । आप्यायतेर्लिङि उत्तमपुरुषबहुवचनम् । सीयुटश्छान्दसोऽभ्यासः । 'संमार्ष्टि पूर्ववपदक्रामꣳ सकृत् सकृत् ससृवाꣳसमिति' (का. श्रौ. ३।५।४) पूर्वमग्ने वाजजिदिति मन्त्रेण यथेध्मसंनहनसंमार्गः कृतस्तथात्रापि संमार्ष्टि। तत्र परिक्रम्य त्रिस्त्रिः कृतः, अत्र तु परिक्रमणं विनैकैकवारमिति विशेषः । पूर्ववन्मन्त्रव्याख्यानम् । हे अग्ने त्वां संमार्ज्मि । कीदृशं त्वां वाजं ससृवांसमन्नमुद्दिश्य गतवन्तमन्नं सम्पादितवन्तम् ।

आधुनिकस्तु—'हे शत्रुतापक ! एषा ते समित् सम्यक् प्रदीप्ता विद्या कला वा, तया वर्धस्व आप्यायस्व सम्यक् पुष्टो भव । वयं प्रजाजनास्त्वया समृद्धा भवामः । हे अग्ने राजन् ! वाजं युद्धं ससृवाꣳसं युद्धाय प्रयाणं कुर्वाणं वाजजितं युद्धविजेतारं त्वां संमार्ज्मि सम्यक् पवित्रयामि' इति । अत्रार्थे गौणार्थकता तु स्पष्टैव । अग्निसमिच्छब्दयोर्वह्नौ काष्ठविशेषे च रूढयो राज-विद्या-कलापर्यवसायित्वमप्रामाणिकम् । राज्ञश्च प्रजाजनकर्तृकं पवित्रीकरणं कीदृगित्यपि नोक्तम् । पौर्वापर्यविसङ्गतिरपि । सिद्धान्ते तु इडाभक्षणानन्तरमनुयाजार्थमध्वर्युकृत-प्रस्थानानुज्ञार्थं मन्त्रप्रसङ्गः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने परमेश्वर भौतिकाग्ने वा, एषा प्रदीप्तिहेतुस्ते तव तस्य वा । समिध्यते दीप्यतेऽनयेति समित् विद्या काष्ठादिर्वा । तया विद्यया समिधा वास्माभिः स्तुतः संस्त्वं वर्धस्व चास्मान् वर्धय । आप्यायस्वेत्यनेनैवेष्टसिद्धौ वर्धिषीमहीति स्पष्टार्थम् । हे भगवन्नेवं भवद्भिर्दिव्यगुणैरस्माभिः प्रकाशितः संस्त्वं आप्यायस्व चास्मान्नित्यं प्यायय । वयं विद्यावन्तो धार्मिकाश्च आसमन्तात् क्रियायोगे प्यासिषीमहि । प्यैङ्धातोः 'सिबुत्सर्गश्छन्दसि' (पा. सू. ३।१।२४) इत्यनेन वार्त्तिकेन सिप्प्रत्ययः । अग्ने ज्ञानस्वरूप विजयप्रद भौतिको वा, वाजं सर्वस्य वेगं जयति ईश्वरो वाजं जयति येन वा स भौतिको वाजं ज्ञानवन्तं वा त्वा त्वां तं वा ससृवांसं सर्वज्ञानवन्तं शिल्पविद्यागुणप्राप्तिमन्तं वा वाजं संग्रामं जाययति तं सम्यगर्थे मार्ज्मि शुद्धो भवामि शोधयामि वा । हे भगवन्नग्ने वाजजिद्वाजं ससृवांसं त्वां वयं वर्धिषीमहि कृपया भवान् अस्मानपि वाजजितः सस्रुषो वाजान् करोति । यथा वयं भवन्तमाप्यासिषीमहि, तथैव भवांश्चास्मान् सर्वैः शुभगुणैराप्यायतु । अहं भवन्तमाश्रित्य संमार्ज्मि भवदाज्ञानुष्ठानेन शुद्धो भवामि । यद्वा यैषा तेऽग्ने वर्धिका समिदस्ति, तया चायं वर्धते आप्यायते च वयं तं वाजं ससृवांसं वाजजितमग्निविद्यावृद्धयै वर्धिषीमहि आप्यासिषीमहि । यतोऽयं शिल्पविद्यासिद्धयै विमानादिभिर्यानैर्वाजान् सस्रुषो वाजजितोऽस्मान् विजयेन वर्धयति तमहं संमार्ज्मि । ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञापालने क्रियाकौशले च वर्धन्ते ते विद्यायां सर्वानानन्दयित्वा शत्रून् जित्वा शुद्धा भूत्वा इष्टान् सुखयन्ति नेतरेऽलसाः । चकारचतुष्टयेन ईश्वराज्ञा धर्म्या सूक्ष्मस्थूलतयाऽनेकविधास्ति । तथा क्रियाकाण्डे कर्तव्यानि कर्माण्यनेकानि सन्तीति विज्ञेयम् ।' (पृ. १७३–१७४) इति ।

किसी आधुनिक विद्वान् ने व्याख्या की है कि हे शत्रुतापक ! सम्यक् प्रदीप्त हुई विद्या अथवा कला से अच्छी तरह से सन्तुष्ट हो जाओ । हम प्रजा-जन तुम्हारे द्वारा समृद्ध हों । हे राजन् ! युद्धार्थ प्रयाण करने वाले एवं युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले तुम्हें हम पवित्र करते हैं ।

किन्तु इस अर्थ में गौणार्थकता तो स्पष्ट ही है । वह्नि और काष्ठविशेष में रूढ रहने वाले 'अग्नि' और 'समिध्' शब्दों को 'राज-विद्या-कला' के अर्थ में पर्यवसित करने में कोई प्रमाण नहीं है । प्रजाजनकर्तृक राजा का पवित्रीकरण किस प्रकार का है, यह भी नहीं बताया है । तथा पौर्वापर्यविसङ्गति भी हो रही है ।

मन्त्र में प्रसंग तो यह है कि इडाभक्षण के अनन्तर अनुयाज के लिये अध्वर्युकृत प्रस्थानार्थ अनुज्ञा के लिये यह सब किया जा रहा है ।

तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः । तथाहि—यद्यपि भौतिकाग्नेः समिधा वर्धनं सम्भवति, तथापि विद्यया समिधा वा न निरतिशयब्रह्मणो वर्धनसम्भवः । समिच्छब्दो विद्यायां शिष्टैरप्रयुक्तत्वान्न विद्यार्थः । यथा गमनशीलत्वेऽप्यजाविखरोष्ट्रमनुष्यादयो न गोपदार्थाः, किन्तु गलकम्बलादिमानेव पशुस्तदर्थः; एवमाप्यायनमपि ब्रह्मणो न सम्भवति, नित्यकूटस्थस्वाभाव्यात् । अग्ने ज्ञानस्वरूप विजयप्रद इत्यपि भाक्तोऽर्थः, सत्यां शक्तौ तदयुक्तत्वात् । शिल्पादिविद्याप्राप्तिमन्तमिति कस्य विशेषणम् ? न परमात्मनः, तस्य नित्यज्ञानवत्त्वेन शिल्पविद्याप्राप्त्यसम्भवात् । न वा भौतिकाग्नेर्विशेषणम्, तस्य जडत्वेन विद्यावत्त्वासम्भवात् । संमार्ज्मि शुद्धो भवामीत्यपि नार्थः, मृजूष्धातोः सकर्मकत्वेन कर्मसापेक्षत्वात् । चकारचतुष्टयस्येश्वराज्ञा धर्म्येत्याद्यर्थोऽपि निर्मूल एव, प्रमाणानुपस्थापनात् । (श० १।८।२।३–७) इत्यनेनापि तद्विरुद्धमेव । 'अथ समिधमभ्यादधाति' इत्यादिना त्वाहवनीयाग्नौ समिदाधानं विहितम्, न तत्र विद्याऽऽधानप्रसङ्गः । 'ताᳬ होतानुमन्त्रयते एषा ते अग्ने समित् तया वर्धस्व' इत्यत्र सामिधेनीस्थानीयया एषा ते समिदित्यनया ऋचा होता तां समिधमनुमन्त्रयते, कात्यायनेनापि तथैव सूत्रणात् । अनुमन्त्रणात्मकं कर्म होतुर्नाध्वर्योः । यदि न मन्येत तदा स्वयमेव यजमानोऽनुमन्त्रयेत् । तस्मादत्र काष्ठात्मिकायाः समिध एवानुमन्त्रणमनुयाजीयस्याग्नेः समिन्धनाय ।

अथ सम्मार्ष्टीति । अग्ने वाजजिद्वाजं त्वेत्यादिमन्त्रेण सकृत् सकृदग्नेः संमार्जनं विधाय जामितादोषप्रदर्शनेन त्रिस्त्रिः संमार्जनं वारितम् । नह्येतौ सम्मार्जनविधिनिषेधौ आत्मशुद्धौ युज्येते । स संमार्ष्टीति ब्राह्मणेन प्रकृते मन्त्रे ससृवाᳬसं वाजजितं संमार्ज्मीति पाठः समर्थ्यते । अग्र आह—सरिष्यन्निव हि तर्हि भवत्यथात्र ससृवाᳬसमिति ससृवेव ह्यत्र भवति । पुरुषकालव्यत्ययस्वातन्त्र्ये कथमेतत् स्यात् ? अथानुयाजान् यजतीत्यनुयाजनिर्वचनमुक्तम् । 'या वा एतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वैतत्ता इष्टा भवन्ति । तद्यत्तासु सर्वास्विष्टास्वथैतत्पश्चेवानुयजति तस्मादनुयाजा नाम (श० १।८।२।७) । नहि त्वद्रीत्या यज्ञे काश्चिद्देवता इज्यन्ते, मनुष्यातिरिक्तं देवतानभ्युपगमात् । तस्मादवैदिक एव त्वदीयवायुशुद्धयर्थो होमः, धूपवर्तिकादिप्रयोगवत् । यानादिनिर्माणचर्चा प्रकृतमन्त्रेऽज्ञजनव्यामोहार्थमेव ।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे अग्ने ! परमात्मन्, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात् । एषा साक्षिभास्यत्वेन प्रत्यक्षा ते तव समिद्धावाग्निदीपोपासना, तया वर्धस्व भक्तहृदयेऽभिव्यक्तं स्वीयं रूपं परमसौन्दर्यमाधुर्याद्यनन्तगुणगणशालितयाविर्भावय । आप्यायस्व अचिन्त्यानन्तैश्वर्यवत्त्वेन

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की अपने ढंग से व्याख्या करके यह बताया है कि जो मनुष्य, परमेश्वर की आज्ञा का पालन करने में तथा क्रियाकौशल में निष्णात रहते हैं, वे सबको आनन्दित करके और शत्रुओं को जीतकर शुद्ध होकर अपने मित्रों को सुखी बनाते हैं । उनसे भिन्न आलसी लोग वैसा नहीं कर पाते । ईश्वर की आज्ञा धर्म्य है । वह स्थूल-सूक्ष्म भेद से अनेक प्रकार की होती है । तथा क्रियाकाण्ड में भी कर्तव्य कर्म अनेक हुआ करते हैं ।

अनेक अनुपपत्तियों के कारण उनकी यह व्याख्या भी उचित नहीं है । उन्होंने यानादिनिर्माण की चर्चा प्रकृत मन्त्र में जो की है, वह अज्ञानियों के व्यामोहार्थ ही है ।

अध्यात्मपक्ष में प्रकृत मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार है—हे अग्ने परमात्मन् । यह जो समिद्धावाग्निदीपनरूप उपासना हम लोग करते हैं, उसके द्वारा भक्तिमान् लोगों के हृदय में अभिव्यक्त होनेवाले अपने रूप को परम सौन्दर्य माधुर्याद्यनन्तगुणगण के रूप में प्रकट करो । अचिन्त्य-अनन्त ऐश्वर्य तथा वर्चिष्णु के रूप में अपने को प्रकट करो । तुम्हारे अनुग्रह से ही ज्ञान-वैराग्यादि की वृद्धि हममें हो सकेगी । तुम्हारी उपासना करने से ही हममें सद्गुणों की

वर्धिष्णुत्वेन स्वात्मानं प्रकटय। त्वत्प्रसादाद्वयं च वर्धिषीमहि ज्ञानवैराग्याद्यभिवृद्धिं प्राप्नुयाम। आप्यासिषीमहि त्वदुपासनानुगुणान् गुणान् वृद्धान् करवाम। हे अग्ने! त्वां संमार्ज्मि किंभूतं त्वां वाजं ससृवांसम् अभीष्टमन्त्रमुद्दिश्य गतवन्तमभीष्टं सम्पादितवन्तं कृतकार्यं त्वामभिषिञ्चामि। शेषं पूर्ववत्। श्रुतिसूत्रसम्मतं सिद्धान्तानुसारि व्याख्यानं तु पूर्वमुक्तमेव॥ १४॥

अ॒ग्नी॒षोम॑यो॒रुज्जि॑ति॒मनूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। अ॒ग्नी॒षोमौ॒ तमप॑नुदतां॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापो॑हामि। इ॒न्द्रा॒ग्न्योरुज्जि॑ति॒मनूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। इ॒न्द्रा॒ग्नी तमप॑नुदतां॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्रस॒वेनापो॑हामि॒॥ १५॥

'एत्य जुहूपभृतौ व्यूहत्यग्नीषोमयोरिति जुहूं प्राचीं दक्षिणेनोत्तानेनाग्नीषोमौ तमितीतरेणेतरां नीचा प्रतीचीम्' (का० श्रौ० ३।५।१७), 'यथादेवतमन्यत्' (का० श्रौ० ३।५।१८)। यजमानो वेदेः पश्चादागत्य जुहूपभृतौ प्रेरयति। अग्नीषोमयोरिति मन्त्रेण दक्षिणहस्तेनोत्तानेन जुहूं प्रस्तरात् प्राचीं प्रेरयेत्। अग्नीषोमाविति मन्त्रेण सव्येन पाणिना अधोमुखेन प्राङ्मुखीमेवोपभृतं प्रतीचीं प्रेरयेत्। विकृतौ 'शूर्पेण जुहोति' (श० २।५।२।२३) इत्यादौ जुहूस्थानापन्नानां शूर्पादीनामपि व्यूहनं भवति। जुहूपभृतोः परस्परविपरीतत्वेनापनोदनं व्यूहनम्। अग्नीषोमयोर्द्वितीयपुरोडाशदेवतयोरुज्जितिमनु अविघ्नेन हविःस्वीकाररूपमुत्कृष्टं जपमनुसृत्याहं यजमान उज्जेषमुत्कृष्टं प्रधानदेवतयोरुज्जितिमुत्कृष्टजयमनु उज्जेषं उत्कृष्टं जयं प्राप्तवानस्मि।

वृद्धि हो पायेगी। हे अग्ने! अभीष्ट का सम्पादन करने के कारण तुम कृतकार्य हो। हम तुम्हारा अभिषिंचन करते हैं। श्रुति-सूत्र सम्मत सिद्धान्त का अनुसरण करने वाली व्याख्या पहिले ही की जा चुकी है॥ १४॥

मन्त्रार्थ—अग्नीषोमरूप पुरोडाश-देवताओं के हविस्वीकाररूप जय के समान मैंने भी उत्कृष्ट जय प्राप्त किया है। पुरोडाश की आज्ञा से जुहूरूपधारी यजमान को मैं उत्साहित करता हूँ। जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं, उन आलस्यादि शत्रुओं को अग्नीषोम दूर कर दे। उपभृत्रूप शत्रु को पुरोडाश देवता की आज्ञा से मैं दूर करता हूँ। इन्द्राग्नीरूप पुरोडाश-देवताओं के हविस्वीकाररूप जय के समान मैंने भी उत्कृष्ट जय प्राप्त किया है। पुरोडाशरूप अन्न की आज्ञा से मैं उपभृत्धारी यजमान को प्रोत्साहित करता हूँ। जो हमारा द्वेष करता है और हम जिसका द्वेष करते हैं, उन आलस्यादि शत्रुओं को इन्द्राग्नी दूर कर दे। जुहूरूप शत्रु को पुरोडाश देवता की आज्ञा से मैं दूर करता हूँ। 'अग्नीषोमयोः' मन्त्र से जुहू और उपभृत् का व्यूहन करे। (व्यूहन का अर्थ है—परस्पर विरुद्ध ढकेलना, अर्थात् यजमान उपभृत् से पूर्व की ओर जुहू को ढकेल दे और जुहू से उपभृत् को पश्चिम की ओर ढकेल दे)॥ १५॥

भाष्यसार—यजमान वेदी के पश्चिम भाग में आकर 'अग्नीषोमयोः' मन्त्र से जुहू और उपभृत् को प्रेरित करता है। उत्तान किये हुए दक्षिण हाथ से जुहू को प्रस्तर से पूर्व की ओर प्रेरित करे और 'अग्नीषोमौ' मन्त्र से अधोमुख (अनुत्तान) वाम हाथ से पूर्व की ओर मुखवाली उपभृत् को प्रतीची की ओर प्रेरित करे।

वाजस्यान्नस्य पुरोडाशादेः प्रसवेनाभ्यनुज्ञया मां प्रोहामि। मां यजमानं जुहूपधारिणं प्रोत्साहयामि। यद्यप्यूहतिर्वितर्कार्थः, तथाप्युपसर्गवशादत्रोत्साहार्थः। उपभृतं प्रतीचीं प्रेरयति यः शत्रुरसुरादिरस्मान् द्वेष्टि अस्मदीययज्ञविनाशाय द्वेषं करोति यं चालस्यादिरूपं यज्ञविरोधिनं शत्रुं वयं द्विष्मो विनाशायोद्योगं कुर्मः, तमुभयविधशत्रुम् अग्नीषोमौ देवौ अपनुदतां निराकुरुताम्। किञ्च, अहमप्येनं द्विविधं शत्रुं वाजस्य प्रसवेन पुरोडाशदेवताया अभ्यनुज्ञया प्रोहामि निराकरोमि। उत्तरौ मन्त्रौ दर्शदेवताविषयौ समानार्थौ। इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनु उज्जेषं वाजस्य प्रसवेन मां प्रोहामि प्रोत्साहयामि योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमिन्द्राग्नी अपनुदताम्। अहमपि वाजस्य प्रसवेन तमपोहामि निराकरोमि। ऐन्द्राग्नपुरोडाशानुष्ठाने तावेतौ स्रुग्व्यूहनमन्त्रौ।

आधुनिकस्तु—'अग्निशब्देन शत्रुसन्तापकरं सेनापतिं सोमशब्देन चन्द्रवदाह्लादकं राजानं विवक्षित्वा तयोरुज्जितिमुत्तमविजयमनु अहमपि विजयलाभं कुर्याम्। मां वाजस्य प्रसवेन युद्धोपयोगिनैश्वर्येण प्रोहामि अग्रेसरं करोमि। अग्नीषोमौ पूर्वोक्तौ सेनापतिराजानौ तमपनुदतां हत्वा दूरमपसारयताम्। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। अहमपि वाजस्य युद्धस्य प्रसवेनैश्वर्येण तमपोहामि हत्वा दूरमपसारयामि। इन्द्राग्निपदाभ्यां च वायुविद्युत्तुल्यौ अस्त्रतज्ज्ञौ विवक्षित्वा तयोरुज्जयमनु अहं राजा वाजस्य प्रसवेन उत्कृष्टविजयं प्राप्नुयाम्। वाजस्य प्रसवेन मां प्रोहामि, इन्द्राग्नी तमपनुदताम्। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः, तं युद्धयोग्येनास्त्रेण दूरमपगमयामि' इति, तन्न सङ्गतम्, अर्थविषये स्वातन्त्र्याचरणात्। यद्यप्ययं पूर्वाचार्यनिर्दिष्टमार्गमनुसृत्यैव पदार्थांश्चिनोति, तथापि सेनापतिराजानौ अस्त्रतज्ज्ञौ च स्वाभ्यूहितौ गौणार्थौ गृह्णाति। 'गौणमुख्यार्थयोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायेन गौणार्थस्त्याज्य एव। 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति शाबरभाष्यवचनेनापि स्वार्थपर्यवसायिनि वाक्ये परो गौणः शब्दार्थो न युक्तः। किञ्च, अग्निशब्देन सेनापत्यर्थकरणेनास्त्रतज्ज्ञयोरपि तत्रैवान्तर्भावः। पुनरिन्द्राग्निशब्देनास्त्रतज्ज्ञयोर्ग्रहणमप्यकिञ्चित्करमेव। किञ्च, व्यक्तिद्वेषिणं व्यक्तिगतद्वेषास्पदं सेनापतिराजानौ कथं निराकरिष्यतः? निष्प्रमाणकश्चायमर्थः, व्याकरणकोशाद्यनुसारेणानेकानभिमतार्थानामपि सम्भवात्। सायणोव्वटमहीधरादिसम्मतस्त्वर्थः कात्यायनादिश्रौतसूत्रप्रमाणितः। पौर्णमाससम्बन्धिनावग्नीषोमौ देवौ। दर्शसम्बन्धिनाविन्द्राग्नी देवौ। तत एव तत्र तत्र विनियुक्तयोर्मन्त्रयोर्वर्णितौ। अत्र प्रसङ्गे वाजशब्दोऽपि न युद्धवाची, किन्त्वन्नवाच्येव। यज्ञप्रसङ्गे द्रव्यदेवतयोरेव प्रसक्तत्वादप्रसक्तत्वाच्चेतरस्य।

श्रीदयानन्दस्तु—'ईश्वर उपदिशति सर्वैर्मनुष्यैरिह विद्यायुक्तिभ्यामग्निजलयोर्मेलनेन कलाकौशलाद् वेगादिगुणानां प्रकाशेन वायुविद्युतोर्विद्यया सर्वदारिद्र्यनाशेन शत्रूणां विजयेन सुशिक्षया मनुष्याणां मूढत्वं दूरीकृत्य विद्वत्त्वं प्रापय्य विविधानि सुखानि प्राप्तव्यानि प्रापयितव्यानि च। एवं सम्यक् पदार्थविद्या जगति प्रकाशनीया' (पृ. १७७) इति। तत्तु पाश्चात्यप्रभावजनितं वेदार्थभ्रान्तेर्विलसितमेव, श्रुतिसूत्रादिभिर्मन्त्रस्य दर्शपूर्णमासादिशेषत्वतदङ्गदेवतास्मारकत्वोपपत्तेः। यत्तु 'प्रसिद्धाग्निचन्द्रलोकयोर्योत्कृष्टोज्जितिस्तामनूत्कृष्टं जयं कुर्यामिति' (पृ. १७६), तदपि न किञ्चित्, प्रसिद्धाग्निचन्द्रलोकयोः कोज्जितिः? तामनु कीदृशो विजयः प्रेप्सित इत्यनिरूपणात्। यदपि च 'वाजस्य युद्धस्य मां विजेतारं प्रसवेनोत्पादनेन प्रकृष्टैश्वर्येण सह वा प्रोहामि

'शूर्पेण जुहोति' इत्यादि विकृति स्थल में जुहूस्थानापन्न शूर्प आदि का भी व्यूहन होता है। जुहू और उपभृत् दोनों का परस्पर विपरीत अपनोदन करने को 'व्यूहन' कहते हैं।

किसी आधुनिक ने यहां पर 'अग्नि' शब्द से सेनापति और 'सोम' शब्द से राजा को बताया है। उन दोनों के उत्तम विजय के बाद मैं भी विजय प्राप्त करूँगा इत्यादि अर्थ किया है। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि वहां मन्त्रार्थ

प्रकृष्टतया विविधशुद्धतर्केण योजयामि' (पृ. १७६) इति, तदपि न सम्यक्, मांपदस्य विजेतारमित्यर्थकरणे मानाभावात्, उत्पादनेन प्रकृष्टैश्वर्येण वा विविधशुद्धतर्केणेत्येतेषां पदानां कथं सम्बन्ध इत्यनिरूपणात्। 'अग्नीषोमौ विद्यया सम्यक्प्रयोजितौ' (पृ. १७६), इति पदप्रघट्टकः कुतः समानीतः? कथं वा तौ तथाभूतावपि रोगं शत्रुं वा दूरमपनोत्स्यतः। एवं प्रसवेन प्रकृष्टतया युद्धविद्याप्रेरणेनेत्यपि (पृ. १७६) निर्मूलम्, ऊहामि विविधतर्केण क्षिपामीत्यपि धात्वर्थविरुद्धमेव। 'इन्द्रो वायुरग्निर्विद्युत् तयोरुज्जितिर्विद्यया सम्यगुत्कर्षः। अनुगतमुत्कर्षं प्राप्नुयामिति' (पृ. १७६) तदपि न सङ्गतम्, ज्ञानरूपाया विद्याया अज्ञातज्ञापकत्वेऽप्यकृतकर्तृत्वानुपपत्तेः। अत एव वाय्वग्न्योरुज्जित्या कथं व्यक्त्युत्कर्षः? वाजस्य प्रेरणाप्रेरणवेगप्राप्तेः। मा मां वायुविद्युद्विद्याप्राप्तप्रसवेन ऐश्वर्यार्थिमुत्पादितेन प्रोहामि विविधैस्तर्कैः सुखानि प्राप्नोमि' (पृ० १७७) इत्येतत्सव वेदाक्षरेषु बलात् स्वाभ्यूहाध्यारोपणमेव, शक्त्या लक्षणया वा तादृशार्थानवबोधात्। नहि विविधैस्तर्कैः सुखानि लभ्यन्ते। न वा वाजस्येति पदस्य प्रेरणाप्रेरणवेगप्राप्तिरर्थो भवति। एवं 'सम्यक्साधितौ इन्द्राग्नी अविद्वांसं द्वेष्टारमपनुदताम्' (पृ० १७७) इत्यपि न किञ्चित्, साम्प्रतं त्वदभिमतवायुविद्युद्विद्यावतामपि परस्परसंहारे सङ्घर्षदर्शनात्, अण्वस्त्रादिमतामपि सुखलेशादर्शनाच्च।

हिन्दीभाषायां तु मूलभाष्याद्विरुद्ध एवार्थो व्यञ्जितः। यथा—'मैं प्रसिद्ध भौतिक अग्नि और चन्द्रलोक के 'उज्जितिम्' दुःखके सहन योग्य शत्रुओं को यथाक्रम से जीतूँ और वाजस्य युद्ध के प्रसवेन उत्पादन से विजय करने वाले अपने आपको प्रोहामि अच्छी प्रकार तर्कों से युक्त करूँ।......मैं भी दुष्ट शत्रु को वाजस्य यानवेगादिगुणों से युक्त सेना वाले संग्राम की प्रसवेन सम्यक् प्रेरणा से दूर करता हूँ। मैं वाजस्य ज्ञान की प्रेरणा के द्वारा वेग की प्राप्ति के प्रसवेन ऐश्वर्य के अर्थ उत्पादन से वायु और बिजली की विद्या से जानने वाले अपने आपको नित्य अच्छी प्रकार तर्कों से सुखों को प्राप्त कराता हूँ।' श्रुतिबलात्कारमूलोऽयमर्थोऽक्षरासम्बद्धोऽनुपपन्नो विशृङ्खलश्चेत्यलं परच्छिद्रान्वेषणेन।

(श० १।८।३।१-६) इति शतपथवचनैरपि त्वदुक्तोऽर्थो न सङ्गतः। तथाहि—'स वै स्रुचौ व्यूहति। अग्नीषोमयोरुज्जितिमनुज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीति जुहूं प्राचीं दक्षिणेन पाणिनाग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। वाजस्यैवं प्रसवेनापोहामीत्युपभृतं प्रतीचीꣳसव्येन पाणिना यदि स्वयं यजमानः।' (श० १।८।३।१)। तत्रोत्तानेन दक्षिणहस्तेन जुहूं प्राचीं प्रथममन्त्रमुच्चारयन्नपनुदेत्, वामहस्तेन न्यग्भूतेनोपभृतं प्रतीचीं द्वितीयमन्त्रमुच्चारयन्नपनुदेत्। एवं तृतीयचतुर्थमन्त्राभ्यामैन्द्राग्नयागे जुहूपभृतोः पूर्ववद् व्यूहनं कुर्यात्।। 'एत्य जुहूपभृतौ व्यूहति...'(का० श्रौ० ३।५।१७)। जुहूपभृतोर्व्यूहनं नाम परस्परविपरीतत्वेनोपादानम्। अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीति जुहूं प्राचीं दक्षिणेन पाणिना व्यूहति। अग्नीषोमौ तमपनुदतामित्युपभृतं प्रतीचीं सव्येन पाणिना यदि यजमानो व्यूहति स्वयं व्यूहेत्। 'यद्यु अध्वर्युः। अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहाम्यग्नीषोमौ तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीति पौर्णमास्यामग्नीषोमीयꣳहि पौर्णमासꣳहविर्भवति' (श० १।८।३।२)। एतावता दर्शपूर्णमासयागे पूर्णमास्यामग्नीषोमीयमग्नीषोमदेवताकं हविर्भवति। तेन तत्राग्नीषोमदेवतयोर्ग्रहणं विद्यते, अमावास्यायां त्विन्द्राग्निदेवतयोः सम्बन्धि हविर्भवति।

करने में बहुत स्वतन्त्रता बरती है। जहाँ मुख्यार्थ का ग्रहण करना उचित है, वहाँ गौण अर्थ का ग्रहण किया है। 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस नियम का पालन नहीं किया गया है। तथा 'न विधौ परः शब्दार्थः' इस भाष्य वचनका भी ध्यान नहीं रखा गया है।

तेन तयोरेवोल्लेखः। तदप्युच्यते—'अथामावास्यामिन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीति यदि स्वयं यजमानः' (श० १।८।३।३)। 'यद्यु अध्वर्युः। इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जयत्वयं यजमानो वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीत्यमावास्यामैन्द्राग्नꣳह्यामावास्यꣳहविर्भवत्येवं यथादेवतं व्यूहति तद्यदेवं व्यूहति' (श० १।८।३।४)। अत्र यथादैवतमिति प्रदानदेवताभिप्रायेणोक्तिः, तेन प्रयाजाद्यङ्गदेवतानुसारेण व्यूहनं भवति। देवतानभ्युपगमादेव दयानन्दादय इतस्ततो वेदार्थे भ्राम्यन्ति। अतोऽत्र नाग्निचन्द्रलोकयोर्न वा वायुविद्युतोर्ग्रहणमिति शतपथवचनेन मन्यताम्।

'यजमान एव जुहूमनु। योऽस्मा अरातीयति स उपभृतमनु प्राञ्चमेवैतद्यजमानमुदूहत्यपाञ्चं तमपोहति योऽस्मा अरातीयत्यत्रैव जुहूमन्वाद्य उपभृतमनु प्राञ्चमेवैतदत्तारमुदूहत्यपाञ्चमाद्यमपोहति' (श० १।८।३।५)। जुह्वाः क्षत्रत्वेनात्तृत्वमुपभृतो वैश्यत्वेनाद्यत्वमुक्तं पूर्वम्। यश्च यजमानं प्रत्यरातिरिवाचरति स उपभृतमन्वाद्यो भूत्वात्तारं जुहूमनु यजमानं प्राञ्चं प्रति भोग्यो भवति। द्विविधं शत्रुमुपभृद्रूपं वाजस्य प्रसवेनाभ्यनुज्ञयापोहति निराकरोति। 'तद्वा एतत् समान एव कर्मन् व्याक्रियते। तस्मादु समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायेते। इदꣳहि चतुर्थे पुरुषे तृतीये सङ्गच्छामह इति विदेवं दीव्यमाना जात्या आसत एतस्मादु तत्' (श० १।८।३।६)। यस्मादेतत्समानेऽभिन्ने व्यूहनकर्मणि व्याक्रियते विलक्षणमाक्रियतेऽभिव्यज्यते। यजमान एव जुहूमनु प्राञ्चमनुगच्छति योऽस्मै यजमानायारातीयति शत्रुवदाचरति स उपभृतमनु प्रतीचीमुपगच्छति। एतेन यजमानं प्राञ्चमुदूहति ऊर्ध्वमुन्नयति। तं शत्रुमपाञ्चमपोहति निराकरोति। जुहूमनुयजमानमत्ता भवति, उपभृतमनु शत्रुराद्यो भवति। यजमानमत्तारं प्राञ्चमुदूहति। आद्यमपाञ्चमपोहति। जुहूमनु यजमानस्य भोक्तृत्वमुपभृतमनु शत्रोर्भोग्यत्वं सम्पद्यते। तस्माद्यज्ञानुसारेण भूतेष्वपि समानादभिन्नात् पुरुषाद् अत्ता च आद्यश्च भर्ता च भार्या च जायेते। यथा समाने कर्मणि जुहूपभृतौ तथैव। इदं हि प्रत्यक्षं विलक्षणमधुनापि जात्याः समानजातीया विदेवम् अन्योन्यं भोक्तारो भोग्यैः सह भोग्या भोक्तृभिः सह दीव्यमाना आसते। चतुर्थे पुरुषे तृतीये वा संगच्छामहे। वाशब्दोऽत्र लुप्तो निर्दिष्टः, काण्वानां तृतीये चतुर्थे वेति श्रवणात्। चतुर्थे सङ्गच्छामह इति सौराष्ट्राणाम्, तृतीये सङ्गच्छामह इति दाक्षिणात्यानां मातुलदुहितृषु पितृष्वसृपुत्रेषु व्यवहारः सङ्गच्छते। ते च मूलपुरुषात्तृतीया भवन्ति। एतद् एतस्मात् स्रुग्व्यूहनादेव कारणाद् भवन्तीति शेषः। वस्तुतस्तु नेयं श्रुतिर्विवहनविषया, किन्त्वियं सन्तानावध्यविभागप्रशंसा। यथा जुहूपभृतौ चिरकालं सह स्थिते, तथा तृतीयचतुर्थसन्तानावधि सहस्थितिरिति। ये त्वनया श्रुत्या मनुशातातपादिस्मृतिप्रतिपादितस्य मातुलकन्यामातुलगोत्रकन्यापरिणयननिषेधस्य बाधमिच्छन्ति, तत्तु तेषां न सङ्गतम्, प्रकृतश्रुतेर्लौकिकार्थवादघटितत्वेनार्थवादकल्पितश्रुत्या प्रत्यक्षस्मृतिबाधस्यासङ्गतत्वात्। अलौकिकार्थवादकल्पितश्रुत्यैव स्मृतिबाधस्य पूर्वतन्त्रे सिद्धान्तितत्वात्।

श्रीदयानन्दजी ने जो व्याख्या की है, वह पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित होकर की है। अतः वेदार्थ करने में अपनी भ्रान्ति का ही प्रदर्शन उन्होंने किया है। जितना भी अर्थ किया है, वह सभी शतपथ और श्रौतसूत्र के विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं है।

अध्यात्मपक्ष में—उपासक कहता है कि मैंने वियोग-संयोग में उत्कृष्ट जय प्राप्त कर लिया है। उन्हीं से रागनिष्पत्ति के होने से साधक की निष्कल्मषता, दिव्यानुरागवत्ता, रसवत्ता उपपन्न हो जाती है। प्रेमलक्षण अन्न के प्रसव से अर्थात् अभ्यनुज्ञा से मैं तुम्हें पूर्व की ओर ले चलता हूँ। जो भी जन्मान्तरीय दुष्कृत संस्कारादि शत्रु, मेरे

एवं शतपथप्रसङ्गपर्यालोचनयापि मन्त्रार्थः स्पष्टो भवति। अग्नीषोमयोर्द्वितीयपुरोडाशदेवतयोरुज्जितिमन्वविघ्नेन हविःस्वीकाररूपमुत्कृष्टं जयमनुसृत्योज्जेषं यजमानोऽहमुत्कृष्टं जयं प्राप्तवानस्मि। वाजस्य पुरोडाशादिलक्षणस्यान्नस्य प्रसवेनाभ्यनुज्ञया मां प्रोहामि। मां यजमानं जुहूरूपं प्रोहामि प्रोत्साहयामि। प्राञ्चमुद्वहामि ऊर्ध्वमुन्नयामीत्यर्थः। वितर्कार्थस्याप्यूहतेरुपसर्गवशादुत्साहार्थतैव मन्तव्या, वितर्कार्थस्य प्रकृतेऽसङ्गतेः। यः शत्रुरसुरादिरस्मान् द्वेष्टि अस्मदीययज्ञविनाशनाय द्वेषं करोति, यं चालस्यादिरूपं शत्रुं वयं द्विष्मः, उभयविधं तं शत्रुम् अग्नीषोमौ देवौ अपनुदतां निराकुरुताम्। अहमप्येवं द्विविधं शत्रुमुपभृद्रूपं वाजस्य प्रसवेन पुरोडाशदेवताया अभ्यनुज्ञया अपोहामि निराकरोमि अपाञ्चं प्रेरयामि अधो नयामीत्यर्थः। उपसर्गवशादेवात्रापि निराकरणमर्थः। तथैव तृतीयचतुर्थयोरप्यर्थो ज्ञातव्यः।

अध्यात्मपक्षे तु—उपासकोऽभिप्रैति यदग्नीषोमयोर्विप्रलम्भसंभोगयोर्वियोगसंयोगयोरुज्जितिमुत्कर्षमनूज्जेषमुत्कृष्टं जयं प्राप्तवानस्मि ताभ्यामेव रसनिष्पत्त्या साधकस्य निष्कल्मषत्वदिव्यानुरागरसवत्त्वोपपत्तेः। वाजस्य प्रेमलक्षणस्यान्नस्य प्रसवेनाभ्यनुज्ञया मामहं प्राञ्चमुन्नयामि। यश्च जन्मान्तरीयदुष्कृतसंस्कारादिः शत्रुरस्मान् द्वेष्टि ममाभीष्टलोकोत्तरपरमैश्वरानुरागसिद्धौ बाधां करोति, यं च विषयरागादिकं वयं द्विष्मस्तमुभयविधं शत्रुमग्नीषोमौ विप्रयोगसम्प्रयोगजौ सन्तापप्रह्लादौ अपनुदतां निराकुरुताम्, सन्तापेन पापसंस्कारस्य परमेश्वररसास्वादनाह्लादेन विषयरागादेर्बाधोपपत्तेः। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमेनं वाजस्य प्रेमदेवताया अभ्यनुज्ञया अहमपोहामि अपाञ्चं नयामि। इन्द्राग्न्योः परमेश्वरपरमैश्वर्यप्रतापयोरुज्जितिमुत्कर्षाभिव्यक्तिमनूज्जेषमहमपि लोकोत्तरमुत्कर्षं प्राप्नोमि। वाजस्य तन्माहात्म्यलक्षणस्यान्नस्याभ्यनुज्ञया प्रेरणयाहं मां प्रोहामि प्रोत्साहयामि। तत्स्वरूपस्य प्रेम्णः प्राप्तौ बाधकं ताविन्द्राग्नी अपनुदतां निराकुरुताम्। अहं च वाजस्य तादृशस्य माहात्म्यं ज्ञास्याम्यनुज्ञया तं विघ्नम् अपाञ्चं नयामि निराकरोमीति। इन्द्र ऐश्वर्यप्राप्तिः, अग्निः शत्रुदाहः, तयोरुज्जितिमनूज्जेषमुत्कर्षं प्राप्तवानस्मि। ऐश्वर्यप्राप्त्या शत्रुदाहेन च राज्ञो नीतिज्ञस्य वा उत्कर्षप्राप्तिर्भवति। वाजस्य भोग्यराज्यादिलक्षणस्याभ्यनुज्ञया मामहं प्रोहामि सोत्साहं करोमि। यः षाड्गुण्यविरोधी प्रमादालस्यादिरभीष्टसिद्धौ प्रवृत्तानस्मान् बाधते, यं च वयं द्विष्मस्तं ताविन्द्राग्नी अपनुदताम्। स्वयमहं च वाजस्याभ्यनुज्ञया तमपोहामीत्येवमन्येऽर्थाः सम्भवन्ति ॥ १५ ॥

वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा सञ्जानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि ॥ १६ ॥

'जुह्वा परिधीननक्ति यथापूर्वम्, वसुभ्य इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० ३।५।२०, ३।६।१)। हे मध्यमपरिधे वसुभ्यो वसुदेवताप्रीत्यर्थं त्वा त्वां मध्यमपरिधिरूपमनज्मीति शेषः। एवमेव दक्षिणोत्तरौ परिधिमन्त्रौ

अभीष्ट—लोकोत्तर परमेश्वरानुराग की प्राप्ति होने में बाधा डालता है और जिस विषयराग-आदि को हम नहीं चाहते, उन उभयविध शत्रुओं का तथा वियोग—संयोग से उत्पन्न होने वाले सन्ताप और आनन्द दोनों का निराकरण कर दो। इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना करने का अर्थ भी मन्त्र से उपपन्न होता है ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे मध्यम परिधे! वसु देवताओं के सन्तोषार्थ, हे दक्षिण परिधे! रुद्र देवताओं के सन्तोषार्थ, हे उत्तर परिधे! आदित्य देवताओं के सन्तोषार्थ मैं तुम्हारा अञ्जन करता हूँ। हे द्यावापृथिवी देवताओं! मेरे द्वारा ग्रहण

व्याख्यातव्यौ । परिधित्रयाञ्जनेन सवनत्रयदेवताः प्रीयन्ते । 'संजानाथामिति प्रस्तरादानम्' (का० श्रौ० ३।६।४)। हे द्यावापृथिवी द्युलोकभूर्लोकदेव्यौ युवां संजानाथां गृह्यमाणं प्रस्तरं सम्यगवगच्छतम् । हे प्रस्तर ! मित्रावरुणौ प्राणापानवायू वृष्ट्या जलवर्षणेन त्वा त्वामवतां रक्षताम् । 'अयं वै वर्षस्येष्टे योऽयं पवते' (श० १।८।३।१२) इत्युक्तत्वाद् वर्षाधीशो वायुः । स चाध्यात्मगतः प्राणोदानरूपो मित्रावरुणशब्दाभ्यामुच्यते । स च प्रस्तररूपं यजमानं वृष्ट्या अवतु, 'यजमानो वै प्रस्तरः' (श० १।८।१।४४) इति श्रुतेः । विधृती स्थाने कृत्वा अनक्त्येनं व्यन्तु वय इति । 'अग्रं जुह्वामुपभृति मध्यं मूलमितरस्याम्' (का० श्रौ० ३।६।५-६) । प्रस्तरस्याधारभूते विधृती आहवनीये प्रक्षिप्य प्रस्तरं स्रुक्षु मन्त्रावृत्त्या अञ्ज्यात् । व्यन्तु वय इत्युपभृदाद्यभावेऽपि प्रस्तरः स्थाल्याज्येनाज्यत एव संस्कारत्वात् । अध्वर्युः प्रस्तरस्याग्रं जुह्वामक्त्वा तस्य मूलं ध्रुवाया अञ्ज्यात् । मन्त्रार्थस्तु—वयः पक्षिणः, व्यन्तु गच्छन्तु । वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु । पक्षिरूपापन्नानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि गच्छन्तु, प्रस्तरमादायेति शेषः । कीदृशा वयः ? अक्तं रिहाणा घृतलिप्तं प्रस्तरमास्वादयन्तः । रिहाणा इत्यस्य स्थाने लिहाना इति रलयोरभेदात् । 'मरुतामिति नीचैर्हृत्वा तृणमादायानुप्रहरति' (का० श्रौ० ३।६।७)। एकं तृणं प्रस्तरात् पृथक्कृत्य प्रस्तरं नीचैरौन्नत्यं यथा न स्यात्तथा हृत्वाऽग्नौ प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः । मरुतामिति प्रस्तरदेवत्या बृहती कपिदृष्टा । चतुर्थः पाद आग्नेयः ।

आधुनिकस्तु—'हे राजन् त्वा त्वां वसुभ्यः प्रजाभ्यो ब्राह्मणेभ्यो रुद्रेभ्यः शत्रूणां रोदयितृभ्यः क्षत्रियेभ्य आदित्येभ्य आदानप्रतिदानकर्तृभ्यो वैश्येभ्यः प्रजापतिमभिषिञ्चामि । द्युलोकपृथिवीलोकौ त्वां संजानाथां स्वामित्वेनावगच्छताम् । तत्तल्लोकगता जनास्तव स्वामित्वमङ्गीकुर्वन्तु । मित्रावरुणौ सूर्यमेघौ त्वदीयं राष्ट्रं वृष्ट्याऽवताम् । रिहाणाः स्तुतिकर्तारो विद्वांसो वयः पक्षिण इव अक्तं बलशालिनं त्वां व्यन्तु आगच्छन्तु । मरुतां वायुवेगेन गच्छन्तीः पृषतीर्मेघमाला इव सेना गच्छ प्राप्तो भव । वशा वशीभूता रसग्राहिणी भूमिरिवोत्तमं राज्यं प्राप्नुहि । ततो वोऽस्मभ्यं वृष्टिं सुखवृष्टिमावह । हे अग्ने ! त्वमस्मद्दर्शनशक्तिं रक्ष अस्मद्विदुषो रक्षेति ।

दयानन्दस्तु—'वयं वसुभ्योऽग्न्यादिभ्यः, रुद्रेभ्य एकादशभ्यः, आदित्येभ्यो द्वादशमासेभ्यः, त्वा तं यज्ञं क्रियासमूहं नित्यं प्रोहामस्तर्कैर्विद्मः । यज्ञेनेमे द्यावापृथिवी संजानाथां जानीतः । व्यत्ययेन लडर्थे लोट् । मित्रावरुणौ प्राणोदानौ वृष्ट्या शुद्धजलवर्षणेन त्वा तमिमं संसारं द्यावापृथिवीस्थमवतामवतः । यथा वयः पक्षिण इव गायत्र्यादीनि छन्दांसि, अक्तं व्यक्तं प्रकटं वस्तु सुखं वा स्थानं व्यन्तु गच्छन्ति । सर्वत्र लडर्थे

किये गये इस प्रस्तर का तुम ज्ञान प्राप्त कर लो । हे प्रस्तर ! मित्रावरुण देव जलवृष्टि से तुम्हारा संरक्षण करें । घृत से लिप्त हुए प्रस्तर को चाटने वाले, पक्षियों का रूप धारण करने वाले गायत्री आदि छन्द, 'प्रस्तर' को ले जाँय । हे प्रस्तर ! तू मरुत् नामक देवता के चित्र-विचित्र वर्णों वाले जो वाहन हैं, उनके समीप जा, अर्थात् उन्हें लेकर अन्तरिक्ष में जा । अल्प शरीर धारण करने वाली और स्वाधीन रहने वाली गाय को लेकर तू द्युलोक में जा । तदनन्तर वहाँ से हमारे लिये वृष्टि करना । हे अग्ने ! तू नेत्रों को रक्षा करने वाला है, इस लिये हमारे नेत्रों की रक्षा कर । पहले की तरह 'वसुभ्यः' इत्यादि प्रत्येक मन्त्र से जुहू से परिधि को घृत लगावे । 'संजानाथाम्' इस मन्त्र से प्रस्तर का ग्रहण करे । 'व्यन्तु वयः' इस मन्त्र से जुहू में प्रस्तर का अग्र, उपभृत् में मध्य, ध्रुवा में मूल को घृत से भिगो दे । 'मरुताम्' इस मन्त्र से प्रस्तर में एक दर्भ निचले भाग से निकाल कर अग्नि में डाल दे । 'चक्षुष्पा' इस मन्त्र से 'आत्मा' को स्पर्श करे ॥ १६ ॥

लोट्। तथा रिहाणा अर्चका वयं छन्दोभिस्तं यज्ञं नित्यमनुतिष्ठामः। यज्ञे कृताहुतिर्वशा कामिताहुतिः पृश्निरन्तरिक्षस्था भूत्वा भावयित्वा मरुतां संगेन दिवं सूर्यप्रकाशं गच्छ गच्छति। सा ततो नोऽस्माकं वृष्टिमावह समन्ताद् वर्षयति। तज्जलं पृषतीर्नाडीर्नदीर्वा गच्छ गच्छति। यतोऽयमग्निश्चक्षुष्या चक्षुर्दर्शनं रक्षति सः, अस्ति। अतो मे चक्षुः पाहि पाति। चक्षुर्बाह्यमभ्यन्तरं विज्ञानं तत्साधनं वा। मनुष्यैर्याहुतिः क्रियते, सा वायोः सङ्गेन मेघमण्डलं गत्वा सूर्याकर्षितेज इमं शुद्धं भावयित्वा पुनस्तस्मात् पृथिवीमागत्यौषधीः पुष्णाति। सा वेदमन्त्रैरेव कर्तव्या, यतस्तस्याः फलज्ञाने नित्यं श्रद्धोत्पद्यते। अयमग्निः सूर्यरूपो भूत्वा सर्वं प्रकाशयत्यतो दृष्टिव्यापारस्य पालनं जायते। एतेभ्यो वस्वादिभ्यो विद्योपकारेण दुष्टानां गुणानां प्राणिनां चापोहनं निवारणं च नित्यं कर्तव्यम्। इदमेव सर्वेषां पूजनं सत्करणं च' (पृ० १७९,–१८०) इति।

तदेतत्सर्वमज्ञानविजृम्भितम्, मन्त्राणां यथाश्रुतार्थाज्ञानात्। व्यत्ययस्तु यथाश्रुतार्थासम्भव एव युज्यते। 'आहुतिः सूर्याकर्षणेन मेघमण्डलं गच्छति' इदं तु बहुधाम्रेडितमपि निःसारमेव, 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥' (म० ३।७६) इति मनुस्मृत्यादावपि प्रोक्तत्वात्। देवतानङ्गीकारात् स्मृतिरपि त्वत्पक्षे न सङ्गच्छते। कथं च वस्वादिभ्यो यज्ञस्य क्रियासमूहस्य वितर्कैर्ज्ञानम्? वितर्के तज्जन्ये ज्ञाने वा कथमष्टवसूनामेकादशरुद्राणां द्वादशादित्यानामुपयोगः? यज्ञेन कथं द्यावापृथिव्योः स्वं ज्ञातृत्वम्? प्राणोदानरूपाभ्यां मित्रावरुणाभ्यां वृष्टिः केन प्रमाणेन सिद्धयति? त्वेतिपदेन द्यावापृथिवीस्थसंसारस्य कथं बोधः? यथा पक्षिणः स्वं स्वं स्थानं स्वपन्ति, तथा वयं छन्दोभिरर्चन्तस्तं यज्ञमनुतिष्ठामः, कथमत्र केनांशेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिभावः? यज्ञेन तु सामाजिका वाय्वादिकमेव शोधयन्ति, नार्चयन्ति कञ्चिदिति तदुक्त्या सिद्धान्तहानिः? पूर्वं तु भूमिकायामभ्यासार्थं मन्त्रोच्चारणमुक्तम्, इह तु वेदमन्त्रैरेवाहुतिरित्युच्यते तत्परस्परं विरुद्धयते। एतन्नियमफलं च वक्तव्यम्। श्रद्धोत्पत्तिस्तु होमप्रयोजिका। होमप्रवृत्तौ तु कृतं तया। न च श्रद्धा होमसहकारिणी, तया विनापि शुद्धेः सम्भवात्। एवं वसुभ्यः प्रजाभ्यो ब्राह्मणेभ्यो रुद्रेभ्यः क्षत्रियेभ्य इत्याद्यप्यसङ्गतम्, अप्रकृतत्वात्। राजात्र सम्बोध्य इत्यपि निर्मूलम्, व्यक्तिप्रार्थनया कथं द्युलोकपृथिवीलोकस्थाः सर्वे स्वामित्वेनाङ्गीकुर्युरित्यपि चिन्त्यम्। पृषतीपदस्य सेना, वशापदस्योत्तमराज्यम् इत्यपि निष्प्रमाणमेव। कथं च राजा वृष्टिं दर्शनशक्तिं प्रापयतीत्यपि चिन्त्यम्।

सिद्धान्ते मन्त्रार्थस्तु—हे प्रस्तर! त्वं मरुतां पृषतीर्गच्छ प्राप्नुहि, वायुवाहनवद्वेगेन गच्छेत्यर्थः। अन्तरिक्षं वशा पृश्निर्भूत्वा वशा स्वाधीना पृश्निरल्पतनुर्गौर्भूत्वा दिवं गच्छ, कामधेनुवत्तृप्तिकरी भूत्वा स्वर्गं गच्छेत्यर्थः। ततः स्वर्गप्राप्तेरनन्तरं नोऽस्मदर्थं वृष्टिमावह भूलोके वृष्टिमानय। अथवा 'इयं वै वशा पृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निः' (श० १।८।३।१५) इति श्रुत्या भूमिरेव वशापृश्नि-शब्देनोच्यते। तथा पृथिवी भूत्वा दिवं गच्छ पृथिवीसम्बन्धिभागमादाय द्युलोकं तर्पयेत्यर्थः। हे प्रस्तर!

भाष्यसार—द्युलोक और भूर्लोक की देवियों! तुम दोनों ग्रहण किये हुये इस प्रस्तर को अच्छी तरह समझो। हे प्रस्तर! मित्रावरुण देवताएँ जल की वर्षा करके तुम्हारी रक्षा करें। शतपथ के अनुसार 'वायु' वर्षा का स्वामी है। वही अध्यात्मगत होने पर प्राण-अपानरूप हुआ 'मित्रावरुण' शब्द से कहा जाता है। वह प्रस्तररूप यजमान की वर्षा के द्वारा रक्षा करे। प्रस्तर की आधारभूत दोनों विधृतियों को आहवनीय में डाल दे और स्रुक् में जो घृत है, उससे प्रस्तर को अञ्जित करे।

त्वमन्तरिक्षं गत्वा तत्रस्थान् मरुतः सवाहनान् सन्तर्प्य स्वर्गं गत्वा देवांश्च सन्तर्प्य पृथिव्यां वृष्टिं कुरु। अनेनाहुतिपरिणामः सूचितः ।

'चक्षुष्पा इत्यात्मानमालभते' (का० श्रौ० ३।६।१४)। हे अग्ने ! त्वं यतश्चक्षुष्पा असि चक्षुः पातीति चक्षुष्पा। ज्वालयान्धकारं निवर्त्य चक्षुः पासि, अतो मम चक्षुः पाहि पालय। प्रस्तरप्रहरणप्रसक्तं चक्षुष उपद्रवं परिहर। 'अभ्युक्ष्य जुह्वा परिधीननक्ति यथापूर्वम्' (का० श्रौ० सू० ३।५।२०)। अध्वर्युर्वेदगृहीतैः प्रणीतोदकैर्जुहूमभ्युक्ष्य जुहूस्थेनाज्येन पश्चिमदक्षिणोत्तरपरिधीन् क्रमेणाञ्ज्यात् । इत्यादिवचनान्यपि सिद्धान्तानुसारीण्येव।

अत्रैवार्थे शतपथवचनम् —'अथ जुह्वा परिधीन् समनक्ति। यया देवेभ्योऽहौषीद् यया यज्ञꣳसमतिष्ठिपत् तयैवैतत्परिधीन् प्रीणाति। तस्माज्जुह्वा परिधीन् समनक्ति' (श० १।८ ३।७)। जुह्वा स्रुक्पात्रेण तद्गताज्येन परिधीन् समनक्ति स्नेहयति। परिधयोऽपि ह्यग्नयो देवाः । तेऽपि देवपात्रेणान्नमर्हन्ति । तथापि न समग्रमहौषीदध्वर्युः। यया देवेभ्योऽध्वर्युरहौषीत् हुतवान् यज्ञं च संस्थापितवान्; तयैव जुह्वा एतद् एतेन जुह्वाः स्नेहनेन परिधीन् प्रीणाति। तस्माज्जुह्वा परिधीन् समनक्ति। 'स समनक्ति। वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वाऽऽदित्येभ्यस्त्वेत्येते वै त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या एतेभ्यस्त्वेत्येवैतदाह' (श० १।८।३।८)। एषामेकैकेन एकैकमुपधानक्रमेण यथाक्रममनक्ति । वसुभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वामनज्मि । त्वयि पार्थिवाग्न्यात्मके तृप्ते पार्थिवा वसवस्तृप्यन्ति। वस्वर्थं त्वामनज्मीत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्। 'वसुभ्य इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० ३।६।१) । वसुभ्य इति त्रिभिर्मन्त्रैः परिधित्रयमञ्ज्यात् । अनज्मीत्यस्य त्रिष्वपि मन्त्रेष्वध्याहारः ।

'अथ परिधिमभिपद्याश्रावयति। परिधिभ्यो ह्येतदाश्रावयति यज्ञो वा आश्रावणं यज्ञेनैवैतत् प्रत्यक्षं परिधीन् प्रीणाति। तस्मात् परिधिमभिपद्याश्रावयति' (श० १।७।३।९)। यद्यपि सूक्तवाकप्रैषायैतदाश्रावयति, तद्द्वारेण च सूक्तदेवताभ्यः प्रस्तराय वा परिधीनां कथं तदाश्रावणमभिपद्यत इति भवत्याक्षेपः, तथापि तद्दैवत्वाद्यज्ञार्हाः परिधयः। तेन प्रसिद्धयज्ञोपकरणेनाश्रावणेन परार्थेनारोप्यालभ्य क्रियमाणेन तेन लेशतो यज्ञभाजः कृता भवन्तीत्युपकारमात्रलक्षणार्था तादर्थ्ये चतुर्थी। प्रत्यक्षमव्यभिचारि यज्ञरूपमाश्रावणं तेनैवप्रत्यक्षं यो यज्ञः। जुहूस्तु होमेष्वपि यज्ञेष्वपि भवतीति तन्न तथा प्रत्यक्षः जुह्वाञ्जने यज्ञः। तस्मात् परिधिमापद्य आश्रावणेन परिधिभ्यो ह्येतदाश्रावयति। आश्रावणं प्रत्यक्षं यज्ञस्तेनैवैतत् प्रत्यक्षं परिधीन् प्रीणाति। 'स आश्राव्याह—इषिता दैव्या होतार इति दैव्या वा एते होतारो यत्परिधयोऽग्नयो हीष्टा दैव्या होतार इत्येवैतदाह। यदा हेषित दैव्या होतार इति भद्रवाच्यायेति स्वयं वा एतस्मै युक्ता भवन्ति यत् साधु वदेयुर्यत्साधु कुर्युस्तस्मादाह भद्रवाच्यायेति। 'प्रोषितो मानुषः सूक्तवाकायेति। तदिमं मानुषꣳहोतारꣳ सूक्तवाकाय प्रसौति' (श० १।८।३।१०)। स आश्राव्याहेति—दैव्या वा एते होतारो यत्परिधय इति प्रतिज्ञा। अग्नयो हीति हेतुवचनम्। इष्टा इति इषितव्या दैव्या होतार इति भद्रवाच्यायेति। स्वयं वा एतस्मै देवा युक्ता भवन्ति, यत्साधु वदेयुर्यत्साधु कुर्युस्तस्मादाह भद्रवाच्यायेति । प्रोषितो मानुषः सूक्तवाकायेति ।

किसी आधुनिक ने इस मन्त्र को राजा-प्रजापरक लगाकर उनकी रक्षा की बात बताई है। स्वामी दयानन्दजी ने मन्त्र की व्याख्या लौकिक अर्थपरक ही की है। उस कारण मन्त्र का यथाश्रुत वास्तविक अर्थ नहीं निकल पाता। यथाश्रुत अर्थ जहाँ सम्भव नहीं हो पाता, वहीं पर 'व्यत्यय' आदि की कल्पना करने का नियम है, उसका पालन

तस्मादिमं मानुषं होतारं सूक्तवाकाय प्रसौति—'प्रथमं परिधिं गृहीत्वाऽऽश्राव्याहेषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय सूक्ता ब्रूहीति' (का० श्रौ० ३।६।२)। अध्वर्युर्मध्यमं परिधिं स्पृष्ट्वा आश्राव्य इषिता इति मन्त्रेण होतारं प्रेष्येत। दर्विहोमेषु प्रैषाभावे परिधेरप्यनालम्भः।

'अथ प्रस्तरमादत्ते—यजमानो वै प्रस्तरस्तद्यत्रास्य यज्ञोऽगंस्तदेवैतद्यजमानꣳ स्वगाकरोति। देवलोकं वा अस्य यज्ञोऽगन् देवलोकमेवैतद्यजमानमपि नयति' (श० १।८।३।११)। स्वगाशब्दः स्वस्थानगामिवाच्यव्ययः। 'सञ्जानाथामिति प्रस्तरादानम्' (का० श्रौ० ३।६।४)। स यदि वृष्टिकामः स्यात्, एतेनैवाददीत सञ्जानाथां द्यावापृथिवी इति। यदा वै द्यावापृथिवी सञ्जानाते अथ वर्षति। तस्मादाह—सञ्जानाथां द्यावापृथिवी इति मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावतामिति तद्यो वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावत्वित्येवैतदाह। यं वै वर्षस्येष्टे योऽयं पवत सोऽयमेक इवैव पवते। सोऽयं पुरुषोऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च ताविमौ प्राणोदानौ। प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तद्य एव वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावत्वित्येवैतदाह—'तमेतेनैवाददीत यदा ह्येव कदा च वृष्टिः समिव तमनक्त्याहुतिमेवैतत्करोत्याहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छादिति' (श० १।८।३।१२)। अथ प्रस्तरमादत्त इति प्रस्तरादानं विधाय स यदि वृष्टिकाम इत्यनूद्य सञ्जानाथामिति मन्त्रं विधत्ते। काम्यतया मन्त्रं विधाय नित्यतयापि तमेव विदधाति - तमेतेनैवाददीतेति। द्यावापृथिवी यदा सञ्जानाते पृथिवीस्था मनुष्या यज्ञं कुर्वन्ति, द्युलोकस्थास्तेन तृप्ताः पृथिवीस्थानाप्याययितुमिच्छन्ति, तदोभयेषां सहयोगेन परस्परभावनेनैव सुखदा वृष्टिर्भवति। मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। अयं वै वर्षस्येष्टे योऽयं पवते। सोऽसौ वायुरेव पुरुषेऽन्तःप्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च प्राणोदानौ भवतस्तावेव मित्रावरुणौ। तस्माद्य एव वर्षस्येष्टे स त्वा वृष्ट्यावतु। यदा ह्येव कदा वृष्टिर्भवति समेव भवति तं प्रस्तरमनक्ति। तेनाहुवियोग्यमेवैतत्करोति। आहुतिर्भूत्वा यजमानात्मकः प्रस्तरो देवलोकं गच्छति।

'स वा अग्रं जुह्वामनक्ति मध्यमुपभृति मूलं ध्रुवायामग्रमिव हि जुहूर्मध्यमिवोपभृन्मूलमिव ध्रुवा' (श० १।८।३।१३)। 'स वा अध्वर्युः प्रस्तरस्य अग्रं जुह्वामनक्ति मध्यमुपभृति मूलं ध्रुवायामनक्ति हि यतो जुहूर् अग्रमिव भवति। सा हि उपभृतं हित्वाऽऽहवनीयं यावद्याति मध्यमिवोपभृत् सापि वेदेर्यजतिस्थानं यावदुत्क्रामति मूलमिव ध्रुवा। यतो न सा चलति। 'सोऽनक्ति व्यन्तु वयोक्तꣳरिहाणा इति वय एवैनमेतद्भूतमस्मान्मनुष्यलोकाद्देवलोकमभ्युत्पातयति तन्नीचैरिव हरति द्रयं तद्यस्मान्नीचैरिव हरेद्यजमानो वै प्रस्तरोऽस्या एवैनमेतत्प्रतिष्ठायै नोद्धन्तोहो एव वृष्टिं नियच्छति' (श० १।८।३।१४)। सोऽनक्तीति पूर्वविहितमञ्जनमनूद्य व्यन्त्वित्यादिकं मन्त्रं विधत्ते-व्यन्तु वयोक्तमिति। 'विधृती स्थाने कृत्वा अनक्त्येनं व्यन्तु वय इति' (का० श्रौ० ३।६।५)। प्रस्तरस्याधारभूते विधृती आहवनीये प्रक्षिप्य प्रस्तरं स्रुक्षु मन्त्रावृत्त्या अञ्ज्यात्। उपभृदाद्यभावेऽपि प्रस्तरः खल्वाज्येनाज्यत एव संस्कारत्वात्। 'अग्रं जुह्वामुपभृति

नहीं हो पाया है। स्वामी दयानन्द ने देवता का अङ्गीकार तो किया नहीं है, स्मृति की संगति कैसे हो सकेगी ? इस प्रकार पूर्वापर असम्बद्ध बातें कही हैं। अतः व्याख्या में कुछ भी सार प्रतीत नहीं हो रहा है।

वास्तविक सिद्धान्त पक्ष का अर्थ तो वही कहलाता है, जो शतपथब्राह्मण, श्रौतसूत्र आदि के अनुसार किया जाता है। उसी अर्थ को ऊपर भाष्य में दिया गया है।

अध्यात्मपक्ष में—वेदपुरुष कह रहा है—हे जीवात्मन्! वसु, रुद्र, आदित्य देवताओं के लिये तुम्हें वैदिक कर्म में प्रेरित करता हूँ। तुम्हारे द्वारा अनुष्ठित हुए याग आदि से सम्पूर्ण देवताओं की तृप्ति होना संभव है। हे द्यावा-

मध्यं मूलमितरस्याम्' (का० श्रौ० ३।६।६)। अध्वर्युः प्रस्तरस्याग्रं जुह्वामक्त्वा मध्यमुपभृति अक्त्वा तस्य मूलं ध्रुवायामञ्ज्यात्। मन्त्राभिप्रायं व्याचष्टे—व्यन्तु खादन्तु इमं प्रस्तरं देवा येभ्यो होष्यते। कीदृशं वयः पक्षिभूतं गतं सद् वय एवैनमेनद् भूतमस्माद् मनुष्यलोकाद् देवलोकमभ्युत्पातयति। तन्नीचैरिव हरति यजमानो वै प्रस्तरः। अस्या एवैनत् प्रतिष्ठायै नोद्धन्ति इहो एव वृष्टिं नियच्छति। 'स हरति मरुतां पृषतीर्गच्छेति देवलोकं गच्छेत्येवैतदाह। यदाह मरुतां पृषतीर्गच्छेति वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ। ततो नो वृष्टिमावहेतीयं वै वशा पृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निरियं भूत्वा दिवं गच्छेत्येवैतदाह—'ततो नो वृष्टिमावहेति वृष्ट्याद्वा ऊर्ग्रसः सुभूतं जायते तस्मादाह ततो नो वृष्टिमावहेति' (श० १।८।३।१५)। 'मरुतामिति नीचैर्हृत्वा तृणमादायानुप्रहरति' (का० श्रौ० ३।६।७)। प्रस्तरं स्रुचां दक्षिणेनापरेण च प्रादक्षिण्येन भूमिलग्नमिवाहवनीयसमीपे होमार्थमानीय प्रस्तरमध्यादेकं तृणं परिशेष्य प्रस्तरमाहवनीये होतृपठितसूक्तवाकान्ते प्रक्षिपेत्। 'हस्तेनाचरति' (का० श्रौ० ३।६।८)। अध्वर्युः प्रस्तरं हस्तेनैवाहवनीये प्रक्षिपेत्। हस्तशब्देन काष्ठादीनां व्यावृत्तिः। अत्र प्रस्तरस्याहवनीये प्रक्षेपमात्रं न होमः, अतो न ममेति त्यागो न कार्यः। यथेयं पृथिवी मूल्यमूला मूलवती स्वयं चामूला अन्नसंस्पृष्टा पृश्निः, तद्योगाच्च वशा काम्या, एवं त्वमपि दर्भमयत्वान्मूलिनान्तेनोपेतः। प्रस्तरस्यान्तोऽपि मूलवत्त्वान्मूलीत्युच्यते स्वयं चामूलः। घृतेन वा मूलेन। ततश्चेयमिव भूत्वा इत्येतमर्थमाह—वृष्ट्याद्वा ऊर्ग्रसः सुभूतं भूतानां समृद्धिर्जायत इति वृष्ट्यावाहनप्रयोजनम्। सिद्धान्तपक्षीयं व्याख्यानमेवानेन समर्थितं भवति।

'अथैकं तृणमुपगृह्णाति। यजमानो वै प्रस्तरः स यत्कृत्स्नं प्रस्तरमनुप्रहरेत् क्षिप्रे ह यजमानोऽमुं लोकमियात्तथो ह यजमानो ज्योग्जीवति यावद्वेवास्येह मानुषमायुस्तस्मा एवैतदपगृह्णाति' (श० १।८।३।१६)। यदेकं तृणमपगृह्णाति—एकं वर्जयित्वा गृह्णाति तथा सत्येव यजमानश्चिरं जीवति। एवं तावत्कृत्यानुप्रहरणकृतदोषपरिहारायापगृह्णाति। अधुना त्वन्यकृतोऽप्यायुषः क्षयोऽत्र तेनापग्रहणेन रक्ष्यते। उशब्दश्चार्थः। यावच्चेह लोकेऽस्य मानुषमायुः पूर्वकर्मोपात्तं तस्मै एव एतदपगृह्णाति। 'तन्मुहूर्तं धारयित्वाऽनुप्रहरति। तद्यत्रास्येतर आत्मागंस्तदेवास्यैतद्गमयत्यथ यन्नानुप्रहरेदन्तरियाद्ध यजमानं लोकात्तथो ह यजमानं लोकान्नान्तरेति।' (श० १।८।३।१७)। तन्मुहूर्तं धारयित्वाऽनुप्रहरति किञ्चित्कालानन्तरमर्थात् सूक्तवाकान्तेऽग्नौ प्रक्षेपः। तदेव तदनुप्रहरणम्, 'सूक्तवाकान्ते' (का० श्रौ० ३।६।१२) इति कात्यायनस्मरणात्। 'अग्नीदाहानुप्रहरेति' (का० श्रौ० ३।६।१३) अग्नीदध्वर्युमनुप्रहरेत्यध्येष्यति। 'प्रास्य तृणं चक्षुष्या इत्यात्मानमालभते' (का० श्रौ० ३।६।१४)। अग्नीधाध्येषितोऽध्वर्युः प्रस्तरात् पृथक्कृतं तृणमाहवनीये तूष्णीं प्रक्षिप्य आत्मानं हृद्देशे स्पृशेत्। प्रायेण कात्यायनः श्रुतीरनुसृत्यैव क्वचिल्लिङ्गादीननुसृत्य च विनियोगान् ब्रूते। अत एव सर्वमेतन्माध्यन्दिनीय-काण्व-तैत्तिरीयादिब्राह्मणग्रन्थेषु विधानं दृश्यत एव।

'तं प्राञ्चमनु समस्यति। प्राची हि देवानां दिगथो उदञ्चमुदीची हि मनुष्याणां दिक्। तमङ्गुलिभिरेव योयुप्येरन् न काष्ठैर्दारुभिर्वा इतरꣳशवं व्यूषन्ति नेत्तथा करवाम यथेतरꣳशवमिति तस्मादङ्गुलिभिरेव

पृथिवी [के अधिष्ठातृ देवों ! तुम अपने भरण-पोषण आदि कर्तव्य को अच्छी तरह से जान लो। प्राण-अपान वायुरूप मित्रावरुण दोनों वर्षण के द्वारा तुम्हारी रक्षा करें। गायत्री आदि छन्दोरूप पक्षीगण बड़ी भक्तिभावना से घृत के समान स्निग्ध हुए तुम्हारा आस्वादन करते हुए स्वर्ग में जाँय, अर्थात् स्वर्गीय सुख का भोग दिलाने के लिये तुम्हें स्वर्ग में पहुँचा दें। हे कर्मनिष्ठ जीवात्मन् ! तुम्हें देवताओं की कामधेनु गायें प्राप्त हों। उसके द्वारा दी हुई आहुति से कहता है—तुम स्वाधीन हो, तुम छोटी-सी गाय बनकर कामधेनु की तरह तृप्तिकरी होकर स्वर्ग को जाओ और

योयुप्येरन् न काष्ठैर्यदा होता सूक्तवाकमाह' (श० १।८।३।१८)। प्रस्तरानुप्रहरणप्रकारमाह—तं प्रकृतं प्रस्तरं प्राञ्चं प्रागग्रं सूक्तवाके उक्तप्राये अनु पश्चात् समस्यति समग्रमेवाग्नौ प्रक्षिपति। प्रक्षेपात् पूर्वं तमङ्गुलिभिरेव योयुप्येरन्। युप रुप लुप विमोहने दिवादिः। पुनः पुनः मूर्छयेयुः हस्तेनोपक्षिपेयुः, न काष्ठैः। उक्तमेव कात्यायनेन 'हस्तेनाचरति' (का० श्रौ० ३।६।८)। किं कारणमित्याह—काष्ठैर्दारुभिर्वा। इतरं मानुषं शवं व्युषन्ति। ऋष ऋषि गतौ तुदादिः। विस्तारयन्ति सुदाहाद्यर्थम्। तदुपचाराद् यज्ञियस्य विलक्षणेनोपचारेण भवितव्यमिति। नेत् इति परिभये। 'अथाग्नीदाहानुप्रहरेति। तद्यत्रास्येतर आत्मागंस्त-देवास्यैतद्गमयेत्येवैतदाह। तूष्णीमेवानुप्रहृत्य चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहीत्यात्मानमुपस्पृशति। तेनो अप्यात्मानं नानुप्रवृणक्ति' (श० १।८।३।१९)। प्रस्तरानुप्रहरणानन्तरं तस्मादवशेषिततृणस्यानुप्रहरणाय अग्नीदध्वर्युमनुप्रहरेति प्रेष्यति। तद्यत्रास्येतर आत्मा अगन् गतवान् तदेव तमेवाग्निमस्यैतदवशिष्टं भागं गमयतीत्येतदेवाहाग्नीत्। अध्वर्युरग्नीत्प्रैषानन्तरं तूष्णीमेव मन्त्रमन्तरैवानुप्रहृत्य प्रक्षिप्य चक्षुष्पा अग्नेऽसीत्यादि-मन्त्रेणात्मानमुपस्पृशति। तेन तथाकरणेन आत्मानं नानुप्रवृणक्ति आत्मानं नापवृक्तं करोति।

अध्यात्मपक्षेऽपि वेदपुरुष आह—हे जीवात्मन्! वसुभ्यो वसुदेवताभ्यो रुद्रेभ्य आदित्येभ्यो देवताभ्योऽर्थाय त्वां वैदिके कर्मणि प्रवर्तयामि, त्वत्कृतयागादिना सर्वासां देवतानां तृप्तिसम्भवात्। हे द्यावापृथिव्यौ! तत्तदधिष्ठातृदेवौ युवां सञ्जानाथाम्। एनं प्रतिभरणपोषणादिलक्षणं स्वकर्तव्यं सञ्जानाथां सम्यगवगच्छतम्। मित्रावरुणौ प्राणापानौ वायुरूपौ त्वा त्वां वृष्ट्यावतां वर्षणेन रक्षताम्, 'अयं वै वर्षस्येष्टे योऽयं पवते' (श० १।८।३।१२) इति श्रुतेः। वयो गायत्र्यादिछन्दोरूपाः पक्षिणः, अक्तं भक्तिभावनया घृतमिव स्निग्धं त्वां रिहाणा लिहाना आस्वादयन्तो व्यन्तु स्वर्गं गच्छन्तु, त्वां स्वर्गसुखभोगाय नयन्त्वित्यर्थः। हे कर्मनिष्ठ जीवात्मन्! त्वं मरुतां देवानां पृषतीः कामधेनुरूपा गा गच्छ प्राप्नुहि। तद्दत्तामाहुतिं चाह आहुः। वशा स्वाधीना त्वं पृश्निरल्पतनुर्गौर्भूत्वा कामधेनुवत्तृप्तिकरी भूत्वा दिवं स्वर्गं गच्छ। ततश्च नोऽस्मभ्यं वृष्टिमावह भूलोके वृष्टिं प्रापय। जीवः परमेश्वरं प्रार्थयते—हे अग्ने परमेश्वर! त्वं चक्षुष्पा चक्षूंषि ज्ञानानि पातीति चक्षुष्पा असि, अतो मे चक्षुर्ज्ञानं वेदादि-सकलज्ञानसाधनं पाहि ॥ १६ ॥

यं प॑रि॒धिं प॒र्यध॑त्था॒ अग्ने॑ देव प॒णिभि॒र्गुह्य॑मानः। तं त॑ ए॒तमनु॒ जोषं॑ भराम्ये॒ष नेत्त्वद॑पचे॒तया॑ता अ॒ग्नेः प्रि॒यं पाथोऽपी॑तम् ॥ १७ ॥

अत्र दयानन्दः—'हे अग्ने सर्वव्यापिन्! देवपणिभिर्दिव्यगुणवतां विदुषां स्तुतिभिर्गुह्यमानो व्रियमाणो यं जोषं प्रीत्या सेवितुं योग्यं परिधिं परितः सर्वतो धीयते यस्मिंस्तं प्रभुत्वं पर्यधत्थाः सर्वतो दधासि, तमेव एषोऽहं भरामि अनुभरामि हृदये धारयामि। तथा त्वत् त्वत्तो न अपचेतयातै विरुद्धो न भवेयम्। ते तवाग्नेः सृष्टौ मया यत्प्रियं प्रीतिवर्धकं पाथः शरीररक्षकमन्नं प्राप्तं ततोऽप्यहं न कदाचिद् अपचेतयातै विरुद्धो भवेयम्।

वहाँ से हमारे लिये भूलोक में वर्षा करवा दो। जीव परमेश्वर से प्रार्थना करता है—हे अग्ने परमेश्वर! तुम चक्षुष्पा हो, अर्थात् तुम ज्ञान के रक्षक हो। अतः मेरे ज्ञान की, अर्थात् वेदादि सकल ज्ञानसाधन की रक्षा करो ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे आहवनीय अग्ने! पणिनामक असुरों के द्वारा तुम चारों ओर से अवरुद्ध किये जाने पर पश्चिम दिशा की ओर तुमने जिस परिधि का आश्रय किया था, उस तुम्हारी प्रिय परिधि को मैं अग्नि में डालता हूँ। यह परिधि तुमसे दूर जाने की इच्छा कभी भी न करे। हे दोनों परिधियों! तुम अग्नि के प्रिय अन्न बन जाओ। 'यं परिधिम्'

तथा हे जगदीश्वर ! ते सृष्टौ योऽयं देवपणिभिर्गुह्यमानः पृथिव्यादिव्यवहारैर्व्रियमाण एषोऽग्निः, यमेतं परिधिं विद्यादिगुणैर्धारणीयं जोषं प्रीत्या सेवनीयं कर्म पर्यधत्थाः परितो दधाति, तमित् तमहमनुभरामि त्वत् तस्मात् कदाचिन्नापचेतयातै प्रतिकूलो न भवामि, तथा प्रीतिकरं शरीररक्षाकरमन्नं पाति शरीरमात्मानं च येन तदन्नम्, 'अन्ने च' (उ० ४।२०५) इति पातेरन्ने असुन्प्रत्ययः थुठागमश्च। मया यदस्याग्नेः प्रियं प्रीतिकरं पाथः शरीररक्षाकरमन्नं अपीतम्, अपि संयोगे, अपीति संसर्गं प्राह (नि० १।३), गृहीतम्, तदहं जोषं नित्यमनुभरामि' (पृ० १८२–१८३), 'सर्वैर्मनुष्यैः प्रतिवस्तुषु व्यापकत्वेन धारको विद्वद्भिः स्तोतव्यः सम्प्रीत्या नित्यमनुसेवनीयः, यतस्तदाज्ञापालनेन सर्वे सुखं प्राप्नुयुः। योऽयमीश्वरेण प्रकाशदाहवेगगुणादिसहितो मूर्तद्रव्यानुगतोऽग्नी रचितस्तस्मात् कलाकौशलादिषु प्रयोजितादग्नेर्व्यवहाराः साधनीयाः। यतः सुखानि सिद्धयेयुरिति भावार्थः' (पृ० १८३)। तदेतत्सर्वमपव्याख्यानमेव, पदार्थेऽन्वयद्वये वा क्वचिदपि परिधिपदार्थस्यानिरूपणात्। हिन्द्यां तु प्रथमव्याख्याने प्रभुता, द्वितीये तु कर्मेत्युक्तम्। निष्प्रमाणव्यत्ययादिदोषबहुलत्वाच्च। भावार्थस्त्वर्थेनानेन सर्वथाप्यसंस्पृष्टः सर्वथा स्वतन्त्र एव। यत्तु सङ्गतिनिरूपणप्रसङ्गे पूर्वस्मिन् मन्त्रे वृष्टयादिसाधकत्वमुक्तम्, तस्यानेन व्यापकत्वमुक्तमिति सङ्गतिः (पृ० १८३), तदपि चिन्त्यम्, मूले पदार्थेऽन्वययोश्चाग्नेर्व्यापकत्वानुक्तेः। न च पर्यधत्था इत्यनेन व्यापकत्वबोधनम्, परितो धारकत्वबोधकत्वादिति वाच्यम्, शतपथेन तद्विरोधात्। तथाहि—'अथ परिधीननुप्रहरति स मध्यममेवाग्रे परिधिमनुप्रहरति यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः। तं त एतमनुजोषं भराम्येष नेत्त्वदपचेतयाता इत्यग्नेः प्रियं पाथोऽपीतमितीतरावनुसमस्यति' (श० १।८।३।२२)। अत्र परिधीनामनुप्रहरणमग्नौ प्रक्षेप उक्तः। परिधयश्च त्रयो भवन्ति। ते चाहवनीयस्य प्राचीमपहाय तिसृषु दिक्षु स्थापिताः समिध एव। 'अथ परिधीन् परिदधाति' (श० १।३।३।१३), 'ते वै पालाशाः स्युः' (श० १।३।३।१९)। 'पालाशवैकङ्कतकाष्मर्या वैल्वाः खादिरा औदुम्बराः' इत्यादिभिः श्रुतिभिस्तेषां पालाशादियज्ञियकाष्ठमयत्वमुक्तम्। 'ते वा आर्द्राः स्युः' (श० १।३।४।१) इति तेषामार्द्रत्वं चोक्तम्। 'परिधीन् परिदधात्यार्द्रानेकवृक्षीयान् बाहुमात्रान् पालाशवैकङ्कतकाष्मर्यवैल्वान् पूर्वालाभे उत्तरान् खादिरौदुम्बरान् वा मध्यमदक्षिणोत्तरान् गन्धर्व इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २।८।१)। सोऽध्वर्युर्मध्यममेवाग्रे परिधिमनुप्रहरति—यं परिधिं पर्यधत्था इत्यादिमन्त्रेण। तादृशपरिधिपरिधानेन कथमग्नेर्व्यापकत्वमिति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु। अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतमिति मन्त्रेणेतरौ परिधी युगपत्समस्यति, अग्नौ प्रक्षिपतीत्यर्थः। ततः पूर्वाभ्यां द्वाभ्यां कण्डिकाभ्याम् अथाह संवदस्वेत्यादीनां व्याहृतीनां बाह्योऽर्थस्तत्रैवोक्तः। तथाहि—अग्नीद् अध्वर्युं प्रेष्यति संवदस्व त्वं मया सह शंयुवाकप्रैषार्थम्। तमध्वर्युः पृच्छति–अगानग्नीत् हे अग्नीत् किमगमत् प्रस्तरशरीरो यजमानः स्वर्गं लोकम्, किं दग्धः प्रस्तर इत्यर्थः। अग्नीत्तु अगन् इति प्रतिवचनं ददाति। अगन् इति, अर्थाद् गतो यजमानः, दग्धः प्रस्तर इत्यर्थः। अध्वर्युस्तमाह—यद्येवं ततः शंयुवाक् परिधिप्रहरणयोः

इस मन्त्र से पहिली परिधि को अग्नि में डाल दे और 'अग्नेः प्रियम्' इस मन्त्र से दक्षिण एवं उत्तर परिधि को एकदम अग्नि में डाल दे ॥ १७ ॥

भाष्यसार—इस मन्त्र की व्याख्या स्वामी दयानन्द ने वेदरहस्यवित् महीधर-उव्वट के विरुद्ध की है। जैसे—'हे सर्वव्यापक अग्ने ! दिव्य गुणसम्पन्न विद्वानों की स्तुतियों से व्रियमाण हुए तुम जिस परिधि को सेवनीय समझकर जिसका प्रभुत्व सब प्रकार रखते हो, उसी को मैं हृदय में धारण करता हूँ। तुमसे मैं विरुद्ध नहीं होऊँगा तथा तुम्हारे प्रीतिवर्धक शरीररक्षक अन्न को जो मैंने प्राप्त किया है, उसके विरुद्ध भी नहीं जाऊँगा। ईश्वर की रची हुई अग्नि से अपने समस्त व्यवहार साध लेने चाहिये। जिससे सुख प्राप्त हो सके।'

कालो वर्तते। ततश्च श्रावय होतारम् आकर्णयेत्यर्थः। अग्नीच्चाह--श्रौषड् इति। अर्थात् शृणोत्येवायमवहितः, ब्रूहि त्वं यद्विवक्षितम्। 'अथाह स्वगा दैव्या होतृभ्य इति। दैव्या वा एते होतारो यत्परिधयोऽग्नयो हि तानेवैतत् स्वगा करोति। तस्मादाह स्वगा दैव्या होतृभ्य इति। स्वस्तिर्मानुषेभ्य इति तदस्मै मानुषाय होत्रे ह्वलामाशास्ते' (श० १।८।३।२१)। स्वगा दैव्या होतृभ्य इति शंयुवाकप्रैषः। हे होतः! शंयोर्बार्हस्पत्यस्य ऋषेरार्षं ब्रूहि स्वगा स्वस्थानगामिनं त्वां देव्या देवेभ्यो होतृभ्यः परिधिशरेभ्योऽत्र हूयन्तां परिधय इत्यर्थः। मानुषेभ्यस्तु होतृभ्यः स्वस्ति अविनाशोऽस्त्वित्येवंरूपं वाक्यं ब्रूहीति। श्रुतिस्तु साङ्केतिकं गूढतरमर्थं व्याचष्टे। तत्र च यथैव प्रहरणसम्बन्धसूक्तवाकप्रैषसम्बद्धमाश्रावणमनुषङ्गः परिधीनामुपकारकमित्युक्तम्, तथेहापि परिधिप्रहरणसम्बन्धशंयुवाकप्रैषसम्बद्धा व्याहृतयोऽनुषङ्गात् प्रस्तरवृत्तान्तं प्रकाशयन्तीति दर्शयति—संवादयैनं देवैरिति। प्रियमिवातिथिमागतैर्देवैः सम्भाषयेत्यर्थः। अगानग्नीदिति। गमनव्रढिम्नेतमेवाग्नीधं पृच्छति किं गतोऽयं यजमानो येन संवाद्यते ? न गत इतीतरेणोक्तेऽध्वर्युराह - तमेव तर्हि मद्वचनेन श्रावयैतमिति। अग्नीत्त्वाह-- श्रौषडिति विदुर्वा एनमिति। जानन्त्येव देवा उपकारित्वादनाख्यातमिति। अनु वा एनमभुत्सतेति पूर्वमेवायं बुद्धो देवैरित्ययं वा श्रौषडित्यस्यार्थ इति हरिस्वामी। तदेतत्सर्वं कात्यायनोऽप्याह—'संवदस्वागानग्नीदगञ्छ्रावय श्रौषट् स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शंयोर्ब्रूहीत्येतेषाऽऽसंवदस्वागाच्छ्रौषडित्यग्नीच्छेषमितरो व्यत्यासं ब्रूते' (का० श्रौ० ३।६।१५)। सर्वथापि प्रकृतायां द्वाविंश्यां कण्डिकायां न मनागपि दयानन्दीयार्थसम्बन्धः। तस्मादत्र मन्त्रे परिधिशब्देन पालाशादिसमिद्विशेषो विवक्षितः, न प्रभुता न वा कर्म। 'परिधीननुप्रहरति यं परिधिमिति प्रथममितरौ च युगपदग्नेः प्रियमिति' (का० श्रौ० ३।६।१६)। अध्वर्युर्हस्तेनैव परिधीनाहवनीये प्रक्षिपेत्। तत्र प्रथमं यं परिधिमिति मन्त्रेण इतरौ च युगपत्सहैव प्रक्षिपेदग्नेः प्रियमिति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः।

श्रुतिसूत्रसम्मतस्त्वयं मन्त्रार्थः—हे आहवनीयाग्ने देव। त्वं पणिभिः प्रतिपक्षभूतैरसुरैः प्राणिभिर्वा चेतनाचेतनैः, गुह्यमानः 'गुहू संवरणे' संव्रियमाणः संरुध्यमानः सन् यं परिधिं पलाशादिमयं काष्ठविशेषं भुवनपतिसंज्ञकाग्निरूपं पश्चिमदिशि पर्यधत्था असुरोपद्रवनिवारणाय परिधारितवानसि, ते तव जोषं प्रियं तमेतं परिधिम् अनुभरामि अनुक्रमेण हरामि वह्नौ प्रक्षिपामि 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ८।२।३२) इति वार्तिकेन हस्य भः। एष परिधिस्त्वत्तः सकाशात् अपगतः, नेत नैव अपचेतयातै नैव चेतयतु त्वत्तोऽपगन्तुं मा जानातु त्वय्येव तिष्ठत्वित्यर्थः। परिधिस्त्वत्तोऽपगतचित्तो मास्त्विति यावत्। अथवा नेत इति निपातसमाहारः

किन्तु उक्त व्याख्यान को अपव्याख्यान के सिवाय कुछ नहीं कहते बनता। हिन्दी व्याख्या में कुछ कहा गया है, तो दूसरी बार की व्याख्या में और ही कुछ कहा गया है। निष्प्रमाण व्यत्ययादि दोषों की विपुलता दिखाई दे रही है। मन्त्रार्थ का तो इस अर्थ से स्पर्श तक नहीं हो रहा है। वह सर्वथा स्वतन्त्र ही है। संगति निरूपण भी अद्भुत ही है। दयानन्दीय व्याख्या को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शतपथ और श्रौतसूत्र के एकदम विरुद्ध है।

श्रुति-सूत्र सम्मत अर्थ इस प्रकार है—आहवनीय अग्नि से कहा जा रहा है कि प्रतिपक्षी असुरों ने जब तुम्हें अवरुद्ध किया था, तब तुमने जिस पलाशादिमय काष्ठविशेषरूप परिधिविशेष को, जो भुवनपतिसंज्ञक अग्निरूप है, उसे पश्चिम दिशा में असुरों के उपद्रवों के निवारणार्थ धारण किया था, उस तुम्हारी प्रिय परिधि को अग्नि में डाल रहा हूँ, जिससे वह तुम्हारे ही समीप सदा बनी रहे। उसी तरह से दक्षिण और उत्तर अन्य दो परिधियों को जो अग्नि को अन्नरूप हैं, उन्हें भी अग्नि में युगपत् डाल दें।

परिभवार्थः। अपचेतयातै इति आशङ्कायां पञ्चमो लकारः। चिती संज्ञाने। अपचेतयतु अर्थादेष परिधिर्मा कथञ्चित्त्वत्तो वियुक्तः सन्नस्मान् विगतचेतस्कान् विमनस्कान् वा करोतु। 'इतरौ च युगपदग्नेः प्रियम्' (का० श्रौ० ३।६।१६) इति कात्यायनानुसारेण दक्षिणोत्तरपरिधी अग्नेः प्रियमिति मन्त्रेण युगपदग्नौ प्रक्षिपेत्। तथा च मन्त्रार्थः—हे दक्षिणोत्तरपरिधी युवामग्नेराहवनीयस्य प्रियमभिप्रेतं पाथोऽन्नमपीतमपिगतम्। अन्नमपि पाथ उच्यते (नैघण्टु ९।७)। अन्ने चेत्युणादिसूत्रादभिप्रेतमन्नं अपीतम् अपिगच्छतम्। अग्नेः प्रियमित्यादि पृथङ्मन्त्रः। अत एवाग्नेः प्रियमिति यजुर्देवलदृष्टमिति महीधरः।

अध्यात्मपक्षेऽपि हे अग्ने द्योतनात्मक सर्वाधिष्ठानभूत परमात्मन्! पणिभिः प्रमात्रादिव्यवहारैर्गुह्यमानः प्रव्रियमाणो यं परिधिं परितो धीयते धातुमर्हः सर्वैरादरेण धीयते स्वरूपभूतः प्रेमा वा, तं सर्वकल्याणहेतुत्वेन पर्यधत्थ सर्वेषु प्राणिषु स्थापितवानसि। ते तव तमन्यनिष्ठत्वेन परोक्षमेतं प्रत्यगात्मस्वरूपेणापरोक्षं च जोषं प्रीत्या सेवनीयमहमनुभरामि ध्येयत्वेन धारयामि। एष प्रेमा त्वत् त्वत्तः सकाशात् नेत नैव अपचेतयातै त्वत्तो बहिर्मुखो नैव भवतु। अन्यनिष्ठो मा भूदित्यर्थः। यद्वा त्वत्तोऽस्मान्नैव विमनस्कान् करोतु। वेदपुरुष आह—अग्नेः परमात्मनः सम्बन्धि प्रियमभिप्रेतं पाथः प्रेमास्पदं पाथोऽन्नं भोग्यभूमौ युवामुपास्योपासकौ अपीतम् अपिगच्छतम्। प्रेमप्रभावेणान्नत्वं युवाभ्यां प्राप्यताम्। प्रेम्णा भक्तो भगवतो भोग्यो भवति, भगवांश्च प्रेमपरवशो भूत्वा भक्तस्य भोग्यो भवति, 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' इत्यादिश्रुतेः। यद्वा हे मनोबुद्धी! युवामग्नेः सम्बन्धि प्रियं पाथोऽन्नं भोग्यरूपम्, अपिगच्छतं युवाभ्यां तदुपलभ्यताम्॥ १७॥

स॒ᳪस्र॒वभा॑गा स्थे॒षा बृ॒हन्तः॑ प्रस्तरे॒ष्ठाः प॑रि॒धेया॑श्च दे॒वाः। इ॒मां वाच॑म॒भि विश्वे॑ गृ॒णन्त॑ आ॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयध्व॒ᳪस्वाहा॒ वाट्॥ १८॥

अत्र दयानन्दः—हे बृहन्तः वर्धयन्तश्च प्रस्तरेष्ठाः प्रस्तरे शुभे न्यायविद्यासने तिष्ठन्ति ते परिधेयाः परितः सर्वतो धातुं धापयितुमर्हाः, देवा विद्वांसः यूयमिमां प्रत्यक्षां वाचं वचन्ति वाचयन्ति सर्वा विद्या सत्यलक्षणा वेदचतुष्टयी वा तामभिगृणन्तः स्तुवन्त उपदिशन्तो वा संस्रवभागा ज्ञानेन सम्यक् स्रूयन्ते य ते संस्रवाः, भज्यन्ते ये ते भागाः, संस्रवा भागा येषां ते, स्थ भवत। स्वाहा सु आहेत्यर्थः। वाट् वहन्ति सुखं यया क्रियया सा वाट् सद्यः अस्मिन् प्रत्यक्षे आ समन्ताद् विज्ञाय स्थित्वा वा। बर्हिषि बृहन्ते वर्धन्ते येन तद्बर्हिर्ज्ञानप्राप्तं कर्मकाण्डं वा तस्मिन् मनुष्यान् कृत्वा हर्षयत च। इति प्रथमोऽन्वयः। एवमस्मिन् बर्हिषि इमां वाचमभिगृणन्तः अभिगृणद्भिर्युष्माभिरिषा स्वाहा वाडासद्य बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः सदा परिधेयाः। तां

अध्यात्मपक्ष में—हे परमात्मन्! परोक्ष-अपरोक्ष रूप से रहने वाले तुम्हारे स्वरूप का ध्यान मैं बड़ी भक्ति से करता हूँ। मेरा प्रेम तुमको छोड़कर बहिर्मुख न हो। प्रेम के बल पर ही भक्त भगवान् का भोग्य होता है और भगवान् भी प्रेमपराधीन होकर भक्त का भोग्य बनता है। अथवा हे मन, हे बुद्धि! तुम दोनों अग्नि के भोग्य रूप अन्न के रूप में बन जाओ॥ १७॥

मन्त्रार्थ—हे विश्वेदेवों! तुम लोग संस्रव भक्षण करने वाले हो, अतः तरल घृत का भक्षण करो। इस संस्रवरूप अन्न से तुमलोग महान् बनो और प्रस्तर तथा परिधि पर अधिष्ठित होने वाले एवं 'यजमान यथाविधि यागानुष्ठान कर रहा है' इस प्रकार मेरी स्तुति (प्रशंसा) करने वाले हे विश्वेदेवों! तुम लोग इस यज्ञ में बैठकर तृप्त हो जाओ। यह हविर्भाग सर्वथैव तुम लोगों को ही अर्पित किया गया है। 'संस्रवभागाः' इस मन्त्र से 'संस्रवों' का हवन करे॥१८॥

संस्रवभागाश्च स्थ प्राप्य चास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमिति द्वितीयः। ईश्वर आज्ञापयति—ये मनुष्या धार्मिकाः पुरुषार्थिनो वेदविद्याप्रचारे उत्तमे व्यवहारे च नित्यं वर्तन्ते, तेषामेव बृहन्ति सुखानि भवन्ति' इति, तन्न, अनुपपत्तेः, सर्वेषां विदुषां न्यायाधीशत्वानुपपत्तेः। तथाहि –बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाः सर्वेऽप्येते विशेषणशब्दा निश्चितं विशेष्यमपेक्षन्ते। विनिगमनाविरहाच्च कल्पनामात्रेण क्वचित् पर्यवस्यन्ति। आकाशदिगादयोऽपि बृहन्तो भवन्ति। प्रस्तरशब्देन कथञ्चित् प्रशस्तासनग्रहणेऽपि न न्यायविद्यासन एव पर्यवस्यति प्रस्तरशब्दः, राजसिंहासन-धर्मसिंहासनयोरपि प्रस्तरशब्देन ग्रहणप्रसक्तेः। तथा च न्यायविद्यासनारूढाः प्राड्विवाका न्यायमूर्तयो वा न ग्रहीतुं शक्यन्ते। परिधेयाः परिधातुं परिधापयितुमर्हाः के?

हिन्दीभाष्ये तु धारणावतीबुद्धियुक्ता इति लिखितम्। बुद्धयः कामम् आपरिधातुं परिधापयितुमर्हा भवन्तु, परन्तु न तु बुद्धिमन्तस्तथा भवन्ति। संस्रवभागा इत्यनेनापि नार्थनिर्धारणं शक्यम्, संस्रवशब्देन घृतादीनामिव पेट्रोलतैलादीनामपि सम्यक् स्रूयमाणत्वेन ग्रहीतुं शक्यत्वात्। भागशब्देनापि होमो न ग्रहीतुं शक्यते, अतः सम्यक् स्रूयन्ते ये ते संस्रवाः, भज्यन्ते ये ते भागाः, संस्रवा भागा येषामित्यनया व्युत्पत्त्या केषां बोध इति तु मूले नोक्तम्। हिन्दीभाष्ये तु घृतादिपदार्थानां होमे निक्षिप्तार इत्युक्तम्। सामाजिका ब्रह्मदत्तादयः कथयन्ति यद् हिन्दीभाष्यं तदनुयायिभिर्विद्वद्भिर्लिखितम्, अत एव तत्र तेषां प्रमादेनाशुद्धयो विद्यन्ते। 'भज्यन्ते' इत्यस्य संस्रवा घृतादिपदार्था होतव्या येषां त इति स्वीकारेऽपि कथं भजतेर्होमार्थता स्यात्? स्वाहावाट् सु आहेत्यस्मिन्नर्थे वहन्ति सुखानि यया क्रियया सा वाडित्युक्तम्। स्वाहावाडित्यनयोः कथं सम्बन्ध इति नोक्तम्। हिन्दीभाष्ये तु स्वाहा सम्यग्वचनेन वाट् प्राप्यते या सुखवर्धिनी क्रिया (स्वाहा अच्छे वचनों से वाट् प्राप्त होने और सुख बढ़ाने वाली क्रिया को प्राप्त होकर) इत्युक्तम्, कथं तत्सङ्गच्छते? सम्यग्वचनेन कीदृशी सुखवर्धिनी क्रियोत्पद्यते? इत्यादिकं सर्वं वक्तव्यमासीत्। तच्च नोक्तमिति न्यूनतैवेति मुधैव तस्य समासादितस्थिर-समाधित्वादिप्रजल्पनम्।

किञ्च, (श० १।८।३।२३–२६) इति वचनान्यपि तद्व्याख्यानप्रतिकूलान्येव। मन्ये तदनुयायिभिरेव शतपथग्रन्थसङ्केतास्तद्ग्रन्थे योजिताः, तेन तु ते नैव दृष्टाः स्युः, कथमन्यथा तद्विपरीतं व्याख्येयात्। अथवा शतपथसङ्केतं सूचयन् तदेव मुख्यं व्याख्यानम्, मया तु केवलं बहिर्मुखाणां सन्तोषाय यत्किञ्चिदुच्यत इति वाभिप्रायः स्यात्। तथाहि–'अथ जुहूं चोपभृतं च सम्प्रगृह्णाति। अदो हैवाहुतिं करोति यदनक्त्याहुति-र्भूत्वा देवलोकं गच्छादिति। तस्माज्जुहूं चोपभृतं च सम्प्रगृह्णाति' (श० १।८।३।२३)। नास्मिन् तद्व्याख्यान-सम्बन्धः। अनया श्रुत्या जुह्वा उपभृतश्च संप्रग्रहणं विधीयते। स सम्प्रगृह्णातीत्यनया तु सम्प्रग्रहणमनूद्य

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र में दो प्रकार के अन्वय किये हैं। तदनन्तर अर्थ किया है कि 'ईश्वर आज्ञा देता है— जो धार्मिक पुरुषार्थी मनुष्य हैं, वे वेदविद्या के प्रचार में और उत्तम व्यवहार में नित्य तत्पर रहते हैं। उन्हीं को विपुल सुख की प्राप्ति होती है।

किन्तु दयानन्दोक्त अर्थ उपपन्न नहीं हो रहा है। 'बृहन्तः, प्रस्तरेष्ठाः, परिधेयाः' ये सभी विशेषण शब्द हैं, अतः इन्हें विशेष्य की अपेक्षा रहना निश्चित है। कोई विनिगमक न रहने से केवल कल्पना कर लेने मात्र से इनका चाहे जहाँ पर्यवसान नहीं किया जा सकता। हिन्दी भाष्य में धारणावती बुद्धियुक्त लिखा है, वह भी उपपन्न नहीं हो रहा है। 'संस्रवभागा' कहने से भी अर्थनिश्चय कर पाना संभव नहीं है। हिन्दी भाष्य में जो भी लिखा गया है, उसकी उपपत्ति किसी प्रकार से भी नहीं हो रही है।

संस्रवभागा इति मन्त्रो विधीयते। संगते उभे उद्गृह्णाति संस्रवहोमाय स्वगाकाराय च, कुतः ? आहुतिर्भूत्वेति वाक्यशेषभूतमन्त्रवर्णात्। एतेन 'तं प्राञ्चमनुसमस्यति' (श० १।८।३।१८), 'परिधीननुप्रहरति' (श० १।८।३।२२) इत्येते तथा 'परिधीननु' (का० श्रौ० ३।१।१६) इति होमचोदने एव वक्तव्ये, अदो दैवाहुतिमिति परिधिसंस्कारशङ्का निवर्तयति। एवं ह्याशङ्क्यते—'यद्वै हविरभ्यक्तं यदभिघारितं तज्जुष्टं तन्मेध्यम्' इति वचनाद्धविरभिघारणीयम्। अनन्तरमेव च हुताः परिधयः। तेऽभिघारिता आहुतिर्भवति। अतस्तेषामाहुतित्वायैते स्रुचौ संगृह्येते। न पृथगेव संस्रवहोमकर्मेति तन्निराकरोति। अत एव परिधय आहुतिकृता ये ते आज्येन जौहवेनाक्तास्तस्मान्न तेषामाहुतित्वाय स्रुचौ सम्प्रगृह्येते, किं तर्हि आहुतिर्भूत्वा देवलोकं गच्छेदित्येवमर्थं सम्प्रगृह्णाति। तथैव प्रस्तरपरिधीनां स्वगाकारो ह्युक्तः, एवमाज्यशेषस्यापि विलग्नस्येत्यभिप्रायः' इति हरिस्वामी। कण्डिकार्थस्तु स्पष्ट एव।

'स वै विश्वेभ्यो देवेभ्यः सम्प्रगृह्णाति। यद्वा अनादिष्टं देवतायै हविर्गृह्यते। सर्वा वै तस्मिन् देवता अपित्विन्यो मन्यन्ते न वा एतत् कस्यैचिद्देवतायै हविर्गृह्णन्नतिदिशति यदाज्यं तस्माद्विश्वेभ्यो देवेभ्यः सम्प्रगृह्णात्येतद् वैश्वदेव७ं हविर्यज्ञे' (श० १।८।३।२४)। सोऽध्वर्युर्विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्रुचौ सम्प्रगृह्णाति। यद्धविरनादिष्टं देवताविशेषनामनिर्देशमन्तरा गृह्यते, तस्मिन् हविषि सर्वा देवता अपित्विन्यो वयंभागिन्य इति मन्यते। आज्यं च हविरनादिष्टमेव, यतो ह्येतद् गृह्णन् न कस्याश्चन देवताया नामनिर्देशं करोत्यध्वर्युः। तस्मादेतद्वैश्वदेवं हविर्यज्ञे। 'स सम्प्रगृह्णाति। स७ंस्रवभागाः स्थेषा बृहन्त इति स७ंस्रवो ह्येव खलु परिशिष्टो भवति प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवा इति। प्रस्तरश्च हि परिधयश्चानुप्रहृता भवन्तीमां वाचमभि विश्वे गृणन्त इत्येतद्वैश्वदेवं करोत्यासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्व७ं स्वाहावाडिति। तद्यथा वषट्कृत७ं हुतमेवमस्यैतद्भवति।' (श० १।८।३।२५)। 'स्रुचौ प्रगृह्णाति। स७ंस्रवभागा इति स७ंस्रवान् जुहोति' (का० श्रौ० ३।६।१७)। अध्वर्युर्जुहूपभृतौ तूष्णीमादाय तदुभयसंलग्नमाज्यं ताभ्यामेव जुहुयादुत्तरत उपविश्य विश्वेदेवाश्चात्र देवता। अतश्च यत्र दर्विहोमादौ मन्त्राभावस्तत्र विश्वेभ्यो देवेभ्य इत्याहुतिः। अस्य संस्रवहोमस्य प्रतिपत्त्यर्थकर्मोभयरूपत्वात् प्रतिपत्त्यंशमादायान्तेऽपच्छिन्नेऽपि प्रवृत्तिः। स्रुक्स्थस्याज्यस्य पूर्वमेव निरवशेषितत्वात् संस्रवाणां न यागाङ्गत्वम्, किन्तु पात्रसंलग्नाज्यप्रतिपत्त्यर्थतैव। अतश्च यत्र कर्मणि पूर्वकृतहोमसम्बन्ध्याज्यं पात्रे संलग्नं भवति, तत्र सर्वत्राप्ययं होमो भवत्येव।

'स७ंस्रवभागा······स्वाहावाट्' इति मन्त्रेऽन्यत्र वा स्वाहापदोच्चारणकाल एव होमः कार्यः। एवं च 'स्वाहाकारः सर्वत्र साकाङ्क्षत्वात्' (का० श्रौ० ४।४।१५) इति सूत्रेण सामान्यतया मन्त्रान्ते स्वाहाकारोच्चारणस्य विधानेऽपि यत्र मन्त्र एव स्वाहाकारपाठ आदौ मध्येऽवसाने वा तत्रैव होमः कार्यः, न पुनः स्वाहाकारस्य मन्त्रान्ते योजनम्। 'स७ंस्रवो ह्येवेति' (श० १।८।३।२५) यदा यः परिशिष्टः संश्रवस्तदा तत्र तद्भाजः संस्रवभागा एव भवन्तीत्यभिप्रायः। ते च प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च भवन्ति। प्रस्तरे परिधिषु च हुतेषु तदिन्धनोऽग्निः शरीरं येषां ते देवाः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च भवन्ति। इमां वाचमभिविश्वे गृणन्तीति मन्त्रेण एतदु पात्रलग्नमाज्यं

अतः शतपथ, श्रौतसूत्रानुसारी वैदिकसम्प्रदायानुकूल मन्त्रार्थ इस प्रकार है —हे विश्वेदेवों ! तुम संस्रव भाग वाले हो। विलीन आज्य को 'संस्रव' कहते हैं। वही है भाग जिनका, वे संस्रवभाग वाले कहे जाते हैं। तथा संस्रव-लक्षण अन्न से तुम महान् हो। किंच, जो प्रस्तर पर स्थित रहते हैं, वे प्रस्तरेष्ठ यानी प्रस्तरस्थायी कहलाते हैं। जो परिधेय यानी परिधिभव हैं, वे विश्वेदेव मेरी वाणी (कथन) का वर्णन करते हुए, अर्थात् 'यह यजमान सम्यक् यजन (यागानुष्ठान) कर रहा है' इस प्रकार देवताओं के मध्य में कहते हुए तुम इस यज्ञ में बैठकर तृप्त होना अथवा

वैश्वदेवं सर्वदेवसम्बन्धि करोति । आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वꣳ स्वाहा वाडिति मन्त्रेण यथा वषट्कृतं हुतं भवति, तथास्याज्यशेषस्य कृतं भवतीत्यर्थः ।

तथा च श्रुतिसूत्रानुगतं सायणादिसम्मतमिदमेव मन्त्रव्याख्यानम्— हे विश्वदेवाः सर्वे देवाः ! यूयं संस्रवभागाः स्थ सम्यक् स्रवतीति संस्रवो विलीनमाज्यं भागो येषां विश्वेषां देवानां ते संस्रवभागा जुहूपभृद्गतविलीनाज्यभागिनो भवत । इषा इष्यमाणेन संस्रवलक्षणेनान्नेन बृहन्तो महान्तः स्थ । किञ्च, प्रस्तरेष्ठाः प्रस्तरस्थायिनो ये देवाः परिधयः परिधिभावमापन्नाः परिधिषु भवाः परिधिदेहा वा ये देवाः सन्ति, ते विश्वेदेवा इमां मदीयां वाचमभिगृणन्तः सर्वत्र वर्णयन्तः, अयं यजमानः सम्यग्यजतीति सर्वेषां देवानां समक्षे कथयन्तः, यूयमासद्यास्मिन् बर्हिषि एतस्मिन् मदीययज्ञे मादयध्वं हृष्टा भवत । स्वाहावाडितिशब्दौ हविर्दानार्थौ । सर्वथा दत्तमित्येवादरे दर्शयितुं शब्दद्वयम् । न च बृहदारण्यके स्वाहावषडितिशब्दद्वयं दैविकं हविर्दानमाम्नातम्, 'देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं वषट्कारं च' (बृ० उ० ५।८।१) इति श्रुतेनात्र वाट्शब्दः श्रुत इति वाच्यम्, वषडित्यस्यैव परोक्षत्वाय वाडिति शब्दान्तरेण प्रयुज्यमानत्वात् । 'यद् वषट् कुर्याद् यातयामो वषट्कारः स्यात्, यन्न वषट्कुर्याद् रक्षाꣳसि यज्ञꣳहन्युर्वाडित्याह परोक्षमेव वषट्करोति नास्य यातयामा वषट्कारो भवति न यज्ञꣳरक्षाꣳसि घ्नन्ति' (तै० सं० ५।१।५।५) इति वाड् इति युक्तम् । ननु 'वसवो वै रुद्रा आदित्याः सꣳस्रवभागाः' (तै० ब्रा० ३।३।९।७) इति तैत्तिरीयश्रुत्यनुसारेण वस्वादीनामेव संस्रवभागत्वमुक्तम्, न विश्वेषां देवानामिति चेन्न, विश्वशब्देन वस्वादीनामपि विवक्षितत्वात् । अत एव वस्वादीन् प्रकृत्य विश्वदेवशब्दवाच्यत्वमपि तित्तिरिणैवोक्तम्, 'एते हि विश्वेदेवाः' (तै० ब्रा० ३।३।९।८) इति तैत्तिरीयश्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षेऽपि —हे जीवात्मानः ! यूयं संस्रवभागाः स्थ । सम्यक् स्रूयन्त इति संस्रवा दधिदुग्धाज्यसोमादयः, अब्बहुलहविर्द्रव्यरूपाः पदार्थाः । ते भागाः शरीरांशा येषां ते संस्रवभागा हविःशरीराः, 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति पञ्चाग्निविद्याश्रुतेः । तत्रापशब्देन सोमाद्यब्बहुलद्रव्याण्युक्तानि । तान्येवाग्नौ चन्द्रलोकेऽन्तरिक्षे पृथिव्यां पुरुषे योषिति हुतानि पुरुषरूपेण परिणतानि भवन्ति । संस्रवभागा घृतसोमादिभागिनः स्थ इषा इष्यमाणया परमेश्वराराधनलक्षणया भक्त्या धर्मब्रह्मविविदिषया वा महान्त उत्कर्षं प्राप्नुवन्तः प्रकर्षेण यूयमेव प्रस्तरेष्ठाः प्रस्वराग्निशरीराः परिधिशरीरा विश्वे सर्वे देवाः स्थ भवत । विश्वे सर्वेऽपि यूयम् आसद्य स्थित्वा बर्हिषि यज्ञे इमां स्वाहावाड्रूपाम् अभिगृणन्तस्तया च देवांस्तर्पयन्तो मादयध्वं हृष्टा भवत ॥ १८ ॥

प्रसन्न होना । 'स्वाहा' और 'वाट्' दोनों शब्द 'हविर्दान' के अर्थ में हैं । यह 'संस्रव' सब तरह से (सर्वथा) आपको दिया गया है, यह आदरभाव प्रदर्शित करने के निमित्त 'स्वाहा और वाट्' इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है । 'स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा' इस श्रुतिवचन से 'वषट्' शब्द भी दानार्थक है, तथापि देवताओं की परोक्षप्रियता रहने से 'प्रत्यक्षत्व' के परिहारार्थ 'वाट्' शब्द का प्रयोग किया गया है । तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार वसु आदि देवताओं के लिये ही संस्रवभाग कहा गया है, विश्वेदेवों को नहीं, यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'विश्व' शब्द से 'वसु' आदि देवताओं की भी विवक्षा की गई है ।

अध्यात्मपक्ष में—हे जीवात्माओं ! तुम घृत, सोम आदि के भागी हो । परमेश्वराराधनस्वरूप भक्ति के द्वारा अथवा धर्म-ब्रह्म को जानने की इच्छा द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुए हो, तुम ही सम्यग्रूप से प्रस्तराग्नि शरीर वाले हो, तथा परिधि शरीर वाले तुम सब विश्वेदेव हो । तुम सभी यहाँ स्थित होकर यज्ञ में इस स्वाहा-वाड्रूप वाणी की प्रशंसा करके देवताओं को तृप्त कर दो और तुम भी हर्ष को प्राप्त हो जाओ ॥ १८ ॥

घृताची स्थो धुर्यौ पात॑ᳬसुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम् । यज्ञ नमश्च त उप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे सन्तिष्ठस्व ॥ १९ ॥

अत्र दयानन्दः—'यावग्निवायू यज्ञस्य धुर्यौ सुम्ने च स्थः । घृताची घृतमुदकमञ्चत इति घृताची अग्निवाय्वोर्धर्षणक्रिये, स्थः स्तः, व्यत्ययः । सर्वं जगत् पातं रक्षतः । तौ मया सम्यक् प्रयोजितौ सुम्ने सुखकारिके उक्तक्रिये सुखे मां यज्ञानुष्ठातारं धत्त धारयतः । यज्ञ इज्यते सर्वैर्जनैरिति यज्ञ ईश्वरः, तत्सम्बुद्धौ हे यज्ञ, क्रियासाध्यो वा ! नमश्च नम्रीभावार्थे । यथा ते तव स्विष्टे शोभनमिष्टं याभ्यां ते शिवे सन्तिष्ठेते । ते ममाप्येवं तथैव सन्तिष्ठेताम् । तस्माद् यथाहं तस्य यज्ञस्यानुष्ठाने सन्तिष्ठे तथा त्वमप्यत्र सन्तिष्ठस्व (पृ० १८८–१८९)। 'ईश्वरोऽपि वदति हे मनुष्याः ! यूयमेव तयो रसच्छेदकधारकयोर्जगत्पालनहेत्वोः सुखकारिणोः क्रियाकाण्डस्य निमित्तयोरूर्ध्वं तिर्यग्गमनशीलयोरग्निवाय्वोः सकाशात् कार्याणि साधयित्वा सुखेषु संस्थितिं कुरुत मदाज्ञापालनमाचरत तं नमस्कुरुतेति भावार्थः' (पृ० १९८) इति ।

तदपि यत्किञ्चित्, ईश्वरवाक्येषु पिष्टपेषणानुपपत्तेः । अग्निवाय्वोरुपकारो ग्राह्यः, सम्यक् प्रयोजितौ वायुयानाद्यनेककार्याणि सम्पादयत इति नैकवारमुक्तमेव । कथं ताभ्यां कानि कानि कार्याणि कर्तव्यानीति कार्यपद्धतिनिर्देशस्तु नैकदापि क्रियते । नह्यग्निवायुयज्ञादिशब्दैरेव तदुपकारग्रहणप्रकारोऽवबुद्धचते । घृताचीपदेनाग्निवाय्वोर्धारणाकर्षणक्रिये बोध्येते इत्यपि निर्मूलमेव । किञ्च, यज्ञो नमश्च यथा ते तव स्विष्टे शिवे सन्तिष्ठेते मे ममाप्येते तथैव सन्तिष्ठेते इति कस्य वचनम् ? जीवस्येश्वरस्य वा ? नाद्यः, निष्प्रमाणत्वात्, तथात्वे वेदस्यानीश्वरवाक्यत्वापत्तेश्च । नान्त्यः, ईश्वरस्य कल्याणमयत्वात् स्वकल्याणाय तस्येश्वरान्तरानपेक्षणात् । किञ्च, तथात्वे यज्ञ इति सम्बोधनपदमपि विरुद्धचते ।

शतपथाद्विरुद्धमप्येतद्व्याख्यानम् । तथाहि 'स यस्यानसो हविर्गृह्णन्ति । अनसस्तस्य धुरि विमुञ्चन्ति यतो युनजाम ततो विमुञ्चामेति यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति यस्यो पात्र्यै स्फ्ये तस्य यतो युनजाम ततो विमुञ्चामेति यतो ह्येव युञ्जन्ति ततो विमुञ्चन्ति' (श० १।८।३।२६), 'युजौ ह वा एते यज्ञस्य यत् स्रुचौ । ते एतद्युङ्क्ते यत्प्रचरति स यं निधायावद्येद्यथा वाहनमत्राच्छेदेवं तत्ते एतत्स्विष्टकृति विमोचनमागच्छतस्ते तत्सादयति तद्विमुञ्चति ते एतत्पुनः प्रयुङ्क्तेऽनुयाजेषु सोऽनुयाजैश्चरित्वैतद्विमोचनमागच्छति । ते तत्सादयति तद्विमुञ्चति ते एतत् पुनः प्रयुङ्क्ते यत्सम्प्रगृह्णाति । तद्यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वा विमुञ्चते । यज्ञं वा अनु प्रजास्तस्मादयं पुरुषो युङ्क्तेऽथ विमुञ्चतेऽथ युङ्क्ते तद्यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वाऽन्ततो विमुञ्चते । स सादयति घृताची स्थो धुर्यौ पात॑ᳬसुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तमिति साध्व्यौ स्थः साधौ मा धत्तमित्येवैतदाह ।' (श० १।८।३।२७)। यस्य यजमानस्य यज्ञे अनसो हविर्गृह्णन्ति"""तस्यानसो धुरि विमुञ्चन्ति जुहूपभृतौ—'घृताची इति धुरि निदधाति, अनसि चेद् ग्रहणम्' (का० श्रौ० ३।६।१८), 'स्फ्ये पात्र्यां चेत्' (का० श्रौ० ३।६।१९)। यदि अनस्तो हविः पूर्वं गृहीतं तदा घृताचीति मन्त्रेणानसः शकटस्य धुरि स्रुचौ स्थापयेत्। यदि इडापात्र्यां हविर्गृहीतं तदा वेद्या

मन्त्रार्थ हे जुहू, उपभृत् पात्रो ! तुम घृत से पूर्ण हो । इस शकट के बैलों की रक्षा करो । तथा तुम सुखरूप हो, उस कारण मुझे सुख दो । हे यज्ञ ! तुम्हें मेरा प्रणाम है । तुम्हारी अभिवृद्धि हो । हे नमस्कार ! तुम यज्ञ के न्यूनातिरिक्त दोषों को दूर करो और मेरे यज्ञ को उत्तम करो और उसमें स्थित रहो । 'घृताची'— इस मन्त्र से जुहू और उपभृत् को शकट की धुरा पर रख दे । 'यज्ञ नमश्च' इस मन्त्र से वेदी को स्पर्श करे ॥ १९ ॥

उत्तरांशे स्फ्यमुदगग्रं निधाय तत्र प्रागग्रे जुहूपभृता आसादयेदिति सूत्रयोरर्थः। 'युजौ ह वा' इति विमोचनार्थवादः। तत्र युजौ योक्तव्यावस्थावनड्वाहौ ह वा एते यज्ञस्य यत्स्रुचौ। ते एते यज्ञे युङ्क्ते यत्प्रचरति। स यं निधायावद्येदिति प्रसङ्गेनार्थप्राप्तं चरकश्रुतिप्राप्तं निधायावदानं प्रतिषेधति। वाहयति तदेभिरिति वाहनमश्वादि। यथा तद् अवार्छेद् अधः पतेद् वाह्यमानम्, एवं निधानं स्रुचोः प्राग्विमोकादधश्चालनं तद् यज्ञस्य स्यात्। 'तत्ते एतत् स्विष्टकृति विमोचनमागच्छतः' इति ये स्रुचौ चरतां युङ्क्ते ते स्विष्टकृति अतीते इति शेषः। वि अपरिसमाप्तोऽर्थः। विमुच्यतेऽस्मिन्निति विमोचनं स्थानं तद् आगच्छतः स्विष्टकृद्यागसमाप्तौ जुहूपभृतौ विमोचनस्थानमनसो धुरादिकमागच्छतः। ते तत्र सादयत्यध्वर्युस्तत्र विमुञ्चति विश्रामार्थम्। पुनश्च अनुयाजेषु प्रयुङ्क्ते सोऽनुयाजैश्चरित्वा एतद्विमोचनमागच्छति। तदन्ते च विश्रामार्थं पुनर्विमुञ्चति पुनश्च सम्प्रगृह्णाति संस्रवहोमार्थं प्रयुङ्क्ते। तदन्ते च कृतार्थः सन् गतिं गतमभियुङ्क्ते करोति। यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वा विमुञ्चते। मन्त्रेण देशनियमेन च गम्यते इति गतिः, गन्तव्योऽध्वा। तथा च यां गतिमध्वानमभिगन्तुं युङ्क्ते तां गतिं तमध्वानं गत्वा विमुञ्चते। यज्ञं वा अनु प्रजा यज्ञमनुलक्ष्य प्रजा भवन्ति। तस्मादयं पुरुषो युङ्क्ते अथ विमुञ्चते अथ युङ्क्ते तद्यां गतिमभियुङ्क्ते तां गतिं गत्वाऽन्ततो विमुञ्चते इत्यादिभिराधियाज्ञिकयोर्योगविमोकयोरधिकृतं वचनम्। स सादयति सोऽध्वर्युः सादयति जुहूपभृतौ घृताचीति मन्त्रेण। साध्व्यौ इति मन्त्रगतस्य सुम्ने इत्यस्य व्याख्यानम्, साधौ इति सुम्ने इत्यस्य। सुम्नं सुखं तच्च साध्वित्यभिप्रायः। स्पष्टमेवास्य मन्त्रस्य जुहूपभृतोविमोचने अनो धुर्यासादने विनियुक्तत्वात् ते एवोच्येते नाग्निवायू। अत एव श्रुत्या प्रथमस्य सुम्ने इत्यस्य साध्व्यौ इति व्याख्यानं कृतम्। न चाग्निवाय्वोस्तत्सङ्गच्छते। कात्यायनसूत्रयोरप्ययमेवाभिप्रायः।

तथा चायं मन्त्रार्थः हे जुहूपभृतौ! युवां घृताची स्थः घृतमञ्चतः प्राप्नुत आज्याहुत्यादिसाधनत्वाद् इति घृताची, पूर्वसवर्णदीर्घः, घृताची भवतः। तथाविधे युवां धुर्यौ धुरमर्हत इति धुर्यौ अनड्वाहौ पातं रक्षतम्। किञ्च, युवां सुम्ने स्थः सुखरूपे भवथः। तस्मात् सुम्ने सुखे मामाधत्त मां स्थापयतम्। 'यज्ञ नमश्च इति वेदिमालभते' (का० श्रौ० ३।६।२०)। यज्ञ नमश्चेति मन्त्रेण वेदिमालभते। अतः पूर्वस्माद्भिन्नोऽयं मन्त्रः—अस्य मन्त्रस्य [1]सूर्पं पवमान ऋषिरुद्बालवान् धनान्नवानित्येते ऋषय इत्युव्वटाचार्यः। शूर्पं यवमान् कृषिरुद्बालवान् धनान्नर्वानिति पञ्च ऋषय इति महीधराचार्यः। यज्ञो देवता।

भाष्यसार—स्वामी दयानन्दने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि जैसे मैं यज्ञ के अनुष्ठान में स्थित हूँ, वैसे ही तुम भी उसमें स्थित रहो। ईश्वर भी कहता है कि हे मनुष्यों! क्रियाकाण्ड के निमित्तभूत अग्नि, और वायु से अपने कार्यों को सम्पादित कर सुख की वृद्धि करो। मेरी आज्ञा का पालन करो, उसको नमस्कार करो।

किन्तु यह दयानन्दीय व्याख्यान नितान्त सारहीन है, क्योंकि ईश्वर के वाक्यों में पिष्टपेषण नहीं हुआ करता। कार्य सम्पादन की बात तो कही, किन्तु कार्यपद्धति का निर्देश एक बार भी नहीं किया। 'घृताची' पद से अग्नि और वायु की धारण—आकर्षण क्रिया को बोधित करना भी निर्मूल है। 'यज्ञो नमश्च' यह वाक्य जीव का है या ईश्वर का है? दोनों में से किसी का भी यह वाक्य नहीं हो सकता। अन्यथा अनेक दोष उपस्थित होंगे। तस्मात् दयानन्दीय व्याख्यान शतपथ, श्रौतसूत्र के विरुद्ध होने से नितान्त सारहीन है।

१. अस्य मन्त्रस्य १. सूर्पम्, २. पवमानः, ३. ऋषिः, ४. उद्बालवान्, ५. धनान्नवानिति ऋषय उव्वटाचार्यमते। महीधराचार्यमते तु १. शूर्पम्, २. यवमान्, ३. कृषिः, ४. उद्बालवान्, ५. धनान्नर्वानिति। हस्तलिखितपाठेषु भ्रंशान्न सम्यङ् निर्णेतुं पार्यते।

हे यज्ञ! प्रकृतयज्ञः, इज्यते नानाविधैर्यज्ञैर्यः स परमेश्वरो वा सम्बोध्यते। नमश्च ते तुभ्यं नमस्कारश्चास्तु। उप उपचयो वृद्धिश्च तेऽस्तु। परमेश्वरस्य लोकोत्तरमाहात्म्याभिवृद्धिः, यज्ञस्य चोत्कृष्टफलदानसामर्थ्यवृद्धिरेव वृद्धिः। चकारौ समुच्चयार्थौ नम-उपशब्दाभ्यां यज्ञस्य यदतिरिक्तं यच्च न्यूनं जातं तत्पूर्णं जायते। 'यदतिरेचयति तन्नमस्कारेण शमयति। अथ यदूनं करोत्युप चेति तेन तदन्यूनं भवति' (श० ११।२।३।९) इति श्रुतेः। किञ्च, यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व अन्यूनानतिरिक्तं यज्ञं कुरु। 'यद्वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं तच्छिवं तेन तदुभयꣳशमयति' (श० ११।२।३।९) इति श्रुतेः। मे मम स्विष्टे सन्तिष्ठस्व साधु इष्टं स्विष्टं तस्मिन् मे मम सन्तिष्ठस्व समाप्तिं याहि, पूर्णो भवेत्यर्थः।

ईश्वरपक्षे तु—हे परमेश्वर! ते तुभ्यं नमोऽस्तु। त्वत्प्रसादाद्यज्ञस्य प्रकृतस्य उपचयो वृद्धिः, अन्यूनानतिरिक्तताऽस्तु। 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥' 'मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः। सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं तव॥' (भा० पु० ८।२३।१६), 'यत्पादपद्मस्मरणाद्यस्य नामजपादपि। न्यूनं कर्म भवेत्पूर्णं तं वन्दे साम्बमीश्वरम्॥' (शि० पु० ६।१२।६०) इति पुराणवचनात्। हे यज्ञ परमेश्वर! यज्ञस्य प्रकृतस्य शिवे कल्याणे सन्तिष्ठस्व यज्ञस्य साङ्गोपाङ्गतायै त्वं यज्ञे पूज्यत्वेन भोक्तृत्वेन च सम्यक् स्थिरो भव। मे मम स्विष्टे त्वदनुग्रहेण साधुसम्पन्ने यागे सन्तिष्ठस्व तदधिष्ठातृत्वेन स्वामित्वेन च सम्यगधितिष्ठ॥ १९॥

अग्ने॑ऽदब्धायोऽशीतम पा॒हि मा॑ दि॒द्योः पा॒हि प्रसि॑त्यै पा॒हि दुरि॑ष्ट्यै पा॒हि दु॑रद्म॒न्या अ॑वि॒षं नः॑ पि॒तुं कृ॑णु। सु॒षदा॒ योनौ॑ स्वाहा॒ वाड॒ग्नये॑ संवे॒शप॑तये॒ स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै यशो-भ॒गिन्यै॒ स्वाहा॑॥ २०॥

दयानन्दरीत्या—'हे अग्ने अदब्धायो अदब्धमहिंसितमायुर्यस्मात्तत्सम्बुद्धौ। अशीतम अश्नुते व्याप्नोति चराचरं यज्ञं सोऽतिशयितस्तत्सम्बुद्धौ। स वा त्वं यज्ञं दुरिष्टयै दुष्टा इष्टिर्यजनं यस्याः पञ्चम्यर्थे चतुर्थी। पाहि पाति मां दिद्योः प्रमादरूपाद् दुःखात् प्रसित्यै प्रकृष्टा चासौ सितिर्बन्धनं यस्यां तस्यै पाहि। दुरद्मन्यै दुष्टा अद्मनी अदनक्रिया यस्यां तस्यै पाहि। नोऽस्माकं भविष्यविषादिदोषरहितमन्नम्, पितुरित्यन्ननामसु

मन्त्र का वास्तविक अर्थ, जो भाष्य में बताया है, उसे भावार्थ के रूप में हिन्दी में पूर्व दे चुके हैं।

अध्यात्मपक्ष में—हे परमेश्वर! तुमको प्रणाम है। तुम्हारे प्रसाद से प्रकृत यज्ञ में अन्यूनानतिरिक्तता रहे। यज्ञ की सांगोपांगता के सिद्धयर्थ तुम यज्ञ मे पूजनीय तथा भोक्ता के रूप में सम्यक्तया स्थिर रहो। तुम्हारे अनुग्रह से साधुतया सम्पन्न होने वाले याग में उसके अधिष्ठाता और स्वामी बनकर सम्यक्तया स्थित रहो॥ १ ॥

मन्त्रार्थ उपासना करने वाले को अहिंसित आयु देने वाले और भोक्तृतम कहलाने वाले हे गार्हपत्य! शत्रु के द्वारा प्रेरित किये गये वज्र से मेरी रक्षा करो, उसी प्रकार बन्धन की प्राप्ति में कारणीभूत जाल (पाश), अशास्त्रीय याग और दुर्भोजन से मेरी रक्षा करो। मेरा अन्न निर्विष करो और अच्छी तरह से रहने योग्य गृह में मेरी स्थापना करो। ये हवि! तुम सुहुत हो। इस संवेश (साभिलाष स्त्री-पुरुषों का एकत्र शयन करना) का अधिपति जो अग्नि और यश की भगिनी जो वाणीरूप सरस्वती, उसे यह हवि सुहित हो। 'अग्ने अदब्धाया' इस मन्त्र से स्रुक् और स्रुवा का ग्रहण करे। 'अग्नये' और 'सरस्वत्यै' इन मन्त्रों से दक्षिणाग्नि में हवन करे॥ २०॥

(निघ० २।७), पितुं कृणु कुरु करोति वा। लडर्थे लोट्। नोऽस्मान् सुषदा सुखे सीदन्ति यस्यां तस्यां सुपां सुलुगिति ङेः स्थाने आकारादेशः। योनौ युवन्ति यस्यां सा योनिगृहं जन्मान्तरं वा। स्वाहा वाट् सु आहानया सा वाट् क्रियार्थे सत्क्रियायां च कृणु। वयं यशोभगिन्यै यशांसि सत्यवचनादीनि कर्माणि भजितुं शीलं यस्यास्तस्यै स्वकीयं पदार्थं प्रत्याह यस्यां क्रियायां सा। सरन्ति येन तत्सरो ज्ञानम्, तत्प्रशस्तं विद्यते यस्यां वाचि तस्याम्, 'सरस्वतीति वाङ्नामसु' (निघ० १।११)। सरस्वत्यै स्वाहा। सुष्ठु आहुतं करोति यस्यां सा। संवेशपतये सम्यग् विशन्ति ये ते पृथिव्यादयः पदार्थास्तेषां पतये पालकाय परमेश्वराय भौतिकाग्नये वा। अग्नये तुभ्यं स्वाहा नमश्च नित्यं कुर्मः' (पृ० १९१–१९२)।

हिन्दीभाषायां तु—'हे निर्विघ्नायुष्प्रद परमेश्वर हे चराचरव्यापक ! दुष्टाद्वेदविरुद्धाद् यज्ञात् पाहि। तथा मां दिद्योः अतिदुःखाद्रक्ष प्रकृष्टबन्धनात् पाहि दुष्टभोजनविपत्ते रक्ष। मदर्थं दोषरहितमन्नादिपदार्थ-मुत्पादय। नोऽस्मान् सुस्थैर्यदायके योनौ गृहे वेदवाक्यैः साध्यायां क्रियायां स्थिरान् कुरु। यतो वयं सत्यवचना-द्युत्तमकर्मसेवयित्र्यै पदार्थप्रकाशने श्रेष्ठज्ञानदायै वेदवाण्यै धन्यवादं कुर्मः। पृथिव्यादिपदार्थानां पालकाय च धन्यवादनमस्कारे कुर्मः। द्वितीयेऽर्थे –हे जगदीश्वर ! भवन्निर्मितोऽग्निर्दुष्टयज्ञदूषितपदार्थप्रभावात् पाति, तथा मां दुःखात् पाति, दारिद्र्यादिबन्धनात् पाति, दुष्टभोजनक्रियायाः पाति, अस्माकमन्नादिपदार्थान् निर्विषान् करोति, सुखस्थितिदायके गृहे जन्मसु वा वेदवाक्यसाध्यक्रियाणां हेतुश्च भवति। वयं पृथिव्यादिपालकं तमग्निं गृहीत्वा होमाय वेदवाणीप्राप्तये च स्वाहा परमात्मने धन्यवादं कुर्मः' (पृ० १९३) इति।

तदेतत्सर्वमसत्, त्वदभिमतस्वाहाशब्दार्थस्य पूर्वमेव खण्डितत्वात्, निष्प्रमाणव्यत्ययस्य च दूषितत्वात्। मूर्धन्यान्तस्य आयुष्शब्दस्य कथम् 'अदब्धायो' इति रूपम् ? यदि तु 'छन्दसीणः' (उ० १।२) इत्युण्प्रत्ययान्त उकारान्त आयुशब्दस्तदापि दिद्युशब्दस्यातिदुःखं कथमर्थः ? 'इषवो वै दिद्यवः' (श० ५।४।२।२) इत्यत्र त्विषूणां वज्ररूपत्वोक्तिः। अशीतम इत्यत्र कथम् 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः ? भौतिकाग्निपक्षे कथं तेन दुरिष्टेस्त्राणम्, तस्य जडत्वेनावैदिककर्मणो निवारकत्वासिद्धेः। एवं दुरद्मन्या अपि ततो निवारणमशक्यमेव, ज्ञानसाध्यत्वेन तत्रासम्भवात्। संवेशशब्देन पृथिव्यादिपदार्थग्रहणमपि सम्पूर्वकस्य विशतेः साभिलाषस्त्रीपुंसयोरेकत्र शयने रूढत्वाद् अग्नौ तत्पालकत्वमपि चिन्त्यम्। यशोभगिन्यै इत्यत्रापि भगिनीशब्दस्य स्वसृपरत्वे संभवति णिनिप्रत्ययान्तस्य छान्दसत्वेन दीर्घाभावत्वसमर्थनं निर्मूलमेव। शतपथविरुद्धत्वं च तत्।

'अथ जुहूं च स्रुवं च सम्प्रगृह्णाति। अदो हैवाहुतिं करोति यदनयाहुतिं हुत्वा देवलोकं गच्छादिति। तस्माज्जुहूं च स्रुवं च सम्प्रगृह्णाति'। (श० १।९।२।१९), 'स वा अग्नये सम्प्रगृह्णाति। अग्नेऽदब्धायो अशीतमेत्यमृतो ह्यग्निस्तस्मादाहादब्धायवित्यशीतमेत्यशिष्टो ह्यग्निस्तस्मादाहाशीतमेति पाहि मा दिद्योः....पाहि दुरद्मन्या इति सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाहाविषं नः पितुं कृण्वित्यन्नं वै पितुरनमीवं न इदमकिल्विषमन्नं कुर्वित्येवैतदाह। सुषदा योनावित्यात्मन्येतदाह स्वाहा वाडिति। तद्यथा वषट्कृतꣳहुतमेवमस्यैतद्भवति' (श० १।९।२।२०)। अथ जुहूं च स्रुवं च सम्प्रगृह्णाति होतुं तत्स्थमाज्यं न तु चरुवत्तस्याहुतिकरणार्थं किं

भाष्यसार—स्वामी दयानन्द ने संस्कृत में कुछ अन्य व्याख्या की है और हिन्दी में कुछ अन्य व्याख्या कर दी है।

वह सब असत् व्याख्यान है। 'स्वाहा' शब्द के उनके अभिमत अर्थ का खण्डन पहले ही किया जा चुका है। दयानन्द जी ने 'आयुष्' शब्द का 'अदब्धायः' रूप बताया है, किन्तु उन्होंने यह विचार नहीं किया कि मूर्धन्यान्त

कारणं अद एव तृणमध्वर्युः आहुतिं करोति यत् तद् अनक्ति अग्रं जुह्वां मध्यमुपभृति मूलं ध्रुवायामिति । किमर्थं जुहूं च स्रुवं च सम्प्रगृह्णाति किमर्थं वा अनक्ति ? तत्राह— आहुतिर्भूत्वा ःदमाज्यं देवलोकं गच्छादिति । पूर्वोक्तं संप्रग्रहमनूद्य मन्त्रं विधत्ते-अग्नेऽदब्धाय्योशीतमेति । मन्त्रं व्याचष्टे— अशिष्ठो ह्यग्निस्तस्मादाहाशीतमेति । अश्नाति भुङ्क्ते इत्यशी अतिशयेनाशी अशीतमो भोक्तृतमः । पाहि मा दिद्योरिति भागं व्याचष्टे सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह । अविषं नः पितुं कृण्विति व्याचष्टे— गोपाय अन्नं वै पितुरनमीवं न इदमकिल्विषमन्नं कुर्वित्येवैतदाह । अमीवा व्याधिः, स यस्य कार्यतया नास्ति तदनमीवं सुषदा योनावित्यस्य व्याख्यानम् आत्मन्येतदाह—आत्मनि अग्नौ दक्षिणाग्निहोमादिशाखान्तरात् ।

'शंय्वन्ते वेदतृणमादायानक्ति प्रस्तरवत् स्रुचि स्रुवे स्थाल्यां च' (का० श्रौ० ३।७।११) शंयुवाके क्रियमाणे वेदतृणं गृहीत्वा प्रस्तरवदग्रं जुह्वां मध्यं स्रुवे मूलं स्थाल्यां व्यन्तु वय इति मन्त्रावृत्त्याऽञ्ज्यादध्वर्युः । 'प्रास्य-तृणादिपूर्ववत्' (का० श्रौ० ३।७।१३), 'शंय्वन्ते स्रुक्स्रुवं प्रगृह्णात्यग्नेऽदब्धायविति' (का० श्रौ० ३।८।१४) । शंयोर्वाकान्ते कर्मणि कृतेऽध्वर्युः स्रुक्स्रुवं तूष्णीं प्रगृह्य गार्हपत्ये अग्ने अदब्धायविति मन्त्रेण जुहुयात् । स्वाहावाडिति तद्यथा वषट्कृत७ं हुतमेवास्यै तद्भवति ।

तथा च श्रुतिसूत्रसम्मतोऽयमर्थः सम्पद्यते—'सव्येनावृत्य दक्षिणाग्नौ जुहोत्यग्नय इति सरस्वत्या इति च' (का० श्रौ० ३।७।१५) । सकृद्गृहीतमाज्यमग्नय इति सरस्वत्या इति मन्त्रेण गार्हपत्यं प्रदक्षिणं परीत्य जुहोति । अदब्धायो अदब्धः अहिंसितः आयुर्मनुष्यो यजमानरूपो यस्याग्नेः सोऽदब्धायुस्तत्सम्बुद्धौ अदब्धायो अहिंसितयजमानाग्ने ! 'आयुरिति अन्ननाम' (निघ० २।७।२३) । अथवा अदब्धमनवखण्डितमायुर्यस्य तत्सम्बुद्धौ हे अदब्धायो अग्ने ! अस्मिन् पक्षे 'छन्दसोणः' (उ० १।२) इति व्युत्पादित उकारान्त आयुशब्दः । अशीतमः अश्नातीत्यशीः 'अश भोजने' अतिशयेनाशीरित्यशीतमो भोक्तृतमः । दीर्घत्वमत्रापि छान्दसम् । यद्वा 'अशूङ् व्याप्तौ' इत्यस्माद्रूपम् । अश्नुते व्याप्नोतीत्यशी सोतिशयितोऽशीतमो व्यापकतमः । एवं स्तुत्वा याचते पाहि मा दिद्योः । उक्तविशेषणद्वययुक्ताग्ने मां दिद्योर्वज्रात्, 'दिद्युदिति वज्रनामसु पठितम्' (निघ० २।२०।१), शत्रुप्रयुक्ताद्वज्रसमादायुधाद् मां पाहि रक्ष । पञ्चम्यर्थे चतुर्थी । बन्धनहेतुर्जालविशेषः प्रसितिः, तस्याः शत्रुप्रयुक्तायाः, मां पाहि । 'प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालं वा' (नि० ६।१२) इति निरुक्तवचनात् । दुष्टा इष्टिः दुरिष्टिः अशास्त्रीयो यागः, तस्मान्मां पाहि । अदनमद्मनी । दुष्टा अद्मनी दुरद्मनी दुर्भोजनं ततो मां पाहि । चतुर्थ्यः सर्वत्र पञ्चम्यर्थे, 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' (पा० सू० १।४।२५) इति सूत्रात् । पितुरित्यन्ननाम । नोऽस्मदीयमन्नं विषादिकिल्विषरहितं कुरु । 'योनिरिति गृहनाम' (निघ० ३।४) । सुष्टुसदने सम्यगवस्थानयोग्ये योनौ गृहे मां स्थापयेति शेषः । सुषद्यते स्थीयते यस्यां सा सुषदा तस्यां सुषदा । बिभक्तेराकार इति महीधरः । गृहे स्थितानां नोऽन्नमविषं कुरु । स्त्रीपुंसयोः साभिलाषमेकत्र शयनं संवेशः । तस्य पतिरग्निः । तस्मै स्वाहा हविर्दत्तमस्तु । जीवतः प्रशंसा यशः, तस्य भगिनी स्वसा वाग्रूपा सरस्वती, उभयोरेकाश्रयजन्यत्वात् । तस्यै हविर्दत्तमस्तु । स्वाहावाडिति हविर्दानसम्बन्धिपदद्वयप्रयोगेण हविर्दान आदरातिशयस्य द्योतनाय ।

अध्यात्मपक्षेऽपि—हे अग्ने अदब्धायो अनुपक्षीणायो ! कूटस्थनित्यस्वरूपमात्मन् ! अशीतम व्यापकतम ! आकाशादयोऽपि व्यापनाः सन्ति, तदपेक्षयातिशयेन व्यापकः, आकाशादिष्वपि व्यापकत्वात् । मां दिद्योर्वज्रोप-

'आयुष्' शब्द का 'अदब्धायः' रूप कैसे हो पायगा ? उसी तरह 'दिद्यु' शब्द का 'अतिदुःख' अर्थ कैसे होगा ? ऐसे अनेक अप्रामाणिक विचार उन्होंने व्यक्त किये हैं, जिन्हें भाष्य पढ़ने पर अवगत किया जा सकता है ।

माद्विपाकविस्फूर्जथोर्दुःखात् पाहि जन्ममृत्युप्रहाणहेतुज्ञानोत्पादनेन रक्ष। प्रसितेः कर्मबन्धनाच्च पाहि कर्मबन्धनमेव प्रकृष्टं बन्धनम्, संसारबन्धनस्य तदपेक्षया नगण्यत्वात्। अविद्याबन्धनाद्वा प्रकृष्टबन्धनाद्रक्ष। दुरिष्टेरपि सर्वान्तर्यामित्वान्मनोबुद्धिनियामकत्वात् त्वमेव वेदशास्त्रतदुक्तार्थप्रकाशननिष्ठोत्पादनादिद्वाराऽशास्त्रीयाज्जनात् त्वमेव रक्षितुमर्हसि। दुरद्मन्या दुर्भोजनादपि विवेकोत्पादनरागादिप्रमादवारणद्वाराऽपि मां रक्ष। नोऽस्माकं पितुमन्नमन्नोपलक्षितं सकलभोग्यजातमविषं निष्किल्बिषं कृणु त्वमेव सम्पादय, आहारशुद्धेर्भगवन्निष्ठाहेतुत्वात्, 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' (छा० ७।२६।२) इति श्रुतेः। सुषदा योनौ शोभनस्थितिध्यानधारणाभक्तिसम्पादनयोग्ये गृहे मां स्थापयेति शेषः। गृहशरणादिपदमाश्रयपरम्, सुष्ठु सद्यते यस्यां सा, तस्यां सुखदस्थित्याश्रये भगवद्रूपे आश्रये मां निवेशय। संवेशपतये संविशन्ति जना यत्र ते संवेशा लोकास्तेषां पतिः परमेश्वरोऽग्निः पापतापनाशकः परमेश्वरस्तस्मै स्वाहावाट् सम्पूर्णभावेन परमादरेणाहमात्मानं समर्पयामि। अथवा संवेशस्य स्त्रीपुंसयोः साभिलाषशयनस्य पतिरग्निः, तादृशशयनमूलकविवाहस्याग्निसाक्षिकत्वात्। संवेशपतिः परमात्मा च, संवेशस्य तदुपादानवेदमूलकत्वात्। तस्मै परमात्मने समर्पणं युक्तम्। सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा यशसा प्रशंसनीयेन विश्वपावनत्वादिगुणेन सञ्जातायै तद्भगिन्यै सर्वेश्वरकृपायै स्वाहा इदमात्मस्वरूपं हविर्दत्तमस्तु ॥ २० ॥

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳस्वाहा वाते धाः ॥ २१ ॥

अत्र श्रीदयानन्दः—'हे जगदीश्वर येन त्वं वेदोऽसि परमेश्वरो ऋग्वेदादिर्वा असि सर्वं च वेद येन त्वं देवेभ्यो विद्वद्भ्यो वेदोऽभवस्ते वेदयिता भवसि भवति वा स विज्ञानप्रकाशनेन त्वं मह्यमपि वेदो ज्ञापको भूयाः। हे गातुविदो देवा गीयते स्तूयतेऽनया सा गातुः स्तुतिस्तस्य विदो वक्तारः 'गा स्तुतौ' इति 'कनिमनिजनि…' (उ० १।७३) इत्यनेन तुप्रत्ययः। भवन्तो येन विज्ञानप्रकाशेन सर्वा विद्या विदन्ति तेन यूयं गातुं गीयते ज्ञायते येन स वेदस्तं वित्त्वा लब्ध्वा गातुं गीयते शब्द्यत इति गातुर्यज्ञस्तमित प्राप्नुत। हे मनसस्पते मनसो ज्ञानस्य पालक देव ! त्वमिमं प्रत्यक्षमनुष्ठातव्यं वाते वायौ धाः धापय धापयति वा स्वाहा सुष्ठु आहुतं हविः करोत्यनया सा। हे देवास्तमिमं यज्ञं क्रियाकाण्डं संसारं वा मनसस्पतिं परमेश्वरमेव देवं नित्यमुपासीध्वम्। पक्षान्तरे सर्वत्र व्यत्ययः। हे देव येन त्वं चराचरज्ञातासि सर्वं जगज्जानासि। येन विज्ञानेन वेदेन वा विद्वद्भ्यः पदार्थानां वेदयिता भवसि, तेन विज्ञानप्रकाशेन विज्ञानजिज्ञासवे मह्यं वेदयिता भूयाः। हे गातुविदः स्तुतिविदो देवाः ! येन वेदेन मनुष्याः सर्वा विद्या जानन्ति, तेन यूयं गातुं विशेषविज्ञानं वित्त्वो-

अध्यात्मपक्ष में—प्रस्तुत मन्त्र के द्वारा परमेश्वर की अत्यधिक व्यापकता को बताया गया है और सर्वविध विपत्तियों से अपनी सुरक्षा की प्रार्थना की गई है ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—कुशमुष्टिनिर्मित हे वेदपदार्थ ! तुम ऋग्वेदादिरूप हो। हे प्रकाशक वेद ! जिस प्रकार तुम देवताओं के बोधक हुए हो, उसी प्रकार मेरे बोधक बनो। हे यज्ञवेत्ता देवताओं ! हमारा यज्ञ आरम्भ हुआ, यह ज्ञात होते ही तुम सब यज्ञ में पधारो। हमारे यज्ञ से सन्तुष्ट होने पर अपने मार्ग से जाओ। हे मन के अधिपति चन्द्ररूप परमेश्वर ! मैं इस अनुष्ठित यज्ञ को तुम्हारे स्वाधीन कर रहा हूँ। तुम उसे वायुरूप देवता में स्थापन कर दो। 'वेदोऽसि' इस मन्त्र से यजमानपत्नी वेद=कुशमुष्टि को खोल दे। 'देवा गातुविदः' इस मन्त्र से ध्रुवा पात्र से समिष्टयजुःसंज्ञक होम करना चाहिये ॥ २१ ॥

पलभ्य गातुं प्रशंसायोग्यं वेदं प्राप्नुत । हे मनसस्पते विज्ञानपालक देव सर्वजगत्प्रकाशक परमेश्वर ! भवानिमं प्रत्यक्षानुष्ठानयोग्यं यज्ञं क्रियाकाण्डेन सिद्धं यज्ञरूपं संसारं स्वाहाक्रियानुकल्पे वाते पवने स्थापय । हे देवास्तं विज्ञानदातारं परमेश्वरमुपासतम्' (पृ० १९४), 'हे मनुष्याः ! सर्वत्रेत्रा वेदविद्या प्रकाशिता। तमेवोपास्य विदित्वा क्रियाकाण्डमनुष्ठाय सर्वहितं सम्पादयत, नैव वेदविज्ञानेन तत्रोक्तविधानानुकूलस्यानुष्ठानेन च विना मनुष्याणां कदाचित् सुखं भवति। वेदविद्यया सर्वसाक्षिणं सर्वतो व्यापकं मत्वैव नित्यं धर्मस्यानुष्ठातारो भवत' (पृ० १९५) इति ।

तदेतत्सर्वं वेदाक्षरबाह्यमेव, अनुपपत्तेः, उक्तविधानानुकूलं किमित्यस्यानुक्तत्वात् । तदनुष्ठानेन विना मनुष्याणां नैव कदाचित्सुखं भवतीति निरर्थकमेव, यतो मन्त्ररूपे वेदे किञ्चिद्विधानं नास्त्येव, विधिनिषेधानां ब्राह्मणान्तर्गतत्वात्, तेषां च त्वया वेदत्वानभ्युपगमात् । प्रमाणविधुरो व्यत्ययोऽपि न युक्तः, यथाश्रुतानुपपत्तावेव तस्याश्रयणीयत्वात् । तस्या विदो वक्कार इत्यप्यसाम्प्रतम्, विदेर्वचनार्थतायाः प्रमाणविरहात् । गीयते शब्द्यते यः स यज्ञ इत्यप्यसङ्गतम्, सर्वस्य शब्द्यत्वाविशेषात् । न वा वायुजलशुद्धिप्रयोजनो यज्ञो वेदेन शब्द्यते, पशुपुत्रादिफलकब्राह्मणसूत्राद्युक्तयज्ञस्यैव वेदवेद्यत्वात् । न च मनस्पदेनाधुनिकविज्ञानबोधः सम्भवति, तेन तस्य शक्तिग्रहाभावात् । न वा संसारो यज्ञशब्दार्थः, व्याकरणकोशादिभिरसमर्थनात् ।

शतपथे तु ब्राह्मण-सूत्र-याज्ञिकपद्धतिसम्मतस्यैव यज्ञस्य समर्थनं दृश्यते। तथाहि--'अथ वेदं पत्नी विस्रꣳसयति। योषा वै वेदिर्वृषा वेदो मिथुनाय वै वेदः क्रियतेऽथ यदेनेन यज्ञ उपालभते मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते' (श० १।९।२।२१), 'पत्नी वेदं प्रमुञ्चति वेदोऽसीति योक्त्रं च' (का० श्रौ० ३।८।२)। नहि परमात्मनो वेदस्य वा पत्नीकर्तृकं विस्रंसनं सम्भवति, तस्मात् कुशमुष्टिरेवात्र वेदपदार्थः । नहि 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इति श्रुतौ वेदिकरणात् प्राक् परमेश्वरस्य वेदस्य वा निर्माणं सम्भवति । 'प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वा बध्नातु सविता सुशेवः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥' (ऋ० सं० १०।८५।२४) इति पत्नी वेदं कुशमुष्टिविशेषं वेदोऽसीति मन्त्रं पठित्वा विस्रंसयेत् । 'यद्धि युक्तं न विमुच्यते प्र तद्ह्यते' (श० ६।७।४।८) इत्यत्र तदर्थवादं वक्ष्यति। पत्न्याः कर्तृत्वेऽप्यर्थवादं (श० १।९।२।२२) इत्यत्र वक्ष्यति । विस्रंसनप्रसङ्गात् तदुत्पत्तिविनियोगावाह । तत्रोत्पत्तिस्तावत् 'योषा वै वेदिः' इति । विनियोगस्तु--'अथ यत्' इति । 'अथ यत् पत्नी विस्रꣳसयति। योषा वै पत्नी वृषा वेदो मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते। तस्माद्वेदं पत्नी विस्रꣳसयति' (श० १।९।२।२२)। एतेन वेदेन यज्ञे यत्किञ्चिद् उपालभते उपगृह्णाति । गृहीतमपि सद् उपचर्याय उपकाराय सुगृहीतत्वाद् यद् गृह्णाति, यन्मिथुनं क्रियते उपग्राह्यस्य च वेदस्येत्युपग्रहणे विनियोगः--'सा विस्रꣳसयति वेदोसि ''वेदो भूया इति यदि यजुषा चिकीर्षेदेतेनैव कुर्यात्' (श० १।९।२।२३) ।

विस्रंसनमनूद्य वेदोऽसीति मन्त्रं विधत्ते--यदि यजुषा चिकीर्षेदेतेन वेदोऽसीति मन्त्रेणैव विस्रंसनं कुर्यात् । यदिशब्दात् पाक्षिकं वेदस्य यजुषा करणमिति गम्यते । अथ यजुषाकरणचिकीर्षाऽनुपपन्नेति सामर्थ्यात् पतिः कुर्यात् करणमासाद्याज्यनिर्वापकाले चिकीर्षति। कः पुनः कुर्याद् यजमानः शाखान्तरात् मह्यं भूया इति मन्त्रलिङ्गाच्चेति हरिस्वामी। 'तमा वेदेः सꣳस्तृणाति। योषा वै वेदिर्वृषा वेदः। पश्चाद्वै परीत्य वृषा

भाष्यसार--इस मन्त्र की स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह सब वेदाक्षरबाह्य है। स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र के द्वारा जो विधान बताये हैं, वे अनुचित हैं, क्योंकि मन्त्ररूप वेद में कोई विधि होता ही नहीं है। विधि-निषेध तो ब्राह्मणरूप वेद में हुआ करते हैं और 'ब्राह्मण' को तो स्वामी दयानन्द 'वेद' नहीं मानते। तथा

योषामभिद्रवति पश्चादेवैनामेतत्परीत्य वृष्णा वेदेनाधिद्रावयति । तस्मादा वेदेः सꣳस्तृणाति' (श० १।९।२।२४)। आङ् अभिविधौ । वेदिं व्याप्य सꣳस्तृणात्यध्वर्युः । हौत्रे विशेषवचनाद् होता संस्तृणाति । अभिव्याप्तेरर्थवादः—यथा पश्चाद्वै परीत्य वृषा योषामभिद्रवति तथैव पश्चादेवैनां वेदिं परीत्याभिव्याप्य वृष्णा वृषरूपेण वेदेनाधिद्रावयति । तस्मादावेदेः संस्तरणम् । नहि वेदेन परमात्मना वेदेः स्तरणं सम्भवति, किन्तु विस्रस्तकुशैरेव वेदेः स्तरणं सम्भवति ।

'अथ समिष्टयजुर्जुहोति । प्राङ्मे यज्ञोऽनुसन्तिष्ठाता इत्यथ यद्धुत्वा समिष्टयजुः पत्नीः संयाजयेत् । प्रत्यङ्ङु हैवास्यैष यज्ञः सन्तिष्ठेत । तस्माद्वा एतर्हि समिष्टयजुर्जुहोति प्राङ्मे यज्ञोऽनुसन्तिष्ठाता इति' (श० १।९।२।२५) 'अथ यस्मात्समिष्टयजुर्नाम । या वा एतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै तत्ताः समिष्टा भवन्ति । तद्यत्तासु सर्वासु समिष्टास्वथैतज्जुहोति तस्मात् समिष्टयजुर्नाम' (श० १।९।२।२६), 'अथ यस्मात् समिष्टयजुर्जुहोति । या वा एतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायत उप ह वै ता आसते यावन्न समिष्टयजुर्जुह्वतीदं नु नो जुह्वत्विति ता एवैतद्यथायथं व्यवसृजति । यत्र यत्रासां चरणं तदनु यज्ञं वा एतदजीजनत यदेनमतत तं जनयित्वा यत्रास्य प्रतिष्ठा तत्प्रतिष्ठापयति । तस्मात् समिष्टयजुर्जुहोति' (श० १।९।२।२७), 'स जुहोति । देवा गातुविद इति गातुविदो हि देवा गातुं वित्त्वेति यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह गातुमितेति तदेतेन यथायथं व्यवसृजति मनसस्पत इमं देवयज्ञꣳस्वाहा वाते धा इत्ययं वै यज्ञो योऽयं पवते तदिमं यज्ञꣳ सम्भृत्यैतस्मिन् यज्ञे प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञꣳसन्दधाति तस्मादाह स्वाहा वाते धा इति' (श० १।९।२।२८) । 'स्तृणात्यावेदेः' (का० श्रौ० ३।८।३)। गार्हपत्यस्योत्तरत आरभ्य वेदेः पूर्वान्तं यावद्वेदं स्तृणीयात् । अभिविधावाङ् । 'ध्रौवꣳसमिष्टयजुर्जुहोति देवा गातुविद इति' (का० श्रौ० ३।८।४) । अध्वर्युर्ध्रौवमाज्यं जुह्वां गृहीत्वा वातोद्देशेन जुह्वा समिष्टयजुःसंज्ञकं होममाहवनीये कुर्यात् । अत्र होमे वातस्य देवतात्वमिति कर्काचार्यः । अथ समिष्टयजुर्जुहोतीति श्रुत्या समिष्टयजुर्होमविधानम् । तस्यैवार्थवादः—प्राङ्मे यज्ञोऽनुसन्तिष्ठाता । २६ कण्डिकायां समिष्टयजुर्नामनिर्वचनम् । एतेन यज्ञेन या या देवता ह्वयति याभ्यो देवताभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वैता देवतास्तत् तस्मिन् समिष्टा भवन्ति । तस्माद्यत्तासु सर्वासु समिष्टासु समिष्टयजुर्होमं करोति, तस्मादस्य समिष्टयजुर्नाम भवति । तस्मादेव यावन्न समिष्टयजुर्जुह्वति तावत् ता देवता उप ह समीप एव भवन्ति । इदं नु नोऽस्मभ्यं जुह्वत्विति । ता एवैतद्यथायथं व्यवसृजति विसृजति । यत्र यत्रासां देवतानां चरणं तदनु यज्ञं वा एतत् अजीजनत् यदेनं यज्ञं अतत विस्तीर्णवान् तं जनयित्वा यत्रास्य प्रतिष्ठा भवति तत्तत्र प्रतिष्ठापयति । तस्मात् समिष्टयजुर्जुहोति । स जुहोतीति तत्समिष्टयजुर्होममनूद्य देवा गातुविद इति मन्त्रं विधत्ते । वातेधा इति व्याचष्टे । तदिमं यज्ञं संभृत्यैतस्मिन् वातरूपे यज्ञे प्रतिष्ठापयति तदेतद् यज्ञेन यज्ञꣳसन्दधाति ।

तदनेन वेदोऽसीति मन्त्रस्यायमर्थः संपद्यते—हे वेददेव द्योतनात्मक कुशमुष्टिविशेष ! त्वं वेदोऽसि । 'विद् ज्ञाने' वेदितासि । यो ह्युपग्रहः स सन्निकर्षाद् यज्ञं जानाति । वेदश्च शतपथोक्तरीत्या यज्ञे ह्युपग्रहः, वेदेनैव यज्ञ उपगृह्णाति । यतस्त्वं वेदोऽसि, अतो ब्रवीमि येन कारणेन त्वं देवेभ्यो देवानाम्, विभक्तिव्यत्ययः, वेदोऽभवः ज्ञापकोऽभूः, तेनैव कारणेन मह्यं मम वेदो ज्ञापको भूयाः भव । अत्रापि वेदाधिष्ठातृदेव एव प्रार्थ्यते । देवा गातुविद इति समिष्टयजुर्होममन्त्रः । 'इयं विराट्छन्दस्का वातदेवत्या मनसस्पतिदृष्टा ऋक्' इति महीधराचार्यः । अस्याः पूर्वार्धेन देवता व्यवसृजति । 'कै गै शब्दे' इति गीयते प्रतिपाद्यते मन्त्रब्राह्मणात्मकैर्वेदैरिति

अप्रामाणिक व्यत्यय जो किया है, वह उचित नहीं है, क्योंकि यथाश्रुत की अनुपपत्ति होनेपर ही व्यत्यय का आश्रय लिया जाता है । इसी प्रकार अनेक त्रुटियाँ उपलब्ध हो रही हैं । अतः करपात्रभाष्य में श्रुति-सूत्र-याज्ञिक पद्धति के अनुसार उव्वट-महीधर सम्मत जो अर्थ किया गया है, वही सब तरह से समुचित है ।

गातुर्यज्ञः। तं विदन्तीति गातुविदो देवाः। हे तादृशा यज्ञविदो देवाः! गातुं यज्ञमित्वा अस्मदीयो यज्ञः प्रवृत्त इति विदित्वा गातुं यज्ञमित आगच्छत। यद्वा गातुर्गन्तव्यो मार्गः, तमित अस्मदीयेन यज्ञेन सन्तुष्टाः स्वकीयं मार्गं गच्छत। एवं देवान् यथायथं विसृज्य मनसस्पतिमाह—मनसस्पतिर्मनसोऽधिपतिश्चन्द्रमा, हे चन्द्रदेव! इमं यज्ञं वातेधाः वाते वायौ धारयति वाते हि यज्ञोऽवतिष्ठते, 'वायुरेवाग्निस्तस्माद् यदैवाध्वर्युरुत्तमं कर्म करोत्यथैतमेवाप्येति' (श० १०।४।५।१) इति श्रुतेरित्युव्वटाचार्यः। हे मनसस्पते! देवान् यष्टुमस्मदीयस्य मनसः प्रेरणेन पालक! अन्तर्यामिन्! इममनुष्ठितं यज्ञं स्वाहा त्वद्धस्ते समर्पयामि देव वातेधाः वायुरूपे देवे धाः स्थापय। 'वाताद्यज्ञः प्रयुज्यताम्' इति काण्वमन्त्रेण वातस्य यज्ञप्रवर्तकत्वमुक्तम्। अतः समाप्तावपि यज्ञस्थापनं तत्रैव युक्तम्। तथैवाह तित्तिरिः—'ब्रह्मवादिनो वदन्ति। स त्वा अध्वर्युः स्यात् यो यज्ञं प्रयुङ्क्ते। तदेनं प्रतिष्ठापयतीति' (तै० ब्रा० ३।३।९।१२)। तस्मात् श्रुतिसूत्रयाज्ञिकपद्धतिसायणोव्वटमहीधरसम्मतोऽयमेव मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे त्वेवमपि योजयितुं शक्यते—हे देव! दीव्यति जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलया क्रीडतीति देवः परमेश्वरस्तत्सम्बुद्धौ हे देव! येन त्वं वेदः वेदिता सर्वसाक्षी असि त्वं सर्ववेदः-देवानामपि वेदो ज्ञापकोऽभवो भूः, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० उ० ६।१८) इति श्रुतेः। तेन हेतुना मह्यं मुमुक्षवे वेदः स्वरूपसाक्षात्कारकारको भूयाः भवेः। अथवा येन त्वं नित्यं विज्ञानरूपोऽसि त्वं स्वपरस्वरूपं सम्यग् वेद जानासि। त्वमेव देवेभ्यो देवानां हिताय वेदोऽभव ऋग्यजुःसामादिरूपोऽभूः, वेदतदुक्तयज्ञैरेव देवानामाप्यायनसम्भवात्। तेन मह्यमपि वेदमहातात्पर्यविषयब्रह्मात्मज्ञापको भूत्वा ब्रह्मात्मसाक्षात्कारं सम्पादय। हे गातुविदो यज्ञविदो देवा अग्न्यादयः! गातुं मदीयं यज्ञाद्याराधनं वित्त्वा ज्ञात्वा प्रसन्ना भूत्वा गातुं भगवन्मार्गं गन्तुं मामित प्रापयत। अन्तर्भावितणिजर्थोऽत्र द्रष्टव्यः। देवानामनुग्रहेण निर्विघ्नतया विविदिषावेदनादिसम्भवात्, 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति। यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० उ० ४।४।२२) इति श्रुतेः। हे मनसस्पते मनोबुद्ध्यादिप्रवर्तक परमेश्वर! 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥' (भ० गी० १८।६१) इति भगवद्वचनात्। हे देव! इमं यज्ञं मदनुष्ठितं त्वदाराधनलक्षणं स्वाहा तुभ्यं समर्पयामि वातेन प्राणेनेध्यन्ते दीप्यन्त इति वातेधाः कर्मज्ञानेन्द्रियवृत्तयः, ताश्च त्वयि स्वाहा समर्पयामः॥ २१॥

सम्बर्हिरङ्क्ता॑ꣳ हविषा॑ घृतेन॒ समा॑दि॒त्यैर्वसु॑भिः॒ सम्म॒रुद्भिः॑। समिन्द्रो॑ वि॒श्वदे॑वेभिरङ्क्तां दि॒व्यं नभो॑ गच्छतु॒ यत्स्वाहा॑॥ २२॥

अत्र स्वामिदयानन्दः—'हे मनुष्य भवान् यद् यदा इदं होतव्यं द्रव्यं हविषा होतुमर्हेण शुद्धेन संस्कृतेन हविषा घृतेन सह संयुक्तं कृत्वादित्यैर्वसुभिर्मरुद्भिर्द्वादशभिर्मासैरग्न्यादिभिरष्टभिर्वसुभिर्वायुविशेषैः सह सुखं

अध्यात्मपक्ष में—परमेश्वर को सर्वसाक्षी बताया है। उसीसे अपने स्वरूपसाक्षात्कार की प्रार्थना की गई है। परमेश्वराराधनात्मक यज्ञ को परमेश्वर के ही अर्पण करने के लिये कहा गया है। अपनी दशेन्द्रियों की वृत्तियों को परमेश्वर के ही अर्पण करने की बात मन्त्र के द्वारा बताई गई है॥ २१॥

मन्त्रार्थ—इन्द्रदेवता संस्कारयुक्त घृत से दर्भ को अञ्जन करे। उसी तरह वह आदित्य, वसु, मरुत् और विश्वेदेव के सहित दर्भ को अञ्जन करे। इनके द्वारा किया हुआ वह दर्भ द्युलोक स्थित आदित्यरूप ज्योति को प्राप्त हो। ये हवि सुहुत हों। 'सम्बर्हि' इस मन्त्र से बर्हि (दर्भ) का हवन करे॥ २२॥

समङ्क्तां संयोजयतु। अयमिन्द्रः सूर्यलोको यज्ञे स्वाहा यत्सुगन्धादिद्रव्ययुक्तं हविः समङ्क्ताम्। सम्मिश्रितैर्विश्वदेवेभिर्दिव्यैः स्वकीयै रश्मिभिर्नभः सङ्गच्छतु सम्यक् प्रकटयतु' (पृ० १९७), 'यज्ञे संशोधितं यद्धविरग्नौ प्रक्षिप्यते तदन्तरिक्षे वायुजलसूर्यकिरणैः सह वर्तमानमितस्ततो गत्वा आकाशस्थान् सर्वान् पदार्थान् दिव्यं कृत्वा सततं प्रजाः सुखयति। तस्मात् सर्वैरुत्तमसामग्र्या श्रेष्ठैः साधनैस्त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेयः' (पृ० १९७) इति भावार्थः। मन्त्रे बर्हिःपदमस्ति। बृहन्ते सर्वे पदार्था यस्मिंस्तद्बर्हिरन्तरिक्षमिति व्याख्यातम्, अन्वये च तत् त्यक्तमेव। 'हे मनुष्य! भवान् यद् यदा हविर्घृतादियुक्तं होष्यते, तदा तद् आदित्यैर्मासैः, वसुभिरग्न्यादिभिरष्टनिवासस्थानैः, मरुद्भिः प्रजाजनैः सह सम्भूय सम्यक् सुखं प्रकाशयिष्यति। इन्द्रः सूर्यलोकः स्वाहा उत्तमक्रियया यज्ञे त्यक्तं सुगन्ध्यादिपदार्थयुक्तं हविः, अन्तरिक्षं सङ्गच्छतु सङ्गमयति। तेन सम्मिश्रितं विश्वदेवेभिः स्वकिरणैर्दिव्ये स्वीये प्रकाश एकत्रितं नभोजलं समङ्क्ता सम्यक् प्रकटयति' (पृ० १९७)। अत्र तदीयव्याख्यानेऽपि परस्परं समन्वयो नास्ति। पूर्वोक्तभावो हिन्दीव्याख्यानुसारेण गृहीतः। तत्राप्यन्तरिक्षपदं नास्ति। पदार्थेऽन्वयाय मया योजितम्। मरुद्भिर्वायुविशेषैरित्यर्थः कृतः, हिन्द्यां तु प्रजाजनैरित्यर्थः कृतः। स्वाहा इत्यस्य शोभनं हविर्जुहोति यया क्रियया सा इत्यादिरर्थः। इत्थमस्य व्याख्याने सर्वत्र निरङ्कुशत्वमेव दृश्यते। यथाकथञ्चित् निघण्ट्वाद्याश्रयेण मन्त्राणामभिप्रेतार्थ-विरुद्धोऽप्यर्थः कर्तुं शक्यते। श्रीवंशीधरेण विदुषा श्रीमद्भागवताद्यपद्यस्याभिप्रेतार्थानुगुणानि शताधिकानि व्याख्यानानि कृतान्येव।

स्वयमेवायमयं मन्त्रः (श० १।९।२।२९-३१) इत्यत्र व्याख्यात इति वर्दात। तदपि नानुसरत्यस्य व्याख्यानम्। तथाहि—'अथ बर्हिर्जुहोति। अयं वै लोको बर्हिरोषधयो बर्हिरस्मिन्नेवैतल्लोक ओषधीर्दधाति। ता इमा अस्मिल्लोक ओषधयः प्रतिष्ठितास्तस्माद् बर्हिर्जुहोति' (श० १।९।२।२९)। अस्यां कण्डिकायाम् अयं लोको बर्हिरिति स्पष्टमुक्तम्। इदंपदेनापरोक्षः पृथिवीलोक एव गृह्यते। कथमयं लोको बर्हिरित्युपपादयति श्रुतिः। ओषधयो बर्हिस्तस्माद् बर्हिषो होमेनास्मिल्लोक ओषधीर्दधाति। ताश्चौषधयो व्रीहियवाद्या अस्मिन्नेव लोके प्रतिष्ठिताः, तस्माद् बर्हिर्जुहोति। अत्र बर्हिष्पदवाच्या दर्भा एव, तत्सामान्या व्रीहियवाद्या अपि बर्हिष्पदार्थाः। ओषधीनां प्रतिष्ठाधारत्वादस्मिन् पृथिवीलोकेऽपि गौण्या वृत्त्या बर्हिःपदं प्रवर्तते। अत्र बर्हिर्होमः श्रूयते। नान्तरिक्षलोकस्य न वास्य लोकस्य होमो भवति। तस्माद् बर्हिःपदेन दर्भ एव गृह्यते। बृहि वृद्धाविति धातोर्बर्हिःपदनिष्पत्तिः। तस्मात् परिवृद्धोऽयं लोको बर्हिरुच्यते। तथा च धात्वर्थयोगादयं लोको बर्हिः, ओषधित्वाद्ये सर्वा ओषधयो बर्हिःपदार्थाः। ततश्च यद्बर्हिरधियज्ञं जुहोति तत एतल्लोके ओषधीः (बर्हिष ओषध्यात्मकत्वात्) दधाति। तत्रेदं तथैव दृश्यते। 'बर्हिः सम्बर्हिरिति' (का० श्रौ० ३।८।५)। अनेन वेद्यां स्तृतं बर्हिर्जुह्वां निधायाहवनीये जुहोति। 'तां वा अतिरिक्तां जुहोति। समिष्टयजुर्ह्यवान्तो यज्ञस्य यदूर्ध्वं७-

भाष्यसार—स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या में मनुष्य को नित्य यज्ञानुष्ठान के लिये कहा है। मन्त्र में 'बर्हि' पद है, उसकी व्याख्या भी की है, किन्तु अन्वय करते समय उसे भूल गये। व्याख्या में पदों का परस्पर कोई समन्वय नहीं है। संस्कृत व्याख्या में कुछ अन्य अर्थ किया है और उसी की हिन्दी करते समय कुछ अन्य ही अर्थ कर दिया है। तात्पर्य यह है कि व्याख्या करने में निरङ्कुशता बरती है।

श्रुति-सूत्र-याज्ञिकपरम्परा के अनुकूल जो अर्थ करपात्रभाष्य में किया गया है, उसी को मन्त्रार्थ के रूप में लिख दिया गया है।

समिष्टयजुषोऽतिरिक्तं तद्यदा हि समिष्टयजुर्जुहोत्यथैताभ्यो जुहोति तस्मादिमा अतिरिक्ता असम्मिता ओषधयः प्रजायन्ते' (श० १।९।२।३०)। बर्हिराहुतिं यज्ञादतिरिक्तां जुहोति। कुतः ? समिष्टयजुर्होमस्यैव यज्ञान्तत्वात्, तस्य देवताविसर्जनार्थत्वात्। ततश्च या ऊर्ध्वं समिष्टयजुषः सातिरिक्ता। तृप्तासु गतासु देवतासु तद्यदा समिष्टयजुर्जुहोति, अथ तदनन्तरं एताभ्य ओषधिभ्योऽर्थाय तादर्थ्ये चतुर्थी। ओषधयोऽस्मिल्लोके कथं नाम भविष्यन्तीत्येवमर्थं बर्हिर्जुहोति। यस्माद्यज्ञादतिरिक्तोऽयं बर्हिर्होमस्तस्मादतिरिक्ता तस्यैव व्याख्यानमसम्मिता अधिका अपरिमिता ओषधयः प्रजायन्ते बर्हिर्होमप्रभावात्।

'स जुहोति संबर्हिरङ्क्ता७हविषा...स्वाहेति' (श० १।९।२।३१)। विहितं हविर्होममनूद्य संबर्हिरिति मन्त्रं विधत्ते—स जुहोति संबर्हिरङ्क्तामिति। इयं बर्हिर्देवत्या विराड्रूपा त्रिष्टुब्बर्हिर्होमे विनियुक्ता। तस्मात् श्रौतसूत्रसम्मतोऽयं सायणादिसम्मतोऽर्थः—बर्हिरिति द्वितीया। इन्द्रो देवो बर्हिः बर्हिर्होमहोतव्यं दर्भं समङ्क्तां हविषा हविःसंस्कारयुक्तेन घृतेन सम्यगञ्जनोपेतं स्निग्धं करोतु। 'अञ्जु व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु'। स चेन्द्रो नैकलः, किन्त्वादित्यैर्वसुभिश्च द्विविधैर्देवगणैश्च सहितः समङ्क्ताम्। तथा मरुद्भिर्देवगणैः सहितः समङ्क्ताम्। तथा विश्वेदेवैर्विश्वनामकैश्च देवगणैः सहितः समङ्क्ताम्। एतैर्देवैर्यद्दत्तं तदित्यध्याहारः। नभ इत्यादित्यनामसु पठ्यते। तदुक्तम्—बर्हिर्दिव्यलोके वर्तमानं नभ आदित्यं गच्छतु प्राप्नोतु। स्वाहा इदं बर्हिर्देवोद्देश्येन दत्तमस्तु। मन्त्रे समित्युपसर्गस्यावृत्त्या अङ्क्तामिति क्रियापदस्यावृत्तिर्ज्ञेया। एवं नात्र बर्हिःपदस्याकाशोऽर्थः। न वात्र मासानामग्न्यादीनां वा बर्हिःसंयोजकत्वमस्ति, तेषां जडत्वात्।

अध्यात्मपक्षे तु—बर्हिः बृहत्तमं यद् ब्रह्म तदिन्द्रो घृतेन घृतोपमेन स्नेहेन हविषा प्रेममयेन हविर्द्रव्येण समङ्क्तां स्नेहयतु, पूर्णकामस्य तस्य प्रेमातिरिक्तैर्द्रव्यैः सन्तोषासम्भवात्, 'रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय' इति शिष्टैरुक्तत्वात्। नैकल इन्द्रः, किन्त्वादित्यैस्तदधिष्ठातृदेवैर्वसुभिर्मरुद्भिश्च सह इन्द्रः समङ्क्ताम्। विश्वदेवैभिश्च देवैः सह समङ्क्ताम्, सर्वेषां देवानां प्रेममयैरुपासनैरेव तेषामुद्दिधीर्षया भगवतोऽवतरणसम्भवात्। यद्वा इन्द्र आत्मा इदं सर्वमात्मत्वेन दृष्टवान् इतीन्द्रः 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' (ऐ० उ० ३।१४)। स पूजितैः प्रसन्नैरादित्यैः सह मरुद्भिर्विश्वेदेवैः सर्वैर्देवैः सह समङ्क्ताम्। तदनुग्रहरूपबृंहितः समङ्क्ताम्। यद्यस्मात् प्रेम्णो दिव्यं नभो भूताकाशाद्विलक्षणं दिव्यं चिदाकाशात्मकं ब्रह्म, 'खं ब्रह्म' (वा० सं० ४०।१७) इति श्रुतेः। गच्छतु प्राप्नोति। स्वाहा तस्मिन् ब्रह्मणि स्वं सर्वस्वं हुतमस्तु ॥ २२ ॥

अध्यात्मपक्ष में—देव-मानवादि भक्त परमेश्वर को कोई वस्तु अर्पण करने के लिये जब विचारने लगे, तो वे कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहे थे, क्योंकि वे कहने लगे कि हे भगवन् !

'रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय'।

भगवान् तो पूर्णकाम, आप्तकाम हैं। तब भक्तों ने निर्णय लिया कि प्रेम ही एकमात्र ऐसी वस्तु है, जिसे अर्पित करने पर भगवान् अवश्य सन्तुष्ट हो सकते हैं। प्रेम से भिन्न कोई भौतिक द्रव्य ऐसा नहीं है, जिससे हम भगवान् को सन्तुष्ट कर सकें। अतः हमारा जो सर्वस्व है, उसे हम भगवान् के अर्पण करें ॥ २२ ॥

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति। पोषाय रक्षसां भागोऽसि ॥ २३ ॥

अत्र श्रीदयानन्दः—'को मनुष्यस्त्वा तं यज्ञं विमुञ्चति, कोऽपि नेत्यर्थः। यश्च यज्ञं विमुञ्चति त्वा तं स यज्ञः परमेश्वरो विमुञ्चति। यज्ञकर्ता कस्मै प्रयोजनाय त्वा तं पदार्थसमूहमग्नौ विमुञ्चति ? यतः सर्वसुखप्राप्तिर्भवेत्तस्मै पोषाय त्वा तं विमुञ्चति, किन्तु यः पदार्थः सर्वोपकारे यज्ञे च न प्रयुज्यते स रक्षसां भागोऽसि भवति' (पृ० १९८) इत्यादि, तदपि यत्किञ्चित्, प्रमाणशून्यत्वात्। व्याख्यानमिदं तदभिमतशतपथविरुद्धं च।

तथाहि—'अथ प्रणीता दक्षिणतः परीत्य निनयति। युङ्क्ते वा एतद्यज्ञं यदेनं तनुते स यन्न निनयेत् पराङ्‌ हाविमुक्त एव यज्ञो यजमानं प्रक्षिणीयात्तथो ह यज्ञो यजमानं न प्रक्षिणाति तस्मात् प्रणीता दक्षिणतः परीत्य निनयति' (श० १।९।२।३२)। (श० १२।५।२।७) इत्यत्र प्रणीताप्रणयनं वक्ष्यति। अध्वर्युरुत्तरपार्श्वाद् दक्षिणपार्श्वं (आहवनीयं प्रदक्षिणतो) गत्वा स्वदेशेऽवस्थिता एव प्रणीता निनयति। तत्रत्या आपो नीचैर्नयति। 'युङ्क्त एव वा' इत्यादिना तदर्थवादः। यन्निनयते एतत् प्रणीतानिनयनेन एनं यज्ञं तनुते यन्न निनयते पराङ्‌ हाविमुक्तोऽनावृत्तो यज्ञो यजमानं प्रक्षिणीयाद् हिंस्यात्, तथा नीयमानासु प्रणीतासु तु न प्रक्षिणाति न हिनस्ति। 'स निनयति। कस्त्वा विमुञ्चति.......पोषायेति। तत्पुष्टिमुत्तमां यजमानाय निराह स येनैव प्रणयति तेन निनयति येन ह्येव योज्यं युञ्जन्ति तेन विमुञ्चन्ति योक्त्रेण हि योग्यं युञ्जन्ति योक्त्रेण विमुञ्चन्त्यथ फलीकरणान् कपालेनाधोऽधः कृष्णाजिनमुपास्यति रक्षसां भागोऽसीति' (श० १।९।२।३३)। प्राग्विहितं निनयनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते-कस्त्वेति। तथैवाह कात्यायनः—'वेद्यां प्रणीता निनयति परीत्य कस्त्वेति' (का० श्रौ० ३।८।६)। अध्वर्युर्वेदिमध्ये दक्षिणसंग्रहसमीपे प्रणीता आसाद्य स्वयमाहवनीयं प्रदक्षिणीकृत्य ब्रह्मयजमानयोरन्तराले उदङ्मुख उपविश्य कस्त्वेति मन्त्रेण प्रणीता अपो भूमौ निनयेत्। अत्र मन्त्रे निनयामीत्यध्याहारः। पोषायेति मन्त्रभागं व्याचष्टे—तत्पुष्टिमुत्तमां यजमानाय निराहेति। पुष्टेर्हेतुरापस्तासु निरस्यमानासु मा भूत् पुष्टेर्निरासः, तेन पुष्टिं निराह—उत्तमामिति। कस्त्वा युनक्तीत्ययं प्रजापतिदैवत्येन मन्त्रेण यथापूर्वं यज्ञयोग उक्तः, तथैवात्रानेन मन्त्रेण यज्ञविमोक उक्तः। किमर्थोऽयं यज्ञविमोक इति चेत्तत्राह—पोषाय यजमानं पोषयितुम्। एतस्य विमोकस्याभावे यजमानोऽप्रतिष्ठितः स्यात्। तदुभयं तित्तिरिर्दर्शयति—'यो वै यज्ञं प्रयुज्य न विमुञ्चत्यप्रतिष्ठानो वै स भवति कस्त्वा युनक्ति स त्वा विमुञ्चतीत्याह—प्रजापतिर्वै कः प्रजापतिनैवैनं युनक्ति प्रजापतिना विमुञ्चति प्रतिष्ठित्यै' (तै० सं० १।७।६।१४) इति। फलीकरणानिति। फलीक्रियन्ते तण्डुला एभिरिति फलीकरणाः। अङ्गीभवन्ति तण्डुलनिष्पत्तौ। अभूततद्भावे 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' (पा० सू० ५।४।५०) इति च्विः। फलीकरणान् तण्डुलकणान् उपास्यति उत्क्षिपति उत्करे कपालेन मध्यमेन प्रथमं नातिक्रामेत्, अधोऽधः अधस्तान्नातिदूरे कृष्णाजिनं कृष्णाजिनस्याधस्तात् समीप इत्यर्थः। तदेवाह कात्यायनः—'पुरोडाशकपालेन कणानपास्यत्यधः कृष्णाजिनᳪरक्षसामिति' (का० श्रौ० ३।८।७)। तदर्थस्तु—फलीकरणानन्तरं

मन्त्रार्थ—हे प्रणीतापात्र ! कौन तुमको छोड़ता है ? वह प्रजापति परमेश्वर तुमको छोड़ता है। वह तुमको किस लिये छोड़ता है ? वह अपने आत्मसन्तोष के लिये तुमको छोड़ता है। हे प्रणीतोदक ! यजमान को पुत्र आदि हों, एतदर्थ मैं तुमको भूमि पर छोड़ रहा हूँ। हे कणसमूह ! तू राक्षसों का भाग है। आहवनीय अग्नि की प्रदक्षिणा करके वेदी पर 'कस्त्वा' मन्त्र से प्रणीतापात्र की स्थापना करे। 'रक्षसाम्' इस मन्त्र से पुरोडाशकपाल पर के भूतकणों को भूमि पर गिरा देना चाहिये ॥ २३ ॥

स्थापितान् कणान् प्रथमकपाले निधाय उत्करस्योपरि समीप एव कृष्णाजिनं सव्येन धारयन् कृष्णाजिनस्याधस्ताद् उत्करे कपालेनैव रक्षसामिति मन्त्रेण क्षिपेदिति ।

'देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिर एतस्मिन् यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरेऽस्माकमयं भविष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति' (श० १।९।२।३४)। स्पष्टार्था कण्डिका। 'ततो देवाः। सर्वं यज्ञꣳ संवृज्याथ यत्पापिष्ठं यज्ञस्य भागधेयमासीत्तेनैनान्निरभजन्नस्ना पशोः फलीकरणैर्हविर्यज्ञात् सुनिर्भक्ता असन्नित्येष वै सुनिर्भक्तो यं भागिनं निर्भजन्त्यथ यमभागं निर्भजन्त्यैव स तावच्छꣳसृत उत हि वशे लब्ध्वाह किं मा बभक्थेति स यमेवैभ्यो देवा भागमकल्पयंस्तमेवैभ्य एष एतद्भागं करोत्यथ यदधोऽधः कृष्णाजिनमुपास्यत्यनग्नावेवैभ्य एतदन्धे तमसि प्रवेशयति तथो एवासृक् पशो रक्षसां भागोऽसीत्यनग्नावन्धे तमसि प्रवेशयति। तस्मात् पशोस्तेदनीं न कुर्वन्ति रक्षसाꣳहि स भागः' (श० १।९।२।३५) । एवं देवानामसुराणां च यज्ञनिमित्तप्रस्पर्धायां देवाः सर्वं यज्ञं हविर्यज्ञाख्यं संवृज्य समाप्तिपूर्वं संहृत्य अथानन्तरं यज्ञस्य यज्ञसाधनस्य हविषो यत्पापिष्ठं भागधेयमासीत् तेनैवासुरान् निरभजन् निर्भक्तवन्तः, बहिर्यज्ञात् कृतवन्तः । केन कस्मादित्याह—अस्ना पशोः । असृक्शब्दस्य असन्नादेशः (पा० सू० ६।१।६२) । अस्ना लोहितेन पशोर्निरभजन् । फलीकरणैस्तण्डुलकणैर्हविर्यज्ञान् निर्भजन्तोऽभूवन् । एष वै सुनिर्भक्तः यं भागिनं स्वल्पभागेनापि भक्तं निर्भजन्ति। यमभागं भागमदत्त्वा ये निर्भजन्ति स भागी प्रथमं शंसत एव उतापि अबलो हि बलवतां वशे भवति। कुतश्चित्कालपर्ययाल्लब्ध्वा आसाद्य बलं आह ब्रूते मनसि किं त्वं मा मां बभक्थ किं मह्यं त्वया दत्तम्। यं भागं एभ्यो रक्षोभ्यो देवा अकल्पयन् कल्पितवन्तः, उपास्यति समीपे प्रक्षिपति। अग्निहीने अन्धे तमसि प्रवेशयति तथा पशोः असृगपि। तस्मात् पशोस्तेदनीं न कुर्वन्ति यज्ञे पशोर्जीवतश्छेदनं न कुर्वन्ति तेन लोहितं रुधिरं सिद्धयति । छेदनमन्तरेव संज्ञपयन्ति । अनन्तरमेव वपोद्धरणादिकं क्रियते। तथा च कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति इति मन्त्रस्य यथा व्याख्यानं तथैव प्रकृतमन्त्रस्यापि व्याख्यानं ज्ञातव्यम् ।

तत्रापां प्रणयनं कुर्वन्नध्वर्युर्यज्ञारम्भकर्मण्यात्मनः कर्तृत्वमपोह्य प्रजापतेर्यज्ञकर्तृत्वं प्रश्नोत्तराभ्यां प्रतिपादितवान्। हे प्रणीतानामपां धारकपात्र! त्वां कः पुरुषो नियुनक्ति आहवनीयस्योत्तरभागे स्थापयतीति प्रश्नः। स इति तच्छब्दः प्रसिद्धार्थवाचकः। सर्वत्र जगन्निर्वाहकः प्रसिद्ध एव परमेश्वरः। स परमेश्वर एव त्वां युनक्ति, तस्यैव सर्वप्रेरकत्वादित्युक्तम्। कस्मै प्रयोजनाय त्वा युनक्तीति पुनः प्रश्नः। तस्मै त्वा युनक्ति। तस्मै प्रजापतये तस्य परमेश्वरस्य प्रीत्यर्थं त्वा युनक्तीत्युत्तरम्। तथैवात्रापि यज्ञविमोकप्रसङ्गेऽपि हे प्रणीतापात्र हे यज्ञ इति वा कस्त्वा विमुञ्चतीति प्रश्नः। स परमेश्वरोऽन्तर्याम्येव त्वा विमुञ्चतीत्युत्तरम्। कस्मै त्वा विमुञ्चतीति प्रश्नः। तस्मै त्वा विमुञ्चति परमेश्वराय तत्प्रीत्यै त्वा विमुञ्चति। परमेश्वर एव यज्ञयोक्ता स एव विमोक्ता स एव यज्ञस्य सम्प्रदानभूतः। हे प्रणीतापात्रस्था आपः! तदुपलक्षितयज्ञ पोषाय यजमानस्य धनपुत्रादिभिः पुष्ट्यर्थं त्वां निनयामीति शेषः। यज्ञं प्रयुज्याविमोके यजमानस्याप्रतिष्ठापत्तेर्विमोकः कार्यः। 'यो

भाष्यसार—स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की जो व्याख्या की है, वह भी प्रमाणशून्य होने से उपेक्षणीय ही है। उनकी व्याख्या शतपथब्राह्मण के विरुद्ध है। यद्यपि मन्त्राक्षरों से ही अर्थ स्पष्ट हो रहा है, तथापि शास्त्रप्रामाण्य में दृढ़ निष्ठा न होने से और नास्तिक्य के कारण देव और राक्षसों की योनिविशेषों का स्वीकार न कर पाने से वेद की व्याख्या करने में अपनी इच्छानुसार लेखनी का उपयोग किया है।

वास्तविक मन्त्रार्थ ऊपर दे दिया गया है।

वै यज्ञं प्रयुज्य न विमुञ्चत्यप्रतिष्ठानो वै स भवति' (तै० सं० १।७।६।१४) इति श्रुतेः । हे कणसमूह ! त्वं रक्षसां भागोऽसि । तेषां नीचजातित्वाद् निकृष्टकणरूपो भागो युक्त एव । एवं शतपथश्रुत्या कात्यायनसूत्रेण च स्पष्टं विज्ञायते यत् फलीकरणानां पुरोडाशापेक्षिततण्डुलनिष्पत्तिशिष्टकणसमूहानामेवानेन मन्त्रांशेन रक्षसां भागकल्पनं भवति । अतिस्पष्टेऽप्यर्थे शास्त्रप्रामाण्यनिष्ठादार्ढ्याभावान्नास्तिक्याच्च देवानां रक्षसां च योनिविशेषाणामनभ्युपगमादयं वेदव्याख्यानेऽस्य कामचारो ज्ञातव्यः ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे कर्माधिकारः समाप्यते । नद्या अतितरणाय नौरिव पाशविककामकर्मज्ञानलक्षणस्य मृत्योरतितरणाय वैदिककामकर्मादिसमाश्रयणं भवति । नावा नद्यास्तरणानन्तरं नौकाया इव कर्मणोऽपि विमोक एव युक्तः । परमेश्वरानुग्रहात् कर्मणि प्रवृत्तिस्तदनुग्रहादेव च ब्रह्मात्मसाक्षात्कारपूर्विका कर्मनिवृत्तिश्च । तथा च हे साधक ! कस्त्वा विमुञ्चतीति प्रश्ने स परमेश्वर एव विमुञ्चतीत्युत्तरम् । कस्मै त्वा विमुञ्चतीति प्रश्नान्तरम् । तस्मै ब्रह्मात्मसाक्षात्कारनिष्ठादार्ढ्याय त्वा विमुञ्चति, कर्मचापल्ये सति निष्ठादार्ढ्यासम्भवात् । शतपथादिरीत्या व्याख्याने तु कर्मणां परमेश्वराराधनरूपत्वादाध्यात्मिकपक्षव्याख्यानोपपत्तिः । यद्यपि क्लिष्टकल्पनया कर्मकाण्डपराणामपि मन्त्रब्राह्मणानां ब्रह्मपरत्वं योजयितुं शक्यम्, तथापि तदस्वाभाविकं निरर्थकं च, ब्रह्मपराणां मन्त्राणां ब्राह्मणानां च विद्यमानत्वेन तदनपेक्षणात् ॥ २३ ॥

सं॒वर्च॑सा॒ पय॑सा॒ सन्त॒नूभि॒रग॑न्महि॒ मन॑सा॒ सꣳशि॒वेन॑ । त्वष्टा॑ सु॒दत्रो॒ विद॑धातु॒ रायो॒ऽनु॑मार्ष्टु त॒न्वो॒ यद्विलि॑ष्टम् ॥ २४ ॥

अत्र दयानन्दस्तु—'मनुष्यैः सर्वकामप्रदस्येश्वरस्याज्ञापालनसम्यक्पुरुषार्थाभ्यां विद्याध्ययनं विज्ञानं शरीरबलं मनःशुद्धिः कल्याणसिद्धिः सर्वोत्तमश्रीप्राप्तिश्च सदैव कार्या । तया सर्वे व्यवहाराः पदार्थाश्च नित्यं शुद्धा भावनीयाः' इत्याह, तच्च श्रुतिबाह्यमेव । यत्तु—'वर्चन्ते दीप्यन्ते सर्वे पदार्था यस्मिन् वेदाध्ययने तेन, पयन्ते विजानन्ति सर्वान् पदार्थान् येन ज्ञानेन तेन' (पृ० २००) इत्यादिकम्, तत्तु निरर्थकपाण्डित्यप्रदर्शनमेव, प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात् । यत्तु—'विलिष्टं परिपूर्णम्, अत्र विरुद्धार्थो विशब्दः' (पृ० २००) इति, तदपि तुच्छम्, परिपूर्णस्यानुमार्जनानपेक्षणात् । नह्यशुद्धौ सत्यां परिपूर्णता सम्भवति, श्रुतिविरोधाच्च । तथाहि शतपथश्रुतौ—'यद्वै यज्ञस्य मिथ्या क्रियते व्यस्य तद् वृहन्ति' (श० १।९।३।४) इत्युक्त्या यज्ञस्य मिथ्याकरणाकरणादिदोषनिराकरणाय यजमानाञ्जलौ पूर्णपात्रनिनयनं क्रियते, तत्रैवास्य विनियोगः । तेन विलिष्टस्य विशेषेणाल्पीभावापन्नस्य यज्ञस्य व्यङ्गतापरिहारायानेन मन्त्रेण निनयनम् । 'एतद्‌ चैवैतत् कर्मात्मन् कुरुते तस्मान्मुखमुपस्पृशते' (श० १।९।३।७) इति श्रुत्या च यजमानः पूर्णपात्रजलेन मुखप्रक्षालनाद् यज्ञमात्मनि करोति । तेन यज्ञस्य व्यङ्गतया यज्ञस्यात्मनि सम्बन्धात् तत्रापि व्यङ्गताऽवश्यम्भाविनीति यज्ञस्याव्यङ्गतानेन सेत्स्यतीति ।

अध्यात्मपक्ष में—जिस उपासक को भगवदनुग्रह से आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, उसे पुनः कर्मकाण्ड तथा उसके विधिनिषेधों की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि साध्य की प्राप्ति होने पर साधन की आवश्यकता नहीं रहती ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हम ब्रह्मवर्चस तेज, क्षीरादि रस, अनुष्ठान के योग्य शरीर के अवयव और शान्त मन—इन सबसे युक्त हुए हैं । उत्तम दान देनेवाला त्वष्टा मुझे सम्पत्ति दे और मेरे शरीर में जो न्यूनता हो, उसे दूर करके उसका पोषण करे । आहवनीय की प्रदक्षिणा करके पूर्णपात्र का ग्रहण करे और 'संवर्चसा' मन्त्र से मुखमार्जन करे ॥ २४ ॥

सिद्धान्ते तु— त्वष्टृदेवत्या त्रिष्टुप् पूर्णपात्रनिनयने विनियुक्ता। 'पूर्णपात्रं निनयति परीत्य सन्ततं यजमानोऽञ्जलिना प्रतिगृह्णाति संवर्चसेति' (का० श्रौ० ३।८।८) अध्वर्युः पूर्णपात्रमादाय आहवनीयं प्रदक्षिणीकृत्य यजमानसमीपे उदङ्मुख उपविष्टो यजमानस्याञ्जलौ पूर्णपात्रस्थं जलमव्यवच्छिन्नं क्षिपेत्। यजमानस्तूदकं हस्ताभ्यां संवर्चसेति मन्त्रेण गृह्णीयात्। अञ्जलिप्रक्षेपश्च तथा कार्यो यथा यजमानस्य संवर्चसेति मन्त्रपाठान्ते भवेत्, 'आधारे धारायां चादिसंयोगः' (आप० श्रौ० २४।२।२) इति सूत्रात्। अत्र प्रग्रहणं प्रधानं निनयनं तदर्थम्। तेन प्रोषिते यजमाने यत्र यजमानस्तत्रैव पूर्णपात्रनिनयनं केनचित् करणीयम्, यजमानेनाञ्जलिना प्रतिग्रहश्च कार्यः। तथा च मन्त्रार्थः— वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन वयं समगन्महि सङ्गता भवामः। पयसा क्षीरेण तदुपलक्षितसर्वविद्यारसेन वा समगन्महि। तनूभिर्यज्ञाद्यनुष्ठान-भगवदुपासन-ब्रह्मात्मसाक्षात्कारक्षमैः शरीरावयवैर्भार्यापुत्रादिभिः समगन्महि। शिवेन कल्याणमयेन शान्तेन यज्ञादिश्रद्धायुक्तेन शिवसङ्कल्पेन मनसा मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वे पदार्था येन तेनान्तःकरणेन समगन्महि। समुपसर्गयुक्तमगन्महीतिपदं प्रत्येकं सम्बद्धयते। यज्ञव्यग्रस्य पुरुषस्य सर्वमेतदपैतीवेत्यनेन मन्त्रेण तत्सर्वं ब्रह्मवर्चसादिकमाप्याययति पूर्णपात्रनिनयनजलमञ्जलिना गृह्णन् यजमानः। किञ्च, सुदत्रः शोभनकल्याण-दानस्त्वष्टा देवः, तक्षति सर्वान् पदार्थान् छिनत्ति सूयं च तनूकरोतीति त्वष्टा देवविशेषः, तदुपलक्षितः परमेश्वरश्च रायो नानाविधानि धनानि विदधातु करोतु। तन्वो मम शरीरस्य यद् विलिष्टं 'लिश् अल्पीभावे' इत्यस्य निष्ठायां रूपम्। विशेषेण लिष्टं न्यूनतामापन्नमिति विलिष्टं विशेषेण न्यूनतां गतमङ्गजातम्, तदनुमार्ष्टु न्यूनत्वपरिहारेण पूर्णं कृत्वा शोधयतु।

अयमेवार्थः शतपथे— 'पूर्णं निनयति। सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वेणैवैनमेतच्छमयति सन्ततमव्यवच्छिन्नं निनयति सन्ततेनैवैनमेदव्यवच्छिन्नेन शमयति' (श० १।९।३।३), 'सꣳस्थिते यज्ञे दक्षिणतः परीत्य पूर्णपात्रं निनयति। तथा ह्युदग्भवति। तस्माद्दक्षिणतः परीत्य पूर्णपात्रं निनयति। देवलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति। तदनूची दक्षिणा यां ददाति सैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः' (श० १।९।३।१)। संस्थिते समाप्ते यज्ञे दक्षिणतः परीत्याध्वर्युः पूर्णपात्रगतं जलं यजमानाञ्जलौ निनयति नीचैः पातयति। परीत्येत्युक्त्या दक्षिणादागत्य निनयनायोदग्दिगागमनं भवति। हि यतः। तथाकृते उदग्भवति। पूर्णपात्रनिनयने देवलोके मेऽप्यसदिति। देवलोकेऽयं यज्ञो मे ममोपकारको असत् भवतु। असदिति क्रियापदम्, नासत्त्वबोधकम्। एवमर्थं यजमानो यजते। यो यजतेऽस्य यजमानस्य स एष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति। आभिमुख्येन एति। मां संस्कृतवानसौ, अतो मया प्रत्युपकरणीयमित्यभिप्रैति वा। तदनूची दक्षिणायां ददाति यज्ञसमृद्ध्यर्थं यज्ञमनुविलग्ना दक्षिणैति यां ददाति यजमानः, समृद्ध्यर्थस्य दक्षधातोर्दक्षिणाशब्दनिष्पत्तेः। यद्वा तस्मादन्वगञ्चनशीलामन्वाहार्यलक्षणां यां दक्षिणां ददाति सा देवलोकमेति। दक्षिणामन्वारभ्य यजमानो यज्ञं क्रीणातीति शेषः। दक्षिणा हि परिक्रयार्था भवति। तया ऋत्विङ्निष्पादितो यज्ञः परिक्रीयते। यथा—अन्यत्र परिक्रयसम्बद्धः परिक्रेता तथैवात्रापि। यद्वा यथा यज्ञो देवलोकमेति यज्ञमनु दक्षिणा देवलोकमेति, तथैव समृद्धिस्वरूपां दक्षिणामन्वारभ्य यजमानो देवलोकमेतीति।

'स एष देवयानो वा पितृयाणो वा पन्थाः। तदुभयतोऽग्निशिखे समोषन्त्यौ तिष्ठतः। प्रति तमोषतो यः प्रत्युष्योऽस्यु तꣳ सृजेते। योऽतिसृज्यः शान्तिरापस्तदेतमेवैतत्पन्थानꣳ शमयति' (श० १।९।३ २)। पूर्णपात्र-

भाष्यसार— स्वामी दयानन्द ने मन्त्र की व्याख्या में कहा है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन और सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा विद्याध्ययन, विज्ञान, शरीरबल, मनःशुद्धि, कल्याणसिद्धि एवं सर्वोत्तम श्रीप्राप्ति मनुष्य को सदैव करनी चाहिये।

निनयनस्य प्रयोजनमुच्यते—स एष देवयानः पन्था हिरण्यगर्भाद्युपासनासमुच्चितकर्मानुष्ठायिनो ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनभूतो मार्गो देवयानः। महाप्रलयकाले तु ब्रह्मणा सह मुक्तिर्भवति, 'ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' (तै० आ० १०।१०।२२) इति श्रुतेः। आत्मयाजिनस्त्वेभिः कर्मभिरुपासनैश्चात्मानं संस्कुर्वन्ति परब्रह्मप्राप्तियोग्यब्राह्मीतनुनिर्माणाय, 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' (म० २।२८) इति मनुस्मरणात्। इह ब्रह्मसाक्षात्काराभावेऽपि तेषामपि देवयानमार्गे गतानां ब्रह्मलोकप्राप्तिरन्ते कैवल्यमुक्तिश्च, 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।६) इति श्रुतेः। अत्र श्रुतौ 'इमं'पदं विद्यते। तत्सम्बन्धितयोपासनासमुच्चितकर्मभिस्तु ब्रह्मलोकगतानामप्यावर्तान्तरे पुनरावृत्तिर्भवत्येव, 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' (भ० गी० ८।१६) इति भगवद्वचनाच्च। केवलकर्मिणां देवयाजिनां तु पितृयाणः पन्थाः। तदुभयत उभयोरपि मार्गयोः, अग्निशिखे अग्निज्वाले ओषन्त्यौ भस्मसात्कुर्वन्त्यौ सन्तिष्ठतः। तत्र यः प्रत्युष्यः प्रतिदहनार्होऽकृतकृत्यः केवलमपि कर्म यो नानुष्ठितवान् तं प्रतिदहतः। योऽतिसृज्यो ज्ञानसहकृतकर्मानुष्ठायी यश्च केवलकर्मानुष्ठायी कृतनियतकर्मा यजमानः, तमतिसृजेते विसृजेते, न दहत इत्यर्थः। आपश्च शान्तिसाधनत्वात् शान्तिरूपा यतोऽतः, तदेतमेवैतत् पन्थानं पूर्णपात्रनिनयनेनापः शमयन्ति। ज्ञानिनः कर्मिणश्चोष्णं पन्थानं चोष्णशमनसमर्थाभिरद्भिरध्वर्युः शमयति। ज्ञानसमुच्चितकर्मफलं मलक्षालकं भवति। यस्तु केवलकर्मानुष्ठायी यजमानः स कर्मफलभोगाय पितृलोकं याति। सोऽपि देव एव, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ० उ० ४।३।२) इति श्रुत्यन्तरात्।

अन्ये तु देवैः प्रायणीयो देवयानः, पितृभिः प्रायणीयः पितृयाणः पन्थाः। प्रथमोऽग्निहोत्रिणामन्योऽन्येषाम्। अग्नेराहवनीयादेर्देवयानपितृयाणौ शिखे ऊर्ध्वज्वाले ओषन्त्यौ तिष्ठतः। अपां निनयनेन देवपथः शान्तो भवति। 'पूर्णं निनयति। सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वेणैवैनमेतच्छमयति सन्ततमव्यवच्छिन्नं निनयति सन्ततेनैवैनमेतदव्यवच्छिन्नेन शमयति' (श० १।९।३।३)। पूर्णं सर्वं तत्रत्यं जलं निनयति। यतः सर्वं वै पूर्णम्। सर्वेणैवैतच्छमयति। तच्च सन्ततं नैरन्तर्येणाव्यवच्छिन्नमनवखण्डितेन धारानिनयनेन शमयति। 'यद्वेव पूर्णपात्रं निनयति। यद्वै यज्ञस्य मिथ्या क्रियते व्यस्य तद् बृहन्ति क्षण्वन्ति शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयति तदद्भिः सन्दधाति' (श० १।९।३।४)। यद्वै यज्ञस्य मिथ्या क्रियते प्रमादादिनाऽन्यथा करणमकरणं च वद्विबृहन्ति विनाशयन्ति यज्ञिया आपः। अर्थाद्यज्ञस्य व्यङ्गतामपनीय यज्ञं पूर्णं कुर्वन्ति। क्षण्वन्ति मिथ्याकरणनिमित्तं दुःखं क्षण्वन्ति हिंसन्ति शान्त्या शान्तिसाधनभूताभिरद्भिस्तच्छमयति यज्ञं च सन्दधाति निनयनेनाध्वर्युः। 'पूर्णं निनयति....सन्दधाति' (श० १।९।३।५)। शेषं तृतीयवत्। तेन यज्ञस्य प्रमादादिना अन्यथाकरणेनाकरणेन च व्यवच्छिन्नं यज्ञं पूर्णं निनयनेन सन्दधाति, यज्ञस्य पुनरनुसन्धानं करोतीत्यर्थः। 'तदञ्जलिना प्रतिगृह्णाति। संवर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति यद्विवृढं तत्सन्दधाति' (श० १।९।३।६)। यद्यप्यत्र अनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति लिङ्गादस्य मन्त्रस्य मुखोपस्पर्शनाङ्गता भाति, तथापि तदञ्जलिना प्रतिगृह्णातीति श्रुत्या प्रतिग्रहणाङ्गता, 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (मी० सू० ३।३।१४) इति जैमिनीयन्याये लिङ्गाच्छ्रुतेः प्राबल्येन तया तद्बाधात्। यद्विवृढं तत्सन्दधातीति ग्रहणार्थवाद एव परतो दृश्यते, अर्थवादान्तराभावात्,

किन्तु यह कथन श्रुति और सूत्र के अनुसार नहीं है। कहीं-कहीं निरर्थक पाण्डित्य प्रदर्शन करके प्रसिद्ध अर्थ का त्याग भी किया है। कहीं-कहीं शब्दों के अर्थ विरुद्ध भी प्रदर्शित किये हैं, जो अनावश्यक हैं। यदि श्रौत-प्रक्रिया को समझकर अर्थ किया होता, तो ऐसी अनर्गलता न होती।

अथशब्देन मुखोपस्पर्शनस्य व्यवधानादर्थवादान्तरदर्शनाच्च । लिङ्गं चाविरुद्धमेव, मुखहस्तयोः शरीरैकदेशत्वात् । यजमानस्यैव यज्ञो वर्तते । तत्रैव स्थितस्य यद्विवृद्धं व्यङ्गतामुपगतं तत्सन्दधाति । कण्वशाखीयानां तदञ्जलिना प्रतिगृह्णाति तत्र जपति संवर्चसेति । गृह्णतो यज्ञवीर्यमत्र च जप्यमानः प्रतिग्रहणाय स्पर्शनेऽपि प्रकाशयिष्यति । कः पुनर्गृह्णाति ? यजमानः । अध्वर्योर्निनयने व्यापृतत्वाद् आशीर्लिङ्त्वान्मन्त्रस्य यजमान एव गृह्णाति । 'अथ मुखमुपस्पृशते । द्वयं तद् यस्मान्मुखमुपस्पृशतेऽमृतं वा आपोऽमृतेनैवैतत् सꣳस्पृशते एतदु चैवैतत् कर्मात्मन् कुरुते । तस्मान्मुखमुपस्पृशते' (श० १।९।३।७) 'मुखं विमृष्टे' (का० श्रौ० ३।८।९) इति सूत्रेण यजमानः पूर्णपात्रजलेन तूष्णीं मुखं प्रक्षालयेत्, एतदु चैवैतत् कर्मात्मन् कुरुत इति शेषात् । यजमान आत्मीयमेव मुखमद्भिरुपस्पृशते । यस्मात् कारणान्मुखमुपस्पृशते तद् द्वयं ते द्वे कारणे । तत्रैकममृतेनैवैतदात्मानं संस्पृशते । तदाह—अमृतं वा आपः । अमृतेनैवैतत् संस्पृशते । अपरमपि एतच्च कर्म आत्मनि कुरुते यजमानः । कथम् ? यज्ञो वा आपः । आपश्च संश्लेषणहेतुरित्यभिप्रायः । सर्वथापि प्रकृतमन्त्रस्याञ्जलिना पूर्णपात्रजलप्रतिग्रहाङ्गतैव ।

अध्यात्मपक्षे तु पूर्णपात्रान्तर्यामी परमेश्वरः प्रार्थ्यते—हे भगवन् ! वर्चसा ब्राह्मेण तेजसा त्वत्प्रसादाद् वयं समगन्महि समवेता भवामः । ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसमर्थैस्तनूभिः संस्कृतैः शरीरावयवैश्च युक्ता भवामः । शिवसङ्कल्पेन ब्रह्मात्मचिन्तनपरेणान्तःकरणेन च समगन्महि । त्वष्टा सर्वजगन्निर्माता सुदत्रः सुष्ठु शोभनमभीष्टमात्मानं वा ददातीति सुदत्रः सर्वकल्याणप्रद आत्मप्रदश्च भवान् रामः शमदमादिषट्सम्पत्तीर्ब्रह्मात्मज्ञानश्रियं मोक्षलक्ष्मीं च विदधात् सम्पादयत्वित्यर्थः, त्वत्प्रसादादेव सर्वाभीष्टप्राप्तिसम्भवात् । हे परमेश्वर ! तन्वो मदीयस्य स्वात्मरूपस्य चिदात्मशरीरस्य सूक्ष्मस्थूलशरीरस्य ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसाधनस्य यद्विलिष्टम् अविद्याद्यध्यारोपेण मानसकायिकापचारैश्च यन्न्यूनतापन्नमङ्गजातं तदनुमार्ष्टु कृपाकटाक्षेण तदपनीय परिपूर्णतामापादयतु, येन निर्विघ्नं ब्रह्मात्मज्ञानं तत्फलं ब्रह्मात्मनावस्थानं सम्पद्यतामिति ॥ २४ ॥

दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया अगन्म स्वः संज्योतिषाऽभूम ॥ २५ ॥

अत्र श्रीदयानन्दः —'अस्माभिर्जागतेन छन्दसानुष्ठितोऽयं विष्णुर्यज्ञो दिवि व्यक्रंस्त । स पुनस्ततो निर्भक्तः सन् छन्दसा सर्वं जगत् प्रीणाति । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निराकुर्मः । अस्माभिर्योऽयं विष्णुर्यज्ञ-

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ होगा—इस मन्त्र में परमेश्वर की प्रार्थना की गई है । हे भगवन् ! हम लोग ब्राह्म तेज से तुम्हारे अनुग्रह के बल पर युक्त हैं । तुम्हारे प्रसाद से ही सर्वाभीष्ट की प्राप्ति का होना संभव है । हे भगवन् ! ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन जो मेरा सूक्ष्म-स्थूल शरीर है, वह अविद्या के अध्यारोप से और मानसिक तथा शारीरिक अपराधों के कारण न्यूनता को प्राप्त हुआ है, उसे अपने कृपा कटाक्ष से दूर कर परिपूर्ण कर दें । जिससे निर्विघ्नतया ब्रह्मात्मज्ञान और उसका फल हमें प्राप्त हो ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञपुरुष ने द्युलोक पर जगती छन्द से, अन्तरिक्षलोक पर त्रिष्टुप् छन्द से और पृथिवीलोक पर गायत्री छन्द से आक्रमण किया । उन तीनों लोकों से जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष

स्त्रैष्टुभेन छन्दसाग्नौ प्रयोजितः सोऽन्तरिक्षे व्यक्रंस्त । स पुनस्ततः स्थानान्निर्भक्तः सन् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वं जगत् सुखयति योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निवारयामः । अस्माभिर्योऽयं यज्ञोऽनुष्ठितो गायत्रेण छन्दसा पृथिव्यामनुष्ठीयते स पृथिव्यां व्यक्रंस्त । स ततो निर्भक्तः सन् पृथिवीस्थान् पदार्थान् पोषयति योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निषिध्यामः । वयमस्मादन्नात् स्वरगन्म वयमनेन यज्ञेनास्यै प्रतिष्ठायै ज्योतिषा संयुक्ता भवेम' (पृ० २०३) इत्यादि । तदेतत्सर्वं वेदार्थसम्प्रदायानभिज्ञानविजृम्भितम्, शतपथश्रुति-कात्यायनसूत्रविरुद्धं च ।

तत्र ह्येतैर्यजमानो विष्णुक्रमान् क्रमते । तत्र देवा वै स्वरगन्म देवानित्येवैतदाह—संज्योतिषा भूमेति सं देवैरभूमेत्येवैतदाहेत्यादिभिः पदार्थाश्चानेके व्याख्याताः । तेनापि तदीयं व्याख्यानं विरुद्धं च, अनुपपत्तेश्च । तथाहि—यो वेवेष्टि व्याप्नोत्यन्तरिक्षस्थवाय्वादिपदार्थान् स यज्ञ इति, तदपि न युक्तम्, सङ्कोचार्थे मानाभावात्, द्युलोके व्याप्त्यनापत्तेश्च । अविशेषेण सर्वेषु लोकेषु सर्वान् पदार्थान् वेवेष्टीति विष्णुपदव्युत्पत्ति कुतो न स्यात् ? यदपि 'जागतं सर्वलोकसुखकारकं तेन छन्दसा आह्लादकारकेण' (पृ० २०२) इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, कोऽसौ पदार्थ इत्यनुक्तेः । न च गायत्रीछन्द एव तदिति वाच्यम्, तस्य तथात्वे मानाभावात् । नहि व्युत्पत्तिरेव मानं भवति । व्याघ्रशब्दस्य विशेषेणासमन्ताज्जिघ्रतीति व्युत्पत्तावपि न तथार्थो भवति, प्रत्यक्षविरुद्धत्वात् । प्रकृते चानुपलम्भपराहता व्युत्पत्तिः । न च जगतीछन्दसा होमेन लोकसुखं लोकाह्लादो वा भवति । त्वयापि भूमिकायामभ्यासार्थको मन्त्रोच्चारोऽभ्युपगतः । कथं चोच्चारणेन सुखं भवतीति ज्ञायते ? न च प्रत्यक्षेण, अनुपलम्भात् । न चोच्चारणजन्येनादृष्टेन कालान्तरे सुखं भविष्यतीति वाच्यम्, त्वया तदनभ्युपगमात् । अन्यथा यथाश्रुतार्थाभ्युपगमेऽदृष्टद्वारा पारलौकिकस्वर्गपशुपुत्रादिफलमपि कथं नाभ्युपगम्येत ?

'स पुनस्ततो निर्भक्तः सन् छन्दसा सर्वं जगत् प्रीणाति' (पृ० २०३) इत्यन्वये प्रोक्तम् । स च कस्य शब्दस्यार्थः ? नहि कर्मक्रिययोरुभयोरप्यध्याहारो युक्तः । अन्यथा कश्चिद् दयानन्देति नामश्रवणेनैव स्वर्गं गतो नरकं वा गतः स्वर्गं निर्मितवान् स्वर्गं नाशितवान् वेति यथेष्टं कल्पयेत । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निराकुर्म इत्यपि कुतो लब्धम् ? नहि यथाश्रुतोपपत्तावध्याहारो युक्तः । सिद्धान्ते तु ततो द्युलोकान्निर्भक्तो भागरहितो निःसारितः कः ? योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति सरलः सुबोधश्च यथाश्रुतार्थः ।

'अस्माभिर्योऽयं यज्ञस्त्रैष्टुभेन छन्दसाग्नौ प्रयोजितः सोऽन्तरिक्षे व्यक्रंस्त । पुनस्ततः स्थानान्निर्भक्तः सन् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वं जगत् सुखयतीति कथमुपपद्यते ? त्वद्रीत्या यज्ञस्त्वन्तरिक्षस्थलवाय्वादिपदार्थान् व्याप्नोति, स कथमग्नौ प्रयोक्तुं शक्यः ? किञ्चान्यत्राग्नौ घृतादिप्रक्षेपरूपो यज्ञ उक्तः, सोऽपि नाग्नौ प्रयोक्तुं

करते हैं, उस शत्रु को निकाल बाहर कर दिया । तदनन्तर भी शेष शत्रुओं का उसके आगे विद्यमान यजमान-भाग से और उसके सामने विद्यमान इस यज्ञभूमि से हमने निवारण किया । यज्ञानुष्ठान से हमने स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया तथा आहवनीयरूपी तेज से हम युक्त हो गये । 'दिवि विष्णुः' इत्यादि प्रत्येक मन्त्र से विष्णुक्रमण करना चाहिये, अर्थात् हम अपने पैर जो भूमि पर रखते हैं, उन्हें विष्णु के पैर समझना चाहिये । 'अस्मादन्नात्' इस मन्त्र से अपने अंश का अवलोकन करे और 'अस्यै' इस मन्त्र से भूमि का अवलोकन करे । पूर्व दिशा में 'अगन्म' इस मन्त्र से सूर्य का और 'संज्योतिषा' मन्त्र से आहवनीय का अवलोकन करे ॥ २५ ॥

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का—हम लोगों ने जगती छन्द से जो यज्ञ किया है, वह निर्भक्त होकर छन्द के द्वारा सम्पूर्ण जगत् को प्रसन्न करता है, इत्यादि जो अर्थ किया है, वह सब वेदार्थसम्प्रदाय

शक्यते, अग्निप्रक्षेपात्मकस्य यज्ञस्याग्नौ प्रक्षेपासम्भवात् । अग्नौ हुतं घृतादिकमन्तरिक्षे परमाणुरूपेण विभज्यत इति त्वदीयोऽभिप्रायो न वेदाक्षरार्थः । वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वं जगत् सुखयतीत्यपि त्वत्कल्पनामात्रम्, वेदाक्षरासम्बन्धात् । किञ्च, यज्ञो दिवि व्यक्रंस्त इत्यस्य कोऽर्थः ? यदि ततोऽपि तथैव परमाणुरूपेण निर्भक्तस्तदा तेनैव गतार्थता किमर्थं पुनरुक्तिः ? किञ्च, यो निर्भक्तं सर्वं जगत् सुखयति कथं तेन त्वद्विरोधिनिराकरणं सम्भवति ? तस्यापि सर्वजगदन्तःपातित्वात् । यदि वायुजलादिपदार्थास्तेन शोधितास्तदा कथं तैः सर्वस्मै जगते सुखं स्यात्, त्वद्विरोधिनश्च निराकरणं स्यात् ? नहि केनचित् सर्वव्यापिनि प्रकाशे जाते कस्यचिदप्रकाशो भवति । न च त्वयाऽदृष्टमभ्युपेयते । यो यज्ञः पृथिव्यां व्यक्रंस्त स कथं पृथिवीस्थान् पदार्थान् पोषयति ? वायुजलादिशोधनद्वारैर्वा ? अन्यथा वा ? तथैव चेत् पूर्वेणैव गतार्थता । अन्यथा चेत्, स प्रकारः प्रदर्शनीयः । एवमेव त्रैष्टुभं त्रिविधसुखहेतुछन्दसा स्वच्छन्दताप्रदेनेत्यपि निर्मूलम्, पूर्ववदनुपलम्भपराहतत्वात् । गायत्रेण रक्षणसाधनेन छन्दसा आनन्दप्रदेनेत्यपि निर्मूलम्, समेषां तत्र प्रवृत्त्यापातात् । सिद्धान्ते तु तत्तच्छन्दोविशिष्टानां विधिवदधीतानां यथावत्प्रयुक्तानां मन्त्राणामदृष्टोत्पादनद्वारा आनन्दप्रदत्वादिकं सम्भवत्यपि, नार्धनास्तिकानामदृष्टाद्यनभ्युपगन्तॄणाम् ।

सिद्धान्तीयं व्याख्यानं तु—'विष्णुक्रमान् क्रमते दिवि विष्णुरिति प्रतिमन्त्रं पृथिव्यामितीत ऊर्ध्वो वा' (का० श्रौ० ३।८।१०) । यजमान उत्थाय दक्षिणवेदिश्रोणेरारभ्य आहवनीयादर्वाक् प्राङ्मुखो दिवि विष्णुरिति त्रिभिर्मन्त्रैर्विष्णुसंज्ञकान् क्रमणान् कुर्यात् । अथवा पृथिव्यामिति प्रथमं क्रामेत्, अन्तरिक्ष इति द्वितीयम्, दिवि विष्णुरिति तृतीयमिति मन्त्रक्रमे विकल्पः । तथैव शातपथी श्रुतिः—'अथ विष्णुक्रमान् क्रमते । देवान् वा एष प्रीणाति यो यजत एतेन यज्ञेनर्ग्भिरिव त्वद्यजुर्भिरिव त्वदाहुतिभिरिव त्वत्स देवान् प्रीत्वा तेष्वपित्वी भवति तेष्वपित्वी भूत्वा तानेवाभिप्रक्रामति' (श० १।९।३।८) । यो यजते एष देवान् प्रीणाति । यज्ञेन ऋग्भिरिव यजुर्भिरिवाहुतिभिरिव तेषु विष्णोर्यज्ञस्य प्रवेशमिव दत्त्वा देवान् प्रीणाति देवान् प्रीत्वा तेषु मध्ये अपित्वीभागीभूत्वा तानेवाभिक्रामति । विष्णोर्यज्ञस्य क्रमणं विष्णुक्रमः । तं विष्णुप्रवेशमेव कुरुते । देवान् वा इति देवानेतानेष यजमानः प्रीतान् करोति यो यजते हविर्यज्ञं तनुते । त्वच्छब्दः समुच्चये । ऋग्भिश्चैव यजुर्भिश्चैव आहुतिभिश्चैव देवान् प्रीत्वा तेषु मध्ये भागवान् भवति ।

'यद्वेव विष्णुक्रमान् क्रमते । यज्ञो वै विष्णुः । स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतामेवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते । तस्माद्विष्णुक्रमान् क्रमते तद्वा इत एव पराचीनं भूयिष्ठा इव क्रमन्ते' (श० १।९।३।९) । यद्वेव विष्णुक्रमान् क्रमते यजमानशरीरस्थो यज्ञरूपो विष्णुरेव यजमानार्थं विक्रमते । तद्वै तत्र स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे, या एषा इयं विक्रान्तिः । इत एव लोकात् पराचीनमूर्ध्वमन्तरिक्षं दिवमित्येवं भूयिष्ठा इव बहुतमा इव क्रमन्ते । प्रथमेन पदेन इदं प्रत्यक्षं पुरोवर्तिलोकं पस्पार स्पृष्टवान् । स्पृ प्रीतिचलनयोः । द्वितीयेनान्तरिक्षम्, उत्तमेन तृतीयेन दिवं पस्पार । एतामु एव एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्तिं विक्रमते । 'तदु तत्पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त । गायत्रेण छन्दसा ··· । इत्यथाममाल्लोकान् समारुह्याथैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति । तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकस्तदेवमिमाँल्लोकान् समारुह्याथैषां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति । पुरस्तात् त्वेवार्वाङ् क्रमेत य इतोऽनुशासनं चिकीर्षेद् द्वयं तद्यस्मात् परस्तादर्वाङ् क्रमेत' (श० १।९।३।१०) । तदु

से उनके अपरिचय को ही अभिव्यक्त कर रहा है। यह श्रुति-सूत्र के विरुद्ध भी है। मन्त्र का यथाश्रुत अर्थ ही करना चाहिये था।

तत्पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रन् विक्रान्तवान्। गायत्रेण छन्दसा ततः स्थानान्निर्भक्तो विजितो बहिष्कृतो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः·········। इत्येवमिमांल्लोकानित्युत्तरपक्षस्यार्थवादः। एषा गम्यत इति गतिः। एषा प्रतितिष्ठन्त्यस्यामिति प्रतिष्ठा। तस्यादित्यस्य ये रश्मयः कदम्बकेसरवदनन्तभेदास्ते सुकृतः सुकृतकर्मकारिणः पूर्वे तेजःशरीरा यजमानाः। अथ यत्परं भाः प्रकाशमात्रसूर्यरूपः स यज्ञरूपः प्रजापतिः स्वर्गो वा लोकः सोऽपि कर्मकर्तॄणां प्रजानां पतिः। तत्र ते गच्छन्ति। इमांल्लोकान् समारुह्य एतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छन्ति। पक्षान्तरोपन्यासः परस्तात्त्वेव अर्वाङ् क्रमते। य इत अस्मादेव लोकाद् अनुशासनम् अस्मिन्नेव लोके बहुकालं लोकभोगमाशास्ते, स तद्यस्मात् परस्तादर्वाङ् क्रमते तत्र द्वयं कारणम् --'अपसरणतो ह वा अग्रे देवा जयन्तोऽजयन्। दिवमेवाग्रेऽथेदमन्तरिक्षमथेतोऽनपसरणात् सपत्नाननुदन्त तथो एवैष एतदपसरणत एवाग्रेऽजयञ्जयति दिवमेवाग्रेऽथेदमन्तरिक्षमथेतोऽनपसरणात् सपत्नान्नुदत इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठा तदस्यामेवैतद् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति' (श० १।९।३।११)।

तत्रैकं कारणम्—अपसरणतोऽस्माल्लोकादपसृत्य ह वा अग्रे देवा जयन्तो दिवमग्रे अजयन्। ततोऽन्तरिक्षं पृथिवीम्। अथेतोऽनपसरणात् सपत्नान् नुदते। अर्थात् विष्णुक्रमेषु यत् पक्षद्वयं विद्यते तस्येदमेव मूलम्। यस्माद्देवा इतो लोकादपसृत्य अपसरणक्रमेणाग्रे दिवमजयन् ततोऽन्तरिक्षमिति हेतोरधुनापि तेनैवापसरणक्रमेण पूर्वं दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन छन्दसेति मन्त्रेण। ततोऽन्तरिक्षे विष्णुरिति मन्त्रेण ततः पृथिव्यां विष्णुरिति मन्त्रेण विष्णुक्रमान् क्रमन्ते। अथेतोऽनपसरणात् सपत्नान्नुदते। अस्माल्लोकादनपसृत्य य. शत्रून् नुदते नोदितुमिच्छति स पूर्वं पृथिव्यां विष्णुरिति मन्त्रेण विष्णुक्रमं क्रमते, ततोऽन्तरिक्षे विष्णुरिति, ततो दिवि विष्णुरिति क्रमते। तत्रोत्तरपक्षस्य प्रशंसार्थोऽर्थवादः। तत्रैकं कारणमिदं यदस्माल्लोकादनपसृत्य शत्रूणां नोदनं भवति। द्वितीयश्च फलोपभोगानन्तरं ततः प्रच्युतानामपीयं पृथिवी प्रतिष्ठा भवति। तत आगत्यास्यां प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति। तस्मादुत्तरपक्षो ज्यायानित्यर्थः।

'तदु तद्दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त। जागतेन छन्दसा····। द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया इत्यस्याꣳ ह्वीदꣳ सर्वमन्नाद्यं प्रतिष्ठितं तस्मादाहास्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया इति' (श० १।९।३।१२), 'अथ प्राङ् प्रेक्षते। प्राची हि देवानां दिक् तस्मात्प्राङ् प्रेक्षते' (श० १।९।३।१३), 'स प्रेक्षते। अगन्म स्वरिति देवा वै स्वरगन्म देवानित्येवैतदाह संज्योतिषा भूमेति सं देवैरभूमेत्येवैतदाह' (श० १।९।३।१४)। इमानि श्रौतानि वचनान्येवाश्रित्य कात्यायनोऽप्यसूत्रयत्। तथा हि—'अस्मादन्नादिति भागमवेक्षते' (का० श्रौ० ३।८।११)। अस्मादन्नादिति मन्त्रेण यजमानः स्वकीयं हविर्भागं पश्येत् (इडाभक्षणे यजमानभागः स्पष्ट एव)। 'अस्यै प्रतिष्ठाया इति भूमिम्' (का० श्रौ० ३।८।१२) अनेन वेदिभूमिं पश्यति यजमानः। 'अगन्म स्वरिति प्राङ्' (का० श्रौ० ३।८।१३)। अगन्मेति मन्त्रेण प्राचीं दिशं पश्येद्यजमानः। 'संज्योतिषेत्याहवनीयम्' (का० श्रौ० ३।८।१४)। सञ्ज्योतिषेति मन्त्रेणाहवनीयं विलोकयेत्। मन्त्रार्था श्रुत्यैव स्पष्टीकृताः।

तथा चायं मन्त्रार्थः—अत्र महीधरः–विष्णुपादबुद्धया स्वपादस्य भूमौ प्रक्षेपा विष्णुक्रमाः। विष्णुर्यज्ञपुरुषो जागतेन छन्दसा जगतीच्छन्दोरूपेण स्वकीयपादेन दिवि द्युलोके व्यक्रंस्त विशेषेण क्रमणं कृतवान्। तथा सति ततो द्युलोकान्निर्भक्तो भागरहितं कृत्वा शत्रुर्निःसारितो भवति। कोऽसौ शत्रुः

श्रुति-सूत्र-याज्ञिकसम्प्रदाय शुद्ध अर्थ भाष्य में दिया है, जिसे मन्त्रार्थ से अंशतः अवगत किया जा सकता है। विस्तृत ज्ञान के लिये करपात्रभाष्य को ही देखना चाहिये।

योऽस्मान् यज्ञकर्तॄन् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः स द्विविधोऽपि शत्रुर्निःसारितो भवति। एवं विष्णुस्त्रैष्टुभेन छन्दसा त्रिष्टुप्छन्दोरूपेण पादेनान्तरिक्षे अन्तरिक्षलोकं व्यक्रंस्त क्रमणं कृतवान्। ततो निर्भक्तो भागरहितं कृत्वा शत्रुर्निःसारितः। स शत्रुः योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। तथैव गायत्रेण छन्दसा तद्रूपेण पादेन पृथिव्यां क्रमणं कृतवान्। ततोऽपि निर्भक्तो निःसारितः स शत्रुर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।

अथ श्रुतिसूत्रानुसारेणास्मादन्नादिति मन्त्रेण यो यजमानस्य हविर्भागस्तमवेक्षते। अस्मात्पुरोवर्तिनोऽन्नाद्यजमानसम्बन्धिनो हविर्भागान्निर्भक्त इत्यादिर्वाक्यशेषोऽनुवर्तते। अस्यै प्रतिष्ठायै इति भूमिमवेक्षते। अस्यै पुरतो दृश्यमानायाः प्रतिष्ठायै प्रतिष्ठाहेतोर्यज्ञभूमेर्निर्भक्तः शत्रुः। अगन्म ज्योतिरिरिति प्राचीमवेक्षते पूर्वस्यां दिश्यवस्थितः स्वर्गलोकः स्वरित्युच्यते। तं लोकं सूर्यं वा अगन्म यज्ञानुष्ठानेन वयं प्राप्ताः। संज्योतिषेत्याहवनीयं प्रेक्षते। ज्योतिषा आहवनीयरूपेण वयं समभूम एकीभावेन संगता अभूम।

अध्यात्मपक्षेऽपि—विष्णुर्व्यापनशीलो यज्ञाधिष्ठाता यज्ञभोक्ताऽनन्तब्रह्माण्डाधिपतिः परमेश्वरो दिवि द्युलोके व्यक्रंस्त तत्र पादविक्षेपं कृतवान्। छन्दोमयः स भगवान् जगतीच्छन्दोरूपेण दिवि क्रान्तिं कृतवान्। तद्विक्रान्त्या असुरसमूहो निर्भक्तो भागरहितो निःसारितः। कोऽयमसुरसमूह इत्यपेक्षायामाह योऽस्मान् देवान् तदनुयायिनश्च द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। असुरसमूहो वैदिकान् यज्ञयागादिपरायणान् सनातनधर्मभक्तिज्ञाननिष्ठान् द्वेष्टि बाधितुमिच्छति। वयं देवा देवानुयायिनश्च यमसुरसमूहं द्विष्मः स्वधर्माद्यनुष्ठानाय तं बाधितुमिच्छामः। यद्वा तस्यासुरत्वमेव बाधितुमिच्छामः, स एव विष्णुस्त्रैष्टुभेन छन्दसा त्रिष्टुप्छन्दोमयेन पादेन अन्तरिक्षे व्यक्रंस्त। ततोऽपि निर्भक्तो निराकृतः सोऽसुरसमूहो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। गायत्रेण छन्दसा पादेन विष्णुः पृथिव्यां व्यक्रंस्त ततोऽप्यसुरसमूहे निर्भक्तो निष्कासितो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। त्रिष्वपि लोकेषु तेषामनेकविधत्वेन सम्भवत्येवाधिकारः, तत्र तत्र तत्कृतोपद्रवादिदर्शनात्। 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' इति मन्त्रवर्णात्। पृथिवीलोकापेक्षयाऽन्तरिक्षलोको विस्तृतः, तदपेक्षयापि द्युलोकोऽधिकविस्तृतः। छन्दांस्यपि गायत्र्यादीन्युत्तरोत्तरं विस्तृताक्षराणि। तथाहि—चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री भवति, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्, द्विपञ्चाशदक्षरा जगती भवतीति। अस्मादन्नादास्तिकानामन्नभागाद् भोग्यधनवैभवादिभागादसि निर्भक्त इत्यनुवर्तते। असुरसमूहो निर्भक्तो भागरहितो निष्कासितः। अस्यै प्रतिष्ठायै पञ्चम्यर्थे चतुर्थी। प्रतितिष्ठत्यस्यामिति प्रतिष्ठा यज्ञभूमिः। अस्या यज्ञभूमेरपि निर्भक्तः सोऽसुरसमूहः, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः। विष्णुक्रमप्रभावादेव निर्विघ्नं वयं स्वः स्वर्गं वैकुण्ठं वा अगन्म प्राप्नुमः। ज्योतिर्मयेन ब्रह्मज्योतिषा वयं समभूम सङ्गता अभूम ॥ २५ ॥

स्व॒यम्भूर॑सि॒ श्रेष्ठो॑ र॒श्मिर्व॑र्चो॒दा अ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि। सूर्य॑स्या॒वृत॒मन्वाव॑र्ते ॥ २६ ॥

'अथ सूर्यमुदीक्षते……स उदीक्षते स्वयम्भूरसि……' (श० १।९।३।१५-१६)। शतपथश्रुत्यनुसारेणैव कात्यायनः सूत्रितवान्—'स्वयम्भूरिति सूर्यम्' (का० श्रौ० ३।८।१५)। स्वयम्भूरिति मन्त्रेण सूर्यं

अध्यात्मपक्ष में भगवान् का अधिकार तीनों लोकों पर है। उन्होंने तीनों लोकों में अपना चरण-निक्षेप करके समस्त असुरों को वहां से भगा दिया है। विष्णुक्रम के प्रभाव से ही हम वैकुण्ठ को निर्विघ्नतया प्राप्त कर सकते हैं। उस ज्योतिर्मय ब्रह्म से हम लोग संगत हों, यह प्रार्थना की गई है ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्य ! तुम स्वयंसिद्ध प्रशस्त तथा रश्मि-मण्डल-शरीराभिमानी हिरण्यगर्भसंज्ञक हो, तुम तेजःप्रद हो, अतः मुझे ब्रह्मवर्चस् तेज दो। सूर्य के समान मैं प्रदक्षिणा करता हूँ। 'स्वयंभू' इस मन्त्र से सूर्य का अवलोकन करे। तथा 'सूर्यस्य' इस मन्त्र से प्रदक्षिणा करे ॥ २६ ॥

विलोकयेद्यजमान इति सूत्रार्थः। 'वर्चोदा इति यं वा कामं कामयते' (का० श्रौ० ३।८।१६)। स्वयम्भूरिति वर्चोदा इत्यस्य स्थाने यं कामं कामयेत तद्वाचि पदप्रयोगं कुर्यात्। यथा पुत्रदा असि पुत्रं मे देहीत्येवम् 'सूर्यस्येत्यावर्तते प्रदक्षिणम्' (का० श्रौ० ३।८।१७)। सूर्यस्येति मन्त्रेण प्रदक्षिणमावर्तेत। तथा च मन्त्रार्थः— स्वयंभूरसि हे सूर्य त्वं स्वयम्भूरसि स्वयमेवान्यनिरपेक्षो भवसीति स्वयम्भूः स्वयंसिद्धोऽकृतकोऽसीत्यर्थः। श्रेष्ठोऽत्यन्तप्रशस्तः। रश्मिरसि दीप्तिरूपोऽसि। यद्वा श्रेष्ठो रश्मिः सूर्यमण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भरूपः सप्तमः श्रेष्ठो रश्मिरसि। सूर्यस्य सप्तरश्मयः सन्ति– चतुर्दिक्षु चत्वारो रश्मयः, एकोऽधस्तात्, एक उपरिष्टात्, सप्तमो मण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भः, यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोक इति पूर्वमन्त्रव्याख्यानप्रसङ्गेनोद्धृतशतपथश्रुतेः। हे सूर्य त्वं वर्चोदा ब्रह्मवर्चसस्य स्वरसेनैव स्वभावेनैव दातासि, अतो वर्चो ब्रह्मवर्चसं मे देहि। तेजोवाचिना वर्चःशब्देनापेक्षितः सर्वोऽपि काम उपलक्ष्यते। अतो हे सूर्य त्वमपेक्षितफलप्रदोऽसि, अतो मेऽपेक्षितं प्रयच्छ, यं वा कामं कामयत इति कात्यायनसूत्रसूचनात्। सूर्यस्य पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टस्य देवस्य आवृतमावर्तनमनु अहमावर्ते प्रादक्षिण्येनावर्तनं करोमि।

'अथ सूर्यमुदीक्षते। सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति तस्मात्सूर्यमुदीक्षते' इति श्रुतेः सूर्यः खलु यज्ञकर्तॄणां गतिर्गन्तव्यस्थानं प्रतिष्ठा च। तस्मादेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति याज्ञिकः, तस्मात् सूर्यमुदीक्षते। स उदीक्षते स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिरित्येष वै श्रेष्ठो रश्मिर्यत्सूर्यस्तस्मादाह— स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिरिति। 'वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति त्वेवाहं ब्रवीमीति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तद्धचेव ब्राह्मणेनैष्टव्यं यद्ब्रह्मवर्चसी स्यादिति। अतो ह स्माहौपोदितेय एष वाव मह्यं गा दास्यति गोदा गा मे देहीत्येवं यं कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृद्धयते' (श० १।९।३।१६)। 'अथावर्तते सूर्यस्यावृतमन्वावर्त इति तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वैतस्यैवावर्तमन्वावर्तते' (श० १।९।३।१७)। एष वै श्रेष्ठो रश्मिर्यत् सूर्य इति तेजोघनः सूर्य एव श्रेष्ठो रश्मिरुच्यते। एष तेषामतिशयः वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति त्वेवाहं ब्रवीमीति। याज्ञवल्क्य आह स्म —तद्धचेव ब्राह्मणेनैष्टव्यं यदहं ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण्ययुक्तः स्यामिति। उपेत्योदिता उपोदिता काचित् स्त्री तस्या अपत्यं पुमान् औपोदितेयः। 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा० सू० ४।१।१२०) एवमाह स्म। उत एष वाव सविता मह्यं गा दास्यति गोदा असि गा मे देहीत्येवं यं कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृद्धयते। श्रुत्यनुरोधेनैव कात्यायनेनापि तथैव सूत्रितम्। अथावर्तते प्रदक्षिणमावर्तत एवं हि तस्य सूर्यस्यावृत्तिः। 'सूर्यस्येत्यावर्तते प्रदक्षिणमिति' कात्यायनोऽपि। तस्मादेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वैतस्यावर्तनमनु आवर्तते, तत्सायुज्यमुपागतो भवति ज्ञानसमुच्चितयज्ञानुष्ठायीत्यर्थः। तस्माद्यथोक्त एव वेदार्थः।

भाष्यसार—इस मन्त्र में सूर्य को स्वयम्भू, अर्थात् अन्यनिरपेक्ष यानी स्वयंसिद्ध, अकृतक बताया गया है। वह सूर्य सबसे श्रेष्ठ, अत्यन्त प्रशस्त है। वह रश्मि है यानी दीप्तिरूप है। अथवा श्रेष्ठो रश्मि कह कर उसे सूर्यमण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भरूप सप्तम श्रेष्ठ रश्मि कहा गया है। सूर्य की सात रश्मियाँ होती हैं, चार दिशाओं में चार रश्मियाँ, एक अधस्तात् और एक उपरिष्टात्, सप्तम मण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भ है। सूर्य को ब्रह्मवर्चस का प्रदाता कहा गया है। ब्रह्मवर्चस का प्रदान करना उसका स्वभाव है। अतः ब्रह्मवर्चस प्राप्ति की प्रार्थना उससे की गई है। यहाँ तेजोवाची वर्चस् शब्द से अपेक्षित समस्त कामनाओं को उपलक्षित किया गया है। एवं च यह सूर्यदेवता अपेक्षित फल को देनेवाली है। सूर्य का दर्शन और परिक्रमा करनी चाहिये। यज्ञकर्ताओं का गन्तव्य स्थान सूर्य ही है।

स्वामी दयानन्द ने दो प्रकार से व्याख्या की है, किन्तु वे दोनों ही व्याख्यायें शतपथ के विरुद्ध रहने से उपेक्षणीय हैं। अतः पूर्वोक्त सिद्धान्तानुसारी मन्त्रार्थ ही शतपथसम्मत है।

एतेन हे जगदीश्वर ! त्वं श्रेष्ठो 'रश्मिः स्वयम्भूरसि वर्चोदा असि वर्चो मे देहि। अहं सूर्यस्य तवावृतमाज्ञापालनमन्वावर्तं' इत्येकः, तथा यः श्रेष्ठो रश्मिः स्वयंभूः स्वयंप्रकाशोऽस्ति, वर्चोदासि यो मे मह्यं वर्चो ददाति तस्यास्य सूर्यस्यावृतं शिल्पविद्यार्थं अन्वावर्ते' (पृ० २०५) इत्थं दयानन्दोक्तं व्याख्यानद्वयमपि प्रत्याख्यातं वेदितव्यम्, शतपथश्रुतिविरुद्धत्वात् । तत्र स्पष्टं सूर्यमुदीक्षत इति सूर्यावलोकनेऽस्य मन्त्रस्य विनियोग उक्तः । नहि परमात्मरूपस्य सूर्यस्योदीक्षणं विधातुं शक्यम्, कर्मप्रसङ्गे तदनुपपत्तेः । एष वै श्रेष्ठो रश्मिरित्येष इति प्रत्यक्षत्वं तस्योक्तम् । न च तत्परमेश्वरस्य सम्भवति, तस्य श्रवणमनननिदिध्यासनादिभिरुपलभ्यत्वात् । वर्च इत्यस्य याज्ञवल्क्यरीत्या ब्रह्मवर्चसीति व्याख्यानं श्रुत्यैव कृतम् । औपोदितेयरीत्या गौरेव वर्च इति कामितपदार्थमात्रस्योपलक्षणं वर्चःपदम् । तेन गौः प्रजा धनं विद्येत्यादिसर्वमपि कामितं ग्रहीतुं शक्यत इत्यादिकं 'यं वा कामं कामयते सोऽस्मै कामः समृध्यते' इति श्रुत्यैव स्पष्टमुक्तम् । एवम् अथावर्तते इति श्रुत्यैव सूर्यस्यावृतमन्वावर्त इति मन्त्रेण सूर्यप्रदक्षिणैव विहिता, नात्राज्ञापालनं प्रकृतं न वा तद्विहितम्, तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वेति श्रुतिविरोधात् । तस्मात्सिद्धान्तानुसारी मन्त्रार्थ एव शतपथसम्मतः ।

अध्यात्मपक्षेऽपि हे सूर्यनारायण ! त्वं स्वयम्भूरकृतकः परमेश्वर एवासि, 'असावादित्यो ब्रह्मेति' सूर्योपनिषद्वचनात् । छान्दोग्येऽपि चक्षुषि सूर्यमण्डले च हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः परमात्मैवोपास्यत्वेनोक्तः । पुराणे च—'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः । केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥' इति परमेश्वर एव ध्येयत्वेनोक्तः । 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इति ब्रह्मसूत्रे बादरायणेनापि सूर्यमण्डले हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टः परमेश्वर एवोपास्यत्वेन वर्णितः । वाल्मीकीये रामायणे परब्रह्मस्वरूपो रामोऽपि स्वात्माभिन्नं ब्रह्मस्वरूपं भगवन्तमादित्यमगस्त्योपदिष्टरीत्या संस्तुत्य परमदुर्धर्षं रावणं जघान । 'एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः । महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपांपतिः ॥' इत्यादिभिः श्लोकैस्तत्र भगवत आदित्यस्य सार्वात्म्यमुक्तम् । अत एव नाचेतनः सूर्यः । तत एव सम्बोधनं स्तुतिस्ततोऽभीष्टमनोरथप्राप्तिरप्युपपद्यते, नाचेतनात् 'यं यं कामयते' इत्यादिकमुपपद्यते । सूर्यरूपेणैव परमात्मन आबाल-गोपाङ्गनं प्रसिद्धिरुदिता रुद्राध्याये—'उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः' (१६।७) इति । एनं परमेश्वरं शिवं सूर्यं गोपा उदहार्यश्च दृष्टवन्तः । शतपथश्रुतिरीत्या एष हिरण्यगर्भः पुरुष एवास्य सूर्यस्य श्रेष्ठः सप्तमो रश्मिः । आदित्यमण्डलस्थः परमेश्वरः प्रार्थ्यते— वर्चोऽसि तेजसां निधानमसि, वर्चो ब्रह्मवर्चसं मे देहि येन ब्राह्मण्येन ब्रह्मात्मानमापरोक्ष्येण साक्षात्कृत्याहं ब्रह्मविद्वरिष्ठरूपो मुख्यो ब्राह्मणः स्याम् । अथवा सर्वकामितार्थरूपः सर्वात्मासि, अतो यं यं गाः प्रजा रत्नानि ब्रह्मविद्याः शमदमादींश्च कामये तं तं देहि । नहि सर्वप्रदस्य तव किञ्चिदप्यदेयमस्ति । सूर्यस्यावृतमावर्तनमन्वावर्ते प्रादक्षिण्येन त्वदीयां गतिमहमन्वावर्ते । प्रदक्षिणावर्तनेनाहं त्वदानुकूल्यं व्यञ्जयामि, तेन त्वदीयकायच्छायमिवात्मानं त्वदनुगामिनं करोमि । त्वदिच्छानुसारिणीमिच्छां त्वन्मनोऽनुसारि मनश्च कृत्वा सर्वथा तवानुवर्तनं करिष्यामीति ॥ २६ ॥

अध्यात्मपक्ष में—सूर्यनारायण के रूप में वह परब्रह्म परमेश्वर ही है। इस बात को उपनिषद्, पुराण, ब्रह्मसूत्र आदि ने भी बताया है। सूर्यमण्डल में हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्ट परमेश्वर ही उपास्य के रूप में बताया गया है। परब्रह्मस्वरूप रामचन्द्र ने भी अपने से अभिन्न ब्रह्मस्वरूप भगवान् आदित्य की स्तुत्यात्मक उपासना अगस्त्य मुनि के उपदेशानुसार करके ही परम दुर्धर्ष रावण का वध किया था, यह सब वाल्मीकीय रामायण में वर्णित है। अत एव 'सूर्य' को अचेतन कहना बड़ी भूल है। सूर्य अचेतन नहीं है। इसीलिये भक्त अपने आराध्यदेव सूर्य आदि का दर्शन, प्रदक्षिणा करके उसके प्रति अपनी अनुकूलता को अभिव्यक्त करता है ॥ २६ ॥

अग्ने॑ गृहपते सुगृहप॒तिस्त्वया॑ग्ने॒ऽहं गृ॒हप॑तिना भूयास॑ꣳ सुगृहप॒तिस्त्वं मया॑ग्ने गृ॒हप॑तिना भूयाः । अस्थू॒रि णौ॑ गार्ह॑पत्यानि सन्तु श॒तꣳ हिमा॑ः सूर्य॑स्या॒वृत॒मन्वाव॑र्ते ॥ २७ ॥

'गार्हपत्यमुपतिष्ठतेऽग्ने गृहपत इति शतꣳ हिमा इति ब्रूयाद्वा' (का० श्रौ० ३।८।१९)। हे गार्हपत्याग्ने गृहपतेऽस्मदीयस्य गृहस्य पालक ! त्वया गृहपतिना त्वत्प्रसादेनाहं सुगृहपतिः शोभनो गृहपालको भूयासम् । तथा त्वमपि गृहपतिना मया मदीयसेवया गृहपतिर्भूया गृहपालको भव । एवं सति नौ आवयोर्गार्हपत्यानि गृहपतिभ्यां स्त्रीपुंसाभ्यां निष्पाद्यानि कर्माणि शतं हिमाः शतवर्षपर्यन्तम् अस्थूरि स्थूलत्वमनुष्ठानाभ्यासस्तद्रहितमस्थूरि रलयोरभेदः सम्यगनुष्ठितानि भवन्तु । हिमशब्दो हेमन्तमृतुमाचष्टे । तथैव च तित्तिरिर्व्याचष्टे—'शतꣳ हिमा इत्याह शतं ता हेमन्तातिष्विवायेति वैतदाहेति' । हिमशब्दसूचितैर्हेमन्तैस्तद्युक्ताः संवत्सरा लक्ष्यन्ते । यद्वा शकटयुगस्यान्यतरपार्श्वे बलीवर्दयुतं शकटं स्थूरीत्युच्यते । न स्थूरि अस्थूरि उभयतो बलीवर्दयुक्तं शकटमस्थूरीव । लुप्तोपमं चैतत् । यथोभयतो बलीवर्दयुतं शकटं निरन्तरमव्यवहितं प्रचलति, तथास्माकं गार्हपत्यानि गृहपतिभ्यां निष्पाद्यानि कर्माणि निरन्तरमव्यवहितं प्रचलन्तु । 'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' (पा० सू० ४।४।९०) । सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते 'सूर्यस्येत्यावर्तते प्रदक्षिणम्' (का० श्रौ० ३।८।२०) । सूर्यस्येति मन्त्रेण यजमानः प्रदक्षिणमावर्तत इति सूत्रार्थः । मन्त्रार्थस्तु पूर्ववदेव ।

कात्यायनसूत्राणि तदनुकूलानि भाष्याणि शतपथश्रुतिमूलकान्येवेति मन्तव्यम् । तथाहि—'अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते । द्वयं तद्यस्माद् गार्हपत्यमुपतिष्ठते गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति यावद्वेवास्येह मानुषमायुस्तस्मा एवैतदुपतिष्ठते । तस्माद् गार्हपत्यमुपतिष्ठते' (श० १।९।३।१८) । गार्हपत्योपस्थानस्य कारणद्वयम्—एकं यस्माद् गृहा वै गार्हपत्यं गृहा वै प्रतिष्ठा गार्हपत्योपस्थानेन स्वगृहे प्रतितिष्ठति, द्वितीयं च यावद्वास्य मानुषमायुस्तस्मै तस्य निर्विघ्नप्राप्तये उपतिष्ठते । सूर्योपस्थानादिना स्वगतिरुक्तैव । 'स उपतिष्ठते अग्ने गृहपते''''मयाग्ने गृहपतिना भूया इति नात्र तिरोहितमिवास्त्यस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्यनार्तानि नौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्येवैतदाह । शतꣳ हिमा इति शतꣳवर्षाणि जीव्यासमित्येवैतदाह । तदप्येतद् ब्रुवन्नाद्रियेतापि भूयाꣳसि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति तस्मादप्येतद् ब्रुवन्नाद्रियेत' (श० १।९।३।१९) । भूया इत्यन्तं स्पष्टमेव । अस्थूरिणौ गार्हपत्यानीति व्याचष्टे—अनार्तानि नौ गार्हपत्यानि सन्त्वित्येवैतदाह पूर्वोक्तो मन्त्रभागः । असहायगोवाह्यशकटः स्थूरः । तत्रासहायमात्रं लक्ष्यते । स्थूरोऽस्मिन्नस्तीति स्थूरि न स्थूरि अस्थूरि ससहायः अनेकबलीवर्दयुक्तः शकटः अस्थूरि तेन परिपूर्णता लक्ष्यते । तदेवाह—अनार्तानि नौ आवयोर्गार्ह-

मन्त्रार्थ—हे गृहपालक अग्ने ! तुम्हारे प्रसाद से मैं अच्छा गृहपालक बनूंगा । तथा मेरी सेवा से तुम भी गृह के पालक बनो । इस तरह से हम पति-पत्नी के कार्य सौ वर्षतक निरन्तर सावधानी से होते रहें । जिस प्रकार दोनों तरफ जुड़ी हुई बैलगाड़ी निरन्तर चलती है, उसी प्रकार हमारे कार्य प्रवृत्त होते रहें । सूर्य के समान मैं प्रदक्षिणा करता हूँ । 'अग्ने गृहपते' इस मन्त्र से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करे और 'सूर्यस्य' इस मन्त्र से प्रदक्षिणा करे ॥ २७ ॥

भाष्यसार—मन्त्र में हिम शब्द 'हेमन्त ऋतु' को बता रहा है । 'अस्थूरि णौ' अस्थूरीव लुप्तोपमा का प्रयोग किया है । जिस शकट के जुवे (धुरी) में दोनों तरफ बैल लगे होते हैं, उसे अस्थूरि कहते हैं । ऐसी दो बैलवाली गाड़ी जैसे बिना किसी व्यवधान के चलती है, वैसे ही हम पति-पत्नी के द्वारा निष्पाद्य कर्म निरन्तर चलता रहे ।

पत्यानि। असहायकृतानि कर्माणि आर्तिपरिगृहीतत्वाद् आर्तान्युच्यन्ते। ससहायसाध्यानि पुनरनार्तानि साङ्गानि सुसम्पन्नानि भवन्ति। शतं हिमा इति ब्रुवन् शतं मे जीव्यासमिति नाद्रियेत यतो हि भूयांसि शताद्वर्षेभ्यो जीवति पुरुषः, सहस्रायुःपुरुषाणामपि वेदपुराणादिषु वर्णनात्।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने गृहपते ! आहिताग्नीनामग्निरेव गृहपतिर्भवति, सर्वेषु सुप्तेषु तस्यैव जागरूकत्वात्, 'अग्निर्जागार' इत्यादि मन्त्रवर्णात्। अत एव कृतदारस्यैवाग्न्याधानेऽधिकारः 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इति श्रुतिः, दम्पत्योः सहाधिकारात्। नात्रापि जडोऽग्निः पूज्यते, किन्तु तदधिष्ठाता देवविशेषः, तदुपहितः परमात्मैव वाराध्यते। अतो हे अग्ने गृहपते ! त्वयैव गृहपतिनाहं सुगृहपतिः शोभनो योग्यो धार्मिको भगवत्प्राप्तिसाधको गृहपतिर्भूयासम्। भगवदाराधकस्य गृहं मे सुगृहं भवति, 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' इति श्रीमद्भागवतवचनात्। हे अग्ने मया गृहपतिना त्वमपि सुगृहपतिर्भूयाः। यथा योग्याभिः प्रजाभिरेव शोभनो राजा भवति, तथैव योग्यैरेवाहिताग्निभिरग्निरपि सुगृहपतिर्भवति। हे अग्ने ! यथा शरीरत्रयलक्षणपुरत्रयनिवासित्वाज्जीवः पूर्षु शयनात् पुरुष उच्यते, तथैवानन्तब्रह्माण्डलक्षणगृहे व्यवहर्तृत्वात् परमात्मस्वरूपोऽग्निर्गृहपतिर्भवति। तदनुग्रहेणाहमपि सुगृहपतिर्भूयासं मोक्षप्रापकदेहगृहादिस्वामित्वेन सुगृहपतिर्भूयासम्, मया च त्वं सुगृहपतिर्भूयाः। सर्वेश्वरोऽपि सर्वव्यापकोऽपि सर्वत्र स्थितोऽपि भगवानसन्निव भवति धर्मोपासनतत्त्वज्ञानैर्विना, अतो मया धर्मादिमता त्वं सुगृहपतिर्भूयाः। त्वदनुग्रहेण नौ स्त्रीपुरुषयोर्गार्हपत्यानि अस्थूरीव शतं हिमाः सन्तु बहुकालपर्यन्तं त्वदाराधनलक्षणं गार्हपत्यानि गेहदेहसम्बन्धीनि अनन्तानि निरन्तरमव्याहतानि प्रचलन्तु, अहं च तवाराधकः स एव परमात्मस्वरूपोऽग्निः सूर्यरूपेणाप्याराधनीयः तस्य सूर्यस्यावृतं प्रादक्षिण्येनावर्तनमावर्ते तदवच्छिन्नस्य परमेश्वरस्यानुवर्तनं करोमीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे गृहपते जगदीश्वर ! त्वं गृहपतिरसि। त्वया गृहपतिना सहाहं सुगृहपतिर्भूयासम्। मया गृहपतिनोपासितस्त्वं गृहपतिर्भूयाः। एवं नौ स्त्रीपुरुषयोर्गार्हपत्यान्यस्थूरि सन्त्वेवं वर्तमानोऽहं वर्तमाना च सूर्यस्यावृतं शतं हिमा अन्वावर्त इत्येकः। अयमग्निर्विद्यया संगृहीतः सुगृहपतिर्भवति। अहमनेन सुसाधितेन गृहपतिनाग्निना सुगृहपतिर्भूयासम्। मया गृहपतिना संयोजितोऽयमग्निः सुगृहपतिर्भवति। अनेनावयोः स्त्रीपुरुषयोर्गार्हपत्यान्यस्थूरि सन्तु। एवं प्रयत्नं कुर्वन् कुर्वती चाहं सूर्यस्यावृतं शतं हिमा अन्वावर्ते इति द्वितीयः' (पृ० २०८)। तदेतद् व्याख्यानद्वयं शतपथश्रुतिकात्यायनादिसूत्रविरुद्धत्वादुपेक्ष्यम्। सर्वाधिपतेर्जगदीश्वरस्य गृहपतित्वं किंनिबन्धनमिति वक्तव्यमासीत्। अग्निर्विद्यया संगृहीतोऽप्यग्निः कथं गृहपतिः ? सिद्धान्ते तु गार्हपत्योऽग्निरत्र सम्बोध्यः। तत्रैव गार्हपत्यानि क्रियन्ते। यदुक्तम् —'तिष्ठन्ति यस्मिन्नालस्ये तत्स्थूरं तन्निन्दितं विद्यते यस्मिन् तत्स्थूरि न स्थूरि अस्थूरि यथा स्यात्तथा' इति, तदपि न सङ्गतम्, तिष्ठन्ति यस्मिन् सत्येऽनालस्ये तत्स्थूरमिति व्युत्पत्त्या त्वदुक्ताद्विपरीतार्थस्यापि सुवचत्वात्। शतपथे

अध्यात्मपक्ष में —परमेश्वर की आराधना करने वाला कहता है कि परमात्मा 'अग्नि' रूप है और वही सूर्यरूप भी है। आहिताग्नियों का अग्नि ही गृहपति होता है, क्योंकि सबके सो जाने पर वही जागता रहता है। अत एव कृतदारपरिग्रह वाले पुरुष का ही अग्न्याधान में अधिकार बताया गया है। यह पूजन जड अग्नि का नहीं किया जाता, अपितु तदधिष्ठात्री देवता का किया जाता है। अथवा तदुपहित परमात्मा की ही आराधना की जाती है। उसी परमात्मा की उपासना से मैं सुगृहपति, योग्य धार्मिक अर्थात् भगवत्प्राप्तिसाधक गृहपति बन पाऊँगा, क्योंकि 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' मेरा घर तो निर्गुण (गुणरहित) है। अतः मैं उस परमेश्वर का अनुवर्तन करता हूँ।

तु अनार्तानीत्येवास्थूरिपदार्थत्वेनोक्तम्, गार्हपत्यकर्मणां व्यङ्गत्वमपरिपूर्णत्वमेवार्तत्वम्। तच्चासहायनिर्वर्त्यत्व एव पर्यवस्यति। आलस्येन तु कर्मप्रवृत्तिरेव न भवति। तद्व्याख्यानं तु सिद्धान्तव्याख्याने व्यक्तमेव। यच्च—'एवं वर्तमानो वर्तमाना चाहं सूर्यस्यावृतं शतं हिमा अन्वावर्ते' इत्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, अस्थूरि नौ गार्हपत्यानि शतं हिमाः सन्त्वित्यन्वयेन शान्ताकाङ्क्षत्वेन शतं हिमा इत्यस्य अन्वावर्त इत्यनेनायोगात्, श्रुत्या सूत्रेण च पृथग्विनियुक्तत्वात्, 'अथावर्तते सूर्यस्यावृतमन्वावर्त इति तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गत्वैतस्यावृतमन्वावर्तते' (श० १।९।३।२०) 'सूर्यस्येत्यावर्तते प्रदक्षिणम्' (का० श्रौ० ३।८।२०) इति श्रुतिसूत्राभ्यां पृथगेवास्य मन्त्रस्य विनियोगात्, शतं हिमा इत्यनेन तदसम्बन्धात् अथावर्तत इति श्रुतावथपदव्यवधानाच्च तदयुक्तम् ॥ २७ ॥

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं य एवास्मि सोऽस्मि ॥ २८ ॥

'व्रतं विसृजते येनोपेयात्' (का० श्रौ० ३।८।२५)। यदि पूर्वमग्ने व्रतपते इति मन्त्रेण व्रतं गृहीतं तदा अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषमिति मन्त्रेण व्रतं विसृजेत्। यदि पूर्वमिदमहमिति मन्त्रेण गृहीतं तदा इदानीमिदमहं स एवास्मि सोऽस्मीति मन्त्रेण विसृजेत्। व्रतपते व्रतस्य कर्मणः पालक हे अग्ने! व्रतमचारिषं कर्मानुष्ठितवानस्मि। तदशकं त्वदनुग्रहात् कर्म सम्पादयितुं समर्थोऽभवम्। त्वया च मदीयं तत्कर्म अराधि साधितम्। इदमहमिति प्रारम्भसमये इदं व्रतमहं करिष्य इति सङ्कल्प्य यः स्थितोऽस्मि स एवाहमिदानीं त्वत्प्रसादात् सङ्कल्पितकर्मसमाप्तिं कृत्वा स्थितोऽस्मि। यद्वा हे अग्ने त्वत्साक्षिकं व्रतं गृहीत्वा इदं कर्म समाप्य य एव कर्मणः पुरा अहमस्मि मनुष्यः स एवास्मि। कर्मकाले तु मानुषभावादनृतादुद्गत्य सत्यं देवभावमुपगतोऽभवम्।

तथैव शतपथश्रुतिः—'अथ व्रतं विसृजते। इदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्यमानुष इव वा एतद्भवति यद्व्रतमुपैति। नहि तदवकल्पते यद् ब्रूयादिदमह७ सत्यादनृतमुपैमीति तदु खलु पुनर्मानुषो भवति। तस्मादिदमहं य एवास्मि सोऽस्मीत्येवं व्रतं विसृजेत' (श० १।९।३।२३)। यद्व्रतं विसृजते तेन व्रतोऽमानुष इव देव इव भवति। यथा पूर्वं व्रतग्रहणे इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीत्युक्तं समाप्तौ इदमहं सत्यादनृतमुपैमीति यद् ब्रूयात्तन्नावकल्पते, यतो व्रतविसर्गानन्तरं मानुषो जायते। तस्मादिदमहमित्येतेन मन्त्रेण व्रतं विसृजेत्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने! मदर्थं यद् व्रतमराधि तदशकमचारिषं यन्मयाराधि तदेवाहं भुञ्जे योऽहं यादृशकर्मकार्यस्मि सोऽहं तादृशफलभोग्यस्मि भवामि' (पृ० २१०) इति, तत्तु सर्वथा विशृङ्खलं श्रुतिसूत्रविरुद्धं च,

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र के दो अर्थ किये हैं, किन्तु दोनों ही शतपथ और श्रौतसूत्र के विरुद्ध हैं। साधारण लौकिक अग्नि और गार्हपत्य अग्नि में बहुत बड़ा भेद है, दोनों एक नहीं हैं। 'अस्थूरि' शब्द का अर्थ भी ठीक नहीं समझ पाये। दयानन्दीय अर्थ में विपरीत अर्थ का भी बोध होता है। अतः शतपथोक्त अर्थ की ओर ध्यान देना चाहिये ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे कर्मपालक अग्ने! मैंने सत्य भाषण आदि का व्रत किया और वह तुम्हारी कृपा से ही सम्भव हो सका, तुम्हारे कारण ही मेरा व्रत पूर्ण हो पाया। हे अग्ने! उस व्रत को मैंने समाप्त किया। जैसा मैं पहिले मनुष्य था, वैसा अब भी हूँ। अभिप्राय यह है कि व्रत समाप्ति का श्रेय तुम्हें ही है, मुझे नहीं। 'व्रतं विसृजते येनोपेयात्' इस सूत्र के अनुसार यजमान ने जिस मन्त्र से व्रतग्रहण किया हो, उसी मन्त्र से वह व्रतत्याग करे ॥ २८ ॥

भुञ्जे तादृशफलभोग्यस्मीत्यस्य निर्मूलत्वात् । व्रतचरणव्रतविसर्गयोरनवधानं स्वाभ्यूहितसत्य-न्याय-धर्मादि-ग्रहणप्रतिज्ञानकर्मानुसारफलभोगित्वाख्यानं च प्रमादविलसितमेव ॥ २८ ॥

अग्नये॑ कव्यवाह॑नाय स्वाहा॒ सोमा॑य पितृ॒मते॒ स्वाहा॑ ।

अप॑हता॒ असु॑रा॒ रक्षा॑ᳪसि वेदि॒षदः॑ ॥ २९ ॥

अग्नये इत्यारभ्य पिण्डपितृयज्ञिया मन्त्राः । प्रजापतेरार्षम् । 'सारतण्डुलमपूर्णᳪ श्रपयित्वाऽभिघार्योद्वास्य मेक्षणेन जुहोत्यग्नय इति सोमायेति च' (का० श्रौ० ४।१।६) । शृताशृतं पितॄणामिति वाक्यात् सारशब्द ईषत्स्विन्नवाची । तण्डुलमीषत्स्विन्नं तथा श्रृतेन चरुणा चरुस्थाली पूर्णा यथा स्यात्तथा श्रपयित्वा आज्येनाभिघार्य दक्षिण उद्वास्य उत्तरत आनीयाध्वर्युर्मेक्षणेन कृतापसव्योऽग्नय इति सोमायेति च मन्त्राभ्यां द्वे आहुती जुहुयात् । होमस्यास्य दैवत्वेऽपि पैतृककर्माङ्गत्वादङ्गस्य प्रधानधर्मकत्वावश्यंभावात् प्राचीनावीतिनैव होमः कार्यः । चरुमालोड्य येन काष्ठेन गृहीत्वा हूयते तद् मेक्षणम् ।

मन्त्रार्थस्तु—कव्यवाहनाय कवीनां क्रान्तदर्शिनां पितृणां सम्बन्धि हविः कव्यम् । तत् पितॄन् प्रति वहति प्रापयतीति कव्यवाहनोऽग्निः । यद्वा तत्कव्यं पितॄणां हविर्वोढुमधिकारो यस्य स कव्यवाहनः । 'त्रयो वा अग्नयो हव्यवाहनो देवानां कव्यवाहनः पितॄणां सहरक्षा असुराणाम्' (तै० सं० २।५।८।६) । तस्मै अग्नये देवाय स्वाहा हविरिदं समर्पितमस्तु । वषट्कारेण स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयत इति लिङ्गाद् दैवावेतौ मन्त्रौ । 'प्रास्य तद्दक्षिणेनोल्लिखत्यपहता इत्यपरेण वा' (का० श्रौ० ४।१।७) । होमान्तरमध्वर्यु-र्दक्षिणाग्नौ मेक्षणमपि प्रक्षिप्य दक्षिणाग्नेर्दक्षिणतः पश्चिमतो वा स्फ्येन दक्षिणाग्रां रेखां कुर्यात् । वेद्यां सीदन्तीति वेदिषदस्तथाविधा असुरा अपहता वेदेः सकाशादपनीय वारिताः । तथा रक्षांसि च अपहतानि । असुरा रक्षांसि च देवविरोधिजातिविशेषाः ।

शतपथे च —'स जघनेन गार्हपत्यं प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एवं गृह्णातीति' (श० २।४।२।९) । गार्हपत्यस्य पश्चिमदेशे व्रीहिपूर्णस्य निर्याणार्थस्य शकटस्य दक्षिणत आसीनः प्राचीनावीती भूत्वा पितृयज्ञार्थं हविर्गृह्णीयात् । चर्वर्थं गृहीतानां व्रीहीणामवहननं सकृत् फलीकरणं च कुर्यात् । 'तᳪ श्रपयति तस्मिन्नधिश्रित आज्यं प्रत्यानयत्यग्नौ वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैव पितॄणां तस्मादधिश्रित आज्यं प्रत्यानयति' (श० २।४।२।१०) । सकृत्फलीकृततण्डुलान् स्थाल्यां प्रक्षिप्य तं चरुं दक्षिणाग्नौ श्रपयेत् । उद्वासनात् प्रागेव तस्मिश्चरावभिघारणं विधत्ते—अधिश्रिते अग्नेरुपरि स्थापिते तस्मिन् पक्वे सत्याज्यं प्रत्यानयति प्रक्षिपति ।

भाष्यसार—भाष्य का अभिप्राय ऊपर भावार्थ से स्पष्ट हो जाता है । अतः उसकी आवृत्ति नहीं की जा रही है । स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह श्रुति-सूत्र के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय ही है ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—कव्य का धारण करनेवाला जो अग्नि है, उसे यह हविर्भाग दिया है । पितृयुक्त सोमसंज्ञक जो देव है, उसे यह हविर्भाग दिया है । वेदी पर रहनेवाले जो राक्षस और असुर हैं, वे वेदी से भ्रष्ट हो गये हैं । भूतकालीन कर्म को देखनेवाले जो पितृगण हैं, उन्हें 'कवि' कहते हैं और उनको दिया हुआ हविर्द्रव्य 'कव्य' कहलाता है । सम्पूर्ण चावलों को अपूर्ण (अर्ध) परिपक्व करके, उस पर घृत डालकर, उन्हें स्थाली में निकाल ले । तदनन्तर विकंकत वृक्ष से निर्मित मेक्षण से उन चावलों की 'अग्नि' और 'सोम' के लिये दो आहुतियाँ देवे ॥ २९ ॥

तदुपपादयति —अग्नौ वेति। देवार्थं यदाज्यं तद् अग्नौ जुह्वति यजमानाः। मनुष्येभ्यो यद् देयमाज्यं तत् तेषां पुरतो भोजनपात्रेषूद्धरन्ति उद्धृत्य पुरतः स्थापयन्ति। अथैव तद्वैलक्षण्येन पितृणां त्वधिश्रितावस्थायामेव चरावाज्यमवनेयमिति। एवमेव पितृभ्य आज्यं देयम्, न त्वग्नौ होमेन न वा पुरस्तादुद्धरणेन। एतावता मनुष्येभ्यो भिन्ना देवाः पितरश्चेति। श्रुतिसिद्धाः पितरश्च देवमनुष्येभ्यो भिन्ना एव।

'स उद्वास्याग्नौ द्वे आहुती जुहोति देवेभ्यः। देवान् वा एष उपावर्तते य आहिताग्निर्भवति। यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते। अथैतत् पितृयज्ञेनाचारीत्तदु देवेभ्यो निह्नुते स देवैः प्रसूतोऽथैतत् पितृभ्यो ददाति। तस्मादुद्वास्याग्नौ द्वे आहुती जुहोति' (श० २।४।२।११)। अथोद्वासनपूर्वकं चरोर्होमं विधत्ते—ननु पित्रर्थेन हविषा कथं देवेभ्यो होम इत्याशङ्क्य तदुपपादयति—देवान् वा एष उपावर्तत इति। उपह्वो भवति य आहिताग्निर्भवति यश्च दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते। अतस्तेभ्यो हविरवश्यं देयम्। अथ तद्वैपरीत्येन एतत् एतर्हि दैविकं कर्म परित्यज्य पित्र्येण कर्मणा अचारीत् पित्र्यं कर्म कृतवानयं यजमानः। तथास्यान्यदीयकर्मानुष्ठानेन देवानां कोपः स्यात्, अतस्तन्निवृत्तये पित्र्ये विकर्मणि देवेभ्यो होमेन तदपराधं निह्नुते क्षमापयति प्रीणयति वा। एवं होमेन तोषितैर्देवैः प्रसूतोऽनुज्ञातः स यजमानः, अथैतत् पितृभ्यो हविर्दद्यात् तस्मादुद्वास्याग्नौ द्वे आहुती जुहुयात्। 'स वा अग्नये च सोमाय च जुहोति। स यदग्नये जुहोति सर्वत्र ह्येवाग्निरन्वाभक्तोऽथ यत्सोमाय जुहोति पितृदैवत्यो वा सोमस्तस्मादग्नये च सोमाय च जुहोति' (श० २।४।२।१२)। स वा इति। इतरान् देवान् परित्यज्य अग्नेः सोमस्य च होमे कारणमाह—सर्वदेवेषु सर्वेषु कर्मसु अग्निरन्वाभक्तोऽनुप्रविष्टः। नह्यग्निमन्तरेण दैविकं पित्र्यं वा किञ्चित् कर्म निष्पद्यते, अतोऽग्नेर्होमो युक्तः। सोमश्च पितृदैवत्यः, चन्द्रमा वो ज्योतिरिति प्रजापतिः पितृणां ज्योतिष्ट्वेन चन्द्रमसं कल्पितवान्। अत एव धूमादिमार्गेण पितृणां चन्द्रलोकप्राप्तिरुक्ता। 'चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (छा० उ० ५।१०।५)। अतः पित्र्ये कर्मणि सोमाय होमो युक्त एव।

'स जुहोति। अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहेत्यग्नौ मेक्षणमभ्यादधाति। तत् स्विष्टकृद्भाजनमथ दक्षिणेऽन्वाहार्यपचनꣳ सकृदुल्लिखति तद्वेदिभाजनꣳ सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात् सकृदुल्लिखति' (श० २।४।२।१३)। उक्तदेवतयोर्होममन्त्रं विधत्ते श्रुतिः—'अग्नये कव्यवाहनाय। कव्यं पित्र्यं हविः, तत् पितॄन् वहति प्रापयतीति 'कव्यपुरीषपुरीष्येषु' (पा० सू० ३।२।६५) इति ल्युट्। कव्यवाहनाय अग्नये स्वाहा हविरिदं दत्तमस्तु। पितृमते पितृयुक्ताय सोमाय स्वाहा सुहुतमस्तु। मेक्षणमग्नावभ्यादधाति। तच्चास्य होमस्य स्विष्टकृत्स्थानीयम्। अथ दक्षिणेनेति पिण्डप्रदानाय स्थानविशेषं तत्संस्कारं च विधाय प्रशंसति—अन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः। दक्षिणाग्नेरदूरेण स्फ्येन सकृदुल्लिखति। एकयत्नेन प्राचीं लेखां कुर्यात् तत उल्लिखितस्थलं वेदिभाजनं वेदिस्थानीयं तत्कार्यकरं यत एकवारमेव पराञ्चो गताः प्रेताः पितरोऽभवन् न तेषां पुनरावृत्तिरस्ति, अतस्तेषां सकृत्त्वमसाधारणो धर्मः। पितृणां कालविशेषोऽपि सूचितः—'स वा अपराह्णे ददाति। पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितृणां तस्मादपराह्णे ददाति'

भाष्यसार—'अग्नये और सोमाय' ये दो आहुतियाँ यद्यपि 'दैव' हैं, तथापि पैतृक कर्म का अंग होने से प्राचीनावीती (अपसव्य) करके ही होम करना चाहिये। चरु का आलोडन करके जिस काष्ठ से हवन किया जाता है, उसे 'मेक्षण' कहते हैं। वषट्कार अथवा स्वाहाकार के द्वारा देवताओं को अन्न दिया जाता है। असुर और राक्षस ये देवविरोधी जातिविशेष हैं।

(श० २।४।२।८)। तस्माद्विद्वांसो मनुष्या एव देवाः, जीवन्तः पितृपितामहादय एव पितर इत्यर्धनास्तिकाना-मुक्तयोऽपास्ता वेदितव्याः।

अथाध्यात्मम् —अग्नये कव्यवाहनाय पितृहविःप्रापकत्वविशिष्टाय सोमाय साम्बशिवाय पितरः सन्त्यनुग्राह्या यस्य तस्मै स्वाहा हविर्दत्तमस्तु। अन्यत् पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'कुवन्ति शब्दयन्ति सर्वा विद्या ये ते कवयः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञाश्च। तेभ्यो हितानि कर्माणि कव्यानि तानि यो वहति प्रापयति तस्मै। सुष्ठु आह यस्यां सा वाक्। सुवन्त्यैश्वर्याणि प्राप्नुवन्ति यस्मिन् संसारे तस्मै। पितर ऋतवो नित्ययुक्ता विद्यन्ते यस्मिन् तस्मै। स्वाहां स्वं दधात्यनया सा स्वाहाक्रिया। अपहता अविद्वांसोऽसुराः। रक्षांसि परपीडकाः स्वार्थिनः। वेद्यां पृथिव्यां सीदन्तीति ते। 'यावती वेदिस्तावती पृथिवी' (श० १।२।५।७) इति (पृ० २११–२१२)। तदेतत्सर्वथाऽविचारितरमणीयम्, स जुहोतीत्यादिपूर्वोक्त-श्रुतिविरोधात्, तत्र जुहोतीत्यनेनाग्नौ होमोक्तेः। नहि कविहितकर्मकारिमनुष्यायाग्नौ होमो युज्यते। एवं पितृमते सोमायापि होम उक्तः। ऋतुयुक्ताय संसारायापि होमस्य किं प्रयोजनम्? एवं वेदिषद इति विशेषणमेव व्यर्थं स्यात्, अदुष्टानामपि वेदिषत्त्वाविशेषात्। कथं चासुरादयोऽपहता भवेयुः? शब्दमात्रेणापहननस्याशक्यत्वात्। किञ्च, स अपराह्णे ददातीति श्रुतौ देवानां पितॄणां च मनुष्येभ्यः पृथगुल्लेखस्तेषां कालभेदोल्लेखश्च तन्मतं सर्वथापि खण्डयति। कव्यवाहनोऽत्राग्निरुक्तो न यः कोऽपि कविहितकर्मप्रापकः। अग्निस्तु सर्वहितकर्मप्रापको भवति, दहनपचनादिभिस्तस्य सर्वोपकारकत्वात्। तस्माद्यथा पङ्कजनिकर्तृत्वेऽपि न कुमुदादीनां पङ्कजपदवाच्यता, तथैव कव्यस्यानेकैः प्रकारैर्व्युत्पन्नत्वेऽपि पितृहविष्येव कव्यशब्दस्य प्रवृत्तिर्न देवहविषि। अत एव तैत्तिरीयसंहितायां हव्यवाहनकव्यवाहनादयोऽग्निभेदा एवोक्ताः। यस्मै सोमायाहुतिः प्रदीयते स सोमो देवविशेष एव। एवमेवाङ्कति सर्वान् पदार्थान् दग्ध्वा देशान्तरे प्रापयतीत्यग्निरित्यग्निशब्दार्थोऽपि चिन्त्यः, तथात्वे देशान्तरप्राप्तीच्छया तत्त-दभीष्टपदार्थानामग्नौ प्रक्षेपणीयत्वापत्तेः। अग्नौ प्रक्षेपात् पदार्थनाशस्तु प्रत्यक्षं दृश्यते। नहि प्रत्यक्षवादिभिश्चार्वाकै-र्यज्ञादिकमनुष्ठीयते। प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तशब्दप्रामाण्यवादिभिस्तु तत्तदाहुतिजन्यैरपूर्वापरपर्यायैरदृष्टैरेव तत्तदभीष्टसिद्धिरङ्गीक्रियते। वस्तुतस्तु सिद्धान्तानुसारिव्याख्यानं श्रुतिसूत्रप्रमाणितम्, दयानन्दीयं व्याख्यानं तु निष्प्रमाणमेव, स्वाभ्यूहितानां तादृशामनेकेषामर्थानां सम्भवात्॥ २९॥

ये रू॒पाणि॑ प्रतिमु॒ञ्चमा॑ना॒ असु॑राः॒ सन्तः॑ स्व॒धया॒ चर॑न्ति।
प॒रा॒पु॒रो॑ नि॒पु॒रो॒ ये भर॑न्त्य॒ग्निष्टाँ॑ल्लो॒काात् प्रणु॑दात्य॒स्मात्॥ ३०॥

'उल्मुकं परस्तात् करोति ये रूपाणीति' (का० श्रौ० ४।१।१८)। अध्वर्यू रेखाया अग्रतः, अर्थाद् दक्षिणप्रदेशे दक्षिणाग्न्युल्मुकमादाय निदधाति। इयं त्रिष्टुप् कव्यवाहनाग्निदेवत्या। स्वधया पित्रर्थं दीयमानया

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह अविचारित रमणीय ही है, क्योंकि श्रुतिविरोध होता है। सिद्धान्तानुसारिणी व्याख्या वही कहलाती है, जो श्रुति-सूत्र आदि के द्वारा प्रमाणित हो। दयानन्द स्वामी की व्याख्या तो उनकी कपोलकल्पित होने से अप्रामाणिक ही कही जायगी॥ २९॥

मन्त्रार्थ—पैतृक अन्न भक्षण करने के लिये अपने निजी स्वरूप को त्याग कर पितृरूप-धारण करनेवाले जो असुर इस पितृयज्ञस्थान में संचरण करते हैं, तथा जो अपना राक्षसत्व छिपाने के लिये स्थूल-सूक्ष्म शरीरों को धारण

स्वधया पैतृकान्नेन निमित्तेन पितॄणामन्नमस्माभिर्भक्षणीयमिति हेतोर्ये मायावशात् स्वीयरूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः पितृसमानरूपाणि स्वीकुर्वन्तो येऽसुरा देवविरोधिनश्चरन्ति वर्तन्ते पितृयज्ञस्थाने प्रचरन्ति, तथा येऽसुराः परापुरो निपुरश्च भरन्ति। पराक्रान्ताः पुरः परापुरः स्थूलदेहान्, निपुरो न्यग्भूता निकृष्टाः पुरः सूक्ष्मदेहान् धारयन्ति स्वमसुरत्वं छादयितुं ये स्थूलसूक्ष्मशरीराणि बिभ्रति, अग्निरुल्मुकरूपोऽस्माल्लोकात् पितृयज्ञस्थानात् तानसुरान् प्रणुदाति प्रेरयतु, प्रकर्षेणापसारयत्वित्यर्थः। अग्निष्टानित्यत्र 'युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तः पादम्' (पा० सू० ८।३।१०३) इति मूर्धन्यादेशः। यद्वा परापुरो निपुरः पूरणपिण्डदानेन युक्ताः सन्तो भरन्ति हविर्हरन्ति। परा-नि-पूर्वात् पृणातेः सम्पदादिलक्षणे क्विपि बहुव्रीहिः। स च धातुरत्र पिण्डदाने वर्तते। 'तस्यां पिण्डान् निपृणीयात् पराचीनपाणिः' (आश्व० श्रौ० २।६।१५)। 'पुत्र पुरु त्रायते निपरणाद्वा, पुं नरकस्ततस्त्रायत इति वा' (नि० २।३)। यद्वा पराः प्रभूताः पुरः शरीराणि येषां ते परापुरः, नि निकृष्टा अल्पाः पुरः शरीराणि येषां ते निपुरः, महाकाया अल्पकायाश्चेत्यर्थः।

तथैव शतपथेऽपि—'अथ परस्तादुल्मुकं निदधाति। स यदनिधायोल्मुकमथैतत्पितृभ्यो दद्यादसुर-रक्षसानि हैषामेतद्विमथ्नीरंस्तथो हैतत् पितॄणामसुररक्षसानि न विमथ्नते तस्मात्परस्मादुल्मुकं निदधाति' (श० २।४।२।१४)। स्फ्येनोल्लिखितप्रदेशस्यान्ते अग्नेर्निधानं विधत्ते—अथ परस्तादिति। परस्तात् परस्मिन् विप्रकृष्टे पर्यन्ते देशे। विपक्षे बाधकोपन्यासादुल्मुकनिधानमुपपादयति—स यदिति। सुरविरोधीन्यसुर-राक्षसान्येषां पितॄणां स्वभूतमेतत्पिण्डरूपं हविर्विमथ्नीरन् अपहरेयुः। तथो ह तथोल्मुकनिधाने सति न विमथ्नन्ते नापहरन्ति। तस्मादुल्मुकं दधाति। 'स निदधाति ? ये रूपाणि प्रणुदत्यस्मादित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मादेवं निदधाति' (२।४।२।१५)। विहितमुल्मुकविधानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—ये रूपाणीति। अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता।

अध्यात्मपक्षे तु—येऽसुराः सुरविरोधिनः, सुष्ठु शोभनं ब्रह्म तत्र ये रमन्ते ते सुरा ब्रह्मविद्यानिष्ठास्त-द्विपरीता अनात्मनिष्ठा असुराः। अशोभने अनात्मनि असुषु प्राणेषु तदुपलक्षितेषु देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यहङ्कारेषु ये रमन्ते तादात्म्याभिमानवन्तस्ते असुराः। ते रूपाणि नानाविधान् वेषान् प्रतिमुञ्चमाना धारयमाणाश्चरन्ति ब्रह्मादिस्थावरान्तानि रूपाणि धारयन्तः संसारे स्वधया अन्नेन निमित्तेन भ्राम्यन्ति। 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥' (वा० सं० ४०) इति मन्त्रवर्णात्। ते परापुरः प्रभूतकायाः, निपुरोऽपकृष्टकायाश्च सन्तो भरन्ति हरन्ति विविधान् न्यायान्यायोपार्जितान् भोगानिति शेषः। अग्निर्ज्ञानाग्निस्तान् तेषामासुरभावाननात्मज्ञान् अस्माल्लोकात् संसारात् प्रणुदति सर्वाणि कर्माणि शरीराणि च प्रविलाप्य ब्रह्मात्मभावे प्रतिष्ठापयति। अतस्तदर्थं सर्वैः प्रयत्नवद्भिर्भाव्यम्।

दयानन्दस्तु—'ये मनुष्या रूपाणि अन्तःस्थानि ज्ञानमध्ये यादृशानि ज्ञानानि सन्ति तानि प्रतिमुञ्चमाना आभिमुख्यं ये प्रतीतं मुञ्चन्ति तेऽसुरा धर्माच्छादकाः सन्तः स्वधया पृथिव्या सह 'स्वधा' इति द्यावापृथिव्योर्नामसु

करते हैं, उन असुरों और राक्षसों को यह उल्मुकरूपी अग्नि इस पितृयज्ञस्थान से दूर कर दे। 'ये रूपाणि' इस मन्त्र से रेखा के बाहर उल्मुक को रख दे॥ ३०॥

भाष्यसार—भाष्य को मन्त्रार्थ के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है, अतः पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

अध्यात्मपक्ष में—जो सुरविरोधी होते हैं, उन्हें असुर कहा जाता है। ब्रह्मचिन्तन में रहनेवालों को सुर कहते हैं। अर्थात् जो ब्रह्मविद्यानिष्ठ रहते हैं, उन्हें सुर कहते हैं और जो अनात्मनिष्ठ रहते हैं, वे असुर कहलाते हैं। अतः

पठितम् । चरन्ति वर्तन्ते । परापुरः परागतानि स्वसुखार्थान्यधर्मकार्याणि निपुरन्ति ते निपुरो निकृष्टस्वभावान् पिपुरन्ति पूरयन्ति ते भरन्त्यन्यायेन परपदार्थान् धरन्ति, अग्निरीश्वरस्तान् दुष्टान् लोकात् स्थानात्, अस्मद्दर्शनाद्वा प्रणुदाति दूरीकरोति' (पृ० २१३) इति, तदपि यत्किञ्चित्, शतपथश्रुतिविरुद्धत्वात् । तत्र स्पष्टमुल्मुकनिधान-विधानमुक्तम्, तदभावेऽसुरराक्षसानि पितॄणां हविर्विमथ्नन्तीत्युक्तम् । अग्निर्हि रक्षसामपहन्तेत्यप्युक्तम् । न चेश्वरस्य निधानं विधातुं शक्यम्, न वा स रक्षसामपहन्ता । यदि भवेदपि हन्ता तदापि स स्वयमेव तेषां कर्मानुसारेणैव निग्राहकोऽनुग्राहकश्च । तदर्थं न स निधानविधानमपेक्षते । न च ज्ञानमध्ये ज्ञानानि सम्भवन्ति, ज्ञानस्य गुणत्वेन ज्ञानानाश्रयत्वात् । 'तानि ज्ञानान्याभिमुख्यं ये प्रतीतं मुञ्चते त्यजन्ति' इत्यप्यसाम्प्रतम्, अन्वयानुपपत्तेः । हिन्त्यां तु स्वान्तःकरणे विचारितान् भावानन्येषां समक्षे प्रच्छाद्य विपरीतभावान् ये प्रकाशयन्ति तेऽसुरा इत्युक्तम् । तद्यद्यपि नायुक्तम्, तथापि रूपशब्दोऽत्र विद्यते । तस्य कुतो ज्ञानार्थता ? एवं स्वधया पृथिव्या चरन्त इत्यप्यनुपपन्नम् । ये पृथिव्यामेव दुष्टस्वभावा मनुष्या वर्तन्ते, तेषां स्वधया सह वर्तनमिति निरर्थकमेव वचनम् । एवं परागतानि स्वसुखार्थान्यधर्मकार्याणि पिपुरन्ति त इत्यप्यसाम्प्रतम्, पराशब्दस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात् ॥३०॥

अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभा॒गमावृ॑षायध्वम् ।
अमी॑मदन्त पि॒तरो॑ यथाभा॒गमावृ॑षायिषत ॥ ३१ ॥

'अत्र पितर इत्युक्त्वोदङ्ङास्त आ तमनात्' (का० श्रौ० ४।१।१३) । अध्वर्युरत्रेति मन्त्रं संहितास्वरेण पठित्वाऽप्रदक्षिणमावृत्योदङ्मुखो भूत्वा श्वासं निरुद्ध्य आ तमनाद् म्लानिपर्यन्तमुपविशेत् । 'आवृत्यामीमदन्तेति जपति' (का० श्रौ० ४।१।१४) । ततोऽध्वर्युः प्रदक्षिणमावृत्य पिण्डाभिमुखो भूत्वा संहितास्वरेणामीमदन्तेत्यावृत्या जपेत् । हे पितरः ! यूयमत्रास्मिन् बर्हिषि मादयध्वं मोदध्वं प्रसन्ना भवत । ततो हविषि यथाभागं स्वं स्वं भागमनतिक्रम्य आवृषायध्वम् । वृष इव यथेच्छं तृप्तिपर्यन्तमेतान् पिण्डानश्नीत । आङ्पूर्वाद् वृषशब्दात् 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा० सू० ३।१।११) इति क्यङि सलोपे आवृषायिषतेति रूपम् । तदनन्तरं जपनीयमन्त्रः— अमीमदन्तेति । यान् पितॄन् प्रति मादयध्वमित्युक्तम्, ते पितरोऽमीमदन्त हृष्टा यथाभागमावृषायिषत । स्वं भागमनतिक्रम्य वृषवद्यथेच्छं स्वीचक्रुः । आङ्पूर्वस्य वृषायतेरभ्यवहारोऽर्थः । अभुक्षतेत्यर्थः ।

'अथ सकृदाच्छिन्नान्युपमूलं दिनानि भवन्ति । अग्रमिव वै देवानां मध्यमिव मनुष्याणां मूलमिव पितॄणां तस्मादुपमूलं दिनानि भवन्ति । सकृदाच्छिन्नानि भवन्ति' (श० २।४।२।१७) । तस्मिन्नुल्लिखिते स्थाने बर्हिः

मनुष्य को अपनी ज्ञानाग्नि के द्वारा आसुरभाव को दग्ध कर सुरभाव की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहना चाहिये । वह ज्ञानाग्नि परमेश्वर के अनुग्रह से प्रज्वलित हो पाती है, अतः परमेश्वराराधन में सर्वदा ही प्रयत्नशील रहना चाहिये ।

स्वामी दयानन्द ने शतपथश्रुति के विरुद्ध व्याख्या की है । अतः वह उपेक्षणीय ही है ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हे पितरों ! तुम इस कुशापर सन्तुष्ट होकर बैठो । तदनन्तर अपने भाग का अतिक्रमण न करते हुए अपने-अपने भाग को स्वीकार करो । जिस प्रकार एक बैल अपने रुचिकर तृण को यथेच्छ भक्षण करता है, उसी प्रकार तुम अपने भाग का यथेच्छ भक्षण करो । पूर्वोक्त पितरों ने सन्तुष्ट होकर जैसे बैल तृणभक्षण करता है, वैसे ही अपने भाग का अतिक्रमण न करते हुए अपने-अपने भाग का यथेच्छ भक्षण किया । 'अत्र पितरः' इस मन्त्र से जब तक श्वास-निरोध करते बने, तब तक उत्तर की ओर मुख करके बैठे और 'अमीमदन्त' इस मन्त्र का जप करे ॥ ३१ ॥

स्तरितुं तत्सम्पादनं विधत्ते - सकृदाच्छिन्नानीति, एकयत्नेन छिन्नानीत्यर्थः। उपमूलं मूलसमीपे दिनानि खण्डितानि बर्हींषि पितृकर्मार्थानि भवन्ति। मूलसमीपे छेदनमुपपादयति—अग्रमिव देवानामिति। तदेतत् स्पष्टार्थम्। 'यत्परुषि दिनं तद्देवानां यदन्तरा तन्मनुष्याणां यत्समूलं तत्पितृणाम्' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। दिनं 'दोऽवखण्डने' इत्यस्य रूपम्। 'तानि दक्षिणोपस्तृणाति। तत्र ददाति स वा इति। ददातीव वै स देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैवं पितृणां तस्माददिति ददाति' (श० २।४।२।१८)। बर्हिषः स्तरणं विधत्ते—तानि दक्षिणोपस्तृणातीति। दक्षिणत उल्लिखितप्रदेशे तानि बर्हींषि उपस्तृणाति। तत्र ददातीति पिण्डदानं विधत्ते। तत्र तस्मिन् बर्हिषास्तीर्णे प्रदेशे पिण्डान् दद्यादित्यर्थः। तत्र प्रकारविशेषमभिनयेन विधत्ते—स वा इतीति। अनेन प्रकारेण अङ्गुष्ठतर्जन्योर्मध्येन पित्र्येण तीर्थेन पिण्डान् दद्यादित्यर्थः। देवमनुष्यसम्प्रदानके दाने तद्वैपरीत्यकथनेनोपपादयति–देवेभ्यो हवींषि जुह्वतीति। मनुष्येभ्यो यथायोगं भोक्तव्यमन्नमुद्धरन्ति। उद्धृत्य पात्रान्तरे परिवेषयन्तीति। न तु तत्र देवपित्रादितीर्थविशेषोऽपेक्षितः। अथैवं पितृणामथोक्तदेवमनुष्यवैलक्षण्येनोक्तेन पित्र्येण तीर्थेन पितृणां सम्बन्धे हविर्देयमित्यर्थः।

'उपमूलꣳ सकृदाच्छिन्नानि लेखायां कृत्वा यथावनिक्तं पिण्डान् ददात्यसावेतत्त इति' (का० श्रौ० ४।१।११)। ततोऽध्वर्युर्मूलसमीपे सकृदेकशस्त्रेणैकप्रयत्नेन समूलानि दर्भतृणानि स्फ्येनोल्लिखितायां लेखायामास्फार्यावनेजनक्रमेण यजमानपितृपितामहप्रपितामहेभ्यः पिण्डान् दद्यात्। 'अमुकगोत्र अमुकशर्मन् यजमानस्य पितः! एतत्ते पिण्डान्नꣳ स्वधा' इति प्रयोगेण कुशोत्पाटनसमय एव मूलस्याधस्तादेकेनैव शस्त्रप्रहारयत्नेन यदुत्पाटितं बर्हिस्तत्सकृदाच्छिन्नमित्युच्यते। छेदनसमये मूलस्याधोभाग एव लवितव्या नोर्ध्वभागे। अतोऽमूलं बर्हिः सकृदाच्छिन्नमिति केषाञ्चनोक्तिरयुक्तैव, 'अपां मेध्यं यज्ञियमिति समूलं सकृदाच्छिन्नं बर्हिराहरति' (आप० श्रौ० १।६।३) इति वचनात्।

तदेवाह शातपथी श्रुतिः—'स ददाति। असावेतत्त इत्येव यजमानस्य पित्रे ये च त्वामन्वित्यु हैक आहुस्तदु तथा न ब्रूयात् स्वयं वा तेषाꣳ सह येषाꣳ सह तस्मादु ब्रूयादसावेतत्त इत्येव यजमानस्य पित्रेऽसावेतत्त इति पितामहायासावेतत्त इति प्रपितामहाय तद्यदितः पराग्ददाति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः' (श० २।४।२।१९)। पितृपितामहप्रपितामहानां विहिते पिण्डदाने मन्त्रानाह—असाविति। 'असौ' इति स्थाने पित्रादीनां गोत्रसहितं सम्बुद्ध्यन्तं नाम निर्देष्टव्यम्। हे अमुकगोत्र अमुकशर्मन्! एतत् पिण्डरूपं हविस्ते तुभ्यं मया दीयत इति मन्त्रार्थः। ये च त्वामिति शाखान्तराभिहितमन्त्रशेषनिरासार्थमाह। तस्य मन्त्रशेषस्यायमर्थः हे पितः! त्वामनुसृत्य ये वर्तन्ते तेभ्यश्चायं पिण्डस्तृप्तिकरोऽस्त्विति। स्वयं वा तेषामिति तन्निराकरणम्। पित्रनन्तरभाविनां यच्छब्दनिर्दिष्टानां तेषां पिण्डदाता सहभावी वा भवति। तथा य एवैषां सहभावी तेभ्यः पिण्डदाने स्वात्मने पिण्डं दत्तवान् भवति। अतस्तत्प्रतिपादको ये च त्वामन्विति मन्त्रभागो न वक्तव्य इति तदभिप्रायः। प्रथमपक्षं निगमयति–असावेतत्त इत्येव यजमानस्य पित्रेऽसावेतत्त इत्यादिभिः। तत्र प्रथमं प्रपितामहः पितृत्वं प्राप्तः पश्चात्पितामहस्ततः पितेति। इमं क्रमं परित्यज्य इतः पितृत आरभ्य प्रपितामहपर्यन्तं पराक् पराचीनं पिण्डान् दद्यात्। आवृषायध्वम् अश्नीतेति। इत्याह—तद्यदितः पराग् ददाति। यतस्ते पितरः सकृत्वपराक्त्वधर्मयुक्ताः सकृदु ह्येव पराञ्चः पितर इति।

भाष्यसार—अध्वर्यु नाम का ऋत्विक् 'अत्र पितरः' इस मन्त्र को संहितास्वर से पढ़कर और अप्रदक्षिण घूमकर तथा उदङ्मुख होकर श्वास निरोधकर जब तक ग्लानि न हो, तब तक बैठा रहे। तदनन्तर अध्वर्यु प्रदक्षिण

'तज्जपति। अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति यथाभागमश्नीतेत्येवैतदाह'। पिण्डदानानन्तरं मन्त्रजपं विधत्ते। मन्त्रगतं किञ्चिद् व्याचष्टे—अत्रास्मिन् देशे हे पितरः! मादयध्वं तृप्ता भवत। तदर्थं यथाभागं स्वं स्वं भागमनतिक्रम्य मया दत्तान् पिण्डान् आवृषायध्वम्। आवृषायिषध्वमित्यस्य अश्नीतेत्यर्थपरतां श्रुतिः स्वयं व्याचष्टे—यथाभागमश्नीतेत्येवैतदाहेति। 'अथ पराङ् पर्यावर्तते। तिर इव वै मनुष्येभ्यस्तिर इवैतद्भवति। स वा आ तमितोरासीतेत्याहुरेतावान् ह्यसुरिति स वै मुहूर्तमेवासित्वा' (श० २।४।२।२१)। 'अथोपपल्यप्य जपति-अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषतेति। यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह' (श० २।४।२।२२)। जपानन्तरं परागावर्तनं विधत्ते-पराङ् पर्यावर्तत इति। पराङ्मुखः सन् पिण्डाभिमुख्यं विहाय पर्यावर्तते। किमर्थमेतदित्याह—तिर इवेति। तिरोभूताः पितरो मनुष्येभ्यः, अन्तर्धानशक्तियोगात्। एतर्हि पिण्डदातरि पिण्डाभिमुख्यं विहाय पर्यावर्तमाने सति तेषां तिर इव तिरोधानमिव भवति। पर्यावर्तनकालस्य परिमाणं विधत्ते-स वा आ तमितोरासीतेति। स खलु पर्यावर्तमान आतमितोर्निरुद्धश्वासगतेरात्मनो यावत् तमनं ग्लानिर्भवति तावदासीतेति केचिदाहु। 'तमु ग्लानौ' दिवादिः। 'भावलक्षणे स्थेणकृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्' (पा० सू० ३।४।१६) इति तोसुन्प्रत्यये तमितोरितिरूपम्। तत्रोपपत्तिमाह—एतावान् ह्यसुरिति। तस्मादेतावन्तं कालमासीतेति। पक्षान्तरमाह—मुहूर्तमेवासित्वेति। द्वादशक्षणात्मको यो मुहूर्तकालस्तावत्पर्यन्तमासीतेत्यर्थः। 'आतमनात्' इति सूत्रांशेन तदेतत्सर्वं कात्यायनेनोक्तम्। उक्तकालानन्तरं पर्यावर्तमानस्य मन्त्रजपं विधत्ते-अथोपपल्यप्य जपतीति। उपपल्यप्य पिण्डसमीपं परिप्राप्य। उपपरिपूर्वस्यायतेर्ल्यपि 'उपसर्गस्यायतौ' (पा० सू० ८।२।१९) इति लत्वे रूपम्। अमीमदन्तेति मन्त्रं जपति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। तत्र आवृषायिषतेति पदस्य विवक्षितमर्थमाह श्रुतिः—यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह मन्त्रः। लुङि बहुवचनान्तम्। आशिषुः 'अश भोजने' क्र्यादिः, स्वं भागं जक्षुरित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षेऽपि—पिण्डपितृयज्ञस्यापि ब्रह्मात्मसाक्षात्कार उपयोगः। 'अश्ववत्तु सर्वापेक्षा यज्ञादिश्रुतेः' (ब्र० सू० ३।४।२५)। हे पितरः! ब्रह्मज्ञानेन संसारसागरतारका अत्र मादयध्वं प्रसन्ना भवत यथाभागमावृषायध्वं यथाभागमावृषायिषतेति।

दयानन्दस्तु पूर्वोक्तशतपथश्रुतिविरुद्धमेवार्थमाह। तथाहि—'मनुष्यैर्धार्मिका ज्ञानिनो विद्वांसः सत्कर्तव्या इत्युपदिश्यते। हे पितरो यूयमत्र यथाभागमावृषायध्वं मादयध्वमस्मान् पितरो यथाभागमावृषायिषतामीमदन्तास्मान् हर्षयत। आवृषायिषत विद्याधर्माशिक्षया हर्षकारका भवत' (पृ० २१५) इति। एतच्च श्रुतिविरुद्धमेव, श्रुत्या आशिषुरित्यर्थकरणात्। नहि जीवत्पितॄणां सम्बन्ध्ययं पिण्डपितृयज्ञः, शतपथे देवमनुष्यविलक्षणेन पित्र्येण तीर्थेन तेषां हविर्दानं विहितम्। जीवन्तः पितरस्तु मनुष्या एवेति तेभ्यः पात्रेषु परिवेषणलक्षण उद्धार एव स्यात्, कालोऽपि तेषां मध्याह्नः स्यादत्र त्वपराह्णः समय उक्तः। मनुष्यकार्ये बर्हिषो मध्यमेवोक्तम्, पितॄणां तूपमूलम्। नहि मनुष्याणां जीवतां पितॄणां गार्हपत्यस्य दक्षिणस्यां दिशि स्फ्येनोल्लिखितायां लेखायामुन्मूलाच्छिन्नानि बर्हींष्यास्तीर्य तेषु पिण्डा दीयन्ते, न च लौकिकपितॄणां भोजने मन्त्रजपो विधीयते। न वा लौकिकाः

घूमकर पिण्डाभिमुख होकर संहिता स्वर से 'अमीमदन्त' मन्त्र का जप करता रहे। इस मन्त्र में पितरों से बर्हि पर बैठने की तथा अपने भाग के भक्षण करने की प्रार्थना की गई है।

अध्यात्मपक्ष में—पिण्डपितृयज्ञ का भी ब्रह्मात्मसाक्षात्कार में उपयोग होता है।

पितरो मनुष्येभ्यस्तिरोहिता भवन्ति । न वा तेषां भोजने आ तमतोरासीतेति पराङ्पर्यावर्तनं सप्रयोजनं भवति । न वोपपत्त्यप्य जपविधानमपेक्ष्यते ॥ ३१ ॥

नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य॒ नमो॑ वः पितरः॒ शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो॒ जी॒वाय॒ नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॒ नमो॑ वः पितरो॒ घो॒राय॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॒ नमो॑ वः पितरः॒ पित॑रो॒ नमो॑ वो गृ॒हान्नः पितरो दत्त स॒तो वः॑ पितरो द्वेष्मैतद्वः॑ पितरो॒ वास॑ आध॑त्त ॥ ३२ ॥

'अवनेज्य पूर्ववन्नीविं विस्रस्य नमो व इत्यञ्जलिं करोति' (का० श्रौ० ४।१।१५)। पूर्ववत् पिण्डोपरि प्रत्यवनेजनं कृत्वा नीविं विस्रंस्य नमो व इत्यादिषड्भिर्मन्त्रैर्नमस्कारार्थं षड्वारमञ्जलीन् कुर्यादध्वर्युः । 'षड्वा नमस्कारान्' (का० श्रौ० ५।९।१९), 'अत्र गृहान्न इति जपति' (का० श्रौ० ५।९।२०) इति पितृयज्ञो गृहान्न इत्यस्य जपश्च कार्यः, समानश्रवणात्, 'षड्वा ऋतवः' इति श्रुतेः । रसादिशब्देन वसन्तादिका ऋतव उच्यन्ते । ते च पितॄणां स्वरूपभूताः । यतो मध्वादयो रसा वृक्षेषु जायन्तेऽतो रसशब्देन वसन्तो गृह्यते । हे पितरः ! युष्माकं सम्बन्धिने रसाय रसभूताय वसन्ताय नमः । भवत्प्रसादलब्धाय पयोघृतादिरूपाय वो नमः । शोषाय शुष्यन्त्योषधयो यत्रेति शोषो ग्रीष्मस्तस्मै नमः । वो युष्माकं सम्बन्धिने जीवाय जीवनहेतुभूताय वर्षर्तवे नमः । वः स्वधायै भवदीयान्नाय शरदे नमः । 'स्वधा वै शरत्', 'स्वधा वै पितॄणामन्नम्' इति श्रुतेः । शरदि हि प्रायशोऽन्नानि भवन्ति । घोराय विषमाय हेमन्ताय नमः । शीतप्रचुरत्वेन दुःखदत्वाद् घोरो हेमन्तः । मन्यवे तीव्राय क्रोधाय तद्रूपाय शिशिराय । शिशिरः सर्वौषधीर्दहति । हे पितरः ! एवंविधेभ्य ऋतुरूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमस्कारोऽस्तु । अभ्यास आदरातिशयार्थः । हे पितरः ! नोऽस्मभ्यं गृहान् भार्यापुत्रादियुक्तान् दत्त । हे पितरः ! वो युष्मभ्यं सतो विद्यमानान् धनरत्नादिपदार्थान् दद्म इति शेषः । युष्मत्प्रसादादस्माकं तथाविधधनधान्यरत्नादिपुत्रभार्यादियुक्ता गृहा भवन्तु, यथा नो गृहे सतो विद्यमानान् धनरत्नादिपदार्थान् वो युष्मभ्यं द्वेष्म दद्मः । ददतां चास्माकं कदाचिदपि द्रव्यादिक्षयो मास्त्वित्यर्थः । 'एतद्व इत्युपास्यति सूत्राणि प्रतिपिण्डमूर्णादशा वा वयस्युत्तरे यजमानलोमानि वेति' (का० श्रौ० ४।१।१६-१८)। एतद्व इति मन्त्रेण सूत्राणीति बहुवचनोपदेशात् प्रतिपिण्डं त्रीणि त्रीणि सूत्राणि निदध्यात् । अथवा प्रतिपिण्डमूर्णां निदध्यात् । अथवा वाससो दशां छित्वा निदध्यात् । अथवा यदि पञ्चाशत्तमवर्षादूर्ध्ववयस्को यजमानः स्यात्तदा तस्य हृदयस्थानि लोमानि छित्वा सूत्रस्थाने निदध्यात् । मन्त्रार्थस्तु हे पितरः ! वो युष्मभ्यं वासः सूत्रमेव परिधानमस्तु ।

स्वामी दयानन्द ने शतपथश्रुति के विरुद्ध ही अपना अर्थ किया है । यह समझने की बात है कि जीवित पितरों के लिये पिण्डपितृयज्ञ नहीं किया जाता ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—हे पितरो ! रसरूपी वसन्त, शुष्कतारूपी ग्रीष्म, जीवन हेतुभूत जलरूपी वर्षा, पित्रन्न स्वधारूपी शरद्, प्राणियों को घोर प्रतीत होनेवाला हेमन्त और क्रोधरूपी शिशिर ये तुम्हारे स्वरूप हैं। ऐसे ऋतुस्वरूपी तुमको हमारा प्रणाम रहे। हे पितरो ! तुम हमें भार्या, पुत्रादि से सम्पन्न कर दो और हम अपने पास स्थित द्रव्य आदि को तुम्हें देंगे। हे पितरो ! यह वस्त्रसूत्र तुम्हारा परिधान हो। 'नमो वः' इस मन्त्र से उत्तान अंजलिरूप

तदेतत्सर्वं शतपथे स्पष्टम् । 'अथोदपात्रमादायावनेजयति । असाववनेनिक्ष्वेत्येव यजमानस्य पितरमसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहम् । तद्यथा जक्षुषेऽभिषिञ्चेदेवं तत्' इति । पिण्डदानात्प्रागिवेदानीमपि पित्रादीनामुदकावनेजनं विधत्ते— अथोदपात्रमिति । असाववनेनिक्ष्वेति तन्मन्त्रः । तत्र त्रिष्वपि मन्त्रेषु असावित्यस्य स्थाने पित्रादीनां नामानि क्रमेण निर्दिशेत् । एतदवनेजनं लोकव्यवहारेणोपपादयति—तद्यथेति । तत् तत्र विषये निदर्शनमभिधीयते–यथा जक्षुषे भुक्तवते पुरुषाय मुखप्रक्षालनार्थं हस्ते उदकमभिषिञ्चेत्, एवमेव तत् पिण्डदानानन्तरभाविजलावसेचनमित्यर्थः । अदेर्लिटः क्वसौ 'लिटचन्यतरस्याम्' (पा० सू० २।४।४०) इति घसादेशे पुनश्चतुर्थ्येकवचने सम्प्रसारणे च 'जक्षुषे' इति रूपम् । 'अथ नीविमुद्वृह्य नमस्करोति । पितृदेवत्या वै नीविस्तस्मान्नीविमुद्वृह्य नमस्करोति । यज्ञो वै नमो यज्ञियानेवैनानेतत्करोति षट्कृत्वो नमस्करोति षड्वा ऋतवः पितरस्तस्मात् षट्कृत्वो नमस्करोति गृहान्नः पितरो दत्तेति । गृहाणाᳫह पितर ईशते एषो एतस्याशीः कर्मणोऽथावजिघ्रति प्रत्यवघ्राय पिण्डान्त्स यजमानभागोऽग्नौ सकृदाच्छिन्नान्यभ्यादधाति पुनरुल्मुकमपि सृजति' (श० २।४।२।२४) । नमस्कारं विधत्ते—अथ नीविमिति । नीविः परिधानीयस्य वाससो दशा अग्रभागः । तामुद्गृह्य विस्रंस्य पितॄन् नमस्करोति । कुतो नीविविस्रंसनमित्याशङ्क्य कारणमाह पितृदेवत्येति । यतो नीविः पितृदेवत्या पितृदेवतार्थां पितॄणां तृप्तिकरी तस्मात्तां नीविं विस्रंस्य प्रदर्श्य ते नमस्कर्तव्याः । नीवेः पितृदेवत्यत्वं तैत्तिरीयकेऽप्याम्नातम्—'अग्नेस्तुषाधानं वायोर्वातपानं पितॄणां नीविः' (तै० सं० ६।१।१।३) । नमस्कारस्य प्रयोजनमाह—यज्ञो वै नम इति । नमस्कारेण हि पूजा गम्यते । यज्ञश्च पूजात्मकः, 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इति धातोर्निष्पन्नत्वात् । तेन नमस्कारेणैतान् यज्ञियान् यागार्हानेव करोति । स च विहितो नमस्कारो नमो व इत्यादिमन्त्रैः कर्तव्यः । तस्मिन् मन्त्रे षड्भ्यो नम इति प्रयुज्यते । तत्संख्यामनूद्य स्तौति—षट्कृत्वो नमस्करोतीति । नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय इत्येवं षड्वारं नमस्कुर्यात् । ऋतवः पितरः । वसन्तादिष्वृतुषु मृतस्य तत्तदनुरूपत्वप्राप्तेस्तादात्म्यव्यपदेशः । तथा च श्रूयते—'यस्मिन्नृतौ पुरुषः प्रमीयते सोऽस्यामुष्मिँल्लोके भवति । यदि वसन्ते प्रमीयते वसन्तो भवति' इत्यादि । तस्मात्तेषामृतूनां षट्संख्यात्वयोगात् तत्तादात्म्यापन्नानां पितॄणां नमस्कारोऽपि षड्वारो युक्तः । नमस्कारमन्त्रस्य स्पष्टार्थत्वात्तच्छेषमुपादाय व्याचष्टे—गृहान्नः पितरो दत्तेति । 'गृहाणां पितर ईशते' अस्माद्वचनादेव तेषां विशेषतो गृहाणां भार्यापुत्रपौत्रादिरूपाणां दानेऽधिकारः । तत्प्रसादात्तत्प्राप्तिर्भवति मन्त्रशेषस्य चाशीःपरत्वं विज्ञायते । एतस्य पिण्डपितृयज्ञस्य कर्मण एषा आशीः फलप्रार्थना उ एवेत्यर्थः । अथावजिघ्रतीति पिण्डशेषस्यावघ्राणं विधत्ते । पिण्डान् पिण्डपात्रे प्रत्याधायावघ्राणं कर्तव्यम् । 'घ्रा गन्धोपादाने' इत्यस्य जिघ्रादेशः । तच्चावघ्राणं यजमानभागः । 'अवघ्रायावजिघ्रति यजमानः' (का० श्रौ० ४।१।२०) । अध्वर्यौ स्थाल्यां पिण्डान् स्थापयित्वा स्थिते सति यजमानः पिण्डान् जिघ्रेत् । स्तीर्णस्य बर्हिषः प्रतिपत्तिं विधत्ते—सकृदाच्छिन्नानि बर्हींषि अग्नौ अभ्यादधातीति प्रक्षिपतीत्यर्थः । उल्मुकस्य संसर्जनं विधत्ते—पुनरुल्मुकं विसृजतीति । ये रूपाणीति मन्त्रेण यदुल्मुकं

नमस्कार करे । 'एतद्वः' इस मन्त्र से प्रत्येक पिण्ड को तीन सूत्र अथवा ऊर्णा, अथवा दशा समर्पण करे और यजमान का वय पचास से ऊपर हो तो अपने वक्षःस्थल के रोम पिण्डों पर अर्पित करे ॥ ३२ ॥

भाष्यसार—ऊपर दिया हुआ मन्त्रार्थ शतपथ में स्पष्ट है । मन्त्रशेष आशीर्वादपरक है । यहाँ पिण्डशेष के अवघ्राण का विधान किया गया है । बिछाये हुए बर्हियों के प्रतिपत्तिसंस्कार को बताया गया है । जिस उल्मुक को पहिले पृथक् किया था, उसी को अब पुनः अग्नि में डाल देना चाहिये ।

पुरस्तात् पृथक्कृतं तदिदानीं पुनः संसृजेत पुनरग्नौ निक्षिपेदित्यर्थः। 'उल्मुकसकृदाच्छिन्नान्यग्नौ' (का० श्रौ० ४।१।२१)। अध्वर्युः सकृदाच्छिन्नानि बर्हींषि अग्नौ प्रक्षिप्य उल्मुकं च तत्रैव क्षिपेत्।

अध्यात्मपक्षे—हे पितर इति जगत्कारणस्य परमेश्वरस्यादरार्थं बहुवचनान्तत्वेन सम्बोधनम्। सार्वात्म्यबोधनाय तेषां रसादिरूपत्वोक्तिः। रसाय वसन्तर्तुरूपाय पयोदधिघृतरूपाय नवरसरूपाय निर्विशेषब्रह्मरसात्मकाय च नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। तत्तत्प्रपञ्चोत्पादकत्वेन पृथक् सम्बोधनपदानि। भूतपञ्चकोत्पादकाः सप्तप्रकृत्युत्पादका ज्ञानेन्द्रियपञ्चकोत्पादकाः कर्मेन्द्रियपञ्चकोत्पादकाः। शोषाय सर्वसंहारकाय विश्वप्रपञ्चलयाधिष्ठानाय नमः। जीवाय प्रपञ्चस्थितिहेतवे 'येन जातानि जीवन्ति' (तै० उ० ३।१) इति श्रुतेः। नमो वः स्वधायै पितृतृप्तिहेतुस्वधात्मककव्यान्नरूपाय स्वधाशब्दरूपाय वा नमः। घोराय असुरप्रेतरक्षोगणादिरूपाय मन्यवे तीव्रक्रोधरूपाय, 'नमस्ते रुद्रमन्यवे' (वा० सं० १६।१) इति मन्त्रवर्णात्। व्यतिहारनिर्देशः समादरातिशयद्योतनाय। हे पितरः! सर्वकारणभूता भगवन्तः, नोऽस्मभ्यं गृहान् शरणानि दत्त। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' (अ० को० ३।३।५३) इति कोषात्। भगवच्छरणागतेरेव सर्वकल्याणहेतुत्वात्। सतो विद्यमानान् सर्वानपि देहाद्यात्मान्तान् पदार्थान् वो युष्मभ्यं देष्म: दद्मः। हे पितरः! वासः मायामयं वासः, आधत्त आसमन्वाद् धारयन्ति, तेनैवावृतत्वाद् न सर्वे पश्यन्ति युष्मान्, 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' (भ० गी० ७।२५) इति गीतावचनात्।

दयानन्दस्तु—'अत्रानेके नमःशब्दा अनेकशुभगुणसत्कारद्योतनार्थाः। यथा वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिराः षड्तवो रसशोषजीवान्नघनत्वमन्यूत्पादका भवन्ति, तथैव पितरोऽनेकविद्योपदेशैर्मनुष्यान् सततं प्रीणयन्ति। तानुत्तमैः पदार्थैः सत्कृत्य तेभ्यः सततं विद्योपदेशा ग्राह्याः' (पृ० २१८) इत्याह, तच्छतपथादिविरुद्धं प्रकरणविरुद्धं च, मृतपित्रादीनामेव पिण्डपितृयज्ञेऽग्नौ पितृहविर्लक्षणस्य कव्यस्य सकृदाच्छिन्नैः समूलैर्बर्हिभिरास्तृतायां भूमौ पित्र्येण तीर्थेन निर्वापनिर्णयात्। किञ्चात्र पितॄणामृतुरूपत्वमुक्तम्, तच्च तेषु तेष्वृतुषु मृतानां तत्सादाम्यापन्नानामेव सम्भवति, न जीवतां पितॄणाम्। नहि नीविविस्रंसनं जीवद्भ्यः पितृभ्य उपयुज्यते। न च सूत्राणामूर्णानां यजमानलोम्नां वा जीवतां पितॄणां कृते उपयोगः सम्भवति। यत्तु—नमो नम्रीभावे इत्यत्र यज्ञो नमः, यज्ञियानेवैतत्करोतीति प्रमाणमुक्तम्, तत्तु तद्विरुद्धमेव, तत्र नमस्कारस्य पूजात्मकयज्ञरूपत्वोक्त्या पितॄणां यागार्हत्वोक्तेः। पितरो विद्यानन्ददायका इत्यपि निर्मूलम्, रसाय विद्यानन्दप्रापणायेत्यपि न युक्तम्, तत्र रसपदस्याशक्तत्वात्। 'रसो वै सः' (तै० उ० २।७) इति श्रुत्या तु रसरूपः परमात्मैवोक्तः। न तदुपदेशको रसपदवाच्यो भवितुमर्हति, लक्षणायां बीजाभावात्। पितरो धर्मजीविकाज्ञापका इत्याद्यर्थोऽपि काल्पनिक एव, पितृपदस्य तत्राशक्तेः। नम इत्यस्य शीलधारणार्थे ज्ञानग्रहणार्थे इत्यादिकमपि गौणार्थमेव। मन्यन्ते अभिमानं कुर्वन्ति यस्मिन् स मन्युः, दुष्टेषु तद्भावनायेत्यपि यत्किञ्चित्, अविवेकेऽपि मन्युपदप्रयोगापत्तेः, क्रोधस्याभिमानाविनाभावित्वायोगात्। यत्तु गृहानागत्य शिक्षा विद्या दत्तेति, तदयुक्तम्, तादृशाध्याहारस्या-

अध्यात्मपक्ष में—हे पितरो! जगत्कारणभूत परमेश्वर के आदर प्रदर्शनार्थ बहुवचन का प्रयोग किया है। सार्वात्म्य बोधन कराने के हेतु उनको रसादिरूपा बताया गया है। इसी प्रकार उनकी सर्वरूपता बताकर उनसे अपनी रक्षा की प्रार्थना की है।

स्वामी दयानन्द का कहना है कि इस मन्त्र में जो अनेक 'नमः' शब्दों का प्रयोग किया गया है, वह अनेक शुभगुणसत्कार के द्योतनार्थ हैं, एवं च पितर अनेक विद्याओं के उपदेशों से मनुष्यों को सतत प्रसन्न करते रहते हैं, अतः तुम भी उनको उत्तम पदार्थों से सत्कृत करके उनसे सतत विद्योपदेशों का ग्रहण करते रहो।

प्रामाणिकत्वात् । वयं युष्मभ्यं सतः पदार्थान् नित्यं देष्मेति चायुक्तमेव, सत्यपदस्य विद्यमानार्थकत्वेन पदार्थवाचकत्वे मानाभावात् । अस्माभिर्दत्तं वासो वस्त्रादिकं स्वीकुरुतेत्यपि यत्किञ्चित्, जीवतां पित्रादीनां गृहपतित्वेन तेभ्यो वासोदानाद्यनुपपत्तेः । गृहानागत्योपदेशदानादिकमपि न सङ्गतम्, जिज्ञासूनामेव गुरुकुलादौ महर्षीणामाश्रमादौ गमनश्रवणात् । तस्मात्सिद्धान्तपक्षीयमेव व्याख्यानं युक्तम् ॥ ३२ ॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ३३ ॥

'आधत्तेति मध्यमपिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामा' (का० श्रौ० ४।१।२२) । पुत्रकामा यजमानपत्नी मध्यमं पितामहपिण्डं भुञ्जीत । इयं पितृदेवत्या गायत्री ऋक् । हे पितरः ! पुष्करस्रजमश्विभ्यां देवाभ्यां सदृशं पुष्कराणां पद्मानां स्रग् माला यस्य तम् अश्विनौ देवौ पुष्करस्रजौ पद्ममालिनौ देवानां भिषजौ तत्साम्यकथनेन रोगादिरहितं सुन्दरं धनधान्यादियुतमित्युक्तं भवति । तथाविधं कुमारं पुरुषरूपं गर्भं स्वसङ्कल्पबलेन सम्पादयत । इहास्मिन्नेव ऋतौ । पुरुषो देवपितृमनुष्याणामपेक्षितार्थस्य पूरयिता यथा असत् भवेत् तथा गर्भमाधत्त ।

अध्यात्मपक्षे—हे पितृतुल्या गुरवः ! पुष्करस्रजं कुमारमिव ब्रह्मविचाररूपं गर्भमाधत्त येनेह पुरुषः असद् भवेत् सद्विशिष्टः स्यादिति । तथा च श्रुतिः—'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥' (तै० उ० २।६।१) । अत्र 'विदुः' इति श्रुत्या ब्रह्मविचारजनितब्रह्मसत्त्वनिश्चयेनैव सत्त्वोपपत्तिरुच्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे पितरः ! यूयं यथायं ब्रह्मचारीह शरीरात्मबलं प्राप्य पुरुषो असत् भवेत् तथैव गर्भमिव पुष्करस्रजं कुमारं विद्यार्थिनमाधत्त धारयत' इति, तदसङ्गतमेव, गर्भमिवेत्यत्र इवपदाध्याहारे मानाभावात् । यदुक्तं 'विद्याग्रहणार्था स्रग्धार्यते' इति, तदपि न सङ्गतम्, ब्रह्मचारिणः स्रगादिधारणनिषेधात् । तथा च मनुः—'वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः । शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥' (२।१७७) इति । जीवतां पितॄणां पिण्डपितृयज्ञपक्षे नायं मन्त्रः कथमपि सङ्गच्छते । तथात्वे हे पितरः!

किन्तु यह दयानन्दीय व्याख्यान शतपथश्रुति के विरुद्ध है तथा प्रकरणविरुद्ध भी है, क्योंकि मृत पितरों को ही पिण्डपितृयज्ञ के समय अग्नि में पितृहविर्लक्षण कव्य का सकृत् आच्छिन्न समूल बर्हि से आस्तृत की गई भूमि पर पित्र्य तीर्थ से निर्वाप करने का निर्णय किया गया है । किञ्च, यहाँ पर पितरों को ऋतुरूप बताया गया है । वह ऋतुरूपता मृत पितरों में ही संभव हो सकती है, जीवित पितरों में नहीं । ऐसी अनेक विसंगतियाँ दिखाई देती हैं, अतः दयानन्दीय व्याख्या को उपेक्षणीय ही समझना उचित है ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे पितरों ! तुम इन्हीं ऋतुओं में देव, पितृ और मनुष्यों की इच्छाओं को पूर्ण करने वाले, कमलपुष्पों की माला को धारण करनेवाले अश्विनीकुमार के तुल्य पुत्र को गर्भ में दो । यजमान की पत्नी को यदि पुत्र-प्राप्ति की कामना हो तो वह 'आधत्त' इस मन्त्र से 'मध्यम' पिण्ड का भक्षण करे ॥ ३३ ॥

भाष्यसार—यह पितृदेवताक गायत्री ऋक् है । अश्विनीकुमार ये युगलदेवता हैं और देवताओं के वैद्य हैं । इनकी उपमा देकर यह सूचित किया गया है कि यहाँ रोगरहित, सुन्दर, धन धान्य से समृद्ध ऐसे पुत्र की कामना की गई है। इसी ऋतु में संकल्प बल पर अभीप्सित पुत्रगर्भ निष्पाद की क्षमता है ।

यूयं गर्भम् आसमन्ताद् धत्त धारयत। ये पान्ति विद्यादिदानेन तेऽपि गर्भाधाने नियुक्ता भविष्यन्ति। एकादश पुरुषाणां गर्भाधानाय नियोगो यस्य मते तस्यैवकाराध्याहारोऽनुपपन्न एव सनातनिपक्षे तु मृतानां प्रत्यक्ष-गर्भाधानासम्भवादेव स्वसङ्कल्पप्रभावेन गर्भमाधत्तेति सूपपद्यते ॥ ३३ ॥

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ ३४ ॥

'ऊर्जमित्यपो निषिञ्चतीति' (का० श्रौ० ४।१।१९)। ऊर्जमिति मन्त्रेणाध्वर्युः पिण्डमूले पिण्डसमीपे भूमावपो निषिञ्चेत्, तर्पयत मे पितॄनिति लिङ्गात्। पितॄणामधिष्ठानं पिण्डास्तेन पिण्डानामुपरि निषिञ्चेदिति देवयाज्ञिकः। इयमब्देवत्या विराट्। हे आपः! यूयं स्वधा पितृहविःस्वरूपा भवथ। स्वमात्मीयं पितॄणां धानं पोषणं स्वधा। अतो मे पितॄंस्तर्पयत। कथम्भूतास्ताः? परिस्रुतं फलपुष्पादिभ्यो निःसृतं सारं वहन्त्यः। प्रथमान्तत्वेन विपरिणामः। तच्च सारं त्रिविधम्—ऊर्जशब्देन घनशब्देन पयःशब्देन चोच्यते। तत्रोर्जशब्दो बलकरान्नगतं स्वादुत्वं बोधयति। घृतपयसी प्रसिद्धे। घृतं तच्चामृतं मधुरं सर्वरोगनिवारकं मृत्युनाशकम्, नास्ति मृतं यस्मात्तत्। पुनः कथंभूतं कीलालं कीलो बन्धः, 'कील बन्धने' धातुः। तमलति वारयतीति कीलालम्, 'अलं वारणपर्याप्त्ययोः'। सर्वबन्धनिवर्तकं तादृशस्य त्रिविधस्य सारस्य वहनादपां पितृतर्पकत्वं युक्तमेव।

अध्यात्मपक्षे तु हे आपः! आप्नुवन्तीत्यापः परमात्मस्वरूपा आपः, मे मम सम्बन्धिनः पितॄन् देवांश्च तर्पयत, सर्वतृप्तिहेतुरसरूपत्वात्। हे आपः! यूयं स्वधास्थ पित्रन्नरूपा भवत। कथंभूता यूयं परिस्रुतं वहन्तीः। अत्र द्वितीया वहन्त्य इति प्रथमान्तत्वेन परिणमनीया। अन्यत् पूर्ववत्। तादृश्य आपोऽपि परमात्म-रूपत्वात् तर्पयित्र्यः। तत्रैव तर्पकत्वमपि पर्यवस्यति।

दयानन्दस्तु—'हे पुत्रादयः! यूयं मे मम पितॄन् ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं दत्त्वा तर्पयतैव। तत्सेवनेन विद्याः प्राप्य स्वधास्थ परस्वत्यागेन स्वसेविनो भवत' (पृ० २२१) इत्याह, तदेतत् प्रमाणशून्यम्, वैयर्थ्यादिदोषगणसम्पृक्तत्वात्। तथाहि—हे पुत्रादयः! यूयं मे पितॄन् तर्पयतेत्युक्तिरपार्थैव, स्वेनैव स्वपितॄणां तर्पणीयत्वात्। दत्त्वेति पदाध्याहाररूपं गौरवमपि। तत्सेवनेन सर्वा विद्याः प्राप्येत्यंशोऽपि वेदबाह्य एव, मन्त्रे तादृशार्थबोधकपदाभावात्। स्वमेव दधते स्वधा इत्यप्यसाम्प्रतम्, 'स्वधाः' इति विसर्गान्त-पाठाभावात्, 'स्वधा वै पितॄणामन्नम्' इति श्रुतिविरोधाच्च। तस्मान्मृतप्रेततर्पणार्था आप एवात्र सम्बोध्यन्ते, स्वधास्थेत्यनुरोधात्। वहन्तीरित्यस्य ऊर्जं वहन्त्यो हे आपः! यूयं स्वधा पितृहविःस्वरूपाः स्थ भवथ इति

स्वामी दयानन्द ने श्रुति-सूत्र-परम्परा के विरुद्ध ही व्याख्यान किया है, जो सर्वत्र असंगत हो गया है। 'गर्भमिव' यहाँ पर 'इव' पद के अध्याहार में कोई प्रमाण नहीं है। यह जो लिखा है कि 'विद्यार्थी ब्रह्मचारी विद्याग्रहणार्थ मालाधारण करते हैं', वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मचारी को तो गन्ध-माल्य, मधु-मांस आदि का निषेध किया गया है। पिण्डपितृयज्ञ के पक्ष में जीवित पितरों के निमित्त यह मन्त्र किसी तरह भी संगत नहीं हो सकता। अतः श्रुति-सूत्र और श्रौत याज्ञिक परम्परानुमोदित सिद्धान्त पक्ष का व्याख्यान ही उचित समझना चाहिये ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे उदकों! तुम अन्न, घृत और पय इन तीन शब्दों के द्वारा कहे जाने योग्य पुष्पगत सारभाग को धारण करने वाले हो। ऊर्ज, घृत और पय ये मृत्युनाशक तथा बन्धनिवारक हैं। तुम पितृहव्यस्वरूपी हो, अतः मेरे पितरों को सन्तुष्ट करो। 'ऊर्जम्' इस मन्त्र से पिण्ड के मूल प्रदेश में जल से सिञ्चन करे ॥ ३४ ॥

पूर्वोक्त एवार्थः । किञ्च, मन्त्रस्तु बलात्कारेणापि यथाकथञ्चिद् व्याख्यातुं शक्यते । तत्र सिद्धान्तपक्षीयं व्याख्यानं श्रुतिसूत्रसम्मतम्, अन्यत्तु स्वाभ्यूहितमात्रम् ।

मृतपितॄणामेव पिण्डपितृयज्ञादिकं न जीवतामिति स्पष्टं सूत्रकारः कात्यायन आह—'प्रेतेभ्यो ददाति जीवत्पितृकोऽपि जीवान्तर्हितेऽपि' (का० श्रौ० ४।१।२३)। यत्पितृभ्यो दानमुक्तं तन्मृतेभ्यः पितृभ्यो दद्यात्, जीवत्पितृकोऽपि पिण्डपितृयज्ञमनुतिष्ठेदित्यर्थः। अनुतिष्ठंश्च पितृपितामहप्रपितामहेषु यः कश्चिज्जीवति तं जीवन्तं परित्यज्य मृतेभ्यः पिण्डान् दद्यादिति पूर्वपक्षः। 'जीवत्पितृकस्येति होमान्तम्' (का० श्रौ० ४।१।२४)। जीवत्पितृकस्य यजमानस्य होमान्तमेव पिण्डपितृयज्ञकर्म स्यान्न तत ऊर्ध्वं पिण्डदानादि। एवं पक्षद्वयमुपन्यस्य सिद्धान्तमाह -'अनारम्भो वा' (का० श्रौ० ४।१।२८)। वाशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। पिण्डदानस्य प्रधानत्वात् तदभावे होमस्य तदङ्गभूतस्याननुष्ठानमेव युक्तम्। अतो जीवत्पितृकेण पिण्डपितृयज्ञो नानुष्ठेयः। 'न व्यवेते जातूकर्ण्यः' (का० श्रौ० ४।१।२६)। जीवेन पित्रादिना व्यवहिते पितामहादौ पिण्डदानं न भवतीति जातूकर्ण्य आह। जातूकर्ण्यग्रहणं प्रत्ययदार्ढ्यार्थम्, 'न जीवन्तमतीत्य तद् ददातीति श्रुतेः' (का० श्रौ० ४।१।२७)। अतो जीवत्पितृकस्य प्रधाने पिण्डदाने निषिद्धेऽनारम्भपक्ष एव श्रेयान्। 'पूर्वेद्युः पितृभ्यो निष्क्रीय प्रातर्यज्ञं तनुते' (तै० ब्रा० १।३।१०) इति श्रुत्या पिण्डपितृयज्ञो दर्शात् पूर्वमनुष्ठीयते ॥ ३४ ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

भाष्यसार—सूत्रकार के अनुसार पिण्ड के समीप भूमि पर जल सिंचन करने के लिये कहा गया है। किन्तु देवयाज्ञिक का कहना है कि पितरों का अधिष्ठान पिण्ड हैं, अतः पिण्ड के ऊपर सिंचन करना चाहिये। हे जलों ! तुम स्वधारूप यानी पितृहविःस्वरूप हो जाओ। पितरों के अन्न को 'स्वधा' कहते हैं। जल को पितरों का तर्पक कहा गया है। जल पुष्पों से निर्गत हुए सार को वहन करता है। वह सार तीन प्रकार का होता है, जो ऊर्जशब्द से, घृतशब्द से, पयः शब्द से कहा जाता है। 'ऊर्ज' शब्द अन्नगत स्वादुत्व को बताता है। घृत और पयस् तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं। वह त्रिविध सार पुनः कैसा है ? वह अमृतरूप है, अर्थात् सर्वरोगविनाशक और मृत्युनाशक है। वह कीलाल है, यानी सर्वबन्धनिवर्तक है। 'कील बन्धने'। कीलनं कीलः, तम् अलति वारयतीति कीलालम्। वारण और पर्याप्ति अर्थ में 'अलम्' धातु है। इस प्रकार के त्रिविध सार के वहन करने से जल को जो पितृतर्पक कहा गया है, वह उचित ही है।

अध्यात्मपक्ष में --जल को परमात्मा का स्वरूप कहा गया है। अतः मेरे पितरों तथा देवों को तृप्त कर दो, क्योंकि समस्त तृप्ति के हेतुभूत रस को आपका ही स्वरूप बताते हैं। हे परमात्मन् जल ! तुम मेरे पितरों के लिये अन्न (स्वधा) रूप बन जाओ। इस प्रकार से परमात्मा की प्रार्थना की गई है।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह प्रमाणरहित होने से त्याज्य है, क्योंकि वैयर्थ्यादि दोषों से वह युक्त है। 'स्वधाः' ऐसा विसर्गान्त पाठ भी मन्त्र में नहीं है। श्रुतिविरोध भी है। अतः सिद्धान्तपक्ष की व्याख्या ही श्रुति-सूत्रसम्मत है। जीवत्पितृक को पिण्डपितृयज्ञ का अनुष्ठान विहित नहीं है ॥ ३४ ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः

ॐ समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ १ ॥

समिधाग्निमिति। इतः पूर्वमध्यायद्वयेन दर्शपौर्णमासेष्टिसम्बन्धिनो मन्त्रा उक्ताः। इदानीमाधानमन्त्रा उच्यन्ते। प्रागग्निर्ज्योतिरित्यन्तानां मन्त्राणां प्रजापतिरग्निर्गन्धर्वा देवा ऋषय आग्नेय्यश्चतस्रो गायत्र्यः। 'आश्वत्थीस्तिस्रो घृताक्ताः समिध आदधाति अमावस्यायामग्न्याधेयम्' (का० श्रौ० ४।७।१) इति कालविशेषादीनि ब्रह्मौदनपाकपर्यन्तानि कार्याणि निरूप्य 'तं चातुष्प्राश्यं पचत्युद्वास्यासेचनं मध्ये कृत्वा सर्पिषासिच्याश्वत्थीस्तिस्रः समिधो घृताक्ता आदधातीति समिधाग्निमिति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० ४।८।२-३) इति कात्यायनः। अर्थात् चतुर्भिर्ऋत्विग्भिः प्राशितुं योग्यमोदनं पक्त्वा बहिरुद्वास्य तस्योदनस्य मध्ये घृतसेचनाय निम्नं स्थानं कृत्वा तत्सर्पिषापूर्य तिस्रः समिधस्तस्मिन् सर्पिष्यभ्यज्य तिसृभिर्ऋग्भिरग्नावादधाति। मन्त्रार्थस्तु—हे ऋत्विजो यूयं समिधा सम्यगिध्यते दीप्यतेऽग्निर्यया सा समित् तया, आश्वत्थ्या अग्निसमिन्धनहेतुभूतया अग्निं देवं दुवस्यत परिचरत, दुवस्यतेः परिचरणार्थत्वात्। घृताक्ताभिः समिद्भिर्जातं सन्तमग्निं पूर्णाहुतिसम्बन्धिभिर्होष्यमाणै-रतिथिधर्माणमातिथ्यकर्मणाराधनीयं वा बोधयत प्रबुद्धं कुरुत। प्रज्वालयतेत्यर्थः। अस्मिन् प्रज्वलितेऽग्नौ हव्या नानाविधानि हवींषि आ जुहोतन सर्वतो जुहुत। 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति तनबादेशेन जुहोतनेति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे साधका यूयं समिधा ब्रह्मविद्यया ब्रह्मस्वरूपदीपिकया ब्रह्मरूपमग्निं दुवस्यत परिचरत। 'ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' (भ० गी० ४।२४) इति गीतास्मृतेः। घृतैस्तद्विषयकैर्भक्तिपुरस्कृतैः स्नेहमयैः श्रवण-मनन-निदिध्यासनैरतिथिरिव महतादरेण पूजनीयं बोधयत प्रदीपयत। अस्मिन् प्रज्वलिते श्रवणमननादिभि-र्ब्रह्माकारवृत्तिरूपया सूर्यकान्तयाऽभिव्यक्ते चित्सूर्याग्नौ आ समन्तात् सर्वं दृश्यं तत्तद्वृत्तिस्रुग्भिः, जुहोतन सर्वं प्रविलाप्य ब्रह्मात्मनाऽवतिष्ठत।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसो यूयं समिधा घृतैरग्निं बोधयत। तमतिथिवत् दुवस्यत। अस्मिन् हव्या होतव्यानि द्रव्याण्याजुहोतन प्रक्षिपत' (पृ० २२७) इत्याह, तदतिमन्दम्, आधानादिषु कर्मसु वृतानामृत्विजा-मेवाधिकाराद् ऋत्विजामेव सम्बोधनं युक्तम्, न विद्वत्सामान्यानाम्, समिधा घृतैरिति कारणद्वयस्य क्रमेण दुवस्यत

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों! तुम लोग काष्ठरूप समिधा से अग्नि की सेवा करो और आतिथ्य कर्म से पूज्य अग्नि को पूर्णाहुति से सम्बन्धित घृत से प्रज्वलित करो। तदनन्तर प्रज्वलित हुए अग्नि में नाना प्रकार के हविर्द्रव्यों से चारों ओर से (सर्वतः) हवन करो। प्रथम और द्वितीय अध्याय में दर्शपौर्णमास इष्टि के मन्त्रों को बताया गया। उसके अनन्तर इस तृतीय अध्याय के आठ मन्त्र 'आधान' से सम्बन्धित हैं। चार ऋत्विजों के लिये पर्याप्त चावल पकाकर भात बनावे, उस भात को पृथक् पात्र में निकाल कर उस भात में घृत के लिये गर्त बनाकर उसमें यथेष्ट घृत डाले। उस घृत में तीन समिधाओं को भिगोकर उनको हाथ में ले और पूर्व के तीन ऋत्विज् उन समिधाओं का हवन करें ॥ १ ॥

बोधयतेति क्रियाद्वयेनान्वयसम्भवे एकेन करणेन शान्ताकाङ्क्षायां बोधयतिक्रियायाः करणान्तरेण सम्बन्धायोगात्, दुवस्यतेत्यस्य निष्करणत्वापत्तेश्च। यत्तु—'अविद्यमाना तिथिर्यस्य तम्' (पृ० २२५–२२६) इति, तत्तूपेक्ष्यमेव, 'नञ्सुभ्याम्' (पा० सू० ६।२।१७२) इति नियमेनाद्युदात्तस्वरानुपपत्तेः, अन्तोदात्तत्वापत्तेश्च। यत्तु—'नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्' (पा० सू० ६।३।१४) इति स्थलीयमहाभाष्ये शास्त्रवचनप्रामाण्यात् सर्वमिष्टं संगृहीतं भवति। यथोपदिष्टानां व्याकरणेन साधुत्वमात्रमन्वाख्यायते' (पृ० २२५ टि०) इति, 'अर्थनित्यः परीक्षेत न संस्कारमाद्रियेत' (नि० २।१) इति च (पृ० २२५ टि०), तथा 'पाणिनिनापि 'इन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टम्' (पा० सू० ५।२।९३) इति बहुधेन्द्रियशब्दो व्युत्पादितः' (पृ० २२५–२२६ टि०) इति, तत्तु निर्लज्जतापूर्णं धाष्ट्र्यमेव, सायणोव्वटमहीधरादिभाष्येषु दयानन्देनैव स्वरादिदोषोद्भावनात्। अत एव बहुव्रीहिपक्षे 'नञ्सुभ्यां' (पा० सू० ६।२।१७२) इत्येष इष्टानुरोधान्न प्रवर्तत इत्यपास्तम्। यत्तु बहुव्रीहिपक्षे मन्वादिभाष्यप्रमाणोद्धरणं (पृ० २२६ टि०), तत्तु कर्णस्पर्शे कटिचालनम्, बहुव्रीहिपक्षस्यान्यत्र सम्भवेऽपि प्रकृतमते स्वरदोषास्पदत्वेन त्याज्यत्वोक्तेः। यदपि 'हव्यादातुमादातुमर्हाणि वस्तूनि' (पृ० २२६) इति, तदपि तुच्छम्, जलवस्त्रमणिरत्नादीनां दातुमादातुमर्हत्वेऽपि हव्यत्वाभावात्। तस्माद्विहितानि हवींष्येव हव्यानीति मन्तव्यम्। यत्तु—'सुगन्ध्यादियुक्तैर्घृतादिभिर्यानेषु जलबाष्पादिभिर्बोधयत' इति, 'घृतमित्युदकनामसु पठितम्' (पृ० २२५) इत्यादि च, तदपि बालभाषितम्, श्रुतिसूत्रविरोधात्। त्वद्रीत्या भौतिकस्य जडस्य परिचरणाभ्युपगमे तवापसिद्धान्तात्, (६।८।१।६) इतिस्थलीयशतपथवचनाच्च त्वत्पक्षस्यात्यन्तमसङ्गत्वात्।

तथाहि—'समिधाग्निं दुवस्यतेति। समिधाग्निं नमस्यतेत्येतत् घृतैर्बोधयतातिथिमस्मिन् हव्या जुहोतनेति घृतैरिह बोधयतातिथिम्...' (श० ६।८।१।६)। दुवस्यतेत्येतद् व्याचष्टे—समिधाग्निमिति। नमस्यतेत्येतदिति। अत्र श्रुत्या समिधा दुवस्यतेत्येतयोः सम्बन्धोऽभिहितः। तथैव घृतैर्बोधयतातिथिमित्यनया घृतैरतिथिं बोधयतेति सम्बन्धो बोधितः। बोधयतेत्यस्य तात्पर्यमाह—बुद्धवत्यग्नौ इत्यार्यै ह्येनमेतद् बोधयति। इत्यार्यै गमनाय, देवेभ्यो हविः प्रापयितुं गमनाय बोधयतेत्यर्थः।

केचित्तु आत्मयाजिदृष्ट्या ब्रह्मोपदेशपरत्वेन मन्त्रमिमं व्याचक्षते। तथाहि—समिधा प्राणेन 'प्राणा वै समिधः' (ऐ० ब्रा० २।४)। अग्निम् आत्माग्निम् 'आत्मा वा अग्निः' (श० ७।३।१।२)। दुवस्यत घृतैः इन्द्रियशक्तिभिः। यथा श्रुतिः—'पयः शीर्षंस्तत् प्राणम्' (श० ६।५।४।१५)। अतिथिमातिथ्यकर्मणा पूजनीयमात्माग्निं बोधयत प्रज्वालयत। आत्माग्नौ हव्या मनोवृत्तीः, यथा श्रुतिः—'सोम एवान्नमग्निरन्नादः' (श० १४।४।२।१३), 'यत्तन्मन एव स चन्द्रमाः' (श० १।३।३।७), 'चन्द्रमा वै सोमो देवानामन्नम्' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, समुद्धृतश्रुतौ आत्मशब्देन शरीरग्रहणात्। ततः पूर्वं चितो गार्हपत्यो भवति। अचित आहवनीयोऽथ राजानं क्रीणात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीयोऽथ योऽयं वायुः पवते। एष सोम एतं तदिमौ लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेष इमौ लोकावन्तरेण पवते' (श० ७।३।१।१) इति साग्निचित्ये क्रतौ सोमक्रयणस्य कालं विधाय स्तौति—चितो गार्हपत्य इति गार्हपत्याहवनीययोर्मध्यकाले चोदकप्राप्तः सोमक्रयः कर्तव्यः। सोमस्य गार्हपत्याहवनीययोर्मध्येऽवस्थानं लोकत्रयरूपेणोपपाद्यते—अयं वै लोको गार्हपत्य इत्यादि। भूर्लोकस्वर्लोकात्मकौ गार्हपत्याहवनीयौ। योऽयं वायुः पवते एष एव क्रीयमाणः सोमः। अत्र

भाष्यसार—भाष्यार्थ का स्पष्टीकरण उपर्युक्त मन्त्रार्थ से हो जाता है। अतः पुनरावृत्ति नहीं कर रहे हैं।

अध्यात्मपक्ष में—हे साधकों! तुम लोग ब्रह्मस्वरूपदीपिका (ब्रह्मविद्या) से ब्रह्मरूप अग्नि की परिचर्या करो। गीता में कहा है—'ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्'। तद्विषयक भक्तिपुरस्कृत स्नेहमय श्रवण, मनन, निदिध्यासन के

सर्वत्र स्तुत्यर्थं केनचित् साम्येन स्वर्लोकादिषु गार्हपत्यादिदृष्टिरेव क्रियते। तत्क्रयस्य गार्हपत्यचयनादूर्ध्वमाहवनीयचयनात् पूर्वमनुष्ठानात्। एतं सोमात्मकं वायु मिमौ लोकावन्तरेण अनयोर्लोकयोर्मध्ये दधाति। 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (पा० सू० २।३।४) इति द्वितीया। यस्मादेव वायुसंस्तुतः सोमो मध्ये क्रीयते, तस्मादेव दृश्यमानो वायुरिमौ लोकावन्तरेण पवते।

एवमधिलोकं स्तुत्वा सोमक्रयस्याध्यात्ममपि स्तोतुमाह—'यद्वा देवचिते गार्हपत्ये अचित आहवनीयेऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा अग्निः प्राणः सोमः। आत्मंस्तत्प्राणं मध्यतो दधाति। तस्मादयमात्मनः प्राणो मध्यतः' (श० ७।३।१।२)। आत्मा वा अग्निः गार्हपत्याहवनीयचित्यात्मकोऽग्निः, आत्मा विस्रस्तावयवस्य प्रजापतेः शरीरम्। तन्मध्यवर्ती प्राणवायुः सोमः। अतस्तस्य गार्हपत्याहवनीयचयनयोर्मध्ये क्रीयमाणत्वाद् आत्मनः आत्मनि शरीरे प्राणमेव मध्यतो दधाति। तस्मादेव कारणात् पञ्चवृत्त्यात्मकः प्राणः। अयं प्राणः सर्वप्राणिनामात्मनि शरीरे मध्यतो दृश्यते। एतदेव सायणाचार्यैः स्पष्टमुक्तं स्वभाष्ये। एतदेव च सम्भवति। 'एतमेके वदन्त्यग्निम्' (म० १२।१२३) इति मनुरपि हिरण्यगर्भमग्निमेके वदन्तीत्याह। ततः पूर्वं षष्ठकाण्डस्य प्रथमेऽध्याये सर्वावयवसम्पन्नस्यैकस्य विराडात्मकस्य पुरुषस्योद्भवमभिधाय तस्याग्निरूपत्वमुक्तम् (श० ६।१।१।११)। 'यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते, 'प्रजापतिरेषोऽग्निः' (श० ६।८।१।४), 'स यः प्रजापतिर्व्यस्रंसत' (श० ६।१।२।१८), 'प्रजापतिरेव विस्रस्तो देवानब्रवीत्' (श० ६।१।२।२१) इत्यादिभिः प्रजापतेरग्नित्वं विस्रस्तत्वं च तत्र तत्र श्रूयते। नहि शुद्धे निरवयवे ह्यात्मतत्त्वे प्राणस्य मध्य आधानं सम्भवति। नहीन्द्रियशक्तिभिरात्मन उद्बोधनं सम्भवति, तस्य बोधरूपत्वात्।

यदपि 'पयः शीर्षंस्तत्प्राणम्' इति घृतपदेनेन्द्रियबोधने प्रमाणमुक्तम्, तदप्यविचारितरमणीयम्, अर्थान्तरत्वात्। तथाहि—'अथैनामाच्छृणत्ति स्थेम्नेन्वेवाथो कर्मणः प्रकृततायै यद्वेवाच्छृणत्ति शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा प्राणः पयः शीर्षंस्तत्प्राणं दधात्यथो योषा वा उखा योषायां तत्पयो दधाति तस्माद्योषायां पयः' (श० ६।५।४।१५) इति हि सम्पूर्णा कण्डिका। अत्रोखायां पयःसेचनं विधाय स्तौति—एनामुखामाच्छृणत्ति आसिञ्चतीत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्। प्रकारान्तरेण प्रशंसति—शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा। प्राधान्यादुखायाः शिरस्त्वव्यवहारः, पयसो बलकरत्वात् प्राणत्वव्यपदेशः। तस्मात् पयोयोज्यत्वमिदानीन्तनप्रसिद्ध्या समर्थ्यते—तत्प्राणं दधातीति। स्त्रीलिङ्गत्वादुखाया योषात्वम्। पयसो रेतोवर्धकत्वाद् रेतस्त्वम्। अत्रापि गौण्या वृत्त्या बलकरत्वात् पयसः प्राणत्वमुक्तम्, न घृतस्येन्द्रियत्वम्। 'सोम एवान्नमग्निरन्नादः' इत्यादिश्रुतयो नैकार्थबोधिकाः। सङ्केतश्चाशुद्धः। अग्नीषोमात्मके जगति अग्निरन्नादः सोमोऽन्नमिति युक्तमेव। न चात्मनोऽग्नित्वमद्यापि सिद्धम्। मनसश्चन्द्रमसश्चाधिष्ठानाधिष्ठेयभावेनाभेदोपचारो नायुक्तः। मन इन्द्रियादिवृत्तिस्रुग्भिः सर्वं दृश्यं हविष्ट्वेन विभाव्य चिदग्निमण्डले प्रविलापनमेव होम इत्यध्यात्मरसिकैरभ्युपेयत एव, तथापि नोक्तवचनैस्तत्सिद्ध्यति।

द्वारा ब्रह्माकारवृत्तिरूप सूर्यकान्त मणि में अभिव्यक्त होने वाले चित्सूर्यात्मक अग्नि में चारों ओर दृश्यमान सम्पूर्ण दृश्य को तत्तद्वृत्तिरूपी स्रुवाओं से होम कर दो, अर्थात् सबको उसी में विलीन करके ब्रह्मात्मरूप से स्थित रहो।

स्वामी दयानन्द इस मन्त्र की व्याख्या में सभी को हवन करने की बात कह रहे हैं।

किन्तु उनका यह व्याख्यान प्रमाणरहित है, क्योंकि आधानादि कर्मों में वरण किये हुए ऋत्विजों का ही अधिकार होता है। अतः ऋत्विजों को ही सम्बोधित करना उचित है। सर्वसाधारण विद्वानों को सम्बोधित करना

नह्यात्मयाजिभिर्मन्त्रब्राह्मणान्यन्यथा व्याख्यायन्ते। न वा तेषां कर्माणि देवयाजिनो विजातीयानि भवन्ति। मनुना तु ब्रह्मात्मदर्शी ह्येवात्मयाजीत्युच्यते—'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥' (म० १२।९१)। बृहदारण्यके श्रीशङ्कराचार्याः—'तद् द्विविधं ज्ञानपूर्वकं केवलं च। तत्र केवलं पितृलोकादिप्राप्तिफलम्, ज्ञानपूर्वकं देवलोकादिब्रह्मलोकान्तप्राप्तिफलम्। तथा च शास्त्रम्—'आत्मयाजी श्रेयान् देवयाजिनः' इत्यादि। स्मृतिश्च—'द्विविधं कर्म वैदिकम्' इति। सर्वत्र परमात्मभावनापुरःसरं नित्यं कर्मानुतिष्ठन् आत्मयाजीत्यानन्दगिरिः। कामनापुरःसरं देवान् यजमानो देवयाजी। तयोर्मध्ये कतरः श्रेयानिति विचारे सत्यात्मयाजी श्रेयानिति निर्णयः कृतः। अत्र वाचस्पतिमिश्राः—तथा च श्रुतिः—स ह वा आत्मयाजी यो वेद इदं मे अङ्गमेनेनाङ्गं संस्क्रियते। इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते।' तत्र कल्पतरुकाराः—'अनेन कर्मणा इदं ममाङ्गमन्तःकरणं संस्क्रियते पुण्येन चोपधीयते उपचीयते' (श० ११।२।६।१३) इति यो विदित्वा चरति कर्म स आत्मशुद्ध्यर्थं यजन् आत्मयाजी। स च देवयाजिनः काम्यकर्मकर्तुः श्रेयानिति शतपथश्रुत्यर्थः। अनेन स्पष्टं व्यज्यते यन्मीमांसकादिसम्मतमेव कर्मात्मयाजिनोऽप्यनुतिष्ठन्ति, सुतरां तेषां वेदव्याख्यानमपि तादृशमेव भवति। नाध्यात्मं परमात्मयाजिनाम्ना कर्तुं शक्यमिति।

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः। विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे। नैष्कर्म्यसिद्धिं लभते रोचनार्था फलश्रुतिः ॥
(भा० पु० ११।३।४५-४६)

इति श्रीमद्भागवतपद्याभ्यामपि वेदोक्तकर्मबहिर्मुखस्याधोगतिः प्रतिपाद्यते। केवलस्य देवताज्ञानसमुच्चितस्य वानुष्ठायिनः पितृदेवादिलोकप्राप्तिः, निष्कामस्य वैदिककामकर्मज्ञानैः स्वाभाविकपाशविककामकर्मज्ञानातिक्रमणविविदिषाश्रवणमननादिक्रमेण ब्रह्मात्मसाक्षात्कारप्राप्तिश्चोक्ता। कर्माणि च श्रुतिसूत्रादिप्रोक्तान्येव तेषां व्याख्या च तदनुगुणैव।

किञ्च, ये मन्त्रा ब्राह्मणानि च यानि विनियोगादिवशादन्यपराणि न तैर्निर्गुणं निर्विशेषमद्वैतं ब्रह्म प्रतिपादयितुं शक्यते, द्वैतपर्यवसायिप्रत्यक्षानुमानागमैर्विरोधात्। न चाद्वैतबोधकवचनविरोधात् तेषामेव कथं न स्वार्थप्रच्युतिरिति वाच्यम्, तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसीति न्यायेन तत्पराणां वचनानामतत्परवचनापेक्षया प्राबल्येनान्यपराणामद्वैतबोधकवचनानां बाधोपपत्तेः। तत एवेशावास्योपनिषद्भाष्ये ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः, तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रतिपादकत्वादित्यादिरीत्या तेषामकर्मशेषत्वं साधितम्। येषां मन्त्राणां श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणसमाख्याभिस्तदाश्रितैः सूत्रैश्चान्यपरत्वं सिद्धमेव, तेषामन्यपरत्वं निश्चप्रचम्। तदतिरिक्तैरनन्यशेषैरेव मन्त्रब्राह्मणोपनिषद्वाक्यैस्तत्प्रधानैः प्रत्यक्षादिबाधेनाप्यद्वैतं बोध्यते। 'ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मसु विनियुक्ताः, मन्त्रत्वात्, इषे त्वादिमन्त्रवत्' इत्यनुमानं तु न समुन्मिषति, विनियोजकप्रमाणासत्त्वस्य तत्रोपाधित्वात्। अत एव—'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च' इत्युपक्रम्य 'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' इत्यादिभिः प्रायेण समस्तवैदिकवाङ्मयस्यापर-

अनुचित है। व्याख्या करते समय कहीं नियम का उल्लंघन हुआ है, तो कहीं 'स्वर' दूषित हो गया है, कहीं जो हव्य वस्तु नहीं हैं, उनको 'हव्य' मान लिया है। कहीं 'घृत' का अर्थ 'जल' कर दिया है। अतः शतपथश्रुति, सूत्र, याज्ञिक पद्धति के विरुद्ध व्याख्या को उपेक्षणीय ही कहा जा सकता है।

विद्यात्वमुक्तम्। अनन्यशेषतत्प्रधानमन्त्रब्राह्मणोपनिषदां परविद्यात्वमुक्तम्—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यम्' (मु० उ० १.५) इत्यादिकमिति मुण्डके।

ब्राह्मणैर्लिङ्गादिभिः सूत्रैश्च येषां मन्त्राणां यत्र विनियोगः, स एव तेषां मुख्योऽर्थः। अन्यस्तु तदविरुद्धो गौणार्थ एवेति मन्तव्यम्। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० २।१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५।१५) इत्यादिप्रमाणैः कर्मोपासनपराणामपि वेदानां ब्रह्मपर्यवसायित्वप्रतिपादनं तु ब्रह्मज्ञानौपयिकमलविक्षेपनिवर्तककर्मोपासनप्रतिपादकत्वेऽपि नासङ्गतम्। यद्वा यथा शय्यापादुकादिषु पादविन्यासेऽपि पृथिव्यामेव पादविन्यासस्तेषां तत्कार्यत्वात्, तथैवेन्द्रादिदेवचरुपुरोडाशादिद्रव्यदेवता-प्रतिपादनमपि ब्रह्मप्रतिपादनमेव, तेषां ब्रह्मकार्यत्वेन तदनतिरिक्तत्वात्। यद्वा शब्दानां जातौ शक्त्यङ्गीकारेण घटत्वादिजातीनां च सत्तालक्षणायां परजातावन्तर्भावेन परसत्तायाश्च ब्रह्मरूपत्वेन न केवलं वैदिकानामपि तु सर्वेषामेव शब्दानां ब्रह्मणि पर्यवसानं न विरुद्धम्। एवं सत्यपि न सर्वेषां शब्दानां पर्यायवाचकत्वम्, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात्; तथैव वैदिकशब्दानामपि न पर्यायवाचकत्वं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वादेव। यद्यपि वस्तुस्थितिरेतादृशी, तथापि मुख्यार्थाविरोधेन मन्त्राणामनेकार्थबोधकत्वमपि चत्वारि शृङ्गा इति मन्त्रस्येव नासङ्गतम्। दयानन्दोक्तार्थापेक्षया तु एतादृशा अप्यर्थाः प्रशस्ता एव।

यदपि—'कृष्णार्जुनसंवादात्मकोऽयं मन्त्रः। पार्थप्रोक्तवाक्यकलापव्यञ्जितशमदमादिसम्पत्त्या ब्रह्मविद्या-धिकारमर्जुनस्य निश्चित्य भगवान् दीक्षादानाय यथा छान्दोग्योपनिषदि सत्यभाषणादिना निश्चिताधिकारो हारिद्रुमतगौतमाचार्यः सत्यकामं जाबालं दीक्षाग्रहणाय समिधमानेतुमादिदेश—'तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तु-मर्हति समिधं सोम्याहर उप त्वानेष्ये न सत्यादगाः' (छा० उ० ४।४।५) इति, तथा आदिशति—समिधेति। समिधा समिदादिना। समिद्ग्रहणमुपहारोपलक्षणम्। अपि वा, समिधायुक्तः समित्पाणिः समिदाद्युपहारयुक्तः सन् 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु० ३।२।१२) इति श्रुतेः। दुवस्यत परिचरत। गुरुं मां पूजयतेत्यर्थः। एतेन विधिवद्गुरूपसत्तिः सूचिता। तदनन्तरं श्रीकृष्णशिष्यतामुपगतोऽर्जुन आचष्टे—अतिथिं निजपादपद्मातिथिं त्वां प्रपन्नमिति यावत्। घृतैः तद्वत् स्निग्धैर्मधुरवचोभिर्बोधयत धर्मब्रह्मणो-स्तत्त्वमवगमयत। मदीयं कर्तव्यमुपदिशतेति निष्कर्षः। अत एव 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (भ० गी० २।७) इति गीतोक्तं सङ्गच्छते। अथवा पूर्ववाक्य एव घृतैरिति सम्बध्यते। विनापि चकारं समुच्चयः। समिदादिना घृतपक्वमोदकादिभिश्चोपहारैर्मां प्रसादयतेति भावः। गीतासारं भगवानुपदिशति—अस्मिन् मयि हव्या हव्यानि दातव्यानि अर्पणीयानि सर्वाणि वस्तूनि आ सर्वतोभावेन जुहोतन दत्त अर्पयत। निष्कामकर्मयोगं सततमनुतिष्ठत। उक्तं हि गीतायाम्—'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥' (भ० गी० ९।२७)। अत्र सर्वत्र बहुवचनमादरातिरेकसूचनाय। अथवा दुवस्यत दुवस्य बोधयत बोधय जुहोतन जुहुधि इति वचनव्यत्यासो बोध्यः।' इति।

तदेतदपि अप्रकृतगौणार्थक्लिष्टकल्पनाबाहुल्याद्यथाश्रुतोपपत्तौ अप्रामाणिकव्यत्यासादियुक्तत्वाद् नातीव मनोज्ञम्। कृष्णोऽर्जुनस्तत्संवादरूपा गीता च महाभारतादेरेव ज्ञातव्या भवन्ति। तदानुगुण्येन मन्त्राणां योजनं

कुछ लोगों ने आत्मयाजी दृष्टि से इस मन्त्र की ब्रह्मोपदेशपरक व्याख्या की है। आत्माग्नि को प्रज्वलित करने की बात की है। किन्तु उद्धृत की हुई श्रुति में 'आत्म' शब्द से 'शरीर' का ग्रहण किया गया है। आत्मयाजी विद्वान् मन्त्र-ब्राह्मणों की अन्यथा व्याख्या नहीं किया करते। तथापि इस व्याख्याकार की व्याख्या स्वामी दयानन्द की

मन्त्राणामुपबृंहणाय वा महाभारतादिनिर्माणमिति विचारणीयम् । तत्र नाद्यः पक्षः सम्भवति, अपौरुषेयवाक्यानां पौरुषेयानुसरणासम्भवात् । नान्त्यस्तथात्वे मन्त्रवैरूप्यानापत्तेः । तथाहि गीतादृष्ट्या तु नार्जुनस्य ब्रह्मविद्याधिकारः, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (भ० गी० २।४७), 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' (भ० गी० ४।१५), 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः' (भ० गी० ३।८) इत्यादिविरोधात् । न च ब्रह्मविदोऽपि कर्मण्येवाधिकार इति युक्तम्, 'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन' (भ० गी० ३।१८) इति विरोधात् । अत एवार्जुनं निमित्तीकृत्य भगवांस्तेभ्यस्तेभ्योऽधिकारिभ्यः कर्मयोगं ब्रह्मविद्यां चोपदिष्टवान् । न च गीतानुसारेण भगवतार्जुनाय काचिद्दीक्षा दत्ता । न वा दीक्षायै अर्जुनः समिदुपलक्षितघृतपक्वमोदकाद्याहरणाय नियुक्तः । न वार्जुनेन तन्नियोगानुसारेण मोदकादिकमाहृतम्, युद्धादिप्रकरणविरोधात् ॥ १ ॥

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये जातवेदसे ॥ २ ॥

हे ऋत्विजः ! सुसमिद्धाय साधुदीप्ताय, शोचिष्मते दीप्तिमते प्रज्वलिताय, जातवेदसे जातं वेत्ति वेदयते वेति जातवेदाः, तस्मै । जातो वेदः प्रज्ञानं वा यस्य तस्मै । जात आविर्भूतो वेदो यस्माद्वा तस्मै जातवेदसे । अग्नये घृतं तीव्रं स्वादुतमं समग्रं पटुतरं वा ग्रहणोद्वासनाधिश्रयणावेक्षणादिभिः संस्कारैः संस्कृतं जुहोतन अत्यर्थं जुहुत । अत्यर्थकं तनप्, कर्तनहन्तनयातनेत्यादौ तथार्थत्वदर्शनात् ॥ २ ॥

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ ३ ॥

हे अङ्गिरः ! अङ्गिर्गतिरस्यास्तीत्यङ्गिराः । गत्यर्थादङ्गतेर्मत्वर्थीये रसिप्रत्यये रूपसिद्धिः । तत्तद्यागेषु गतिमन्नग्ने ! 'अङ्गिरा उ अग्निः' (श० १।४।१।२५) इति श्रुतेः । तं तथोक्तगुणं त्वां समिद्भिः पूर्वोक्तगुणाभि-

व्याख्या से कुछ अच्छी कही जा सकती है । इस व्याख्याकार ने गीता का प्रसंग उद्धृत कर जो बताया है, वह गीतोक्त युद्धप्रकरण के विरुद्ध है ।। १ ।।

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों ! तुम लोग अग्नि में सुसंस्कृत घृत का हवन करो । वह अग्नि अच्छी तरह प्रदीप्त हुआ है एवं प्रकाशमान और समस्त ज्ञानों का उत्पादक है ।। २ ।।

भाष्यसार—इस मन्त्र से यह बताया गया है कि प्रदीप्त हुए जातवेदस् (अग्नि) में ग्रहण, उद्वासन, अधिश्रयण, अवेक्षण आदि संस्कारों से संस्कृत हुए घृत का हवन करना चाहिये ।

करपात्रभाष्य में दुर्गाचार्य के अनुसार 'जातवेदस्' पद की बहुविध व्युत्पत्ति के आधार पर अनेक अर्थ किये गये हैं ।

अध्यात्मपक्ष में—कहा गया है कि वेदान्तवाक्यादि के श्रवण करने से स्वप्रकाश, ब्रह्मरूप, सर्वज्ञ अग्नि में अपने प्रेमरूपी घृत को अर्पित कर दो । उसी से संसारासक्ति की निवृत्ति हो सकती है ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह पदार्थस्वभाव के विरुद्ध है । किसी ने गमनशील अर्थ करने के लिये मत्वर्थीय इरस् प्रत्यय बताया है, किन्तु वह व्यर्थ ही है ।। २ ।।

मन्त्रार्थ—प्रत्येक यज्ञ में गमन करने वाले और सर्वदा तरुण रहने वाले हे अग्ने ! हम लोग तुम्हें समिधाओं से और संस्कारयुक्त घृत से वृद्धिगत करते हैं । अतः तू अत्यधिक प्रकाशित हो जा ।। ३ ।।

संस्कृतेनाज्येन च वर्धयामसि वर्धयामः। 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) सिकारश्छान्दसः। हे यविष्ठ्य नित्यं नवनवायमान नित्यनूतन अग्ने ! बृहत् महत् शोच दीप्यस्व। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घे शोचेति रूपम्। यविष्ठ्य अतिशयेन युवेति यविष्ठ्यः, तत्सम्बुद्धौ हे यविष्ठ्य। युवन्शब्दाद् इष्ठनि 'स्थूल-दूर-युव०' (पा० सू० ६।४।१५६) इत्यादिना टिलोपे गुणे च स्वार्थिकतद्धितयकारे यविष्ठ्येति रूपम् ॥ ३ ॥

उप॑ त्वाग्ने ह॒विष्म॑तीर्घृ॒ताची॑र्यन्तु हर्यत। जु॒षस्व॑ स॒मिधो॒ मम॑ ॥ ४ ॥

'उप त्वेति जपतीति' (का० श्रौ० ४।८।६) हे अग्ने ! हविष्मतीः हविष्मत्यः हविर्युक्ताः घृताचीः घृताच्यः घृतपरिप्लुताः समिधः, त्वा त्वाम् उपयन्तु प्रत्युद्गच्छन्तु। हे हर्यत प्रेप्सावन् ताः प्रत्यनुरागयुक्त ! मदीयास्ताः समिधस्त्वं जुषस्वोपसेवस्वाङ्गीकुरु। (नि० २।६।६०) इति कान्तिकर्मसु हर्य्यत इत्यस्य पठितत्वात्, कान्तेश्चेच्छार्थकत्वात्, अनुरागस्य चेच्छाविशेषत्वात्, रागातिशयस्य वस्तुनः समर्पणेनैव प्रसादातिशयसम्भवाच्च।

भाष्यसार—'अग्नि' का नाम 'अङ्गिरस्' है। 'अङ्गिरा उ अग्निः' यह श्रुतिवचन है। समिधा और संस्कृत घृत से उस अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है, तब वह वृद्धिगत होता है। उसका अत्यधिक प्रकाश होता है।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या अपने भाष्य में की है, उसमें व्यत्यय आदि का अकारण आश्रय लिया है। शतपथ श्रुति के विरुद्ध होने से वह व्याख्या उपेक्षणीय है।

अध्यात्मपक्ष में—ब्रह्माकारवृत्ति की अभिव्यक्ति होने से वह अग्नि सम्पूर्ण प्रपञ्च का दाहक है। उस अग्नि को श्रवण-मनन-निदिध्यासन और घृत के समान सुगन्धवाले अनुराग से हम वृद्धिङ्गत कर रहे हैं, अर्थात् 'ब्रह्म' नास्ति और न भाति—इन आवरणद्वय का अपसारण करके प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न अनन्तानन्द ब्रह्मात्मभाव के प्रादुर्भाव से हम उसे वृद्धिङ्गत करते हैं। यद्यपि वह अवेद्य है, तथापि वह स्वप्रकाश रहने से निरतिशय प्रकाशरूप ही है। अतः श्रवणादि के द्वारा तत्तदुपाधिनिराकरणजनित अतिशयित प्रकाशवान् हो जाय ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! हवि से युक्त और घृत से आर्द्र हुई समिधाएँ तुम्हें प्राप्त हों। उन समिधाओं की इच्छा रखने वाला तू अपने समीप आनेवाली उन मेरी समिधाओं का सेवन कर। 'उप त्वा' इस मन्त्र का जप करे ॥४॥

भाष्यसार—अग्नि को समिधा और घृत की इच्छा रहती है। जिस वस्तु में रागातिशय हो, उस वस्तु की प्राप्ति हो जाने से अत्यधिक प्रसन्नता होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि भक्त लोग भगवान् को निवेदन किये जाने वाले पदार्थों में भगवद्रागास्पदत्व की भावना करते हैं। अग्नि आदि के रूप में सर्वत्र वेद में और यज्ञ में परमेश्वर की ही अर्चना बताई गई है।

अध्यात्मपक्ष में—हे हर्यत ! अर्थात् हे कान्तिसम्पन्न ! स्वप्रकाश ! अपने सगुण स्वरूप से कोटि सूर्य के समान कान्तिवाले ! समस्त प्राणियों के परम प्रेमास्पद होने के कारण हे सर्व कमनीय ! मेरे द्वारा की जाने वाली मधुमती स्तुतियों को प्रेमपूर्वक अंगीकार करो, अर्थात् मेरी स्निग्ध ज्ञानभक्तिरूप वृत्तियाँ तुम तक प्राप्त हों। तुम उन वृत्तियों के रस का आस्वादन करो।

तत एव भक्तैर्निवेद्यमानेषु भगवद्रागास्पदत्वं भाव्यते। 'प्राज्यमाज्यमिदमुत्तमं मधु। मातरेतदमृतोपमं पयः सम्भ्रमेण परिपीयतां मुहुः॥' इति श्रीशङ्कराचार्याः। अत्र देवताविशेष एवाग्निराहवनीयादिशरीरकः सम्बोध्यते, तस्य प्रेप्सावत्त्वादिसम्भवात्। तथा च परमेश्वर एवाग्न्यादिरूपेण सर्वत्र वेदेषु यज्ञेषु चेज्यते ॥ ४ ॥

भूर्भुवः॒स्व॒र्द्यौरि॑व भू॒म्ना पृ॑थि॒वीव॑ वरि॒म्णा। तस्या॑स्ते पृथिवि देवयजनि पृ॒ष्ठेऽग्नि॒मन्ना॒दम॒न्नाद्या॒याद॑धे ॥ ५ ॥

'जाते जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो वा, जातधनो जातविद्यो वा, जातप्रज्ञानो यत्तज्जातः पशून् विन्दतेति जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति' (नि० ७।१९)। महाभाग्यात् कर्मपृथक्त्वादग्निरेव जातवेद उच्यते, यद्वा पृथगभिधानस्तुत्यन्तरसम्बन्धाद्देवतान्तरम्। जातवेदाः कस्मात्? स हि जातानि वेद। न तदस्ति जातमस्मिँल्लोके यदसौ न वेद, सर्वज्ञ इत्यर्थः। जातानि वा एनं विदुः। धातोरभेदेऽपि कारकभेदाद् भेदः, सर्वप्रसिद्ध इत्यर्थः। जाते जाते विद्यते इति वा विदेः सत्तार्थकस्याधिकरणे कारके न तदस्ति जातं यत्रासौ नास्ति, सर्वजातव्यापक इत्यर्थः। जातवित्तो वा जातधनः। जातमस्य वित्तमिति जातवेदाः। जातविद्यो जातप्रज्ञानो वा। निसर्गत एवास्य जातं प्रज्ञानमित्यर्थः। अपि भवति जनेर्विदेश्चेति जातवेदा इति ब्राह्मणम्। यत्तज्जातः पशूनविन्दत अलभत तस्माज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति विज्ञायते। यतश्चैतदेवं तस्मादद्यत्वेऽपि स्वाम्ययमस्माकमिति मन्यमानाः पशवः सर्वानृतून् प्रतिग्रीष्मे अग्निमभिसर्पन्तीति तत्रैव दुर्गाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे तु श्रवणादिभिः सुसमिद्धाय ब्रह्मरूपायाग्नये शोचिषे स्वप्रकाशाय जातवेदसे वेदजनकाय सर्वज्ञाय ब्रह्माग्नये घृतं प्रेमाख्यं स्नेहं घृतगन्ध्यनुरागविशेषं वा तीव्रसंसाररागनिवर्तकत्वात् तीव्रं जुहोतन समर्पयत तत्प्रियत्वात्तस्य। 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥' (भा० पु० ३।२५।३३) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। यद्वा अव्यक्तस्य असमिद्धस्याग्नेः सुसमिद्धव्यक्ताग्निरूपेणेव अव्यक्तस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य ब्रह्मणः सुसमिद्धाय अमलात्मनां परमहंसानां महामुनीनां श्रीपरमहंसत्वसम्पादनाय कोटिकोटिसूर्यचन्द्राग्निसमप्रभाय श्रीरामकृष्णादिरूपेणाभिव्यक्ताय साधुपरित्राणाय दुष्टदर्पदलनाय धर्मसंस्थापनाय वा शोचिषे दीप्तिमते जातवेदसे सर्वज्ञाय सर्वविदे अग्नये पातकपातकिदैत्यदानवादिदावदहनाय सूर्यस्यापि सूर्यायाग्नेरप्यग्नये भगवते हे आर्तजिज्ञास्वर्थार्थिज्ञानिभक्ता घृतं घृतगन्ध्यनुरागतीव्रमुत्कटं सर्वसंसाररागनिवर्तकत्वात् परमात्मवशीकारकत्वाच्च जुहोतन जुहुतेत्यर्थः। एवं श्रुतिसूत्राविरुद्धा अनेकेऽप्यर्थाः सम्भवन्ति।

दयानन्दस्तु 'सुसमिद्धे सम्यगिद्धे दीप्ते। सप्तमीस्थाने चतुर्थी। शोचिषे दोषनिवारके घृतमाज्यादिकं तीव्रं सर्वदोषाणां निवारणे तीक्ष्णस्वभावं जुहोतन प्रक्षिपत। अग्नये रूपदाहप्रकाशच्छेदनादिगुणस्वभावे जातवेदसे

स्वामी दयानन्द उक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए मनुष्यों को सम्बोधित करते हैं और उन्हें प्रतिदिन समिधाओं के संग्रहार्थ करते हैं। किन्तु मन्त्र में 'अग्नि' को सम्बोधन किया गया है। 'जुषस्व' के बजाय 'जुषते' यह व्यत्यय किया है। अनेक जगह मुख्यार्थ को त्यागकर गौणार्थ की कल्पना की है, जो निर्मूल है। अतः दयानन्दीय अर्थ उपेक्षणीय है॥ ३–४॥

मन्त्रार्थः—भूः, भुवः, स्वः—इन तीन व्याहृतियों का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य है अथवा आत्मा, प्रजा और पशु है। इन अर्थवाली व्याहृतियों से प्रार्थना करके अग्नि की स्थापना करे। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण,

जाते जात उत्पन्न उत्पन्ने पदार्थे विद्यमानस्तस्मिन्' (पृ० २२८) इत्याह, तत्तु न युक्तम्, सप्तम्यर्थस्वीकारस्य निष्कारणत्वात्। सम्प्रदानचतुर्थ्या सुसमिद्धत्वजातवेदत्वादिगुणविशिष्टाया देवताया विवक्षितत्वे तदुद्देश्येन घृतद्रव्यत्यागस्य बुबोधयिषितत्वात्। नह्यत्र दोषाणां निवारणे तीक्ष्णस्वभावत्वबोधनाय तीव्रशब्दो युज्यते, दाहकस्वभावत्वेनैतदुपपत्तेः, किन्तु स्वादुतमत्वसुसंस्कृतत्वादिभिरेव तस्य तीक्ष्णत्वं ज्ञेयम्। किञ्च, निरुक्तरीत्या जातविद्यो जातप्रज्ञानो वा जातवेदा भवति। न च तादृशोऽग्निस्त्वयाभिप्रेयते, त्वद्रीत्या घृतादिप्रक्षेपाधिकरणस्याग्नेर्जडत्वात्।

'तं त्वा समिद्भिरङ्गिर इति समिद्भिर्ह्येतदङ्गिरस ऐन्धताङ्गिर इत्यङ्गिरा उ ह्यग्निर्घृतेन वर्धयामसीति तत्सामिधेनं पदꣳ समेवैनं तेनेन्धे वीर्यमेवास्मिन् दधाति' (श० १।४।१।२५)। तृतीया सामिधेनीरूपेयमृक्। तामनूद्य व्याचष्टे श्रुतिः—समिद्भिर्ह्येतमग्निमङ्गिरसो महर्षय ऐन्धन्त समिद्धमकुर्वन्। तस्मादग्निरपि अङ्गिर इति सम्बोध्यते। तदेतन्नामाग्नेः प्रसिद्धमित्याह—'अङ्गिरा उ ह्यग्निः, इतरे येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' (ऐ० ब्रा० ६।५।१८-९) इति श्रुतेः। अङ्गिरसामङ्गारपरिणामरूपत्वादङ्गिरसशब्दाभिधेयता। अग्निरप्यङ्गाररूप इति युक्तं तस्याङ्गिरसत्वमित्यर्थः। घृतेन वर्धयामसि वर्धयामहि। वर्धयामसीति सामिधेनं पदं घृतेनैनं समिन्धे तेनास्मिन् सामिधेनपदे वीर्यमेव दधाति। 'बृहच्छोचा यविष्ठ्येति। बृहदु ह्येष शोचति समिद्धो यविष्ठ्येति। यविष्ठो ह्यग्निस्तस्मादाह यविष्ठ्येति सैषैतममेव लोकमभ्यनूक्तान्तरिक्षलोकमेव तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्ता निरुक्तो ह्येष लोक एतमेतमवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः' (श० १।४।१।२६)। यविष्ठो युवतमो नित्यं तरुणः, अजरामरत्वात्। बृहदु ह्येष शोचति दीप्यते समिद्धः अस्या ऋचोऽनुवचनमन्तरिक्षलोकगमनहेतुत्वेन प्रशंसति—………। सामान्योक्तं विवृणोति—………। ऋचोऽन्तरिक्षलोकस्य च निरुक्तत्वेन साम्यमाह—तस्मादिति।

दयानन्दस्तु—'तं भौतिकमग्निं त्वा य इति व्यत्ययः। समिद्भिः काष्ठादिभिरङ्गति प्रापयति यः सोऽङ्गिराः। 'अङ्गारेष्वङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः' (नि० ३।१७)। पूर्वोक्तेन घृतेन वर्धयामसि वर्धयामः। बृहत् महत् यथा स्यात्तथा शोच तिष्ठ। शोचति प्रकाशते व्यत्ययः। योऽतिशयेन युवा पदार्थानामभिश्रीकरणे बलवान् स यविष्ठः। यविष्ठ एव यविष्ठ्यः' (पृ० २३०) इत्याह, तदपि यत्किञ्चित्, विप्रतिषिद्धत्वात्। यः काष्ठादिभिर्भौतिकमग्निमङ्गति प्रापयति सोऽङ्गिराः प्रसिद्ध्यति। पूर्वोक्तशतपथश्रुत्या ऋषिविशेषा अङ्गिरसोऽभवन्। तैः समिद्धत्वादग्निरपि तच्छब्दाभिधेयत्वेन प्रसिद्धः। 'अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः' इति निरुक्तेनापि न त्वदभीष्टसिद्धिः। प्रजापतिना किल शुक्रमात्मीयमादायाग्नौ हुतम्। ततोऽर्चिषि ज्वालायां भृगुर्नाम महर्षिः सम्बभूव। व्यपगतेऽर्चिषि योऽङ्गारेषु सम्बभूव सोऽङ्गिरानामाऽभवत्। अङ्गारा अङ्कनाः। ते हि यत्र निधीयन्ते तदङ्कितं भवति, अञ्चनाः पूजावन्तश्च भवन्ति, अप्रधृष्यत्वात्।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने ब्रह्माकारवृत्त्यभिव्यक्त्या सर्वप्रपञ्चदाहक! तं पूर्वोक्तं त्वा त्वां समिद्भिः श्रवण-मनन-निदिध्यासनैः, घृतेन घृतगन्ध्यनुरागेण च वर्धयामसि वर्धयामः। ब्रह्म नास्ति न भातीत्यावरण-द्वयापनोदनेन प्रत्यक्चैतन्याभिन्नानन्तानन्दब्रह्मात्मभावप्रादुर्भावनेन च वर्धयामः। हे यविष्ठ्य हे युवतम नित्यं नवनवायमान तथाविधब्रह्माग्ने! महत्प्रवृद्धं यथा स्यात् तथा शोच दीप्यस्व। यद्यप्यवेद्यत्वे सति साक्षाद-

क्षत्रिय, वैश्य अथवा आत्मा, प्रजा और पशु—ये सब मेरे अधीन हों। देवताओं के यज्ञ के लिये साधनीभूत हे पृथ्वी! तुम्हारी पृष्ठ पर हुत अन्न का भक्षण करने वाले गार्हपत्यादि अग्नियों की मैं स्थापना करता हूँ। उस कारण मुझे भक्ष्य

परोक्षत्वात् स्वप्रकाशत्वेन निरतिशयितप्रकाशरूप एवासि त्वम्, तथापि श्रवणादिभिस्तत्तदुपाधिनिराकरणजनितातिशयितप्रकाशवान् भव ।

यत्तु—'स्वपत्न्या कृतपरामर्शनेन सन्दीपनिना गुरुदक्षिणारूपेण मृतं स्वपुत्रमानेतुमादिष्टो भगवान् कृष्णः संयमनीं पुरीमगच्छत् । कृताभ्यर्चनं यमं भगवानूचे—दण्डपाणे त्वन्नगरे गुरुपुत्रो वर्तते सपदि प्रत्यावर्तनीयः । तं गुरुदक्षिणात्मना गुरवे निवेद्य गुरोर्निदेशाद् यदुराजधानीं मधुपुरीं गन्तुमना अहमस्मि । शिरो निधाय भगवन्निदेशं गुरुपुत्रं यमः सहर्षं ददौ । भोगायतनं स्थूलं मनुष्यशरीरमन्तरा भूमिमागन्तुमक्षमाय तस्य मृतगुरुपुत्रस्य जीवात्मनः स्थूलशरीरं मानवभोगोचितं प्रयच्छन् यमो ब्रूते—हे अङ्गिरः ! गतिमन् इतो मया सार्धं भूमिं गन्तुमुत्सुक हे मृतगुरुपुत्र जीवात्मन् ! तं समुद्रे निमग्नं त्यक्तस्थूलशरीरं यमालयमागतं त्वां समिद्भिः प्राणैः, 'प्राणा वै समिधः' इति श्रुतेः । प्राणः कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षकः । घृतेन प्रकाशेन तद्धर्मकेण अन्तःकरणेन मनोबुद्धिलक्षणेन ज्ञानेन्द्रियसहितेन सप्तदशतत्त्वात्मकलिङ्गशरीरेण लक्षणया तदधिष्ठानं यद् भोगार्हं स्थूलं शरीरं तेनेति यावत्, वर्धयामसि वर्धयामः । 'घृ क्षरणदीप्त्योः' । भोगाक्षमाय जीवाय भोगायतनस्थूलशरीरप्रदानमेवात्र वर्धनम् । यविष्ठ्य युवतम अतितरुण गुरुतनय जीवात्मन् ! बृहत् यथा स्यात्तथा शोचा अतिशयेन दीप्यस्व, मत्सङ्कल्पनिर्मितनितान्तसुन्दराभिनवकलेवरलाभादिति भावः । शोकवचनोऽपि शुचिरत्र दीप्त्यर्थः' इति, अत्रेदं वक्तव्यम् -यद्यप्ययमर्थो दयानन्दीयव्याख्यानवदेव कल्पनाबहुलो गौणार्थो बलात्कृत एव, तथापि भगवत्कथापर्यवसायित्वात् सोढव्य एव । ईदृशा एतद्विपरीताश्चानेकेऽर्था बलात्कारेण योजयितुं शक्याः, परं निष्प्रमाणा एव ते । किञ्च, भगवता कृष्णेन तस्मै भोगायतनं शरीरं दत्तमिति न मानान्तरसिद्धम्, पुराणादिष्वस्मरणात् । नाप्येतन्मन्त्रसिद्धम्, मन्त्रे तादृशपदाभावात् । अङ्गिरःपदस्याग्निरूपोऽर्थस्तु शतपथश्रुतिसिद्धः । 'इतो मया सार्धं भूमिं गन्तुमुत्सुक हे मृतगुरुपुत्र जीवात्मन्' इत्यङ्गिरःपदस्यार्थस्तु सर्वथा निर्मूल एव । ईदृशेन व्याख्यानस्वातन्त्र्येणैव धर्मकीर्तिः—'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यस्य श्वमांसं भक्षयेदित्यर्थं करोति । समिद्भिः प्राणैः । अत्र समित्पदस्य प्राणो लाक्षणिकोऽर्थः । प्राणेन कर्मन्द्रियाणामुपलक्षणम्, घृतशब्देन प्रकाशधर्मकमन्तःकरणम्, तेन च ज्ञानेन्द्रियसहितं लिङ्गशरीरं लक्षितम्, तेनापि स्थूलशरीरं बोध्यत इत्यस्मिन्नर्थे मन्त्रे किं बीजमिति वक्तव्यम् । अशरीरस्य यविष्ठ्य अतितरुण गुरुतनय जीवात्मन् ! इति सम्बोधनं कथं सम्भवति ?

'स यद्वा इतश्चेतश्च सम्भरति तत्सम्भाराणां सम्भारत्वं यत्र यत्राग्ने न्यक्तं ततस्तः सम्भरति' (श० २।१।१।१) । निवपनोल्लेखनाभ्युक्षणसंस्कृतेषु गार्हपत्याद्यायतनेषु उदकहिरण्योषाखुकरीषशर्करासम्भारा ध्रियन्ते । तदुक्तं कात्यायनेनापि—'स्थानमुल्लिख्याभ्युक्ष्यान्वारब्धे हिरण्यं निधायाखूत्करान्निवपत्यन्तेषु शर्करा' (का० श्रौ० ४।२।१०) । अग्नेः सम्बन्धि निलीनं तेजः, अध्वर्युरुदकहिरण्यादिद्रव्यजातादेकदेशमाहृत्य सम्भरति समूहीकरोति । 'अथोल्लिखति । तद्यदेवास्यै पृथिव्या अभिष्ठितं वाभिष्ठ्यूतं वा तदेवास्य एतदुद्धन्त्यथ यज्ञियायामेव पृथिव्यामाधत्ते तस्मादुल्लिखति' (श० २।१।१।२) । अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धि यत् अभिष्ठितं उपर्यवस्थानेन पादस्पर्शादिजनितं अभिष्ठ्यूतं निष्ठीवनादिजनितं तदेवास्या उल्लेखनेनोद्धन्ति । 'अथाद्भिरभ्युक्षति' (श० २।१।१।३) इत्युल्लिखितानामायतनानामभ्युक्षणं विधत्ते—अथाद्भिरिति । 'अथ हिरण्यं सम्भरति' (श० २।१।१।), 'अथोषान् सम्भरति' (श० २।१।१।), 'अथाखुकरीषं सम्भरति' (श० २।१।१।७), 'अथ

और भोज्य अन्न प्राप्त होता रहे । तुम्हारी पीठ पर अग्नि की स्थापना करके द्युलोक जिस प्रकार अनेक नक्षत्रों से विशिष्ट है, उसी प्रकार मैं अनेक पुत्र, पशु आदि से युक्त होऊँ । विस्तृत होने से पृथ्वी जैसे समस्त प्राणियों को आश्रय देती है, वैसे ही मैं सम्पूर्ण प्राणियों को आश्रय देने वाला बन पाऊँ ॥ ५ ॥

शर्कराः सम्भरति' (श० २।१।१।८) । यशःपशुमिथुनेषु विकीर्णमाग्नेयं तेज उदकादिभिराहवनीयादौ सम्भ्रियते । अपां स्त्रीलिङ्गत्वादग्नेश्च पुल्लिङ्गत्वादुभयं मिलितमेकं मिथुनं भवति । तच्च पुत्रपौत्रादि-प्रजननहेतुरित्येनमग्निं समर्धयति । अग्नेश्चाद्भिर्मिथुनीभावेन हिरण्यस्योत्पत्तिरुक्ता यस्मादग्निवीर्यं हिरण्यात्मना परिणतं तस्माद्धिरण्यमग्निसंकाशं भवति । यस्माच्चाप्सु निषिक्तं तस्माद्धिरण्यमप्सु विन्दन्ति । तस्मादेनेन दन्तान् न धावयेत्। अन्यदपि हीनं कर्म न कुर्यात् । 'अथ यशो देवरेतसꣳ हि तद्यशसैवैनꣳ समर्धयति' (श० १।१।१।५) । यस्माद्धिरण्यं देवरेतसं देवस्याग्नेर्वीर्यं तस्माद्यशोरूपम् । तस्माद्धिरण्यसम्भरणेन यशसैवैनमग्निं समृद्धं करोति । ऊषाणां पशुरूपत्वं तत्रैव षष्ठ्यां कण्डिकायामुक्तम्—पृथिव्यै द्युलोकेन पशवो दत्ताः । ऊषयुक्त-मूषरं स्थानं पशव्यं पशुभ्यो हितं भवति । पशवो हि तादृशं स्थानमासाद्य लिहन्ति । अतः पशुहितत्वात् पश्वात्मका एवैते ऊषा अत ऊषसम्भरणेन पशुभ्योऽग्निसम्भरणं भवति । आखुभिः खननेन बिलाद् बहिर्नीताः पांसवः करीषम् । तदेतत्प्रशंसति—''''''। यस्मादाखवः पृथिवीसंज्ञास्तस्मात् पृथिवीमध्येऽधः सञ्चरन्ति । पृथिव्या अन्तरधस्तात् समीपे चरन्ति । तत्रत्यरसास्वादनेन पीविष्ठा यत्र स्थाने गत्वा रसं विदु., उपजीव्य बहिरुत्किरन्ति, तस्मादाखूत्करस्य पृथिवीरसत्वात् तेनैनमग्निं समर्धयति । मृन्मिश्रिताः सूक्ष्मपाषाणाः शर्कराः । तासां दाढर्य-हेतुत्वेन ताभिरशिथिलायामग्नीन् आदधते ।

'दारुभिर्ज्वलन्तमादधाति भूर्भुव इति संभारेषु' (का० श्रौ० ४।९।११), 'भूर्भुवः स्वरिति पूर्ववदिति च' (का० श्रौ० सू० ४।९।१६) इति कात्यायनसूत्रानुसारेण आपो हिरण्यमूषाखूत्करशर्कराश्चेति पञ्चसम्भारान् सम्पाद्य स्फ्येनोल्लिखितायां शुद्धायां भूमौ तान् संभारान् संस्थाप्य तेषु शुष्ककाष्ठैर्ज्वलन्तमग्निं भूर्भुवःस्वरिति महाव्याहृतीरुच्चारयन्नादध्यात् । इदमाहवनीयाधानम् । एवमष्टाक्षरत्वादग्नेर्गायत्रत्वमुक्तम्, श्रुत्या गायत्री-सहितस्याग्नेः प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वात्। एतेष्वाधानमन्त्रेषु भूर्भुवः स्वरिति तिस्रो महाव्याहृतयः। पृथिव्यन्तरिक्ष-द्युलोका ब्रह्मक्षत्रविशो वर्णा अन्नप्रजापशवश्च तासामर्थाः । एतासामुच्चारणपूर्वकमेव प्रजापतिना लोकत्रयस्य सृष्टत्वादेतमग्निं स्थापयन् लोकत्रयं स्मरेत् । ब्रह्मक्षत्रविशः, अन्नप्रजापशवश्च सर्वे स्वात्मवशगा भूयासुरिति प्रार्थयमानोऽग्नीनादध्यादित्यर्थः । इध्मपूर्वार्धं गृहीत्वा यजमानो जपति—'इध्मपूर्वार्धं गृहीत्वा द्यौरिव भूम्ने-त्याहेति' (का० श्रौ० ४।९।१७) इति कात्यायनेन सूचितत्वात् । देवा इज्यन्ते यस्यां सा देवयजनी पृथिवी, तत्सम्बुद्धौ हे देवयजनि ! देवपूजनादिशुभकर्मणामाधारभूते धरित्रि ! तस्या देवयजनयोग्यायास्तव पृष्ठे तवोपरि अन्नादमन्नस्य हुतस्य हविषोऽत्तारं भक्षयितारमग्निं गार्हपत्यादिरूपमग्निमादधे स्थापयामि । किमर्थम्–अन्नाद्याय । अत्तुं योग्यमद्यम्, अन्नं च तदद्यं च अन्नाद्यम्, तस्मै अत्तुं योग्यस्यान्नस्य प्राप्त्यर्थम्, आहिताग्न्यादित्वात् परनिपातः ।

यद्वा—अद्यं भक्षणम्, अन्नस्याद्यं भक्षणमन्नाद्यं तस्मै अन्नाद्याय अन्नभक्षणाय तस्याः पृथिव्याः पृष्ठे अग्निमाधायाहं यजमानः, द्यौरिव भूम्ना यथा द्यौर्नक्षत्रबहुत्वेन बह्वी तथा पुत्रपश्वादिभिर्बहु भूयासम् । बहोर्भावो भूमा तेन भूम्ना वरिम्णा पृथिवीव भूयासम् । उरोर्भावो वरिमा यथा पृथिवी उरुत्वेन विस्तीर्णत्वेन सर्वप्राणिना-माधारभूता, एवमहं महत्त्वेन सर्वप्राणिनामाश्रयभूतो भूयासम् । यद्वा अग्नेर्विशेषणत्वेन भूम्ना द्यौरिवेत्यादिकं व्याख्येयम् । कीदृशमग्निम् ? भूम्ना द्यामिव वर्तमानम् । यथा द्यौर्नक्षत्रादिबहुत्वेन युक्ता तथाग्निरपि गार्हपत्या-हवनीयदक्षिणाग्निसभ्यावासथ्यादिबहुत्वेन ज्वालाबहुत्वेन वा युक्तः । वरिम्णा पृथिवीमिव स्थितम्, यथा पृथिवी

अध्यात्मपक्ष में—इस मन्त्र में तीनों व्याहृतियों के द्वारा परमात्मा को ही बताया गया है। सभी भोग्य

सर्वप्राण्याश्रयत्वेन श्रेष्ठत्वोपेता, तथा सर्वशोधकत्वरूपेण श्रेष्ठत्वेनोपेतोऽग्निः, अग्नेः पावकाभिधानत्वात्। मन्त्रान्तरे चाग्निः शुचिव्रतमित्याम्नातम्।

उप त्वेति चतुर्थमन्त्रस्याध्यात्मपक्षीयोऽर्थः —हे ब्रह्माग्ने ! हविष्मतीः हविष्मत्यः त्वदीयप्रीतिहेतुस्तुतिरूपहविर्युक्ताः, घृताचीः घृताच्यः त्वदीयस्नेहोत्पादिकाः समिधस्त्वत्स्वरूपद्योतिका गिरः, त्वां प्रत्युपगच्छन्तु। हे अर्यत हे कान्तिमन् स्वप्रकाशसगुणरूपेण कोटिसूर्यसमप्रभ सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वेन हे सर्वकमनीय ! मे मदीया इमाः समिधः मधुमती स्तुतीः प्रीत्या सेवस्व अङ्गीकुरु। मदीयाः स्निग्धा ज्ञानभक्तिरूपा वृत्तयस्त्वामुपयन्तु। त्वं च तासां रसास्वादनं कुरु।

अत्र दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यो हर्यत प्रापकः कमनीयोऽग्निर्मम समिधो जुषस्व जुषते सेवते यथा त्वा तमेताः समिध उपयन्तु प्राप्नुवन्तु। तथास्मिन् यूयं हविष्मतीर्घृताचीः समिधः प्रतिदिनं संचिनुत' (पृ० २३२) इत्याह, तदपि यत्किञ्चित्, 'अग्ने' इति प्रत्यक्षसम्बोधनमपहाय हे मनुष्या इति सम्बोधनाङ्गीकारेण व्याख्याने सर्वथा स्वातन्त्र्यबोधनात्। जुषत इति व्यत्ययाश्रयणमपि निर्मूलमेव। तमेताः समिधो यन्तु तयास्मिन् यूयं हविष्मतीर्घृताचीः प्रतिदिनं संचिनुतेति च निर्मूलमेव, संचिनुतेति क्रियापदस्य मूलेऽभावात्।

एतेन 'हे आत्माग्ने हविष्मतीः मनोवृत्तियुक्ताः घृताचीः घृताच्यो ज्ञानेन्द्रियसत्त्वयुक्ताः प्राणास्त्वामुपयन्तु प्रत्युपगच्छन्तु' इत्ययमप्यर्थः स्वारस्यहीनो ज्ञातव्यः, स्वीकृतायामपि क्लिष्टकल्पनायां वैरस्यात्, जीवात्मनामविद्यादशायां कर्मवशात् प्राणादिसम्बन्धस्य स्वाभाविकत्वेनानभ्यर्थनीयत्वात्। 'हः चन्द्रः, तया योक्तृयोग्ययोरुपयोगेन तद् अमृतस्वरूपम्' इत्यादिकं त्वशुद्धमेव, भोक्तृभोग्ययोरग्नीषोमयोर्योगेन जन्यं तु नामृतं सम्भवति, आगमापायित्वात्।

'भगवता समानीतं प्रदीप्तकायं स्वचरणयोः प्रणिपातं कुर्वाणं दर्शं दर्शं सञ्जातप्रसादः सन्दीपनिर्भगवन्तमाशास्ते हे अग्ने जगद्भक्षकस्य कृतान्तस्यापि विजेतः ! अद्यावधि केनापि कश्चिद्यमालयान्न प्रत्यावर्तितः। त्वं च स्वतेजसा तं पराजित्य ममात्मजं समानीतवानिति तवातितेजस्वित्वे को विप्रतिपद्येत' इत्यादि वस्तुदृष्ट्या सत्यमपि नास्य मन्त्रस्य व्याख्यारूढं भवितुमर्हति, अपदार्थत्वात्। हर्यत उत्तरोत्तरां प्रगतिमासादन्नित्यपि न सम्भवति, भगवति तस्य निरतिशयैश्वर्यवत्त्वेनोत्तरोत्तरप्रगत्ययोगात्। 'हर्य गतिकान्त्योः' इति धात्वर्थासङ्गतेश्च। हविष्मतीः हविष्मत्यः प्रशस्तहविर्दानादिवैदिककृत्योपदेशयुक्ताः, दर्शपूर्णमासाग्निचयनादिकर्मप्रधाना विद्या न केवलं किन्तु घृताचीः घृताच्यः, घृतं प्रकाश आत्मदर्शनं तद्..........आत्मविद्या मम मदीयाः समिधः समीचीनाः, त्वा त्वाम् उपयन्तु उपगच्छन्तु' इत्यप्यविचारितरमणीयम्, आत्मदर्शनात्मविद्ययोर्भेदाभावेन स्वेनैव स्वात्मत्वायोगात्, समिध इत्यस्य नैरर्थक्याच्च। किञ्च, दर्शपूर्णमासादिकप्रधाना विद्याः कथं हविष्मत्यः सम्भवन्ति ? अन्यत्तु अल्पज्ञजनव्यामोहनाय वागाडम्बरमात्रम्। सर्वत्रैवेदृशेष्वर्थेषु मुख्यार्थत्यागगौणार्थकल्पनया वेदार्थविभ्रंश एव।

भूर्भुवःस्वरिति (३।५) मन्त्रः। तत्राध्यात्मपक्षीयोऽर्थो यथा—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति रीत्या सर्वे वेदाः साक्षात् परम्परया च परमात्मपर्यवसायिनो भवन्तीति परमात्मैवात्र तिसृभिर्व्याहृतिभिर्बोध्यते।

वस्तुओं को उस परमात्मा के लिये ही अर्पण करना है। इस प्रकार भक्ति का उद्रेक होने पर प्रेम स्पर्शवशात् परमात्मा भक्त के अधीन हो जाते हैं और भक्त स्वाधीन हो जाता है।

भवति सर्वं जगदस्मादिति भूः जगदुत्पादकः। भूत्वा वसति सर्वं जगत् यस्मिन् स भुवः सर्वस्थितिहेतुः। स्वरति लयं गच्छति यस्मिन् स स्वः। जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणभूत हे परमात्मन्! त्वं भूम्ना नक्षत्रादि-बाहुल्येन द्यौरिव वा भूम्ना अचिन्त्यानन्तकल्याणगुणबाहुल्येन युक्तोऽसि। पृथिवीव वरिम्णा महत्त्वेन सर्वप्राणिनामाश्रयभूतोऽसि। देवा इन्द्रादयः, देवो विष्णुश्चेज्यन्ते यस्यां सा देवयजनी तत्सम्बुद्धौ हे देवयजनि, हे पृथिवि, हे धरित्रि! तस्या विष्णुपादभूतायाः, 'पद्भ्यां भूमिः' इति मन्त्रवर्णात्। 'पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः' इति श्रीमद्भागवतवचनाच्च। तव पृष्ठे अन्नादम् अन्नं भोग्यं सर्वरसरूपत्वाद् ब्रह्म, तदत्ति भुङ्क्ते इत्यन्नादो ब्रह्मविद्वरिष्ठस्तमग्निं ब्रह्मज्ञानेन सर्वकर्मतत्फलादिप्रपञ्चदाहकम्, अन्नाद्याय अन्येषामपि ब्रह्मसुखसम्भोगाय आदधे जगति तत्परम्परां स्थापयामीत्यर्थः। सर्वेश्वरो भगवानेव परमः स्वतन्त्रः, जीवास्तु तदधीनाः। एवं भगवतः स्वातन्त्र्यं पुंस्त्वम्, पारतन्त्र्यमेव जीवानां स्त्रीत्वम्। प्रथमं साधकाः सर्वभोक्तारं सर्वाधिष्ठानरूपं सर्वशेषिणं भगवन्तं प्रति स्वं भोग्यत्वेनान्नरूपेणोपस्थाप्य समर्पयन्ति। तदीयकायच्छायत्वेन तदधीनस्थितिगतिप्रवृत्तित्वेन तच्छेषत्वेन तदधीनतां स्वस्य भावयन्ति। निष्ठापरिपाके सति सर्वगुणालया भवन्ति, 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः.........' (भा० पु० ५।१८।१२) इत्युक्तेः। ततो भक्त्युद्रेके सति प्रेमस्पर्शवशाद् भगवान् भक्तपराधीनो भवति, भक्तश्च स्वाधीनो भवति। 'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥' (भा० पु० ९।४।६८), 'वशे कुर्वन्ति मां नित्यं सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा' (भा० पु० ९।४।६६)। शृङ्गारे वैपरीत्यमिव भगवान् भोग्यो भवति। भक्तश्च भोक्ता भवति। अत एव जीवः पूर्वं भोग्यत्वेनान्नं भवति, पश्चादन्नादो भवति। परमरसमयस्य भगवद्रूपस्यान्नस्य भोक्तृत्वाद् ब्रह्मविद्वरिष्ठोऽन्नादो भवति, 'आत्मरतिः, आत्मक्रीडः, आत्ममिथुनः' इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अत्र दयानन्दः—'अहमन्नाद्याय भूम्ना विभुना द्यौरिव वरिम्णा श्रेष्ठगुणसमूहेन पृथिवीव तेऽस्याः प्रत्यक्षायास्तस्या अप्रत्यक्षाया अन्तरिक्षलोकस्थाया देवयजनि देवयजन्याः पृथिवि पृथिव्याः पृष्ठे पृष्ठोपरि भूर्भुवःस्वर्लोकान्तर्गतमन्नादमग्निमादधे स्थापयामि' (पृ० २३४) इति, तदपि यत्किञ्चित्, निराधारत्वात्। यतो भूम्ना विभुना इति व्याख्यानं प्रमाणसापेक्षम्, तथैते इत्यस्य अस्याः प्रत्यक्षायास्तस्या अप्रत्यक्षाया इत्यर्थोऽपि निर्मूलः। तादृशव्यत्यासाङ्गीकारे नास्तिकवादस्यापि मन्त्राक्षरैः साधयितुं शक्यत्वात्। सम्बोधनरूपस्य देवयजनिशब्दस्य षष्ठ्यन्तेन विपरिणामोऽपि निर्मूल एव। हिन्दीव्याख्याने तु—'अहं भक्षणयोग्याय अन्नाय ऐश्वर्येण आकाशे सूर्यमिव उत्तमगुणैर्विस्तृतभूमितुल्यं ते अस्याः प्रत्यक्षायाः ते तस्या आकाशयुक्तलोकस्थाया अप्रत्यक्षाया वा देवयजन्या भूमेः पृष्ठोपरि भूम्यन्तरिक्षसूर्यलोकेषु अन्नादं यवान्नादिभक्षकमग्निं स्थापयामि' इति, तत्रेदं पृष्टो व्याचष्टाम्—भूर्भुवःस्वरिति पदैस्तत्रत्योऽग्निः कथं बोध्यते? अन्तरिक्षलोकस्था पृथिवी भवति, तत्र चाग्निस्थापनं कथं केन क्रियते? यदि भूरादिष्वग्नेः स्थापनमिष्टं तदा प्रत्यक्षाया अप्रत्यक्षायाश्च भूमेः पृष्ठ इत्याद्युक्तिर्व्यर्थैव स्यात्। किञ्च, को वाऽनेनार्थः सिद्ध्यति? कश्चाभिप्रायः? इति तु सामाजिका एव जानन्तु। एवं व्यत्ययबाहुल्याङ्गीकारेऽपि न किञ्चित् सिद्ध्यति। हे मनुष्याः! यूयमीश्वरेण रचित-त्रैलोक्योपकारकं स्वव्याप्त्या सूर्यप्रकाशसदृशं श्रेष्ठैर्गुणैः पृथिवीसमानं स्वस्वलोके सन्निहितमिममग्निं कार्यसिद्ध्यर्थं प्रयत्नेनोपयोजयतेति भावार्थोऽपि तथाविध एव।

स्वामी दयानन्द ने निराधार ही व्याख्या की है। व्यत्यास का आश्रय कर नास्तिकवाद को भी सूचित किया

शतपथे तु 'भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत, भुव इत्यन्तरिक्षम्, स्वरिति दिवमेतावद्वा इद७ँ सर्वं यावदिमे लोकाः सर्वेणैवाधीयते' (श० २।१।४।११)। अत्र व्याहृतीनां सत्यरूपत्वोपपत्तिपूर्वकं प्रशंसनम्। सृष्टिसमये प्रजापतिर्भूरिति व्याहृत्य इमां भूमिमजनयत्। भुव इत्यनयाऽन्तरिक्षम्। स्वरिति दिवम्। 'भूरिति ब्रह्म। भुव इति क्षत्रम्। स्वरिति विशम्' (श० २।१।४।१२), 'भूरित्यात्मानम्। भुव इति प्रजाः। स्वरिति पशून्' (श० २।१।४।१३)। एवं साधारण्येन व्याहृतीनामाधानसाधनत्वमुक्त्वा गार्हपत्याधाने –'स वै भूर्भुव इत्येतावतैव गार्हपत्यमादधाति' इत्युक्त्वा तिसृभिर्व्याहृतिभिर्गार्हपत्याधाने आहवनीयाधानस्य मन्त्रो न स्यादतः सुवरिति द्वे अक्षरे परिशेषयेत्। तेन परिशिष्टाक्षरद्वयसहितानि भूरादीन्ययातयामानि भवन्ति। तैः पञ्चभिराहवनीयमादधाति। 'भूर्भुवःस्वरिति तान्यष्टाक्षराणि सम्पद्यन्ते। अष्टाक्षरा वै गायत्री। गायत्रमग्नेश्छन्दः। स्वेनैवैनमेतच्छन्दसाधत्ते' (श० २।१।४।१४)। भूर्भुव इति त्र्यक्षरैर्गार्हपत्यस्य भूर्भुवःसुवरिति पञ्चाक्षरैराहवनीयस्याधानादग्नेरष्टाक्षरत्वं सम्पद्यत इत्यर्थः। 'त्रिभिरक्षरैर्गार्हपत्यमादधाति, पञ्चभिराहवनीयम्। अष्टौ सम्पद्यन्ते' इति वित्तिरिश्रुतेः।

तत्राग्निमन्थनसमये पूर्ववाटः प्रथमवयस्कस्याश्वस्य पुरस्ताद्धारणं तदभावेऽनड्डुहो धारणमुक्तं (१६–१७) कण्डिकयोः। आहवनीयदेशं प्रत्यग्नेर्हरणसमयेऽश्वस्यापि पुरस्तान्निधानं विहितम्। 'तं यत्र प्राञ्च७ँ हरन्ति तत्पुरस्तादश्वं नयन्ति' (श० २।१।४।१८)। ततोऽग्नेर्यज्ञरूपत्वेन प्रत्यगावर्तनं प्रतिपाद्य प्राणात्मकत्वेन प्रत्यङ्ङाभिमुख्येनोपवर्तनमुक्तम्। वाय्वात्मकमग्निं प्राणरूपतया स्तुत्वा आहवनीयायतने सम्भारान्निधाय दक्षिणपूर्वपादेनाश्वं प्राञ्चं नीत्वा तं पुनरावर्तयति आवृत्य स्थापयति, अनन्तरं तमश्वम् उदञ्चम् उदङ्मुखं प्रमुञ्चति। तदुक्तं कात्यायनेन –'सम्भारानधिष्ठाय दक्षिणपूर्वपादेन प्राञ्चं नीत्वाऽऽवर्त्य स्थापयति' (का० श्रौ० ४।९।१०)। पुनरावर्तनस्य प्रयोजनमाह –'नेदस्मादिदं पराग्वीर्यमसदिति तस्मात् पुनरावर्तयति' (श० २।१।४।२३)। अश्वलक्षणं यद्वीर्यं नेत् नैव अस्मात्पराग्भूतं भवेदित्यभिप्रायेण तस्याश्वस्य पुनरावर्तनं कार्यम्। 'तमश्वस्य पद आधत्ते। वीर्यं वा अश्वो वीर्य एवैनमेतदाधत्ते। तस्मादश्वस्य पद आधत्ते' (श० २।१।४।२४)। तत्र प्रथममश्वस्य पदमग्निना तूष्णीमुपस्पृशति। तमग्निमुद्यम्य पुनरप्युपस्पृशति। एवं द्विरुपस्पृश्य तृतीयेनोपस्पर्शनेन व्याहृतिभिस्तमग्निं तस्मिन् पदे स्थापयति। तत्र पक्षान्तरमपि (२६–२७) कण्डिकयोरुपन्यस्तम्। कात्यायनेनापि 'अग्निना पदं द्विरुपस्पृश्य तृतीयेनादधाति द्वितीयेन प्रथमेन वा भूर्भुवः स्वरिति' (का० श्रौ० ४।९।११)।

'अथ पुरस्तात् परीत्य पूर्वार्धमुल्मुकानामभिपद्य जपति द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णेति यथासौ द्यौर्बह्वी नक्षत्रैरेवं बहुर्भूयासमित्येवैतदाह। यदाह द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णेति। यथेयं पृथिव्युर्व्येवमुरुर्भूयासमित्येवैतदाह तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठ इत्यस्यै ह्येनं पृष्ठ आधत्तेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादध इत्यन्नादोऽग्निरन्नादो भूयासमित्येवैतदाह सैषाशीरेव स यदि कामयेत जपेदेतद्य उ कामयेतापि नाद्रियेत' (श० २।१।४।२८)। आहितस्याग्नेः पूर्वभागस्थमुल्मुकमन्वारभ्य द्यौरिवेति मन्त्रस्य जपं विधत्ते—अथ पुरस्तादिति। मन्त्रतात्पर्यमाह–बहुभिर्नक्षत्रैर्यथासौ द्यौर्बह्वी बहुत्वोपेता, एवमहमपि पुत्रपौत्रादिबहुत्वेन बहुर्भूयासमिति द्यौरिव भूम्नेति भागस्यार्थः। पृथिवीत्यादिकमनूद्य तात्पर्यमाह –यथेति। यथेयमुर्वी विस्तीर्णा एवमहमपि वरिम्णा उरुत्वेन सुविस्तीर्णो भूयासमिति। भागान्तरमनूद्य व्याचष्टे –तस्यास्त इति। उरुत्वं प्रत्युपमानभूतायास्तस्यास्ते तव पृष्ठे उपरिभागे अग्निमादधे इति सम्बन्धः। अन्तिमं भागमनूद्य व्याचष्टे—अग्निमन्नादमिति। आहवनीयादि-

है। 'देवयजनि' इस सम्बोधन का षष्ठी विभक्ति में विपरिणाम कर दिया है, जो निर्मूल है। शतपथ के विरुद्ध होने से दयानन्दीय व्याख्यान उचित नहीं है।

रूपेण जाठररूपेण च हविर्लक्षणं तद्विलक्षणं च सर्वमन्नमत्तीत्यन्नादोऽग्निः। एवमन्नादशब्देनाग्नेर्विशेषणादहमप्यन्नादो भूयासमिति तात्पर्यम्। एषा मन्त्रात्मिका आशीः फलप्रार्थनमेव, अतः सत्यां कामनायां मन्त्रजपः। कामनाभावे तु नाद्रियेत जपमपि। इति शतपथीयं व्याख्यानं न मनागपि स्पृशति दयानन्दीयं व्याख्यानम्।

यत्तु—'या त्वं भूम्ना ज्योतिर्बाहुल्येन द्यौरिव स्वर्गतुल्या वरिम्णा उरुत्वेन पृथिवीव तथा भूर्भुवःस्वरिति त्रैलोक्यरूपासि। हे देवयजनि! देवो विष्णुरिज्यते यस्यां सा देवयजनी तत्सम्बुद्धौ। पृथिवि हार्दभूमे! तस्यास्ते पृष्ठे उपरि अन्नादं हुतस्यात्तारमात्माग्निमन्नाद्याय प्राणेन्द्रियरूपस्यान्नस्याद्याय भक्षणाय प्रत्याहारद्वारा त्वयि योजनाय वशीकरणाय वा आदधे ध्यानेन स्थापयामि' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, हार्दभूमेस्तथात्वे मानाभावात्। पुण्डरीकाकारस्य मांसपिण्डस्य तत्स्थाया बुद्धेर्वा बुद्ध्यभिव्यक्तस्य ब्रह्मणो वा हार्दभूमिपदेन ग्रहणं कर्तुं शक्यम्। तत्र नान्त्यः पक्षः संभवति, तस्य तत्रोपास्यत्वेन वर्ण्यमानत्वात्। नाद्यौ, तयोः परिच्छिन्नत्वेन त्रैलोक्यरूपत्वासम्भवात्। तत्र बुद्धौ नान्नादो ध्येयस्तस्य भोक्तुर्जीवत्वेन ध्यातृत्वात्। ध्येयस्तु परमात्मा यो 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इति प्रतिपाद्यः।

एवं 'स्वसुते नरकासुरे निहते स्वपौत्रस्य भगदत्तस्यानिष्टमाशङ्कमाना त्रस्तहृदया पृथिवी भगवन्तं कृष्णं स्तौति भूरिति', अत्रार्थे मूलं चिन्त्यम्। 'भूः स न सत्यः। भुवः भानेर्डुवसि पृषोदरादित्वात् साधुः। स्वप्रकाशचिदात्मन् सुष्ठु शोभनकर्मानुष्ठानेनार्यते गम्यत इति स्वः सुखमानन्दः। निरतिशयानन्दात्मन्' इति तु न विरुद्धम्, व्याहृतीनां भगवति पर्यवसानस्याविरुद्धत्वात्। 'वसुधेव वरिम्णा महत्त्वेन युक्तोऽसि। सहिष्णुः बहुपरिवारो विशालहृदयश्च त्वमस्माकमपराधं क्षन्तुमर्हसि' इति कृष्णस्य संबोध्यत्वे न विरुद्धमेतत्, तथापि तच्चिन्त्यमेव, मूलानुद्धरणात्। 'पृथिवि देवयजनि' इति सम्बन्धनं यद्यपि निर्विवादम्, तथापि सम्बोधयिता विप्रतिपन्न एव। तेन मातुरनुहर्त्रा भाव्यम्, तावदास्तां देवानुग्रहः। अयं तु विश्ववन्द्याया देवराजमातुः कुण्डले, अपि च भूयसां भूभुजां कुमारिका अपजहारेत्यादिकम्, तथा तत्सुतेनेत्यादिकमपि वेदाक्षरबाह्यमेव। 'एष भगदत्तस्तव पौत्रस्तवानुरोधादुन्नते राजसिंहासनेऽग्निं तद्वत्तेजस्विनम्, अन्नादम् अन्नं पृथिवी तस्य भोक्तारं भूभुजं राजानम्, अन्नाद्याय चिरं विविधराज्यवैभवोपभोगाय आदधे यथाविधि राज्याभिषेकेणास्य जनपदस्य स्वामिनं शासकं करोमि' इत्ययमर्थो यद्यपि दयानन्दीयव्याख्यानात् साधुतरस्तथापि तद्वदेव वेदाक्षराद् दूरमेव। ते पृष्ठे इत्यनयोः पदयोर्यथाश्रुतं सम्बन्धमपहाय तवानुरोधात् पृष्ठे पृष्ठवदुन्नते राज्यसिंहासन इत्यर्थकल्पनं श्रद्धातिरेकमूलकमेव। सिद्धान्तपक्षे तु श्रुतिसूत्रादिभिः संबोध्यसम्बोधयितृभेदो ज्ञायते। तदनुसारेणार्थभेदोऽपि युक्त एव। प्रकृते तु काल्पनिकमेव सर्वम्॥ ५॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ ६॥

सार्पराज्ञ्या आर्षम्। गायत्र्यस्तृच आहवनीयाग्न्युपस्थाने विनियुक्ताः। 'आयं गौरिति चोपतिष्ठते सर्पराज्ञीभिर्दक्षिणाग्निमादधाति' (का० श्रौ० ४।९।१३-१४)। आयं गौरित्यादीनां तिसृणामृचां सर्पराज्ञ्या

किसी ने और भी व्याख्या की, किन्तु वह भी काल्पनिक होने से सिद्धान्त में ग्रहण करने योग्य नहीं है॥ ३-५॥

मन्त्रार्थ—यज्ञसिद्धि के लिये भिन्न-भिन्न यजमानों के घर जाने वाले और लोहित, शुक्ल प्रभृति वर्णों की ज्वालाओं से युक्त अग्नि ने आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के स्थानों पर आरोहण किया। पूर्व दिशा में आहवनीय-

कद्र्वा दृष्टत्वात् सार्पराज्ञीति नामधेयम् । पृथिव्यभिमानिनी वा कद्रूः सर्पराज्ञी, ताभिर्दक्षिणाग्निमादधातीति सूत्रार्थः । परापररूपेणाग्निरत्र स्तूयते । अयं दृश्यमानोऽग्निः, गौः गच्छतीति गौः । यज्ञनिष्पत्तये तत्तद्यजमान-गृहेषु गन्ता । पृश्निश्चित्रवर्णः । लोहितशुक्लकृष्णादिबहुविधज्वालत्वात् स तथाविधोऽग्निः, आसमन्ताद् आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्निस्थानेषु । अक्रमीत् पादविक्षेपं कृतवान् । तदेव स्पष्टयति पुरः प्राच्यां दिशि मातरं पृथिवीम्, आसदद् आसीदत् प्राच्यामाहवनीयरूपेण प्राप्तः । तथा स्वः प्रयन् आदित्यरूपेण स्वर्गे सञ्चरन् पितरं द्युलोकमसदत् प्राप्तवान् । 'स्वः सूर्यः' (निघ० १।४।१) द्यौः पिता पृथिवी माता इत्यत्रापि द्यावापृथिव्योः मातापितृत्वोक्तिः ।

दयानन्दस्त्वनेन मन्त्रेण पृथिव्या भ्रमणं साधयति । तथा च तदक्षराणि—'मनुष्यैर्यस्मात् जलाग्निनिमित्तो-त्पन्नोऽयं भूगोलोऽन्तरिक्षे स्वकक्ष्यायामाकर्षणेन रक्षकस्य सूर्यस्याभितः प्रतिक्षणं भ्रमति, तस्मादहोरात्रशुक्ल-कृष्णपक्षर्त्वयनादयः कालविभागाः क्रमशः सम्भवन्तीति वेद्यम्' (पृ० २३७-२३९) इति, तच्चासङ्गतमेव, मन्त्रस्यास्याहवनीयाग्न्युपस्थाने विनियुक्तत्वेन तद्विरोधात् ।

सूर्यसिद्धान्तादिरीत्या पृथिवी तु स्थिरैव । 'मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति । बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम् ॥' (सू० सि० १२।३२) अत्र भूमेः स्थितिरेवोक्ता न तु गतिः । यत्तु केनचित् 'भ्राम्यन्नवस्थितो भूगोलः' इत्युक्तम्, तत्तु स्वकपोलकल्पितमेव, तिष्ठतेर्गतिनिवृत्त्यर्थत्वात् । यत्तु—'सव्यं भ्रमति देवानामपसव्यं सुरद्विषाम् । उपरिष्टाद् भगोलोऽयं·····' (सू० सि० १२।५५) इति पद्येन भूगोलस्य भ्रमणसाधनप्रयत्नस्तत्तुच्छम्, भगोलशब्दस्य भूगोलार्थकत्वे मानाभावात्, भगोलशब्देन (नक्षत्रगोलस्य) खगोलस्यैव विवक्षितत्वात् । भास्कराचार्योऽपि भुवनकोशनिरूपणे—'मरुच्चलो भूरचला स्वभावतः' इत्याह । भूमेः पिण्डः·········· नान्याधारः··········स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठति । 'अचला' 'स्थिरा' इत्यमरकोषेऽपि (२।१।१) । निघण्टुग्रन्थे पृथिव्या गौरिति नाम पठितम् । तथापि तत्र यास्केन न गच्छतीति निर्वचनं कृतम्, किन्तु दूरं गता इत्यर्थः कृतः । गच्छतीति व्युत्पत्त्या गौरिति सूर्यं इत्युक्तम् (नि० २।१४) । पृथिव्यर्थके गोशब्दे गम्यतेऽथवा गम्यतेऽनयेति व्युत्पत्तिरुक्ता । वेदेऽपि—'अस्थात् पृथिवी' (अथर्ववेदसंहिता ६।४४।१०), 'ध्रुवा पृथिवी' (अ० वे० ६।८९।१), 'तस्थतुः' (द्यावापृथिव्यौ), (ऋ० सं० ४।५६।२), 'द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः' (ऋ० सं० १०।८।२) इत्यादिमन्त्रेषु पृथिव्याः स्थिरतैवोक्ता । यच्च ऋग्वेदभाष्यभूमिकायां व्याख्या कृता सा त्वशुद्धैव । यतो हि—आयं गौः पृश्निरक्रमीदिति मन्त्रस्य न पृथिवीदेवतेति कुतः पृथिवीपरत्वमस्य मन्त्रस्य ? अजमेरीयतद्यन्त्रालयमुद्रितायां यजुःसंहितायामग्निर्देवतोक्ता । तदीयायामृग्वेद-संहितायां सूर्यदेवतोक्ता । 'यस्य मन्त्रस्य या देवता तेन सैव स्तूयते' (नि० ७।१) इति नैरुक्तप्रक्रियया नास्मिन् मन्त्रे पृथिवीवर्णनं सङ्गच्छते । किञ्च, पृथिवीवाचको गोशब्दः स्त्रीलिङ्गः । तेनात्र 'अयं गौः' इति पुल्लिङ्गनिर्देशो न सम्भवति । भूगोलपरत्वेऽपि गोशब्दः पृथिवीवाचकः स्त्रीलिङ्ग एव भवति । प्रकृतमन्त्रे गोशब्दस्य विशेषणं पृश्निशब्दस्तस्मात् सूर्य एवार्थः । निरुक्ताच्च गोशब्दस्य सूर्य एवार्थः । तथाहि—'गौरादित्यो भवति, गच्छत्यन्तरिक्षे' (नि० २।१४) । एवमेव पृश्निशब्दोऽपि सूर्यपर एव न पृथिव्यर्थकः, 'पृश्निरादित्यो भवति, प्राश्नुवते एनं वर्णाः' (नि० २।४) इति निरुक्तात् ।

रूप से पृथिवी पर बैठा, तथैव आदित्य रूप से स्वर्ग में संचार करने वाला यह पितृभूत द्युलोक के प्रति भी प्राप्त हुआ । 'आयं गौः' इत्यादि तीन मन्त्रों से आहवनीय का उपस्थान करे, तदनन्तर दक्षिणाग्नि का आधान करे ॥ ६ ॥

यत्तु दयानन्देन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां गौरितिशब्दस्य विशेषणभूतमपि पृश्निशब्दं प्रथमान्तं सन्तमपि द्वितीयान्तत्वेन विपरिणमय्य पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमणं कुर्वन्नित्युक्तम्, तत्तु तस्य स्वाच्छन्द्यमेव, प्रमाणशून्यत्वात्। पुनश्च स्वः सूर्यं पितरं पुरः पूर्वं सूर्यस्य परितो यातीति तेनैव प्रक्षिप्तमित्युक्तम्। तत्र पूर्वमित्यस्य परितः कथमर्थः ? तेन तदीयो वेदार्थः श्रुतिबलात्कार एवेति मन्तव्यम्। वस्तुतस्तु पाश्चात्यमतमेव तेन वेदार्थत्वेन प्रख्यापितमिति वैदिकम्मन्याः सामाजिका विचारयन्तु। मन्त्रेऽस्मिन् गौरितिपदस्य पृथिव्यर्थकत्वे मातरं पितरं स्वरिति त्रीण्यपि पदान्यसम्बद्धानि स्युः। तस्मान्मातरं पृथिवीं पितरं द्युलोकमित्यर्थ एव सङ्गतः, 'द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता' (अ० वे० ३।२८।४), 'भूमिर्माता…… द्यौर्नः पिता…' (अ० वे० ६।१२०।२), 'द्यौष्पितः पृथिवि मातः' (अ० वे० ६।४।१।५), 'द्यौर्नः पिता माता पृथिवी' (अ० वे० ९।१५।१२) इत्यादिमन्त्रेभ्यः। तथा च गौर्गमनशीलः पृश्निः प्राप्तवर्णो व्याप्ततेजा अयं सूर्यः, अक्रमीत् आक्रान्तवान्। आक्रम्य पुरः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि परिदृश्यमानः, मातरं सर्वभूतजनयित्रीम्, असदद् व्याप्नोत्। ततः पितरं वृष्टिलक्षणस्य रेतसो निषेकेण सर्वस्य प्रपञ्चस्य जनकं स्वः स्वर्गलोकं चकारादन्तरिक्षं च प्रयन् गच्छन् स (सूर्यः) एव वृष्ट्युदकलक्षणस्यामृतस्य दोहनाद् गौः (अथर्ववेदसंहिता ६।३१।१, ऋ० सं० १०।१८९।१) इति सायणसम्मत एवार्थो युक्तः। एतेन सूर्यस्य भ्रमणं सिद्धयति न पृथिव्याः। अन्यार्थकत्वे क्लिष्टकल्पना श्रुतिबलात्कार एव।

यत्तु जिज्ञासुना ब्रह्मदत्तेन दयानन्दभाष्यविवरणे उक्तम्—'आयं गौरित्यत्र गौरित्यस्य दयानन्दीयभाष्ये गौरिति पृथिवीनामसु पठितम्, गौरिति पृथिव्या नामधेयम्, यद्दूरं गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति' (नि० २।५) इत्यादिरीत्या पृथिव्या भ्रमणं प्रतिपादितम्। तत्र मया प्रबलः पूर्वपक्ष उत्थापितः। 'आदित्योऽपि गौरुच्यते' (नि० २।१४), अतः सूर्यः कथं न गौः ? सायणाचार्यैरपि गौरित्यस्य सूर्य एवार्थः कृतः। एवं पूर्वं पूर्वपक्षमुत्थापने व्याकुलता वृद्धिंगता। अन्ते 'वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता' (अथर्ववेदसंहिता १२।१।५२) इत्यथर्ववेदमन्त्रेण समाधानं जातम्। तदर्थस्तु 'वर्षेण कालेन भूमिः स्वभूमिचक्रं पूरयति' इति, तदपि श्रद्धाजाड्यविजृम्भितमेव, दयानन्दीयार्थपोषणायैव श्रुतिविरुद्धार्थस्य तेनाङ्गीकृतत्वात्। यास्करीत्या पृथिवीवाचकस्य गोशब्दस्य गत्यर्थता यास्केन क्वापि नोक्ता। वैदिकैरेव वचनैः सूर्यस्य गतिः स्थैर्यं च पृथिव्या उक्तमेव। उद्धृतस्य वर्षेण भूमिरित्यथर्वमन्त्रस्यापि न तदभिमतोऽर्थः, तत्र वर्षशब्दस्य वृष्टिबोधकत्वात्। पृथिवी वर्षेण वृष्ट्यावृता युक्ता भूमिः, आवृता आच्छन्ना च भवति। वर्षाशब्दः स्त्रीलिङ्गः। बहुवचने वर्षाशब्द ऋतुवाचको भवति। वर्षं वर्षणमत्रास्तीति अर्शआद्यचि टापि वर्षाशब्दो निष्पद्यते। नपुंसकलिङ्गो वर्षशब्दो वृष्टिवाचको भवति, 'वृष्टिर्वर्षम्' (२।२) इत्यमरकोषात्, 'वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीम्' (नि० २।५) इति निरुक्तवचनाच्च, 'मयादीनामुपसंख्यानं नपुंसके क्तादिनिवृत्त्यर्थम्' (पा० सू० ३।३।५६) इति वार्त्तिकात्। मन्त्रस्य पूर्वार्धे यस्यां भूम्यामहोरात्रे संहिते क्रमश आगच्छतः, तस्माद् वर्षपदस्य संवत्सरः काल इत्यर्थस्तु सर्वथा भ्रान्तिमूलक एव। निरुक्तादिषु नायमर्थः कृतः। 'गता' 'आवृता' इत्यनयोर्गच्छति प्रत्यागच्छति चेत्यर्थो निराधार एव। ग्रहनक्षत्रादयः स्वगत्या पश्चिमायाः पूर्वस्यां दिशि यान्ति, तथापि प्रवह परिवहवायुप्रवाहात् पूर्वस्या दिशः प्रतीच्यां यान्तीव प्रतीयन्ते। योगभाष्ये ३।२६, सूर्यसिद्धान्ते १२।७३

भाष्यसार—'आयं गौः' इत्यादि तीन ऋचाओं की संज्ञा 'सार्पराज्ञी' है, क्योंकि सर्पराज्ञी कद्रू के द्वारा वे दृष्ट हैं। शेष अर्थ भावार्थ से कृतार्थ है।

यश्चैव महत्याः पृथिव्या आकाशे[1] उत्पतनमङ्गीकरोति, स पुराणोक्तं पर्वतोत्पतनं कथं न मन्यत इत्यपि वक्तव्यम् ?

यत्तूक्तम्–'सूर्योऽयं पृथिव्यास्त्रयोदशलक्षगुणादप्यधिको वर्तते, स कथं पृथिवीभ्रमणं कर्तुं पारयेत् ? न चातिबृहतः कस्यचित्पदार्थस्यातिलघोः परिक्रमणं युक्तम्' (पृ० २३७ टि०) इति, तत्तु मूढजनजल्पितम्। दृश्यते हि हस्त्यारोहो हस्तिना लघुभूतस्य तुलसीवृक्षस्य परिक्रमणं कुर्वन्। यदुक्तम्—'प्रजा ह तिस्रोऽत्याय-मीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे। बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश ॥' (ऋ० सं० ८।१०१।१४) इति भुवनेष्वन्तः सूर्यस्य स्थितिः पृथिव्यादीनां परितो भ्रमणं च सिद्धयति' (पृ० २३८ टि०) इति, तत्तुच्छम्, मन्त्रार्थानवबोधात्। अस्य मन्त्रस्य सायणसम्मतोऽर्थो यथा—यास्तिस्रः प्रजाः अत्यायमीयुः अत्यायमायन्, अन्यास्ता इमाः प्रजा अर्कम् अर्चनीयमग्निम् अभितो विविश्रे अभितो निविष्टास्ततो न पराबभूवुः। भुवनेष्वन्तः मध्ये बृहत् महानसावादित्यः, प्रजापतिरित्येके। तस्थौ प्रकाशयन्नतिष्ठत्। हरितो दिशः पवमानो वायुः आविवेश आविष्टः। ऐतरेयब्राह्मणे व्याख्यातोऽयं मन्त्रः—'प्रजा ह तिस्रोऽत्यायमीयुरिति या वैता इमाः प्रजास्तिस्रो अत्यायायं-स्तानीमानि वयांसि वङ्गा वगधाश्चेरपरदाः न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे इति ता इमाः प्रजा अर्कमभितो निविष्टा इममेवाग्निम्। बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तरित्यद उ एव बृहद्भुवनेष्वन्तरसावादित्यः पवमानो हरित आविवेशेति वायुरेव पवमानो दिशो हरित आविष्टः' (ऐ० आ० २।१)। वाजसनेयिनोऽप्यामनन्ति—'स तपोऽतप्यत' इत्युपक्रम्य 'प्रजा ह तिस्रोऽत्यायमीयुरिति या अमूः प्रजा अत्यायन् न्यन्या अर्कमभितो विविश्र इत्यग्निर्वा अर्कः। तमिमाः प्रजा अभितो निविष्टास्ता इमाः पराभूताः। बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तरिति प्रजापति-मेवैतदभ्यनूक्तम्। पवमानो हरित आविवेशेति दिशो वै हरितस्तद्यदयं पवमान आविष्टः' (श० २।५।१।१–५)। तथा चानेन मन्त्रेण पृथिव्यादीनां गतिः सिद्धयतीत्यशुद्धमेव। सूर्यस्य तु गतिमतोऽपि भुवनेष्वेवावस्थानं सूर्यभ्रमणवादिभिरप्युपेयत एव। यथा गच्छन्त्यपि पिपीलिका चक्रेऽवतिष्ठते, तद्वत्।

यदपि—'या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः। सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥' (ऋ० सं० १०।६५।६) इत्यनेन मन्त्रेण पृथिवी स्वकीयमार्गे भ्रमन्ती सूर्यस्य परितो गच्छति' (पृ० २३८ टि०) इति, तदपि तुच्छम्, मन्त्रार्थानवबोधात्। मन्त्रार्थस्तु—या इयं मदीया पयः क्षीरादिकं दुहाना व्रतनीः आश्रयणपयःप्रदानेन कर्मणो नेत्री गौः निष्कृतं संस्कृतं वर्तनिम् आवासस्थानं यज्ञम् अवारतः अवरणेनैव अप्रार्थनेनैव पर्येति परिगच्छति स्वयमेवागच्छति प्रब्रुवाणा मया प्रस्तूयमाना सा गौः दाशुषे हविर्दत्तवते वरुणाय देवेभ्योऽन्येभ्य इन्द्रादिभ्यश्च हविषान्नेन विवस्वते देवान् परिचरते मह्यं मां परीक्षितुं दाशत् पयः प्रयच्छतु। यद्वा गौरिति माध्यमिका वाक्।

यत्तु—'अहस्ता यदपदी वर्धतक्षाः शचीभिर्वेद्यानां शुष्णं परि प्रदक्षिणित्। विश्वायवे निशिश्नथा ॥' (ऋ० सं० १०।२२।४)। अहं सूर्यतः अहस्ता हस्तरहिता अपदी पादरहिता शुष्णं सामर्थ्यशोषयितारं आदित्यं परि सर्वतः प्रदक्षिणित् प्रदक्षिणां करोति' (पृ० २३८ टि०) इति, तदपि निःसारम्, मन्त्रस्यान्यार्थत्वात्।

अध्यात्मपक्ष में—वह परब्रह्मरूप भगवान् श्रीकृष्ण, राम आदि के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए और सूर्य के रूप में द्युलोक को भी प्राप्त हुए। कृष्ण-पीत-रक्त त्रिविध रूपों को धारण करने वाले विष्णु अथवा कृष्ण ही हैं। वे सर्वत्र संचरण करते हैं।

---

१ अत्र भूमिकोक्तो भूभ्रमणशास्त्रार्थो द्रष्टव्यः।

ऐन्द्रसूक्तत्वादिन्द्र एवात्र सम्बोध्यः। हे इन्द्र यत् यदा सा भूमिः अहस्ता पाणिरहिता अपदी चरणवर्जिता अमनुष्यकर्मकेत्यर्थः, वेद्यानां स्तोत्रयोग्यानां त्वत्प्रभृतीनां देवानां सम्बन्धिभिः शचीभिः कर्मभिः वर्धत अवर्धत धनधान्यादिभिः समृद्धेत्यर्थः, तदा त्वं परि प्रदक्षिणित् एवंभूतां पृथिवीं परिवेष्ट्य प्रदक्षिणं यथा भवति तथा स्थितं शुष्णम् असुरं विश्वायवे तादर्थ्ये चतुर्थी सर्वत्राप्रतिहतगामिन एतदाख्यस्य औवंशेयराज्ञोऽर्थाय निशिश्नथः नितरां ताडितवानसि। यद्वा यदा शुष्णस्याच्छादनार्थं हस्तपादरहिता काचित् पृथिवी वेदितव्यानामसुराणां मायारूपैः कर्मभिः शुष्णमसुरं परिवेष्ट्य प्रदक्षिणं यथा भवति तथावस्थिताऽवर्धत तदानीं तां मायोत्पादितां विश्वायवे सर्वव्यापकस्य मरुद्गणस्य प्रवेशनार्थं निशिश्नथ इति। तस्मादनेन मन्त्रेण पृथिव्या भ्रमणसाधनं भ्रान्तिमूलकमेव।

यदपि च—'अहं पुरस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्। अह९७ सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्॥' (वा० सं० ८।९)। अहं सूर्यमुभयतः पश्यामि पूर्वं पश्चिमं वा ममैवैतद्दर्शनम्, न तु सूर्यः पूर्वं वा पश्चाद्वा गच्छतीति भावः' (पृ० २३८ टि०) इति, तदपि निःसारम्, मन्त्रार्थानवबोधात्। अत्र मन्त्रद्रष्टा स्वस्य सर्वगतपरमात्मरूपत्वमभिप्रेत्य वदति—अहं परमात्मरूपः स नः परस्तात् उपरि द्युलोकादौ तथाहमवस्तात् अधस्तात् तिष्ठामीति शेषः। यदन्तरिक्षं मध्यवर्तिलोकरूपमस्ति, तदु तदेव मे मम देहधारिणः पिता पितृवत् परिपालक भवति। अहं परमात्मरूपः सन्नुभयत उपरिष्टादधस्ताच्च स्थित्वा सूर्यं ददर्श पश्यामि। देवानामिन्द्रादीनां यत्परमं गुहा अत्यन्तं गोप्ये हृदयेऽस्ति, तदेवाहमस्मि।

'अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्। सकद्रीची कंस्विदर्धं परागात् क्वस्वित्सूते नहि यूथे अन्तः॥' (ऋ० सं० १।६४।१७)। इयं पृथिवी सूर्यादध ऊर्ध्वं दक्षिणमुत्तरतश्च गच्छति। अस्याः परेऽर्धे सदान्धकारः पूर्वेऽर्धे प्रकाशश्च वर्तते। मध्य सर्व पदार्था वर्तन्ते। सेयं पृथिवी जननीव सर्वान् पाति' (पृ० २३८ टि०) इति, तदपि कल्पनामात्रम्, मन्त्राक्षराननुगमात्। वस्तुतस्त्वत्राग्नौ हूयमानाहुतिर्गोरूपेण स्तूयते। गौः गोरूपा गमनशीला एषा आहुतिसंघेन पोष्यं वत्सं वत्सस्थानीयमग्निम् अवः अधस्तात् अधोदेशे परेण पदा पदद्वयेन स्वावयवेनाकृष्य बिभ्रती धारयन्ती। तथा परः परस्तात् उपरिदेशे एना अनेन अवरेण च पदा पादद्वयेन आकृष्य तमेव वत्सं बिभ्रती उदस्थात् सूर्यं प्रति तिष्ठति। तथा परः परस्तात् उपरिप्रदेशे एना एनेन 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते' (म० ३।७६), अथैवं कृतवती सा आहुतिः कद्रीची क्व गतेत्यनिश्चितगमना आदित्यं प्राप्तवतीत्यर्थः। कंस्वित् कं फलभाजं पुरुषं प्रति अर्धम् अर्धभागमागत्य यद्वा अर्धमृद्धं परागात् परागाच्छति, आगत्य च क्वस्वित् सूते कुत्र प्रदेशे फलमुत्पादयति ? नहीतरगोवदियं यूथे अन्तःसजातीयगोमध्ये सूते साधारण्येन यत्र क्वचिन्न सूते, अपि तु कस्मिंश्चिदनुष्ठातरि। अतः स महान् को नु खल्विति। यद्वा आदित्यरश्मिसमूह एव गोरूपेण स्तूयते। गौरुक्तलक्षणा गौः, वत्सं वत्सवद्रक्षणीयं यजमानम्, उक्तक्रमेण बिभ्रती उदस्थात्। अथ तथा कृत्वा कद्रीची अदृश्यगमना सती कंस्वित् अर्धं समृद्धमर्धस्थानभाजं वा कंस्वित्पुरुषम् आदित्यपुरुषम् आदित्यं परागात्। अप्रतिनिवृत्ता गता तं नयन्त्येताः सूर्यरश्मयो 'यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः' (मु० उ० १।२।५)। तथा कृत्वा क्वचित्सूते कस्मिन्निन्द्रादिलोके जनयति न सर्वत्र। शिष्टं समानम्।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या में पृथिवी का भ्रमण सिद्ध किया है। किन्तु यह प्रकरण विरुद्ध है, क्योंकि इस मन्त्र का विनियोग आहवनीयाग्नि के उपस्थान में किया गया है। सूर्यसिद्धान्त की रीति से पृथिवी को

यत्तु--'अवर्तयन् सूर्यो न चक्रम्' (ऋ० सं० २।११।२०) यथा सूर्यश्चक्रं वर्तयति सामर्थ्यात् पृथिव्या न चक्रं करोति, अपि तु भूचक्रं निर्वर्तयतीति स्पष्टम्' (पृ० २३८ टि०) इति, तदपि कुशकाशावलम्बनम्, प्रकरणविरुद्धत्वात् । तथाहि समस्तमन्त्रः—'अस्य सुवानस्य मन्दिनस्त्रितस्य न्यर्बुदं वावृधानो अस्तः। अवर्तयत् सूर्यो न चक्रं भिनद् बलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान् ॥' (ऋ० सं० २।११।२०) । मन्दिनः अस्य मदकरमिमं सुवानस्य सुतवतः त्रितस्य तीर्णतमस्कस्य महर्षेरर्थं वावृधानः सोमेन वर्धमान इन्द्रः अर्बुदं अम्बूनि ददातीत्यर्बुदो मेघः। अनुस्वारस्य रेफश्छान्दसः। यद्वा नामैतत् अर्बुदाख्यमसुरं नि अस्तः नितरामवधीत्। स्तृ हिंसायाम्। लिङि तिपि बहुलं छन्दसि विकरणस्य लुक्। गुणे कृते हल्ङ्यादिना तिलोपः, 'महान्तं चिदर्बुदं निक्रमीः पदा' (ऋ० सं० १।५१।६) इत्यादिष्वर्बुदवधश्रवणात् । अङ्गिरस्वान् अङ्गिरोभिः सहित इन्द्रः अवर्तयत् असुरहननार्थं वज्रमभ्रामयत् । सूर्यो न यथा सूर्यः चक्रं भ्रामयति तद्वत् । नात्र सूर्यकर्तृकं पृथिवीभ्रामणमुक्तम् । यद्वा यस्मादसुराद्भिया सूर्यः स्वकीयं चक्रं नावर्तयद् इति निषेधार्थको नकारः। वर्तयितुं नाशकत् तं बलं पणीनां प्रभुमसुरं भिनद् वज्रेण अभिनत् ।

यदपि च—'स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वाऽथात्मान विपर्यस्यते। रात्रीमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरवतन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात्। स वा एष न कदाचिन्निम्लोचति' (ऐ० ब्रा० अध्याय १४, खण्ड ६) इति ब्राह्मणेन यत्सूर्यो गच्छन्निव प्रतिभाति, वस्तुतस्तु न सूर्यं उदेति न च कदाचिदस्तं याति, भ्रमवशादेव जनाः सूर्यो गच्छतीति मन्यन्ते' (पृ० २३८-२३९ टि०) इति, तदत्यज्ञानविजृम्भितम्, 'स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेवाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता' (छा० उ० ३।६।४) इति, छान्दोग्योपनिषदि, 'स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणां तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता' (छा० उ० ३।७।४), 'यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत् पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेतादित्यानां तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता' (छा० उ० ३।८।४), 'स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरतः उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यं करोति (छा० उ० ३।९।४), 'स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्व उदेता अवाङ् अस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यं करोति' (छा० ३।१०।४) इत्यादिविरोधात्। नहि भ्रान्तिमूलकस्योदयादेर्वर्णनं सम्भवति, अपौरुषेयश्रुतौ त्वत्कल्पनायोगात्, त्वद्रीत्याप्यार्षत्वाभ्युपगमाच्च ।

'अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेता एकल एव मध्ये स्थाता' (छा० ३।११।१), 'तदेष श्लोको भवति—न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणा' (छा० ३।११।२), 'न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' (छा० ३।११।३)। अत्र शङ्करभगवत्पादाः—'उदयश्च नाम सवितुस्तन्निवासिनां प्राणिनां चक्षुर्गोचरतापत्तिः। तदत्ययश्चास्तगमनम्। न परमार्थे उदयास्तमये स्तः' ।

'स्थिर' ही माना गया है। अत एव उसको 'अचला' नाम दिया गया है। अतः महीधर-उव्वट-सायणादि भाष्यकारों का अर्थ ही उचित है। एवं च 'सूर्य' का ही भ्रमण सिद्ध होता है, पृथिवी का नहीं। वेद भगवान् स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं—हिरण्मयेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्' इति ॥ ६ ॥

तन्निवासिनां च प्राणिनामभावे तान् प्रति तेनैव मार्गेण गच्छन्नपि नैवोदेता नास्तमेता चक्षुर्गोचरतापत्तेस्तदत्ययस्य चाभावात् । तथा चामरावत्याः सकाशाद् द्विगुणं कालं संयमिनीं पुरीं वसत्यतस्तन्निवासिनां प्राणिनां दक्षिण इवोदेतोत्तरतोऽस्तमेतेत्युच्यतेऽस्मद्बुद्धिमपेक्ष्य । तथोत्तरास्वपि पुरीषु योजना । सर्वेषां मेरुरुत्तरतो भवति । यदाऽमरावत्यां मध्याह्नगतः सविता तदा संयमिन्यामुद्यन् दृश्यते, तथोत्तरस्यां प्रदक्षिणावृत्तेस्तुल्यत्वात् । तत्रैवानन्दगिरिः—'यैर्यत्र दृश्यते भास्वान् स तेषामुदयः स्मृतः । तिरोभावं च यत्रैति तदेवास्तमनं रवेः ॥ नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः । उदयास्तमने नाम दर्शनादर्शने रवेः ॥' अमरावत्यादिपुरीषु पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरत्रोद्वासकालद्वैगुण्यमस्तु, स्तां च दर्शनादर्शने सवितुरुदयास्तमयौ । 'स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति' इति श्रुतेर्वस्तुतो नोदयास्तमयौ स्तः । तथा च पुरीषु तुल्यत्वेन गच्छतः सवितुरुदयास्त-कालवैषम्यमप्युक्तमित्याशङ्क्याह—तन्निवासिनामिति । भोगकालद्वैगुण्यं न सवितृगतेराधिक्यापेक्षया श्रुत्योच्यते, येन पुराणविरोधः स्यात्, किन्त्वमरावत्यादीनां पुरीणां दैत्योपहतानां पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरपुरीणां द्विगुणेन कालेनोद्वासात्तदपेक्षयोत्तरोत्तरस्थानेषु भोगकाले द्वैगुण्यं श्रुत्योक्तम् । न चैतावता सूर्यस्योदयास्तमननिषेधेन तद्गमनागमननिषेधो भवति । ब्रह्मलोके तु भ्रमणेऽपि सदैव स्थित्या सदैवोदय एवेत्यादिकं तत्रैव कणेहत्यालोचनीयम् । गोपथब्राह्मणादीनामपि तदेव समाधानम् । आर्यसिद्धान्तपक्षीयखण्डनं तु पूर्वमेव कृतम् ।

कस्योपस्थानमिति प्रश्ने प्रकरणादग्निरेव ज्ञायते, अग्न्याधानस्यैव प्रकृतत्वात् । 'आयं गौः पृश्निरक्रमीदसद-न्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती । व्यख्यन् महिषो दिवम् ॥ त्रिꣳशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते । प्रतिवस्तो रह द्युभिरिति तद्यदेवास्यात्र सम्भारैर्वा नक्षत्रैर्वर्तुभिर्वाधानेन वानाप्तं भवति तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति तस्मात्सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठते' (श० २।१।४।२९) । सर्पणशीलानां प्राणिनां राज्ञी तत्सम्बन्धिनीभिर्ऋग्भिरग्निमुपतिष्ठत इति हरिस्वामी । अस्मिन्नाधाने सम्भारादिभिर्विकल्प-निमित्ते यदनाप्तम्, एतेनोपस्थानेन तत्सर्वमाप्यते, सर्पराज्ञ्याः सर्वाधिष्ठानभूतत्वात्, 'इयं वै सर्पराज्ञी । देवा वै सर्पास्तेषामियं राज्ञी' (ऐ० ब्रा० ५।४।४) इति श्रुतेः । एतेनासामृचां पृथिव्यधिष्ठात्री देवता, द्रष्ट्री देवता त्वग्निरेव । नहि पृथिव्या उपस्थानम्, तस्या अप्रकृतत्वात् । न च पृथिव्या उपस्थानेऽग्न्याधानसम्भारादिविकल्पेनानाप्तं वस्तु प्राप्तुं शक्यते । तस्माद् दयानन्दरीत्यापि तत्पक्षः खण्डितो भवति । तत्रैव—'तदाहुः । न सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठेतेतीयं वै सर्पराज्ञी स यदेवास्यामाधत्ते तत्सर्वान् कामानाप्नोति । तस्मान्न सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठेतेति' (श० २।१।४।३०) । तेषां पृथिव्यामाधानादेव सम्भारादीनां सर्वेषामवाप्तत्वात् तदवाप्तये सर्पराज्ञीभिरुपस्थानं न कार्यमिति । एतेनाप्यग्नीनामेवोपस्थानं विहितं पूर्वोक्तया कण्डिकया, उत्तरया तु पृथिव्यामेवाग्नीनामाधानात् सर्वप्राप्त्या तदनपेक्षोक्ता ।

यत्तु—'अयं पुरस्ताद्वर्तमानो गौर्वृषभः कपटबलीवर्दो वृषभासुरः पृश्निर्विचित्रवर्णो नीलवृषः, अक्रमीत् कृष्णमाक्रान्तवान् पुरः पूर्वं मातरं कृष्णजन्मभूमिं व्रजमसदत्, आ इत्यनुषङ्गः । किं कुर्वन् निशितशृङ्गो भीषणाकृति-र्व्रजवासिजनानात्रासयन् खुरैर्भुवमाघ्नन् खुरशृङ्गोत्खातरजःपुञ्जप्रक्षेपेण स्वः पितरं स्वर्गलोकं प्रयन् व्याप्नुवन् भगवता असौ दुर्वृत्तः शृङ्गं गृहीत्वा भुवि पातितो गतासुर्बभूव' इति, तद्भगवत्कथास्मारकत्वात् प्रशस्तं व्याख्यानम्, परं मन्त्राक्षरैर्नैतत्सङ्गतम्, क्रमणाक्रमणयोर्भेदात् । मातरं कृष्णजन्मभूमिं व्रजमिति न मनोरम्, यतो हि मातृभूमिस्तु मथुराभूमिः । ततस्तु स आगत आसीत् । यदि कुतश्चिदन्यत आगतः स्यात् तदा तु मथुरामण्ड-लान्तर्गतत्वाद् व्रजभूमिरपि मातृभूमिः स्यात् । पांसुप्रक्षेपेण न तस्य द्युलोकगमनं सिद्ध्यति । तद्वधस्तु सर्वथा मन्त्राक्षराद् बहिर्भूत एव । मन्त्रेण वृषभासुरस्वरूपमहत्त्ववर्णनं तद्वधस्यावर्णनं न्यूनतैव स्यात् ।

अथाध्यात्मिकोऽर्थः—अयं गौरग्न्यवच्छिन्नचेतनोपलक्षितः सर्वगतो वा पृश्निः शुक्लश्यामलोहितः शिवविष्णुब्रह्मरूपधारकः, विष्णुरेव वा कृष्ण-रक्त-पीतत्रिविधरूपधारकः, 'शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः' (भा० पु० १०।८।१३) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः। अक्रमीत् सर्वत्राक्रमणं कृतवान्। पुरः प्राच्यां मातरं पृथिवीमसदद् रामकृष्णादिरूपेण असीदत्। स्वः सूर्यं च हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टरूपेण पितरं द्युलोकं प्रयन् सञ्चरन् प्राप्तवान् ॥ ६ ॥

अ॒न्तश्च॑रति रोच॒नास्य प्रा॒णाद॑पान॒ती । व्य॑ख्यन् महि॒षो दिव॑म् ॥ ७ ॥

पूर्वमन्त्रेणाग्निमादित्यरूपेण स्तुत्वाऽनेन मन्त्रेण वायुरूपेण स्तौति यजमानः। अस्य प्रकृतस्याग्ने रोचना दीप्तिः, 'रुच दीप्तौ' काचिच्छक्तिर्वायुरूपा अन्तर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये शरीरमध्ये च चरति, 'अन्तरिक्षेऽयं तिर्यग्वायुः पवते' इति श्रुतेः। किं कुर्वती, प्राणादपानती सर्वशरीरेषु प्राणव्यापारादनन्तरमपानव्यापारं कुर्वती, अर्थादपानादनन्तरं प्राणितीत्यर्थोऽपि लभ्येत। महिषो दिवं व्यख्यत्। द्युलोकं भोगस्थानमनुष्ठातृभ्यो विशेषेण प्रकाशितवत् प्रकाशयति च। महि माहात्म्यं यागकर्तृत्वस्वरूपं सनोति ददातीति महिषः, 'अग्निर्वै महिषः, स इदं जातो महान्' इति श्रुतेः। विपूर्वस्य 'ख्या प्रकथने' इत्यस्य रूपं व्यख्यदिति। अस्मात् 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति सर्वकालेषु लुङि 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा० सू० ३।१।५२) इति च्लेरङि आलोपेऽडागमे यणि च व्यख्यदिति। अपान इवाचरतीत्यपानती क्विबन्तान्ङीपि अपानतीति। यद्वा प्राणादपानती प्राणव्यापारादूर्ध्वमपानव्यापारं कुर्वती, प्राणापानयोर्वायुविशेषयोः प्रेरिकेत्यर्थः। सति हि जाठराग्नौ जीवनहेतोरौष्ण्यस्य शरीरे सद्भावात् प्राणापानौ प्रवर्तेते। शरीरौष्ण्यस्य पुरुषजीवनत्वमन्यत्र श्रुतम्—'उष्ण एव जीविष्यन् शान्तो मरिष्यन्' इति। एवं प्राणिमात्रं जीवयन्नयमग्निः स्वोपासकस्य महदुपकरोति। महिषः महि महत्त्वोपेतं कर्मफलं सनोति ददातीति महिषो दिवं द्युलोकं पुण्यफलभोगार्थं व्यख्यत्।

अथाध्यात्मिकोऽर्थः—अस्य प्रत्यगभिन्नत्वेन प्रत्यक्षस्य त्वंपदार्थाभिन्नस्य तत्पदार्थस्य अन्तः शरीरस्य ब्रह्माण्डानां वा मध्ये बहिश्चरन्ती, रोचना रोचन्ते दीप्यन्ते सर्वे पदार्थाः सर्वाणि बाह्यान्यादित्यादीनि ज्योतींष्यान्तराणि जीवाहङ्कारादीनि च ज्योतींषि यया सा चिदानन्दरूपा, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' इति श्रुतेः। प्राणापानयोर्व्यापारयित्री, 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेता उपाश्रितौ ॥' इति श्रुतेः। यद्वा प्राणिनां कर्मानुसारेण प्राणनानन्तरमपाननमपाननानन्तरं प्राणनं जनयन्ती। उपलक्षणमेतत्। धर्माधर्मादिषु प्रवर्तयित्री तदनुसारेण चोच्चावचानि फलानि प्रापयित्री। स महिषो यागादिफलदाता परमेश्वरः, संराधितः सन्निति शेषः, दिवं द्युलोकं स्वर्गादिकं द्योतनात्मकं मोदमयं मोक्षं च व्यख्यत् प्रदर्शयति अनुभावयति। अन्तर्भावितणिजर्थस्य रूपम्। यद्वा अस्य परमात्मनः शक्ती रोचना शरीरदीप्तिहेतुः प्राणशक्तिः, तस्यां सत्यामेव देहे मुखादौ दीप्तिदर्शनात्, अन्तः शरीरे चरति। सा च प्राणात् प्राणनाद् अपानती अपानव्यापारेण

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण शरीर में प्राण व अपान वायुओं को प्रेरणा देनेवाली इस अग्नि की 'वायु' संज्ञक एक अनिर्वचनीय शक्ति द्युलोक और पृथिवी लोक में शरीर के भीतर संचार कर रही है। यजमानों को यागकर्तृत्व का स्वरूप प्रदान करनेवाले अग्नि ने उनको द्युलोकरूप उपभोगस्थान प्रकाशित कर दिया, अर्थात् प्रदर्शित कर दिया ॥ ७ ॥

वायुमन्तरा कर्षन्ती दिवं द्योतनात्मकं परमात्मानं व्यख्यद् विशेषेण प्रकाशितवती। महिषः महि महत्त्वोपेतं फलं सनोति ददातीति महिषः परमात्मा, 'सुपां सुलुक्' इति षष्ठ्याः सुः, महिषस्य दिवं द्योतनात्मकं मोदकं वा स्वप्रकाशमपरोक्षं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नस्वरूपं व्यख्यत् प्रकाशितवती।

दयानन्दस्तु—'अस्याग्नेः प्राणादपानती सती रोचना दीप्तिर्विद्युत् शरीरब्रह्माण्डयोरन्तर्मध्ये चरति। स महिषोऽग्निर्दिवं व्यख्यत् विख्यापयति' (पृ० २४४) इति, तदपि न सङ्गच्छते, तद्रीत्या पूर्वमन्त्रेऽग्नेरनुक्तत्वात्। शतपथे तु तिसृभिरप्यृग्भिरग्निरेवोपस्थातव्यत्वेनोक्तः। रोचनापदेन विद्युतो ग्रहणे प्रमाणानुपलब्धेः, तस्याश्च प्राणापानव्यापारहेतुत्वासम्प्रतिपत्तेश्च वायुरेव सा शक्तिरिति मन्तव्यम्।

कश्चित्तु—'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि', अयं दर्शनेऽपि। विपूर्वकश्चष्टिः प्रकाशनार्थः। लोडर्थे लुङि प्रथमपुरुषैकवचने 'चक्षिङः ख्याञ्' (पा० सू० २।४।५४) इति ख्याञादेशे रूपम्। महीधरस्त्वप्रसन्नतर्कः' इति, तत्तु दयानन्दानुकरणमात्रम्, प्रथमाध्याये अभिविख्येषमिति व्याख्यानप्रसङ्गे तेनैव तथोक्तत्वात्। विपूर्वस्य चक्षिङोऽपि ख्याञादेशसापेक्षस्यैव तादृशरूपसिद्धिः। तदपेक्षया लाघवाद् विपूर्वस्य ख्यातेरेव रूपसिद्धिर्युक्ता। यत्तु—'अदादिकस्य तस्य धातोः सार्वधातुकमात्रविषयत्वाद् आर्धधातुके तदप्रयोगात्' इति, तदपि तुच्छम्।

यदपि च—'वृन्दावनतो रथेन रामकृष्णौ मधुपुरीं नयन् अक्रूरो रथे उपवेश्य तौ तयोर्निर्देशाद् यमुनायां स्नातुं जगाम। तत्र बलरामसहितकृष्णस्य दिव्यं विग्रहमपश्यत्, विस्मयं च लेभे। मध्येजलं भगवतो दुर्निरीक्ष्याऽभूतपूर्वा युगपदुत्थितसूर्यसहस्रभासोपमिता कान्तिः पार्थेनानुभूता, विजृम्भमाणस्य भगवतो मुखे यशोदया च दृष्टा रोचना दीप्तिरस्य भगवतो अन्तः कालिन्दीवारिमध्ये चरति प्रसरति। तां विशिनष्टि—प्राणादपानती। उपलक्षणमेतत्, अपानात् प्राणती। प्राणः प्रकृष्टजीवनः समुन्नमनमूर्ध्वगतिः, अपानोऽपकृष्टजीवनोऽधोगतिः। तथा च समुन्नतेरनन्तरमवनमयन्ती उत्कृष्टान् राज्ञः क्षणादिव निकृष्टान् भिक्षुकान् विदधाना क्षणमात्रेणावनतेरनन्तरं समुन्नमनमयन्ती भिक्षुकान् लोकोत्तरवैभवसम्पन्नान् कुर्वाणा अन्तर्ब्रह्माण्डमध्ये वर्तते सा रोचना। लोकानामुत्कर्षापकर्षौ यदधीनौ सा भगवद्दीप्तिरक्रूरेण दृष्टेति भावः। कदा? यदा महिषः (निघण्टु ३।३।८) श्रीकृष्णः 'मह पूजायाम्' इत्यस्मात् 'अविमह्योष्टिषच्' इत्यौणादिकः टिषच् प्रत्ययः। महतेः क्विपि सप्तम्येकवचने महीत्युपपदे सदेः अन्येष्वपि दृश्यते' (पा० सू० ३।२।१०१) 'तत्पुरुषे कृति' (पा० सू० ६।३।१४) इति सप्तम्या अलुकि महति स्थाने सीदतीति महिष इति देवराजः। व्यख्यद् अन्तर्भावितण्यर्थस्य चक्षेर्लुङि रूपम्, दर्शयामास। दिवं दिव्यमद्भुतं स्वकीयं विश्वरूपम्। अपि वा, भगवत्पितृव्यो महिषो महान् अक्रूरो दिव्यं भगवतो रूपं व्यख्यद् विस्पष्टं दृष्टवान्।

यद्यपि शतपथश्रुतिसूत्रसम्मतत्वात् प्रकृतत्वाच्चाग्निरेवात्र सर्वनाम्ना परामृश्यते, तदीया च वायुरूपैव रोचनाशक्तिः, अक्रूरकथायाः कृष्णस्य चाप्रकृतत्वात् तत्परामर्शो दुर्लभः, अक्रूरेण दृष्टेत्यध्याहारश्च प्रमाणसापेक्षः, महिषपदस्याक्रूरोऽर्थो न महत्त्वाभिप्रायेण तत्र वर्तते, तादृशानामन्येषामप्यर्थानां सम्भवेन विनिगमनाविरहात्, तथापि मुख्यार्थाविरुद्धत्वात् तत्परत्वेन योजनं नासङ्गतम्। सर्वनाम्नां प्रसिद्धपरामर्शित्वात् कृष्णस्य लोके वेदे च प्रसिद्धत्वाद् अस्येति पदेन तत्परामर्शोऽपि युक्त एव।

भाष्यसार—पूर्व मन्त्र में अग्नि की आदित्य के रूप में स्तुति की थी, अब इस मन्त्र के द्वारा उसकी वायु के रूप में स्तुति की जा रही है।

कश्चित्तु—'उद्दीपनसाधनैः काष्ठैर्यथाग्निस्तर्प्यते, तथैव सम्यक्तेजस्वित्वापादकैः साधनैः परमेश्वरोपासना कार्या। यथा घृतादिपदार्थैरग्निः प्रबोध्यते, तथैवोद्दीपकैः साधनैरनुष्ठानैश्चातिथिवत्पूज्यः परमेशः प्रबोधनीयः। अग्नौ हविरिव परमेश्वरे कर्मफलान्याहुतिरूपेण समर्प्यन्ताम्' इत्याह, स्पष्टमत्र कल्पनाबहुलोऽर्थो मूलाक्षरस्पर्शशून्य एव, अभिधया लक्षणया वा तादृशार्थासम्भवात्। मन्त्रस्य स्पष्टोऽयमेवार्थः—समिधाग्निं दुवस्यत सपर्यत घृतैस्तं बोधयत अस्मिन्नासमन्तात् हव्या हवींषि जुहुत। वैदिकपारम्पर्येण ब्राह्मणसूत्रादिभिश्च विनियोगानुसारेणाधानमन्त्रा इमे। अतोऽग्निरेवात्र समिद्वतीभिर्घृतवतीभिर्ऋग्भिरर्चनीयः। अग्नेरर्चनेनाग्न्यवच्छिन्नचैतन्यरूपः परमात्मैव पूज्यते, स्वातन्त्र्येणाग्निपूजनानुसारेण परमात्मपूजनस्यानिर्देशात्।

कश्चिदाह—'सम्यक्प्रदीप्ताग्निवत् प्रतिवस्तु व्यापिने परमेश्वरायातितीव्रमाज्यं जलमुपायनानि च सम्यक् प्रदेयानि' इति, अत्रापि न दृष्टान्तरूपेणाग्निवर्णनम्, दार्ष्टान्तिकस्यानिर्देशात्। किञ्च, घृतं तीव्रं कथं भवतीति तु नोक्तम्। सिद्धान्ते तु ग्रहणोद्वासनाधिश्रयणावेक्षणादिभिः संस्कारैरेव तत्रातिशयः सम्भवति।

तं त्वा समिद्भिरङ्गिर इति तृतीयं मन्त्रं कश्चिदेवं विवृणोति—हे अङ्गेषु रसवद्व्यापक अग्ने! परमेश्वरमुत्तमप्रकाशसाधनैः समिद्भिर्योगैः घृतादितेजोभिः तपसा च वर्धयामः। हे पदार्थानां संयोगवियोगयोरनुपमशक्तिमन्! त्वं महान् भूत्वा प्रकाशवान् भव' इति, अयमर्थोऽप्यक्षराननुगत एव। यविष्ठयशब्दस्य पदार्थानां संयोगवियोगयोरनुपमशक्तिमत्त्वमर्थः कया रीत्या गृह्यत इति तु नोक्तम्। मिश्रणामिश्रणार्थस्य यौतेर्निष्पन्नत्वेऽप्यतिशयेन मिश्रणामिश्रणकर्तृत्वशक्तिमानेवार्थः, तेन कश्चिदन्योऽपि ग्रहीतुं शक्यते। परमेश्वरस्याग्नेश्च सृष्टिकर्तृत्वेन सृष्टिनिर्माणकौशलम्।

चतुर्थकण्डिकाविवरणम्—'हे कान्तिमयाग्ने हे परमेश्वर! त्वत्सविधे घृतयुताः समिध उपतिष्ठन्ताम्। त्वं ता मदीयाः समिधो जुषस्व सेवस्व' इति। यदि मन्त्रस्यास्य यागे विनियोगो नाभिप्रेयते, तदा तादृशी प्रार्थनाप्यपार्थैव। अग्नेः समिद्भोक्तृत्वस्य सम्भवेऽपि परमेश्वरस्य कथं तदित्यपि चिन्त्यम्।

पञ्चमकण्डिकाविवरणम्—'भूर्भुवःस्वरादिलोकानां हितायाहं तथैवाधिकप्रजाधनैर्युक्तः स्यां यथा नक्षत्रैर्युक्ता द्यौर्विशालत्वात् पृथिवी सर्वस्याश्रयभूता तथैवाहं सर्वस्याश्रयभूतः स्याम्। विदुषां यज्ञाश्रयभूते हे पृथिवि! तस्यास्तव पृष्ठेऽन्नोपभोक्ताग्निरिव प्रजापती राजा स्थाप्यतेऽस्माभिः।' को वा राजा कथं च तत्स्थापनं केन क्रियते, कश्च तत्सम्बन्ध इति विभावनीयम्।

षष्ठकण्डिकाविवरणम्—गमनशीलो रसान् ज्योतींषि च स्वस्मिन् धारयन्नादित्यो मातुः पृथिव्या उपरिष्टात् प्राच्यां दिशि विराजते। चतुर्दिक्षु व्यापकः सन् सर्वपालकमाकाशमपि स्ववेगेन गच्छन् व्याप्नोति।

सप्तमकण्डिकाविवरणम्—अस्य महतोऽग्नेरेव वायुरपि दीप्तिः। अन्तः यश्च शरीरस्य ब्रह्माण्डस्य चाभ्यन्तरे प्राणादनन्तरं प्राणरूपो भूत्वाऽपानस्वरूपं धारयति। अयमेवानन्तमहिम्ना युक्तो द्युलोकं विशेषेण प्रतिपादयति' इति, तत्तु महीधराद्युक्तस्यैवार्थस्य किञ्चिद् व्यत्यासेनेहोपन्यासः।

अध्यात्म पक्ष में—अन्तर्बाह्य समस्त पदार्थ चिदानन्दरूप ही हैं।

दयानन्दीय व्याख्या और उसकी सारहीनता को ऊपर दिये गये भाष्य से ही अवगत कर लेना चाहिये ॥ ७ ॥

त्रिꣳशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रतिवस्तोरह द्युभिः ॥ ८ ॥

अष्टमकण्डिकाविवरणम्— 'त्रिंशद्धाम त्रिंशत्सु धामसु। त्रिंशच्छब्दाद्धामशब्दाच्च 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति सप्तम्या लुक्। धामशब्देनात्र स्थानं गृह्यते, 'धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि च' (नि० ९।२८।२९) इति वचनात्। अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्ता धामशब्देनाभिप्रेयन्ते। त्रिंशन्मुहूर्तरूपेषु स्थानेषु या वाग् विराजति विशेषेण स्तुतिभिर्यज्ञे स्तूयमाना शोभते सा वाक् पतङ्गाय अग्नये धीयते उच्चार्यते। तादर्थ्ये चतुर्थी। पतन् गच्छतीति पतङ्गोऽग्निः। स ह्यरण्याः पतन् गार्हपत्यभावं गच्छति, गार्हपत्याच्चाहवनीयताम्। तेन सर्वदेवस्तुतिभिरग्निरेव स्तूयते, तस्यैव सर्वदेवमयत्वात् सर्वात्मत्वात्। न केवलं त्रिंशत्सु मुहूर्तेषु विराजमाना वागेवाग्नये धीयते, किन्तु प्रतिवस्तोः प्रतिदिनं या स्तुतिरूपा, या च द्युभिः यागपारायणाद्युत्सवभूतैरहोभिः स्तुतिलक्षणा वाक् सापि पतङ्गायाग्नय एव धीयते नान्यदेवताभ्यः। वस्तोरित्यस्य दिनमर्थः, 'वस्तोः। द्युः। भानुः' (निघ० १।९।१) इत्यहर्नामसु पठितत्वात्। अह इति निपातस्य विनिग्रहो नियमनमर्थः, सर्वकालं सर्वा स्तुतिरूपा वागग्न्यर्थैवेति यावत्। यद्वा विराजतीत्यस्य क्रियापदस्य कर्तृरूपं त्रिंशद्धामेति प्रथमान्तमेव, न सप्तम्यन्तम्। मासे त्रिंशद्दिनानि भवन्ति। तेन मासगतदिनभेदेन त्रिंशत्संख्याकं धाम स्थानं विराजति विशेषेण राजते शोभते। प्रमादालस्यादिरहितानां यजमानानामनुष्ठानेनाहवनीयाद्यग्नीनां स्थानं मासगतेषु त्रिंशत्संख्याकेषु दिनेषु विशेषेण शोभत इत्यर्थः। पतङ्गः पक्षी यथैकस्मात् स्थानात् स्थानान्तरं गच्छति, तद्वदग्निरप्यरण्या गार्हपत्यस्थानं तत आहवनीयस्थानं गच्छतीति सोऽपि पतङ्गसदृशत्वात् पतङ्ग इत्याख्यायते। तथाविधस्याग्नेः प्रीत्यर्थं धीयते स्तुतिरूपा वागुच्चार्यते।

पुराणेष्वग्नेर्विविधानि धामानि नामानि चोक्तानि। यथोक्तं विधानपारिजाते—

'लौकिके पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः। अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने प्रकीर्तितः॥
पुंसवे चमसो नाम शोभनः शुभकर्मसु।
अत्र शुङ्गकर्मणीति रघुनन्दनः। तच्च सीमन्तान्तर्गतकर्मभेदः।
सीमन्ते ह्यनलो नाम प्रगल्भो जातकर्मणि। पार्थिवो नामकरणे प्राशनेऽन्नस्य वै शुचिः॥
सभ्यनामा तु चूडायां व्रतादेशे समुद्भवः। गोदाने सूर्यनामा स्यात् केशान्ते याजकः स्मृतः॥
वैश्वानरो विसर्गे स्याद् विवाहे बलदः स्मृतः। चतुर्थीकर्मणि शिखी धृतिरग्निस्तथापरे॥
आवसथ्यस्तथाधाने वैश्वदेवे तु पावकः। ब्रह्माग्निर्गार्हपत्ये स्याद् दक्षिणाग्निरथेश्वरः॥
विष्णुराहवनीये स्याद् अग्निहोत्रे त्रयो मताः। लक्षहोमेऽभीष्टदः स्यात् कोटिहोमे महाशनः॥
एके घृतार्चिषं प्राहुरग्निध्यानपरायणाः। रुद्रादौ तु मृडो नाम शान्तिके शुभकृत्तथा॥
आदिशब्दाल्लघुरुद्रशतरुद्रातिरुद्रा लक्ष्यन्ते। पूर्णाहुत्यां मृडो नामेति रघुनन्दनः।

मन्त्रार्थ—आलसरहित यजमानों के अनुष्ठान करने से आहवनीय आदि अग्नियों के स्थान (शालागृह) महीने के तीसों दिन विशेषतया शोभित रहते हैं। जिस प्रकार कोई पक्षी एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाता है, उसी प्रकार अग्नि भी गार्हपत्य से आहवनीय में जाता है। इस रीति से पक्षी के रूप में अग्नि की स्तुति की जाती है और प्रतिदिन प्रकाशित होने से भी उसकी स्तुति की जाती है॥ ८॥

पौष्टिके वरदश्चैव क्रोधाग्निश्चाभिचारके । वश्यार्थे वशकृत् प्रोक्तो वनदाहे तु पोषकः ॥
उदरे जठरो नाम क्रव्यादः शवभक्षणे । समुद्रे वाडवो ह्यग्निर्लये संवर्तकस्तथा ॥
सप्तविंशतिसंख्याता अग्नयः कर्मसु स्मृताः । तं तमाहूय होतव्यं यो यत्र विहितोऽनलः ॥
अन्यथा विफलं कर्म सर्वं तद्राक्षसं भवेत् । आदित्यादिग्रहाणां च साम्प्रतं ह्यग्निरुच्यते ॥
आदित्ये कपिलो नाम पिङ्गलः सोम उच्यते । धूमकेतुस्तथा भौमे जठरोऽग्निर्बुधे स्मृतः ॥
बृहस्पतौ शिखी नाम शुक्रे भवति हाटकः । शनैश्चरे महातेजा राहौ केतौ हुताशनः ॥' इति ।

अहेति निपातः पूर्वोक्तनिषेधार्थकः । अर्थादस्या ऋचः पूर्वार्धेऽग्निमाहात्म्यख्यापनाय तद्वाक्यद्वयेनार्थद्वयमुक्तम् । तावदेव न भवति, किन्त्वन्यदपि माहात्म्यमुच्यते—प्रतिवस्तोः प्रतिदिनं द्युभिः क्रीडाविशेषैर्द्योतनैर्वायमग्निः स्तूयत इत्यध्याहारः, दीव्यतेर्धातोर्द्युतिक्रीडाद्यर्थकत्वात् ।

अन्यस्तु—'यः प्रकाशक ईश्वररूपोऽग्निस्त्रिंशत्संख्याकान् पदार्थान् व्याप्य प्रकाशयति, तस्यैव परमेश्वरस्य ज्ञानार्थं देववाणी पठ्यते प्रतिदिनं तत्प्रकाशकैर्वाक्यैर्निश्चयेन तन्मननं कर्तव्यम्' इति, किन्तु नैतद्युक्तम्, यतो हि धामपदेन स्थानानि नामानि जन्मानीति (नि० ९।२८–२९) रीत्या धारकाः पदार्था न ग्रहीतुं शक्यन्ते, तद्वचनविरोधात् । कथञ्चित्तेषामपि स्थानरूपत्वापादनेन तत्सम्भवेऽपि तानभिव्याप्य यः प्रकाशयति स परमात्मरूपोऽग्निरित्यस्य गमकः कश्चन शब्दस्तत्र नास्ति । विराजतिक्रियायाः कर्तृत्वेन त्रिंशद्धाम वाग्वा सम्बन्धमर्हति, नाश्रुतोऽग्निरीश्वरो वा, उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभावात् । विराजतिश्चाकर्मको धातुः । तेन तत्क्रियायाः कर्ता स्वयं विशेषेण राजते दीप्यत इत्येवार्थः, न प्रकाशयतीति । मूले वाक् पतङ्गायाग्नये धीयते इत्यत्र पतङ्गपदेनाग्नेरीश्वरस्य वा ग्रहणेऽपि तज्ज्ञानं कस्य शब्दस्यार्थ इत्यपि न व्यक्तम् । एवमेव द्युभिरिति पदेन कथञ्चित् प्रकाशकवाक्यानां ग्रहणसम्भवेऽपि तैर्मननं कर्तव्यमिति कुतो लब्धम् ?

दयानन्दोऽत्रैवमाह—'योऽग्निः प्रतिदिनं त्रिंशत्संख्याकानां धर्माणां धारकान् पदार्थान् प्रकाशयति, तस्य पतनपातनादिगुणैः प्रकाशितस्य स्वयं गतिशीलस्यान्येषां प्रेरकस्याग्नेः प्रतिदिनं विद्वद्भिर्वाग्वेदोऽध्येतव्यः । सा वाक् शरीरस्थेन वैद्युतेनाग्निना प्रकाश्यते तदीयगुणप्रकाशनायास्या वाचो वेदलक्षणायाः श्रवणमुपदेशश्च कर्तव्यम् । अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः, प्रजापतिः । एतेषु आदित्यमग्निं च परित्यज्य त्रिंशत्संख्याका अवशिष्यन्ते । एते धर्माणां धारकाः पदार्थाः । पतङ्गः परमेश्वरः, अथवा 'प्राणो वै पतङ्गः' (कौ० ८।४), 'पतन्निव हि अङ्गेषु' (जैं० ३।३।३५) इति । अयमप्यर्थो मन्त्राक्षराणि न स्पृशति । त्रिंशत्संख्याकाः पदार्थाः के इत्यपेक्षायां बृहदारण्यकोपनिषत्स्थास्त्रयस्त्रिंशत्संख्याका देवा उक्ताः । 'अग्निः पृथिवी वाय्वन्तरिक्षादित्या द्यौश्चन्द्रमाश्चेति अष्टौ वसवः, सर्वमेषु वसतीति वसवः । पुरुषे दशेन्द्रियरूपाः प्राणा एकादश आत्मा इत्येकादशरुद्राः । एते यदा शरीरादुत्क्रामन्ति तदा रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा उच्यन्ते । संवत्सरस्य द्वादश मासा द्वादशादित्याः, ते हि सर्वमाददाना यान्ति तस्मादादित्या उच्यन्ते । अशनिरूपः स्तनयित्नुरिन्द्रः पशुसाधनको यज्ञ एव प्रजापतिः' इति, तदपि न मनोज्ञम्, अस्पष्टार्थत्वात् । तथाहि त्रिंशत्संख्याका धर्माः के ? येषां धारणेनैते धामपदव्यपदेश्या भवन्तीति तु नोक्तम् । किञ्चात्र त्रयस्त्रिंशत्संख्याका देवा उक्ताः । यदि मन्त्रेऽस्मिन्नेते विवक्षिता भवेयुस्तदा त्रिंशद्धामेति स्यात् । कुतश्चादित्यमग्निं च परित्यज्य ततस्त्रिंशत्-

भाष्यसार—यहाँ पर 'धाम' शब्द से 'अहोरात्र' के 'तीस मुहूर्त' अभिप्रेत हैं । अहोरात्र व्यवहृत होने वाली वाणी से अग्नि की स्तुति की गई है ।

संख्याकानामेव ग्रहणम् ? किं परमेश्वरस्तौ न व्याप्नोति, न वा प्रकाशयति ? एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिरिति न्यायविरोधात्। तस्मात् पूर्वोक्तव्याख्यानुसारेण दिनव्यापिनस्त्रिंशन्मुहूर्ता मासव्यापिनस्तावन्तो दिवसा एव वा त्रिंशद्धामपदव्यपदेश्याः, उव्वटसायणादिभिस्तथैव व्याख्यातत्वात्। पतङ्गेति व्याख्याघटकाः पतनपातनादयः के गुणाः ? किं प्रमाणकास्ते दोषा वा गुणा वा ? प्रकाशकत्वगतिशीलत्वमन्यप्रेरकत्वमिति पतङ्गशब्दात् कथमायातीत्यपि प्रमाणसापेक्षमेव। पतङ्गशब्दः परमेशपरश्चेत्, तदा स एव चतुर्थ्यन्तपदार्थो न तज्ज्ञानमिति तज्ज्ञानाय वेदा अध्येतव्या इत्यपि नार्थः सम्भवति। तस्मादुव्वटसायणमहीधरादिसम्मत एव वेदार्थो ग्राह्यः। किञ्च, पतङ्गशब्देन सूर्यः कुतो न गृह्यते, तस्मिन् पतङ्गशब्दप्रसिद्धेः। न चाग्नेः प्रक्रान्तत्वात् तथार्थग्रहणम्, त्वद्रीत्याग्निशब्दस्यापि परमात्मपरत्वेन तदसिद्धेः। सिद्धान्ते तु अग्न्याधानमन्त्रा एत इति शतपथश्रुत्या कात्यायनादिसूत्रैर्ज्ञायते। यथा चैतत् तथा सूचितमेव व्याख्याने।

अध्यात्मपक्षे तु—या वाग् अनादिनिधना ब्रह्मरूपा वाक्, 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥' (वा० प० १।१), 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' (वा० प० १।१२३) इत्याप्तवचनेभ्यः। त्रिंशद्धाम त्रिंशत्संख्याकेषु धामसु स्थानेषु विराजते। प्रकृतिस्त्रयो गुणा महान् राजसतामसवैकारिका अहङ्कारा दशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राः पञ्चप्राणाः जीवात्मेश्वरौ—इति प्रकृत्यादिरूपेण विवर्तते। सैव वाग् मन्त्रब्राह्मणरूपा पतङ्गाय पक्षिसदृशाय जीवाय जीवहिताय कर्मोपासनाज्ञानप्रतिपादकत्वेन धीयते। यद्वा पतङ्गाय परमेश्वररूपपक्षिणे धीयते तात्पर्यावसायितया धार्यते। अहेति निपातः पूर्वोक्तनिषेधार्थः पूर्ववदेव। नैतावदेव, किन्तु प्रतिवस्तोः प्रत्यहं कर्मठैरुपासकैश्च द्युभिः कर्मोपासनव्यवहारैर्द्योतनैर्निदिध्यासनादिरूपैर्ज्ञानैश्च मन्त्रब्राह्मणमहातात्पर्यविषयत्वेन लक्ष्यार्थभूता सैव वाग् धीयते प्राप्यते।

यत्तु—'वेदलक्षणा वाक् ब्रह्मणे पतङ्गाय सूर्याय चोपदिष्टा ब्रह्मादित्यभेदेन वैदिकसम्प्रदायद्वैविध्यात्' इति, तन्न, ब्रह्मण इति पदाभावेन न्यूनत्वापत्तेः। अथवा भगवन्तं प्रत्याह साधकः—हे अह परमात्मन् ! 'अह व्याप्तौ' इति निष्पत्तेः। वाग्रूपो भवान् त्रिंशद्धाम विराजति। प्रतिवस्तोः प्रत्यहं द्युभिः स्नेहमयैर्ज्ञानैरहं त्वामाश्रये।

यत्तु—'आयं गौरित्यस्य अयं पुरो दृश्यमानः पृश्निः चित्रवर्णः, सप्तरश्मिमयत्वात्। गौर्गमनशीलः सूर्यः पुरः प्राच्यां दिशि प्रातरित्यर्थः। मातरं पृथिवीं पृथिव्या अङ्के इत्यर्थः। असदत् असीदत् सीदतीत्यर्थः। छान्दसो लकारव्यत्ययः। ततश्च पितरं द्युलोकं प्रयन् गच्छन् स्वः स्वर्गमक्रमीत् क्रमते, पृथिवीतो द्युलोकपर्यन्तं च जगद् व्याप्नोतीत्यर्थः' इति विज्ञानपक्षे मन्त्रयोजनम्, तच्च पूर्वोक्तशतपथश्रुतिविरुद्धमेव, तत्राग्न्याधानप्रसङ्गेऽग्न्युपस्थाने तिसृणामासामृचां विनियोगात्। किञ्च, द्यावापृथिव्योरन्तराले सूर्यस्य विद्यमानत्वेऽपि न पृथिव्या अङ्के तत्सत्त्वं सम्भवति, तथात्वप्रतीतेर्भ्रमत्वात्। न च लोकसिद्धं प्रतिपादनं वेदे सम्भवति, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामज्ञातज्ञापकत्वेनैव तत्प्रामाण्यात्।

स्वामी दयानन्द कहते हैं कि जो अग्नि प्रतिदिन तीस धर्मों को धारण करनेवाले पदार्थों को प्रकाशित करता है, उस अग्नि के द्वारा प्रकाशित वाग्रूपी वेद का अध्ययन करना चाहिये। किन्तु यह अर्थ मन्त्राक्षरों से नहीं निकल पा रहा है, अतः उव्वट, महीधर, सायणादिसम्मत अर्थ को ही स्वीकार करना उचित है। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार ये मन्त्र अग्न्याधान के हैं।

यदपि—'अन्तश्चरति अस्य सूर्यस्य रोचना रश्मिमयी दीप्तिः प्राणादपानती प्राणनापाननादिव्यापारं कुर्वती। अग्रे गमनं प्राणनं पश्चाद्गमनमपाननम्। सूर्यस्य रश्मयो हि प्राणनापानने गमनागमने कुर्वन्तः प्रयान्ति। छायायामिदं प्रत्यक्षमनुभूयते। छाया हि पूर्वं पुरः प्रयाति, ततः स्वल्पं पश्चात् प्रसरति, ततश्च पुनरग्रे प्रयाति। छायायां यत्प्राणनमपाननं च दृश्यते, तत्सूर्यरश्मीनां प्राणनापाननव्यापारेणैव वर्तते, छायायां स्वतो गत्यभावात्। यथा बहिर्लोके सूर्यरश्मयः प्राणनापाननव्यापारं कुर्वन्त एव प्रयान्ति, तथा प्राणिनां प्राणाः प्राणनापाननव्यापारं श्वासोच्छ्वासरूपं कुर्वन्त एव यान्ति। प्राणिनां हृदये यः श्वासोच्छ्वासरूपो व्यापारः प्राणिहृदये प्रविष्टः स सूर्यरश्मिकृत एव। यतो हि सूर्यः सर्वप्राणिहृदयं प्रविश्यात्मरूपेण विराजति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वमन्त्रे सूर्यस्याप्रकृतत्वादस्येतिपदेन तद्ग्रहणासंगतेः। रश्मिमयी दीप्तिश्च गमनागमने कुर्वन्ती यातीत्यप्यसिद्धमेव। न च छायाया गमनागमनाभ्यां तत्सिद्ध्यतीति वाच्यम्, वैद्युताग्नेयचान्द्रमसदीप्तिष्वतिव्याप्तेः। यत्तु—तेषामपि सौरानतिरिक्तत्वमेवेति तन्न, तथात्वे शतपथश्रुत्यनुसारेणाग्न्युपस्थानमेव मन्यताम्, कुतः सूर्यपरत्वयोजनाग्रहः। किञ्च, छायाया अपि न प्रतिक्षणं गमनागमने अनुभूयेते, आलोकस्यापवरकस्य च गमनागमनाभ्यां छायागमनागमनानुभवात्। न च तयोर्गमनागमने प्रतिक्षणमनुभूयेते। गमनकाले गमनमेवानुभूयते नागमनम्, तथैवागमनकाले तदेवानुभूयते न गमनम्। श्रुतिस्मृत्यादिभिः प्रत्यक्षैश्च प्राणव्यापारौ श्वासोच्छ्वासौ सिद्धौ। प्राणश्च वायुविशेष इति ब्रह्मसूत्रे तद्भाष्ये च विचारितम्। तयोः सूर्यरश्मिमूलकत्वकल्पनं न युक्तम्। सूर्यो यद्यपि मण्डलान्तर्गतो हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टः परमात्मैव, यद्यपि च व्याहृत्यवयवात्मा हिरण्यगर्भः समष्टिप्राणबुद्ध्युपाधिः प्राणादिसर्वव्यापाराणामीष्टे, तथापि तेजोमयो रश्मिसमूहस्त्वग्निमय एव। वायोरग्निरिति रीत्या तस्य वायोरुत्पत्तिर्भवति। एवं कारणहिरण्यगर्भान्वालोचनया, प्राणमूलकत्वमेव श्वासोच्छ्वासयोः सिद्ध्यति। तद्दृष्ट्यैव च सूर्यस्य सर्वात्मत्वं सम्भवति न सूर्यरश्मिमात्रदृष्ट्या, रात्रौ तदभावेऽपि प्राणनादिकर्मदर्शनात्। हिरण्यगर्भरूपेणैवादित्यो जगतस्तस्थुषश्चात्मा भवति। अन्तर्यामिरूपेण शुद्धात्मा भवति, हिरण्यगर्भरूपेण सोपाधिक आत्मा भवति।

यदपि—'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्' इति विलिख्य (बृ० आ० ७।५।२) इति सङ्केतो दत्तः, स तु सङ्केतोऽशुद्ध एव, (बृ० आ० ५।५।२) इति सङ्केतस्योचितत्वात्। अपरं च नानया श्रुत्या रश्मीनां श्वासोच्छ्वासनिर्वर्तयितृत्वमुक्तम्, किन्तु 'तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ। रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्' (बृ० उ० ५।५।२)। 'य एतस्मिन्नादित्यमण्डले पुरुषोऽभिमानी सोऽसौ सत्यं ब्रह्म। यश्चायं दक्षिणेऽक्षिणि पुरुषस्तावेतावादित्याक्षिस्थौ पुरुषौ एकस्य सत्यस्य ब्रह्मणः संस्थानविशेषौ यस्मात्तस्मादन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ। आदित्यश्चाक्षुषे चाक्षुषश्चादित्य प्रतिष्ठितः। तदेवोच्यते—रश्मिभिः प्रकाशेनानुग्रहं कुर्वन्नेष आदित्योऽस्मिश्चाक्षुषेऽध्यात्मे प्रतिष्ठितः। अयं च चाक्षुषः प्राणैरादित्यमनुगृह्णन् आदित्येऽधिदेवे प्रतिष्ठितः' इति शङ्करभाष्यम्। तत्रैवानन्दगिरिः-प्राणैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैरिति यावत्। अनुगृह्णन्नादित्यमण्डलमात्मानं प्रकाशयन्नित्यर्थः। तथा च नेदमुपनिषद्वाक्यं सूर्यरश्मीनां प्राणापाननिर्वर्तयितृत्वं साधयति। एवमेव—'तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं च···चामुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते। ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये····'

अध्यात्मपक्ष में—जो 'वाक्' अनादिनिधना ब्रह्मरूपा है, वह तीस स्थानों में विराज रही है। उसी को, अर्थात् मन्त्र-ब्राह्मण रूपा वाक् को जीव के लिये, जो पक्षी के समान है, उसके कल्याणार्थ, कर्म-उपासना-ज्ञान का बोध कराने

(छा० उ० ७।६२) इति। अत्रापि सङ्केतोऽशुद्धः। (८।६।२) इति भाव्यम्। भाष्यकाररीत्या यथा लोके महान् विस्तीर्णः पन्था महापथ आततो व्याप्त उभौ ग्रामौ गच्छति, इमं सन्निहितममुं विप्रकृष्टस्थम्, यथा महापथ उभौ ग्रामौ प्रविष्टः, एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ अमुं चादित्यमण्डलमिमं च पुरुषं गच्छन्ति उभयत्र प्रविष्टाः। अमुष्मादादित्यमण्डलात्प्रतायन्ते सन्तता भवन्ति ता अध्यात्ममासु पिङ्गलादिवर्णासु यथोक्तासु नाडीषु सृप्ता गताः प्रविष्टा इत्यर्थः। आभ्यो नाडीभ्य प्रतायन्ते प्रवृत्ताः सन्तानभूताः सत्यस्तेऽमुष्मिन् मण्डले गछन्ति। रश्मिशब्दस्योभयलिङ्गत्वात्ता इत्युच्यते। वस्तुतस्त्वत्रापि न रश्मीनां श्वासोच्छ्वासहेतुत्व-मुक्तम्।

'अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः' (छा० उ० ८।६।१)।अथ या एता वक्ष्यमाणा हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासनस्थानस्य सम्बन्धिन्यो नाड्यो हृदयमांसपिण्डात् सर्वतो विनिःसृता आदित्यमण्डलादिव रश्मयस्ताश्चैताः पिङ्गलस्य वर्णविशेषस्याणिम्नः सूक्ष्मरसस्य पूर्णा अन्नरसेन पूर्णास्तदाकारा एव तिष्ठन्ति। तथा शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य रसस्य पूर्णा इति सर्वत्राध्याहार्यम्। कथमन्नरसस्य पिङ्गलादिर्विचित्रो वर्णविशेषः सिद्ध्यतीत्याशङ्क्योक्तं शङ्कराचार्येण सौरेण तेजसा पित्ताख्येन पाकाभिनिर्वृत्तेन कफेनाल्पेन सम्पर्कात् पिङ्गलं भवति। सौरं तेजः पित्ताख्यं तदेव च वातभूयस्त्वान्नीलं भवति। तदेव च कफभूयस्त्वात् शुक्लं कफेन समतायां पीतं शोणितबाहुल्येन लोहितम्' इति। 'वैद्यकाद्वा वर्णविशेषा अन्वेष्टव्याः। श्रुतिस्त्वादित्यसम्बन्धादेव तत्तेजसो नाडीष्वनुगतस्यैते वर्णविशेषाः' इति। 'कथमसावादित्यः पिङ्गलो वर्णाद् एष आदित्यः शुक्लोऽप्येष नील एष पीत एष लोहित आदित्य एव। आदित्यस्य पैङ्गल्यादयो वर्णविशेषाः शास्त्राप्रामाण्यादेव प्रत्येतव्या' इत्यानन्दगिरिः॥ ८॥

अ॒ग्निर्ज्योति॒र्ज्योति॑र॒ग्निः स्वाहा॒ सूर्यो॒ ज्योति॒र्ज्योतिः॒ सूर्यः॒ स्वाहा॑। अ॒ग्निर्वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्चः॒ स्वाहा॒ सूर्यो॒ वर्चो॒ ज्योति॒र्वर्चः॒ स्वाहा॑। ज्योतिः॒ सूर्यः॒ सूर्यो॒ ज्योतिः॒ स्वाहा॑॥ ९॥

अत्र सायणः काण्वसंहिताभाष्ये—'प्रथमेऽनुवाकेऽग्न्याधानमन्त्रा उक्ताः, द्वितीये त्वग्निहोत्रमन्त्राः। प्रागुपप्रयन्त इत्येतस्मात्तन्मन्त्राणां सामान्यतः प्रजापतिर्ऋषिः, लिङ्गोक्ताः सप्त देवताः, आद्याः पञ्चैकपदाः, 'अग्निर्ज्योतिः सूर्यो ज्योतिः' एते द्वे एकपदे विशेषतो गायत्र्यौ तक्षा मुनिरपश्यत् परां ज्योतिर्ज्योतिरितीमां चेलकस्य पुत्रो जीवल ऋषिरपश्यत्, यथाऽग्निर्वर्चो द्वे तक्षापश्यत् परां जीवलश्चैलकिरित्यनुक्रमणी (१।११)-वचनात्'। 'अथ प्रदीप्तामभिजुहोत्यग्निर्ज्योतिरिति' (का० श्रौ० ४।१४।१४) इति। या समित्प्रदीप्ता तामभिलक्ष्य जुहुयात्। अग्निज्योतिषमिति काण्वशाखोक्तमन्त्रेण (३।२।१) समित्प्रक्षेपः। काण्वमन्त्रपाठस्तु 'अग्निज्योतिषं त्वा वायुमतीं प्राणवतीँ स्वर्ग्याँ स्वर्गायोपदधामि भास्वतीम्' इति, तदर्थश्चेत्थम्— हे समित्! स्वर्गाय स्वर्गप्राप्तये विविधविशेषणां त्वामुपदधामि अग्नौ प्रक्षिपामि। कीदृशीं त्वाम्? अग्निज्योतिषम् अग्नि-

के हेतु दी गई है। अतः हे भगवन्! आप वाग्रूप हैं, आप सर्वत्र विराज रहे हैं। मैं प्रतिदिन इस स्नेहमय ज्ञान से तुम्हारे ही शरण हूँ॥ ८॥

मन्त्रार्थ—यह जो अग्निदेव है, वही दृश्यमान ज्वाला का स्वरूप है और जो दिखाई देनेवाला ज्वाला का स्वरूप है, वही अग्नि है। अग्नि और ज्वाला इन दोनों का किसी भी समय वियोग न रहने से उन दोनों की एकता बताई गई है। ज्योतिःस्वरूप अग्नि को दिया हुआ हवि 'सुहुत' हो। ('सूर्यो ज्योतिः' यह मन्त्र, प्रातःकालीन होम का

सम्बन्धिज्योतिर्यस्यां समिध्यभिव्यज्यते तादृशीम्, शुष्कसमिधामग्निज्वालाहेतुत्वप्रसिद्धेः। पुनः कीदृशीम्? वायुमतीं वायुसहायोपेतां वायुसाहाय्येनैव समित्सु ज्वलाप्राबल्यदर्शनात्। प्राणवतीं बलवतीं शुष्कतृणपर्णादिष्विवाग्निज्वाला समिध्यपि सहसा न शाम्यति। स्वर्ग्यामनुष्ठातॄणां स्वर्गहेतुत्वात्। भास्वतीमग्नेः समिन्धनेन सूर्यवत्प्रकाशोपेताम्। एवं काण्वोक्तमन्त्रेण समिदाधानं कृत्वा अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रेण प्रतिजुहुयात्।

मन्त्रार्थस्तु—योऽयमग्निर्देवः स एव ज्योतिर्दृश्यमानज्योतिःस्वरूपम्। यच्चेदं ज्योतिर्दृश्यते तदेवाग्निर्देवः। अग्नेर्ज्योतिषश्च कदाचिदपि वियोगाभावात् तयोरैक्यमिहोच्यते। स्वाहा ज्योतीरूपायाग्निदेवाय हविः प्रदत्तमस्तु। स्वाहाशब्दस्य देवतामुद्दिश्य विहितद्रव्यत्यागोऽर्थः। अत्र 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधा' (पा० सू० २।३।१६) इत्यादिसूत्रानुसारं प्रथमा चतुर्थ्यन्तत्वेन विपरिणमय्य व्याख्येया। अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरित्यभ्यासोऽनुपचरितैक्यरूपभूयस्त्वार्थबोधनाय ज्ञेयः। अग्निमुद्दिश्य ज्योतिष्ट्वविधानाय प्रथमः, ज्योतिरुद्दिश्याग्नित्वविधानाय द्वितीय इति, त्वं वै भगवो देवते अहमस्मि, अहं वै भगवो देवते त्वमसीतिवद्। अत्यन्ताभेदबोधनाय व्यतिहारनिर्देशो वा। हानं हा, न हा अहा, स्वस्य अहा अपरित्यागः स्वाहा। स्वस्य आत्मन आत्मीयस्य वा अहानं रक्षणं भवति देवतोद्देश्येन विहितद्रव्यत्यागात्। यथा क्षेत्रेष्वेकैकव्रीहियवगोधूमादिनिक्षेपो न स्वार्थत्यागः, एकैकस्य बीजस्य फलरूपेण शताधिकसंख्यानां तेषां लाभदर्शनात्। देवतोद्देश्येनाग्निमुखे तत्त्यागे त्वनन्तगुणसुखादिलाभश्रवणात् सुष्ठु आसमन्ताद् हानं देवतायै विहितद्रव्यस्य दानं वा स्वाहापदस्यार्थः, विहितद्रव्ये स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकदेवतास्वत्वोपपादनस्यैव स्वाहापदार्थत्वात्।

अयं सायंकालिकाग्निहोत्रहोममन्त्रः। सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य इति प्रातरग्निहोत्रमन्त्रः। पूर्वमन्त्रवदेवास्यापि मन्त्रस्यार्थः। सूर्यज्योतिरग्नौ सायं प्रविशति। तत एव दिनापेक्षयाऽग्नेर्ज्योतिराधिक्यं भवति। उदयकालेऽग्निज्योतिः सूर्यं प्रविशति। तस्मादेव प्रातः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरिति मन्त्रेण होमः। अत एव–'स जुहोत्यग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायम्, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः' इति कण्वो व्यवस्थामुक्तवान्। 'अग्निमादित्यः सायं प्रविशति। तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे। उभे हि तेजसी सम्पद्येते। उद्यन्तं वादित्यमग्निरनुसमारोहति। तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्य' (का० श्रौ० ४।१४।१५) ब्रह्मवर्चसकामस्त्वग्निर्वर्चः सूर्यो वर्च इति सायं प्रातश्च जुहुयात्। 'योऽग्निर्वर्चोऽनन्यो यस्य च ज्योतिर्वर्चसानन्यभूतम्, तस्मै सुहुतमस्तु। यज्ज्योतिः सूर्य एव यः सूर्यः स ज्योतिरेव तस्मै स्वाहा।'

अन्यस्तु—'भौतिकोऽग्निः परमात्मज्योतिःप्रतिनिधिभूतः परमज्योतिर्भौतिकमग्निं प्रकटयति, इदं सत्यं वचः। भौतिकः सूर्यः परमात्मज्योतिषः प्रतिनिधिः परमात्मज्योतिरेव भौतिकसूर्यं प्रकटयति, इदमपि सत्यं वचनम्, अग्निपरमात्मनोरुभयोरपि दीप्तिमत्त्वात्, ईदृशीं वाचमवितथामवेहि। भौतिकः सूर्यो दीप्तिमान् तथैव परमात्मज्योतिरपि दीप्तिमद् इदं सत्यं ज्ञानम्, सूर्यो ज्योतीरूपम्, ज्योतिश्च सूर्यरूपमिदमपि सत्यम्' इति, तदपि

है) ज्योति और सूर्य दोनों एक ही हैं, अतः ज्योतीरूपी सूर्य को दिया हुआ हवि 'सुहुत' हो। उसी तरह वर्चस् (तेज) और अग्नि तथा वर्चस् और सूर्य दोनों एक ही हैं। ज्योति और वर्चस् ये भी दोनों एक ही हैं। इसलिये उस अग्नि और सूर्य को दिया हुआ हवि 'सुहुत' हो। ज्योति और सूर्य एकरूप होने से उनको दिया हुआ हवि सुहुत हो। यह नवाँ और दसवाँ मन्त्र 'अग्निहोत्र' होम के हैं। ब्रह्मवर्चस् की इच्छा रखनेवाला अग्निहोत्री 'अग्निर्वर्चः' मन्त्र से सायंकाल और 'सूर्यो वर्चः' मन्त्र से प्रातःकाल होम करे, अथवा 'ज्योतिः सूर्यः' यह भी प्रातःकाल का मन्त्र है ॥ ९ ॥

किञ्चित्, मन्त्रे तादृशार्थबोधजनकपदाभावात्, मन्त्राक्षरैस्तथार्थासिद्धेः। प्रसिद्ध्यनुसारेण शब्दानां तेषु तेष्वर्थेषु शक्तिग्रहो भवति। एवं रीत्या ज्योतिःशब्दस्य अग्नि-सूर्य-परमात्मसाधारणज्योतिषां बोधकत्वेन परमात्मपरत्वे मानाभावात्। लक्षणादिभिस्तु समेषां शब्दानां तत्तज्जातिवाचकत्वेन जातीनां च परसत्तारूपायां जातौ पर्यवसानात् परसत्तायाश्च परमात्मरूपत्वेन पारम्पर्येण समेषां शब्दानां परमात्मपर्यवसायित्वं सम्भवत्येव, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यः। स्वाहाशब्दस्य देवहविर्दाने प्रसिद्धत्वात् सत्यवचनार्थकत्वं गौणवृत्त्याश्रयणेनैव, तत्तु नैव शोभनं प्रमाणहीनमिति नैकधा कथितम्।

दयानन्दस्तु—'अग्निर्जगदीश्वरः स्वाहाज्योतिः सर्वस्मै ददाति। एवं भौतिकोऽग्निः सर्वप्रकाशकैर्ज्योतिर्ददाति। सूर्यश्चराचरात्मा स्वाहाज्योतिः सर्वात्मज्ञानं ददाति। एवमयं सूर्यः सूर्यलोको ज्योतिर्दानं मूर्तद्रव्यप्रकाशनं च करोति। सर्वविद्याप्रकाशकोऽग्निर्जगदीश्वरः मनुष्यार्थं सर्वविद्याधिकरणं स्वाहा वेदचतुष्टयं प्रादुर्भावयति। एवं ज्योतिर्विद्युदाख्योऽयमग्निः शरीरब्रह्माण्डस्थो वर्चो विद्यावृष्टिहेतुर्भवति। सूर्यः सकलविद्याप्रकाशको जगदीश्वरः सर्वमनुष्यार्थं स्वाहा वर्चः प्रकाशकं विद्युत्सूर्यप्रसिद्धाग्न्याख्यं तेजः करोति। एवं ज्योतिः सूर्यलोकोऽपि वर्चः शरीरात्मबलं प्रकाशयति। सूर्यः प्राणो ज्योतिः सकलविद्याप्रकाशकं ज्ञानं कारयति तथाऽयं ज्योतिर्ज्योतिर्मयः सूर्यो जगदीश्वरः स्वाहा स्वाहुतं हविः स्वसृष्टपदार्थेषु स्वशक्त्या सर्वत्र प्रसारयति' (पृ. २४८) इति, तदपि न सङ्गतम्, श्रुतिसूत्रादिविरुद्धत्वात्। स्वाहापदार्थास्तदुक्तास्तु पूर्वमेव निरस्ताः, निरुक्तवचनानामन्यार्थत्वोक्तेः। 'ज्योतिः सर्वव्यवहारप्रकाशकम्, वर्चः चक्रवर्त्यादिराज्यदीपकम्' इत्यादिकं तु निर्मूलमेव। प्रत्यक्षविरुद्धं चैतत्। नहि परमेश्वरः सर्वस्मै सत्यवाणीयुक्तविज्ञानप्रकाशयुक्ता विद्या ददाति, तथात्वे मिथ्याऽविद्यायुक्तमनुष्यानुपलम्भापत्तेः। हिन्द्यामेव—'एवमग्निः शिल्पविद्यासाधनप्रकाशं ददाति' इत्यपि रिक्तं वचः, त्वद्रीत्या जडस्याग्नेर्विद्यासाधनप्रकाशदातृत्वानुपपत्तेः। एवं वेदानां विद्याधिकरणत्वमपि चिन्त्यम्, चेतनात्मनामेव विद्याधिकरणत्वात्।

अत्र विषये शतपथे (२।३।१।१–३३) स्थले विस्तरेण विचारो दृश्यते। 'सूर्यो ह वा अग्निहोत्रं तद्यदेतस्या अग्र आहुतेरुदैत्तस्मात् सूर्योऽग्निहोत्रम्'। सायंप्रातर्होमयोः कालविशेषविधित्सया अग्निहोत्रं सूर्यात्मना प्रशंसति—एतस्या सृष्ट्यादौ प्रजापतिना प्रथमं हुताया आहुतेः सूर्य उदैत् तस्मात् सूर्योऽग्निहोत्रम्, 'य इह अग्नौ तस्मिन् सूर्ये सति इदं हविर्जुहवानीति मन्यते स सायमग्निहोत्रमस्तमिते कुर्यात् प्रातर्होमं चानुदिते कुर्यात्। अनुदितो हि सूर्योऽग्निनैकीभूतो वर्तते। अग्निं वादित्यः सायं प्रविशति' (तै० ब्रा० २।१।३।९) इति श्रुतेः। अतोऽपि सूर्यसम्बद्धमग्निहोत्रम्। अथ यदस्तमेतीति तदग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशतीति सूर्यस्य गर्भभावमनु रात्रौ सर्वाः प्रजाः गर्भा एव भवन्ति। रात्रौ सर्वाः प्रजा एकविधं ज्ञानं प्राप्ताः शेरते। अग्नौ गर्भरूपेण प्रविशन्तमभि होमं कुर्वन् परस्मिन् दिवसे पुनर्जनयितुं वर्धयति। सायंहोमस्य गर्भवृद्धिहेतुतामभिधाय प्रातर्होमस्य तज्जननहेतुत्वमुक्तम्। 'अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति प्रजनयत्येवैनमेतत्सोऽयं तेजो भूत्वा विभ्राजमान उदेति। यदस्मिन्नाहुतिं न जुहुयात् तदा शश्वद्ध नोदियात्। यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येत, एवं सूर्यो रात्रेः पाप्मनो निर्मुच्यते सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति। अनुदितहोमान्ते सूर्यस्योदये सति यथाप्रयोजनं सर्वाः प्रजा विसृज्यन्ते'। सायमग्निहोत्रस्याहवनीयस्य विहरणमस्तमयात् प्रागेव कर्तव्यमित्याहवनीयमुद्धरति। गार्हपत्यादाह-

भाष्यसार—काण्वसंहिता भाष्य के प्रथम अनुवाक में अग्न्याधान के मन्त्र और द्वितीय अनुवाक में अग्निहोत्र के मन्त्र बताये गये हैं। काण्वोक्त मन्त्र से समिदाधान करके 'अग्निर्ज्योतिः' मन्त्र से पुनः हवन करे। यहाँ मन्त्र में

वनीयं प्रणयेत् । कुत एतदिति तत्रोक्तम्—एते खलु सूर्यस्य रश्मयो विश्वेदेवा यत्परं भा रश्मीनामुपर्यवस्थितं सूर्याख्यं ज्योतिः स प्रजापतिर्वा इन्द्रो वा तद् ज्योतिः । तद्व ह वै विश्वेदेवाः । तेऽस्तमयात् प्रागवस्थिता विश्वेदेवा अग्निहोत्रं जुह्वतो गृहान्तर्गच्छन्ति । स यस्यानुद्धृतमागच्छन्ति तस्माद्देवा अपप्रयन्ति, आहवनीयानुद्धरणे सत्याश्रयाभावाद् निवर्तन्ते । आगतानां देवानां यदपागमनं तद् यजमानस्याग्निहोत्रव्यृद्धिरेव । तस्याग्निहोत्रस्य व्यृद्धिमनुलक्ष्य यश्च वेद यश्च न वेद ते सर्वेऽनुद्धृतमाहवनीयमभिलक्ष्य सूर्योऽस्तमगादिति निन्दन्ति । अथ यः पुरादित्यस्यास्तमयाद् आहवनीयमुद्धरति यथा आसनेनोपक्लृप्तेनायास्यन्तं श्रेयांसं यथोपासीत तथास्तमयात् प्राग् आहवनीयोद्धरणम् । तेन यस्योद्धृतमागच्छन्ति तस्याहवनीयं प्रविशन्ति ।

विज्ञानभाष्याभिमानिनस्तु आहवनीयकुण्डाद् भस्मोद्धरणमेवाहवनीयोद्धरणं मन्यन्ते । तच्च हरिस्वामि्यादिभाष्यविरुद्धम्, मूलशतपथविरुद्धं च । यदि सूर्यास्तमयात्पूर्वं भस्मोद्धरणं क्रियेत तदा भस्मोद्धरणेन सार्धं तत्रत्या विश्वेदेवा अपि उद्धृता भवेयुस्तस्मात्प्राणानामुद्धरणात् तदग्निहोत्रमेव ऋद्धिशून्यं भवेदिति तन्मतम् । मूले तु 'यस्यानुद्धृतमागच्छन्ति तस्मादपप्रयन्ति । यस्यास्तमयात्प्राग् आहवनीयस्योद्धरणं गार्हपत्यादाहवनीयेऽग्निप्रणयनं न कृतं भवेत् तस्य गृहे देवा आयान्ति, परमाहवनीयाग्निरूपाश्रयस्याभावाद् अपप्रयन्ति । तस्मादशुद्धमेव तद्व्याख्यानम् । कात्यायनोऽपि—'गार्हपत्यादाहवनीयस्योद्धरणमनस्तमितानुदितयोः' (का० श्रौ० ४।१३।२) । अनस्तमितानुदितयोर्गार्हपत्यादग्नेः प्रणयनम् । आहवनीयखरे पञ्चभूसंस्कारान् कृत्वा तत उद्धरणं कृत्वा प्राञ्चं नीत्वा स्थापयेत् ।

'स यत्सायमस्तमिते जुहोति, अग्नावेवैभ्य एतत्प्रविष्टेभ्यो जुहोति । अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति, अप्रेतेभ्य एवैतज्जुहोति । तस्मादुदितहोमिनां विच्छिन्नमग्निहोत्रं मन्यामह इति ह स्माहासुरिः' (श० २।३।१।९) । यथा आगतेऽतिथौ गृहादपगते सति शून्यं तदावासस्थानं प्रतिपन्नमिति तर्पणीयान्नादिकमाहरेत्, एवमाहवनीयाद्रश्मिरूपेषु देवेष्वपयातेषु तेषूदितं सूर्यं प्रति गतेषु तदुद्देश्येनाहवनीयहोमशून्ये गृह आहार्याहरणमिव व्यर्थमेव स्यात्तद्धवनम् । देवशून्ये गृहेऽग्निहरणमिति तु निरर्थकमेव ।

प्रकारान्तरेणाप्यस्तमितानुदितहोमौ प्रशंसति —द्वयं वेति । द्वयं वा इदं जीवनं मूलि चैवामूलं च । तदुभयं देवानाꣳ सन्मनुष्या उपजीवन्ति । पशवो मूला ओषधयो मूलिन्यः । ते पशवो मूला ओषधीर्मूलिनीर्जग्ध्वाऽपः पीत्वा तत एष रस सम्भवति' (श० २।३।१।१०) । मूलयुक्ता ओषधयो मूलिन्यस्तद्रहिताः पशवोऽमूलाः । अत एव पशवो मूला इत्यस्य अमूला इत्यर्थः कार्यः । मूले मूलाभावान्मूलस्याप्यमूलत्वसाम्यान्मूलाः पशवोऽमूलिनीरोषधीर्जग्ध्वाऽपः पीत्वा दुग्धं प्रयच्छन्ति । तस्मात् क्षीरादिरसो मूल्यमूलोभयनिष्पन्नो भवति । 'स यत्सायमस्तमिते जुहोति । अस्य रसस्य जीवनस्य देवेभ्यो जुहवानि यदेषामिदꣳ सदुपजीवाम इति स यत्ततो रात्र्याश्नाति हुतोच्छिष्टमेव तन्निरवत्तवल्यश्नाति हुतोच्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जुह्वदशिता' (श० २।३।१।११) । अर्थान्मूल्यमूलोभयनिष्पन्नसर्वप्राणिजीवनहेतोः क्षीरात्मकस्य रसस्य भागं प्रथमं देवेभ्यस्तत्स्वामिभ्यो जुहवानि, पश्चात्तदुपभुक्तशेषैः सर्वे वयमुपजीवाम इत्यनेनाभिप्रायेण पयसाऽग्निहोत्रं जुहुयात् । अतो होमानन्तरं रात्र्या कालेन यद् अशितं भवति तत् हुतोच्छिष्टमेव भुक्तं भवति । निष्कृष्यावत्तो वलिर्देवभागो यस्मात्तन्निरवत्तवलिः । एवमग्निहोत्रं कुर्वन् पुरुषो हुतोच्छिष्टस्यैव रात्रौ अशिता भवति ।

अग्नि और ज्योति की एकता बताई गई है । प्रातः अग्निज्योति सूर्य में प्रविष्ट हो जाती है और सायं सूर्यज्योति अग्नि में प्रविष्ट हुआ करती है ।

'अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति—अस्य रसस्य जीवनस्य देवेभ्यो जुहवानि…' (श० २।३।१।१२), प्रातर्होमेऽपि तथैव। अन्ये ज्योतिष्टोमादयो यज्ञाः सन्तिष्ठन्ते समाप्यन्त एव। द्वादशसंवत्सरसाध्यमपि सत्रमन्तवदेव भवति। अग्निहोत्रं त्वनन्तत्वादसंस्थितमेव भवति। 'सायं हुत्वा वेद प्रातर्होष्यामीति, प्रातर्हुत्वा वेद पुनः सायꣳहोष्यामीति। तत् तस्मादेतदग्निहोत्रम् अनुपस्थितमपरिसमाप्तं भवति तस्यानुपस्थितिमपरिसमाप्तिमनु इमाः प्रजा अनुपस्थिता अपरिसमाप्ताः प्रजायन्ते। अनुपस्थितः अपरिसमाप्तः सदा तद्युक्तः श्रिया प्रजया प्रजायते य एवमेतदनुपस्थितमग्निहोत्रं वेद' (श० २।३।१।१३)।

'तद्दुग्ध्वाधिश्रयति' इति चतुर्दशकण्डिकासारः—इति पयसो होमसाधनत्वं विधाय दोहानन्तरमग्नावधिश्रयणम्। यस्मिन् काले तत्पय उदन्तं पाकवशादुद्गतान्तं बुद्बुदवद् भवति, तस्मिन् काले तच्छृतं भवति। तदवस्थापन्नेन पयसा जुहुयादित्येकेषां मतं निरस्य पक्षान्तरमाह—रेतःसंस्तुतं ह्येतत्पयः, तच्चोपदग्धम् अजानि अप्रजननशीलं प्रजोत्पादकं न भवति। कथं तर्हि होतव्यमित्याह—'अधिश्रित्यैव जुहुयात्…' (श० २।३।१।१५)। न तु पाकेनोदन्तं करोति। 'यन्नु एतदग्नेरेतस्तस्याꣳ रेत प्रासिञ्चत् तत्पयोऽभवत्' (श० २।२।४।१५)। तथा चाग्निरेतस्त्वादेव पयः शृतमेव सर्वदा। अतश्चाधिश्रयणमात्रादेव तच्छृतं भवतीति तदवस्थेनैवजुहुयात्। 'तदवज्योतयति' (श० २।३।१।१६)। ज्वालायुक्तेन दर्भाग्रेण अवाङ्मुखं पयः प्रकाशति पश्यति। अथापः प्रत्यानयति तत्र पयसि जलं निक्षिपति। तेन तस्य पयसः शान्तिर्भवति रसस्य पूर्तिश्च भवति। जलवृष्ट्यैवौषधयो जायन्ते। ता जग्ध्वाऽपः पीत्वा तत एव रसो भवति। अतो रसपरिपूर्णतायै पयसि उदकस्तोकबिन्दुर्निक्षेप्यः। यज्ञादन्यत्रापि शान्त्यै रसस्य परिपूर्णतायै उदकस्तोकमाश्च्योतवै ब्रूयात्—'तृणेनावज्योत्यासिच्यापः पुनरवज्योत्य निधाय त्रिरुद्वासयत्युदक्' (का० श्रौ० ४।१४।५)। अधिश्रितं पयो दर्भतृणज्योतिषावज्योत्य स्रुवेण पयसि अप आसिच्य पुनरवज्योत्य निधाय मुक्त्वा त्रिरुदीच्यां दिश्युद्वासयेत। अवज्योतनस्य (प्रकाशनस्य) शृताशृताज्ञानरूपदृष्टार्थत्वात् तदधिश्रयणाभावे तण्डुलदध्यादावभावः। अवसेकोऽपि दृष्टार्थ एव, उदकस्य क्षयो यथा न स्यात् स पयसः पुनरवज्योतनस्याप्युदकक्षयवित्त्यर्थत्वान्न तण्डुलादावसेकादिकम्। 'चतुरः स्रुवानुन्नयति' (का० श्रौ० ४।१४।१०)। 'अथ चतुरुन्नयति' (श० २।३।१।१७)। चतुर्भ्यः स्तनेभ्यो दुग्धत्वाच्चतुर्धा विहितं होदं पयश्चतुरः स्रुवानुन्नयति। वैकङ्कत्यां स्रुचि निःक्षिपति। समिद्धेऽग्नौ होमार्थमुन्नीतपयस्कायां वैकङ्कत्यां स्रुचि एकां समिधमुपरि निधाय गार्हपत्यदेशादाहवनीयं प्रति गच्छेत्। गत्वा च तस्मिन्नाहवनीयापरभागे होमद्रव्यमनुपसाद्य अभिघार्य हस्ते धृत्वैव गार्हपत्यदेशादाहवनीयं प्रतिसृत्यैव पूर्वामाहुतिं जुहुयात्।

'उपरि समिधं धारयन् वार्क्षीमध्यधि गार्हपत्यादाहवनीयꣳ हरति मुखमात्रे धारयन्'(का.श्रौ. ४।१४।१२)। चतुर्गृहीतपयस उपरि पलाशादिवृक्षीयां समिधमङ्गुल्यन्तरितां धारयन् अध्यधि गार्हपत्यस्योपरि समीप एव स्रुचं धारयित्वा मुखमात्रे स्रुचं धारयन् आहवनीयं प्रति होमार्थं नयेत्। 'मध्ये निगृह्योद्गृह्योपविश्य समिधमादधात्यग्निज्योतिषं त्वा वायुमतीं प्राणवतीꣳ स्वर्ग्याꣳ स्वर्गायोपदधामि भास्वतीमिति' (का० श्रौ० ४।१४।१३)।

किसी ने कहा है कि यह भौतिक अग्नि ही परमात्मज्योति की प्रतिनिधिभूत है, क्योंकि अग्नि और परमात्मा दोनों ही दीप्तिमान् हैं। किन्तु उक्तार्थ का प्रतिपादक वैसा शब्द मन्त्र में उपलब्ध न होने से वैसा अर्थ करना उचित नहीं है। शब्दों का शक्तिग्रह प्रसिद्धि के अनुसार तत्तद् अर्थों में हुआ करता है, अतः गौण वृत्ति का आश्रय लेकर अर्थ करना शोभा नहीं देता और प्रमाणहीन भी है।

गार्हपत्याहवनीययोरन्तराले मुखमात्रधृतां स्रुचं नाभिप्रदेशं यावन्नीचैर्गृहीत्वा पुनर्मुखमात्रे एव गृहीत्वा आहवनीयं प्राप्योपविश्य स्रुचं वामहस्ते कृत्वा दक्षिणेन समिधमादध्यादग्निज्योतिषमिति मन्त्रेण आज्यस्थाल्याः सकाशात् चतुरः स्रुवान् स्रुवि उन्नयेत्, चतुर्गृहीतस्याहुतिद्वयार्थत्वात्। पूर्वाहुत्यनन्तरं द्रव्यनाशादौ उत्तराहुत्यर्थं पुनश्चतुर्गृहीतं ग्राह्यम्। भक्षार्थस्य नाशादौ भक्षणस्य लोप एव न तदर्थं पुनर्ग्रहणम्। 'होष्यन्नुपसादयति' इति यदुपसादनं तैत्तिरीयके समाम्नातं तदनूद्य तस्यायुक्तत्वं दृष्टान्तेनोपपादयति—भोक्तुमुपविष्टस्य पुरः स्थितं पात्रमप्राप्य मध्यमार्गेऽशनं दित्सितान्नादिकं निदध्यात्, एवं तत उपसादनम्। अथ यदनुपसाद्य यथा यस्मा अशनमाहरेत्तस्मा आहृत्यैवोपनिदध्यादेवं तत्। प्रथमामाहुतिं हुत्वा उपसादनपुरःसरमेव द्वितीयामाहुतिं जुहुयादिति विधत्ते। एवमनुपसादनोपसादनलक्षणधर्मभेदादेते आहुती नानावीर्ये एव करोति। किञ्चेमे द्वे आहुती मनोवाग्रूपे। तस्माद्यथा मनश्च वाक् च समानमेव समाने एव, तद्वदाहुतित्वेन समाने अपि अनुपसादनोपसादनत्वेन विलक्षणे भवतः। इति सप्तदशकण्डिकाभिप्रायः।

होमोपमार्जनप्राशनोन्नयनानां संख्यामनूद्य प्रशंसति—स वै द्विरग्नौ जुहोति द्विरुपमार्ष्टि द्विः प्राश्नाति चतुरुन्नयति तद्दशाक्षरा वै विराड् विराड् वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद् यज्ञं सम्पादयति। उपमार्जनप्राशनयोर्विहितयोः स्तोतुमयोग्यत्वात् तयोरपि विधिरनुमेयः। होमोपमार्जनप्राशनानामुपयोगमाह—स यदग्नौ जुहोति तद्देवेषु जुहोति। तस्माद्देवाः सन्ति। (अग्नौ प्रक्षिप्तेनाग्निहोत्रहविषोपहितावयवाः सन्तः सर्वदा विद्यन्ते)। प्रथमोपमार्जनेन चौषधीनां तृप्तिः, द्वितीयेन पितॄणाम्। तस्मात्पितरश्चौषधयश्च सर्वदा विद्यन्ते। स यद्धुत्वा प्राश्नाति तन्मनुष्येषु जुहोति। तस्मान्मनुष्याः सन्ति, सर्वदा विद्यन्त इत्यर्थः। विंशकण्डिकासारः।

अग्निहोत्रहोमे याज्ञवल्क्याभिमतपाकयज्ञियत्वमुच्यते—'तदुहोवाच याज्ञवल्क्यः' (श० २।३।१।२१) इत्यादिना। दर्शपूर्णमासादिवदग्निहोत्रहोमो न केवलं यज्ञः, किन्तु पाकयज्ञ इवाग्निहोत्रहोमो भवति। यदन्यस्मिन् यज्ञे स्रुच्यवद्यति सर्वं तदग्नौ जुहोत्यथैतदग्नौ हुत्वोत्सृप्याचामति निर्लेढि तदस्य पाकयज्ञस्येवेति। तदस्य तत् पशव्यं रूपम्। पशव्यो हि पाकयज्ञः। अग्नौ हुत्वा किञ्चिदवशेषमुत्सृप्य बहिर्निर्गम्य आचमनलेहनादिकः पाकयज्ञधर्मोऽस्मिन् विद्यते तत् पाकयज्ञियमस्य पशव्यं पशुभ्यो हितं पशुप्राप्तिसाधनं भवति। 'सैषैकाहुतिरेवाग्रे यामेवामूं प्रजापतिरजुहोदथ यदेत एतत् पश्चेवाध्रियन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यस्तस्मादेषा द्वितीयाहुतिर्हूयते' (श० २।३।१।२२)। याममूं विप्रकृष्टमाहुतिं प्रजापतिः सृष्टिकाले प्रथममजुहोत् सैषैका अग्निहोत्रस्य पूर्वाहुतिः। अनन्तरं च यदेते अग्निवायुसूर्याः पश्चादिव अवस्थिता अतस्तदनुप्रीतये द्वितीयाहुतिः। सा या पूर्वाहुतिः साग्निहोत्रस्य देवता प्रधानदेवताप्रीतिकरी तस्मात्तस्यै जुहोत्यथ योत्तरा स्विष्टकृद्भाजनमेव सा। दुरिष्टिकृद्दोषमार्जनपूर्वकस्विष्टकृत्त्वसम्पादनाय यो होमो भवति स स्विष्टकृद्धोमः। तत्स्थानीयात्तस्मादुत्तरार्धे जुहोत्येषा हि दिक्। स्विष्टकृतस्तन्मिथुनायैव द्वितीयाहुतिर्हूयते। द्वन्द्वं हि मिथुनं प्रजननम्। तद् द्वयमेवैते आहुती भूतं चैव भविष्यं च, जातं च जनिष्यमाणं चागतं चाशा चाद्य च श्वश्च तद् द्वयमेवानु ……… उत्सृप्य निर्लेढ्याचम्योत्सिञ्चति देवान् जिन्व पितॄन् जिन्व तृतीयामुदुक्षति सप्त ऋषीन् जिन्वेति। स्रुक्स्थं हुतशेषं पात्रान्तरे हस्ते वा कृत्वा तद् द्रव्यमाचम्य भक्षयित्वा तत्पात्रं वा जिह्वया सकृदास्वादयति। ततः स्रुचं जलेन पूरयित्वा देवान् जिन्वेति मन्त्रेण दैवत्वादुत्तरतो जलमुच्छालयति, पुनर्जलेनापूर्य पितॄन् जिन्वेति दक्षिणत उच्छालयति, पुनस्तृतीयवारं

उसी प्रकार स्वामी दयानन्द ने भी कहा है कि जगदीश्वर अग्नि स्वाहाज्योति सबको देता है, उसी प्रकार भौतिक अग्नि सब को ज्योति देता है। सूर्यलोक ज्योतिर्दान और मूर्त द्रव्य का प्रकाशन करता है। सर्वविद्याप्रकाशक

जलमापूर्य तज्जलमैशान्यामुच्छालयेत् । चतुर्थीं कूर्चस्थाने त्रिर्निषिञ्चत्यग्नय पृथिवीक्षिते स्वाहा'''' । प्राक्संस्थं नीचैः क्षिपति ।

भूतम् अतीतकालावच्छिन्नं भविष्यद् आगामिकालावच्छिन्नम् । एवं बहुविधं तद्द्वयमेवानु तद्भागरूपे यथाक्रममेते आहुती भवतः । तयोराहुत्योः समन्त्रकामन्त्रकत्वे विधास्यन् भूतभविष्यदादिद्वन्द्वस्यात्मप्रजारूपत्वमद्धानद्धारूपत्वं च दर्शयति- 'आत्मैव भूतम् अद्धा हि तद् यद् भूतम् अद्धो तद्यदात्मा प्रजैव भविष्यदनद्धो तद् यत्प्रजाः' (श० २।३।१।२५) । 'आत्मैव जातम् अद्धा हि तद्यज्जातम् अद्धो तद्यदात्मा प्रजैव जनिष्यमाणमनद्धा हि तद् यज्जनिष्यमाणमनद्धो तद्यत् प्रजाः' (श० २।३।१।२६) । 'आत्मैवागतं प्रजैवाशा' (श० २।३।१।२७) । 'आत्मैवाद्य प्रजैव श्वः' (श० २।३।१।२८) । सा या पूर्वाहुतिः सात्मानमभि हूयते तां मन्त्रेण जुहोत्यद्धा हि तद्यन्मन्त्रः (एतेन यज्ञेषु मन्त्रोच्चारणमभ्यासार्थमेवेति सामाजिकानां मतमपास्तम्) । अद्धो तद्यदात्माऽथ योत्तरा सा प्रजामभि हूयते । तां तूष्णीं जुहोत्यनद्धा हि तद्यत्तूष्णीमनद्धो तद्यत्प्रजा' (श० २।३।१।२९) । उत्तराहुतिः भविष्यज्जनिष्यमाणानागताद्यात्मकप्रजास्थानीया चानद्धारूपा । अमन्त्रकत्वमपि तथेति तूष्णीमेव सा होतव्या । पूर्वा त्वात्मादिस्थानीयाऽतो समन्त्रका सा होतव्या कालद्वयेऽपि । पूर्वस्या आहुतेः क्रमेण मन्त्रं दर्शयति—स जुहोतीति । अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेत्यथ प्रातः, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तत्सत्येनैव हूयते । यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेत्यथाग्निर्ज्योतिः । यदा सूर्य उदेत्यथ सूर्यो ज्योतिर्यद्वै सत्येन हूयते तद्देवान् गच्छति' (श० २।३।१।३०) । मन्त्रयोः सत्यरूपत्वमुपपादयितुमर्थतत्तद्भावमाह—यदा हीति । अस्तंगतः सूर्योऽग्निमेवानुप्रविशति रात्रावग्निर्ज्योतीरूपो भवति । पुनरुद्यन्तं सूर्यमग्निः प्रविशतीत्यहनि सूर्यो ज्योतीरूपो भवति । अतश्च कालद्वयेऽग्निर्ज्योतिः, सूर्यो ज्योतिरित्येतन्मन्त्रवाक्यद्वयं समवेतार्थत्वात् सत्यम् ।

'तदु हैतदेवारुणये ब्रह्मवर्चसकामाय तक्षातूवाचाग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसी हैव भवति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' (श० २।३।१।३१) । तक्षाख्य ऋषिर्ब्रह्मवर्चसकामायारुणये अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्च इति मन्त्रद्वयेन होममुपदिदेश । ब्रह्मवर्चसकामस्य मन्त्रविशेषौ दर्शयति— 'अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्य' (का० श्रौ० ४।१४।१५) । 'तदस्त्येव प्रजननस्येव रूपम् । अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति । तदुभयतो ज्योतिषा रेतोदेवतया परिगृह्णात्युभयतः परिगृहीतं वै रेतः प्रजायते तदुभयत एवैतत्परिगृह्य प्रजनयति' (श० २।३।१।३२) । तस्मिन् होममन्त्रे प्रजननस्य रूपमिव रूपं दृश्यते ज्योतिःशब्दाभिधेयं मध्येऽवस्थितं रेत उभयतो देवतावाचिपदाभ्यां परिगृह्णाति, उभयतः परिगृहीतत्वं रेतसः प्रजननरूपं मन्त्रयोः प्रजननरूपसद्भावात् । ताभ्यां होमे प्रजासम्पत्तिर्भवति । 'तदु होवाच जीवलश्चैलकिः । गर्भमेवारुणिः करोति न प्रजनयतीति स एतेनैव सायं जुहुयात्' (श० २।३।१।३४) । एलकस्य पुत्र ऐलकिः, जीवलनामा महर्षिरुवाच । अनुक्रमण्यां तु चैलकिर्जीवल ऋषिः । आरुणिः गर्भमेव करोति न प्रजनयतीति । कालद्वयेऽपि ज्योतिःशब्दस्य देवतावाचिपदगृहीतत्वाद् रेतःपरिगृहीतमन्तरवस्थितं गर्भावस्थमेव भवति । न प्रजारूपेणोत्पद्यते, उभयतो देवताप्रतिरुद्धत्वाद् इत्युक्तदोषस्य परिहारमाह—स एतेनैव सायं जुहुयात् तेन गर्भो धृतो भवति । प्रातःकाले तु सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति मन्त्रेण होमे सति रेतोरूपस्य ज्योतिः-

जगदीश्वर अग्नि मनुष्य के लिये चारों वेदों को प्रकट कर देता है । इसी प्रकार अपनी कल्पना से प्रस्तुत बहुत सा अर्थ किया है, किन्तु वह भी श्रुति, सूत्र आदि के विरुद्ध होने से संग्रह के योग्य नहीं है ।

शब्दस्य बहिर्धाकरणाद् अन्तर्गतो गर्भो बहिः प्रजायते। 'अथ प्रातः। ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहेति तद्बहिर्धा ज्योती रेतो देवतया करोति। बहिर्धा वै रेतः प्रजातं भवति तदेनमेतत् प्रजनयति' (श० २।३।१।३५)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्। 'तदाहुः। अग्नावेवैतत् सायꣳ सूर्यं जुहोति सूर्ये प्रातरग्निमिति। तद्वै तदुदितहोमिनामेव। यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेत्यथाग्निर्ज्योतिर्यदा सूर्य उदेत्यथ सूर्यो ज्योतिर्नास्य सा परिचक्षेयमेव परिचक्षा यत्तस्यै नाद्धा देवतायै हूयते। याग्निहोत्रस्य देवताऽग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति तत्र नाग्नये स्वाहेत्यथ प्रातः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तत्र न सूर्याय स्वाहेति' (श० २।३।१।३६)।

अध्यात्मपक्षे तु अग्निरग्रणीत्वादिविशिष्टो देवो हिरण्यगर्भः सर्वजीवसमष्टिः, 'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्' (म० १२।१२३) इति मनुस्मृतेः। स ज्योतिर्ज्योतिषामपि ज्योतिर्ब्रह्मरूप एव, तत्त्वमस्यादिश्रुतेः। ज्योतिर्ब्रह्म चाग्निः समष्टिजीवरूपः। व्यतिहारनिर्देशोऽत्यन्ताभेदसिद्ध्यर्थः, 'अहं वै भगवो देवते त्वमसि त्वं वै भगवो देवते अहमस्मि' इति श्रुतेः। तस्मै प्रत्यक्चैतन्याभिन्नाय ब्रह्मणे स्वाहा। चतुर्थ्यर्थे प्रथमा। सर्वमिदं दृश्यं हुतमस्तु, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात्। एवं सूर्यो व्याहृत्यवयवो हिरण्यगर्भो ज्योतिर्ब्रह्मस्वरूपः। ज्योतिश्च सूर्यः। तस्मै ज्योतिःस्वरूपाभिन्नाय सूर्याय सूर्याभिन्नाय ज्योतिर्ब्रह्मणे स्वाहा। अग्निर्वर्चः ब्राह्मं तेजो ज्योतिश्चन्द्रादिश्च वर्चस्तस्मै स्वाहा। एवं सूर्यो वर्चः, तस्मै वर्चोऽभिन्नाय सूर्याय सूर्याभिन्नाय वर्चसे ब्रह्मणे स्वाहा सर्वमिदं हुतमस्तु। यथा मधुब्राह्मणे पृथिव्यामप्सु ज्योतिषि सूर्यादौ स्थितस्य तस्य तस्यामृतमयस्यात्मनो ब्रह्मणाऽभेद उक्तः सर्वात्मत्वबोधनाय, तथैवाग्नेः सूर्यस्य च ब्रह्मज्योतिषाऽभेदप्रदर्शनम्। अग्नेः सूर्यस्य अन्यस्य च विद्युच्चन्द्रादिज्योतिषो वर्चःस्वरूपेण ब्रह्मणाऽभेदप्रदर्शनं सर्वात्मत्वप्रदर्शनायैव। सूर्योपनिषदादौ सूर्यस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्ररूपत्वं सर्वकारणब्रह्मरूपत्वं चोक्तम्।

अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रेण जुह्वद् अग्नावेव सन्तं सूर्यं जुहोति। तथा च ज्योतिःशब्दः सूर्यवचनः। प्रातःकाले सूर्ये सन्तमग्निं जुहोति। अतः सूर्यो ज्योतिरिति ज्योतिःशब्दोऽग्निवचनः। अतो यथापठिताभ्यामेव मन्त्राभ्यां होम उदितहोमिनामेव सम्भवति नानुदितहोमिनाम्।

स॒जूर्दे॒वेन॑ सवि॒त्रा स॒जू रात्र्येन्द्र॑वत्या। जु॒षा॒णो अ॒ग्निर्वे॑तु॒ स्वाहा॑। स॒जूर्दे॒वेन॑ सवि॒त्रा स॒जूरु॒षसेन्द्र॑वत्या। जु॒षा॒णः सूर्यो॑ वे॒तु॒ स्वाहा॑॥ १०॥

'सजूरिति वा' (का. श्रौ. ४।१४।१४)। पूर्वोक्ताभ्यामग्निर्ज्योतिः सूर्यो ज्योतिरिति मन्त्राभ्यां सजूरित्यादिमन्त्रद्वयं विकल्पितमिति सूत्राभिप्रायः। देवेन सवित्रा प्रेरकेण परमेश्वरेण सह सजूः। सह जुषत इति कर्तरि क्विपि सजूः। यद्वा जोषणं जूः, समाना जूः प्रीतिर्यस्यासौ सजूः। परमेश्वरेण सह समानप्रीतिः 'जुषी

अध्यात्मपक्ष में—यह अग्नि सर्वजीव समष्टि हिरण्यगर्भ ही है। उस चैतन्याऽभिन्न ब्रह्म के लिये स्वाहा। चतुर्थी के अर्थ में प्रथमा है। यह सम्पूर्ण दृश्य हुत रहे। अधिष्ठान सत्ता के अतिरिक्त कल्पित सत्ता को नहीं माना जाता॥ ९॥

मन्त्रार्थ—प्रेरणा देनेवाले सवितृ देवता पर और इन्द्र के सहित रात्रि देवता पर समान प्रीति रखनेवाला अग्नि हम पर वैसी ही प्रीति करे और हमारे द्वारा अनुष्ठीयमान कर्म में आकर आहुति का भक्षण करे। अग्नि को दिया हुआ यह द्रव्य सुहुत हो। (इस मन्त्र को रात्रि में कहे और उत्तरार्ध सूर्य का मन्त्र है, उसे प्रातः कहे)।

प्रीतिसेवनयोः'। इन्द्रेण परमैश्वर्यवता देवेनोपेतया रात्र्या रात्रिदेवतया रात्रिसूक्तोक्तया सजूः समानप्रीतिरस्मासु जुषाणः प्रीतियुक्तः, हविर्वा जुषाणः सेवमान आहुतिमास्वादयन्नग्निर्वेतु हूयमानं हविर्भक्षयतु। 'वी प्रजननकान्त्यसनस्वादनेषु'। तस्मै स्वाहा हूयमानं हविरर्पितमस्त्विति सायंकालिकहोममन्त्रार्थः। इन्द्रवत्या देवेन सवित्रा सजूः उषसा सजूः जुषाणः सूर्यो वेतु हूयमानामाहुतिमास्वादयत्विति प्रातःकालिकहोममन्त्रार्थः। अस्तसमये सूर्योऽग्निं प्रविशतीत्युक्तत्वात् सूर्याग्न्योः सहावस्थानात् समानप्रीतिः। 'अग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे' इति रात्रेरग्नेश्च समानप्रीतिर्ज्ञायते।

अपर आह—'अयं भौतिकोऽग्निः सर्वप्रकाशकस्य सर्वोत्पादकस्य परमेश्वरस्य बलेन सेवनयोग्यः, तथा परमेश्वरीयशक्तिरूपाया रात्र्या बलेन सेवितुं योग्यः, सोऽग्निः सर्वं सेवमानः स्वमहिम्ना सर्वत्र व्याप्नोति। तथैव सर्वप्रकाशकस्य परमेश्वरस्य बलेन सूर्यः सेवनयोग्यः सर्वं सेवमानः स्वीयया महाशक्त्या सर्वत्र व्याप्नोति' इति। अत्र मन्त्रस्य कोऽभिप्रायः? पूर्वैर्मन्त्रैः सार्धमस्य मन्त्रस्य कीदृशी सङ्गतिः? अस्य रात्र्या उषसश्च विशेषणभूत इन्द्रः कः? कश्च तस्य ताभ्यां सम्बन्धः? सजूरित्यस्य सेवनयोग्य इति कथमर्थः? इत्यादिसर्वमप्याकाङ्क्षितमस्पष्टमेव। किञ्च, वेत्विति विध्यर्थो लोट् लकारः। न च व्यापकस्य व्याप्तिर्विधातुं प्रेरयितुं वा शक्या। सिद्धान्ते त्वस्याग्निहोत्रमन्त्रत्वाद् अनेनाग्नये हविर्दानम्। अग्निश्च ऐश्वर्यवान् देवः। स च स्वप्रकाशस्य सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य प्रीतिपात्रं तत्प्रीतिमांश्च। तयोः परस्परं समाना प्रीतिः। इन्द्रश्च परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः। तद्वती रात्रिः साधिष्ठाना प्रकृतिर्देवता। तयेन्द्रवत्या रात्र्या च सोऽग्निः प्रीतिमान् तत्प्रीतिपात्रं च। देवराजो वा इन्द्रो रात्रिस्तत्पूज्या सर्वप्रपञ्चस्वामिनी महाशक्तिः। स्वापोन्मुखायास्तस्या रात्रिपदव्यपदेश्यता प्रबोधोन्मुखाया उषस्पदव्यपदेश्यता च। तदंशभूता देवराजशक्तिर्वा रात्रिः। इन्द्रस्याग्नेश्च समानप्रीतिमत्त्वं वेदेषु पुराणेषु च बहुधा वर्णितम्। एवंविशिष्टगुणोऽग्निरस्मासु प्रीतिमान् भूत्वा अस्मद्दत्तामाहुतिं वेतु प्राप्नोतु आस्वादयतु भक्षयतु वा। एवमेव सूर्यसम्बन्धिमन्त्रार्थोऽपि ज्ञातव्यः। सूर्योऽप्यैश्वर्यवान् दिव्यो देवः। तन्मण्डले हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशो हिरण्यवर्णः परमात्मदेवस्तेन जुषमाण आस्ते। इन्द्रवत्योषसा पारमेश्वर्या शक्त्या च सूर्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकभावसम्बन्धोऽस्ति। इन्द्रवत्या उषसः प्रीतिपात्रं तत्प्रीतिमांश्च सूर्योऽस्मासु प्रीतिमानस्मदाहुतिं प्राप्नोतु आस्वादयतु भक्षयतु वा। आदित्यहृदयादौ सूर्यस्यैव विष्णुरुद्रेन्द्ररूपत्वमप्युक्तम्। तेन तेषां समानप्रीतिमत्त्वं युज्यते। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इति मन्त्रेऽप्यग्निमित्रेन्द्रादीनामभेद उक्तः।

कथमिति चेदुच्यते—सूर्येऽस्तंगतेऽग्निर्ज्योतिः प्रकाशमानो भवति। उदिते त्वाग्नेयतेजःसंक्रमात् सूर्यश्च प्रकाशवान् भवति। तस्माद् अग्निर्ज्योतिः सूर्यो ज्योतिरिति मन्त्रनिष्पन्नाग्निहोत्रहोमे गर्भमेव करोति न प्रजनयतीति पूर्वोक्तदोषो नास्त्येव। तर्ह्युदितपक्ष एवाश्रयणीय इत्याशङ्क्य तत्र दोषान्तरमाह—इयमेव परिचक्षेति। यद् यस्माद् अग्नये स्वाहा सूर्याय स्वाहा इति तस्यै देवतायै प्रत्यक्षं न हूयते, किन्त्वग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिति प्रथमान्तत्वेन सम्प्रदानविभक्तेरभावाद् देवतात्वस्य परोक्षमेवास्य पक्षस्य निन्देत्यर्थः।

प्रेरणा देनेवाले सविता परमेश्वर पर और इन्द्र से युक्त उषा देवता पर समान रूप से प्रीति करनेवाला सूर्य हम पर वैसी ही प्रीति करे और हमारे द्वारा अनुष्ठित होनेवाले कर्म में आकर आहुति का भक्षण करे। सूर्य को दिया हुआ यह द्रव्य सुहुत हो। अथवा 'सजूः' मन्त्र से होम करे, अर्थात् होम करने में नवें और दसवें मन्त्र का विकल्प है॥ १०॥

अनिन्द्यं पक्षान्तरमाह—'अनेनैव जुहुयात् सजूर्देवेन सवित्रेति । तत्सवितृमत्प्रसवाय सजू रात्र्येन्द्रवत्येति तद्रात्र्या मिथुनं करोति सेन्द्रं करोति । इन्द्रो हि यज्ञस्य देवता जुषाणोऽग्निर्वेतु स्वाहेति तदग्नये प्रत्यक्षं जुहोति' (श० २।३।१।३७)। तदेव कात्यायनेनोक्तम्—'प्रदीप्तामभिजुहोत्यग्निर्ज्योतिरिति सजूरिति वा' (का० श्रौ० ४।१४।१४)। प्रक्षिप्तां समिधं प्रदीप्तामभिलक्ष्य तदुपरि मध्येऽल्पद्रव्येण प्रथमाहुतिं जुहुयात् । अनेन मन्त्रेण होमे 'जुषाणोऽग्निर्वेतु' इत्युक्त्या यजमानोऽग्नये प्रत्यक्षं जुहोति । सवितृमत्प्रसवाय सजूरुषसेन्द्रवत्येत्यह्लेति । अह्ला वोषसा वा मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि यज्ञस्य देवता जुषाणः सेवमानोऽग्निः, वेतु कामयतामिति प्रतिपादनात् । अग्नेर्होमः प्रत्यक्ष इति प्रागुक्तपक्षाद्वैलक्षण्यम् । तत्र सवित्रेत्युक्त्या प्रजननप्रेरणा भवति, तस्यैव प्रेरकत्वात् । सजू रात्र्येन्द्रवत्येति कथनेन मिथुनसम्पत्तिद्वारा प्रजननसम्पत्तिरुपपद्यते । 'अथ प्रातः सजूर्देवेन सवित्रेति सवितृमत्प्रसवाय सजूरुषसेन्द्रवत्येह्लेति वा तदह्लां वोषसां वा मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि यज्ञस्य देवता जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहेति तत्सूर्याय प्रत्यक्षं जुहोति । तस्मादेवमेव जुहुयात्' (श० २।३।१।३८) । उक्तव्याख्यावदेव व्याख्येयम् ।

'ते होचुः को न इदꣳ होष्यतीति ब्राह्मण एवेति ब्राह्मणेदं नो जुहुधीति किं मे ततो भविष्यतीत्यग्निहोत्रोच्छिष्टमेवेति स यत्स्रुचि परिशिनष्टि तदग्निहोत्रोच्छिष्टमथ यत्स्थाल्यां यथा परीणहो निर्वपेदेवं तत्तस्मात्तद्य एव कश्चन पिबेत्तद्वै नाब्राह्मणः पिबेदग्नौ ह्यधिश्रयन्ति तस्मान्नाब्राह्मणः पिबेत्' (श० २।३।१।३९)। हुतशिष्टस्थालीमध्यस्थपयसो ब्राह्मणानां पानं विधित्सुस्ततोऽन्य एव ब्राह्मणोऽग्निहोत्रस्याध्वर्युरिति प्रतिपादयति- -ते होचुरिति । ते होचुः—नोऽस्माकमभावे को हीदं होष्यति । तत्रोत्तरं ब्राह्मण एव यजमानाभावे होष्यति । अत एव हे ब्राह्मण इदं जुहुधि । ब्राह्मणः पृच्छति किं मे ततो भविष्यति ? तत्रोत्तरम्—अग्निहोत्रोच्छिष्टलाभो भविष्यति । अग्निहोत्रसाधनभूतायां स्रुचि यद् हुतशिष्टं तस्यैव द्विः प्राश्नानीति प्राशनं विहितम् । यत्तु स्थाल्यामवशिष्यते तद् नाग्निहोत्रोच्छिष्टम् । तत्र दृष्टान्तः—यथा परीणहः परितो नद्धं परिश्रितं धान्यपूर्णं शकटोपरि स्थापितं यथा तस्माद् हविषो निर्वापयितुं तद्गतं धान्यं न शिष्यते, किन्तु पुनरपि यागान्तरयोग्यमेव, एवं तत्स्थाल्यां पय इत्यर्थः । तथा चाध्वर्योरिव तत्पानमिति नियमाभावाद् यः कोऽपि ब्राह्मणस्तत्पिबेत् ।

दयानन्दस्तु—'अयमग्निर्देवेन सवित्रा जगदीश्वरेणोत्पादितया सृष्ट्या सजूः सह जुषाण इन्द्रवत्या रात्र्या सह सजूः स्वाहा जुषाणः सन् वेतु पदार्थान् व्याप्नोति । एवं सूर्यो देवेन सवित्रा सकलजगदुत्पादकेन धारितया सृष्ट्या सह जुषाण इन्द्रवत्योषसा सह स्वाहा जुषाणः सन् हुतं द्रव्यं वेतु व्याप्नोति' इति, तत्तु यत्किञ्चित्, सवित्रेतिपदेन तदुत्पादितायाः सृष्टेर्ग्रहणे मानाभावात् । एवं 'विद्युत्समूहवत्या रात्र्या सह जुषतेऽग्निर्व्याप्नोति' इति कोऽस्याभिप्रायः ? रात्राविव दिनेऽपि विद्युत्समूहस्य विद्यमानत्वात् तत्राप्यग्निर्व्याप्नोत्येव । उत्तरत्र तु इन्द्रवत्या सूर्यप्रकाशसहितयोषसा जुषाणः सेवमानः सूर्यो व्याप्नोतीति तादृश एव । भावार्थे तु—'ईश्वरेण निर्मितोऽग्निस्तत्सत्तया स्वरूपं धारयन् रात्रिस्थान् व्यवहारान् प्रकाशयति ।

भाष्यसार—सूर्य देवता सबके सेवन करने योग्य हैं, वह अपनी महाशक्ति से सर्वत्र व्याप्त हैं, ऐसा अर्थ किसी ने किया है । परन्तु मन्त्र का अभिप्राय क्या है ? पूर्व मन्त्र से प्रस्तुत मन्त्र की संगति क्या है ? इत्यादि अनेक प्रश्नों को मन्त्रार्थ करने के पूर्व समझ लेना चाहिये था । मन्त्र में तो अग्नि, मित्र, इन्द्र आदि देवताओं का अभेद बताया गया है ।

एवं सूर्यं उषःकालमेत्य सर्वाणि मूर्तद्रव्याणि प्रकाशयितुं शक्नोतीति परमेश्वरो मनुष्येभ्य उपदिशति' इति, परमेतत्तु प्रसिद्धमेवेति कृतमीश्वरोपदेशेन। त्वद्रीत्या अग्नेर्जडस्य कथमिन्द्रवत्या रात्र्या जुषमाणत्वं कथं वा तथाविधस्य सूर्यस्योषसा जुषमाणत्वम्। शतपथविरोधस्तु स्पष्ट एव। यत्तु—'समाना प्रीतिर्यस्यासौ सजूरिति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरप्राप्तेः सर्वमयुक्तम्। तत्पक्षे कथं कृत्स्वरेणेष्टस्वरसिद्धिः' इति, तदपि तुच्छम्, 'व्यत्ययो बहुलम्' इति सूत्रेण तत्समाधानात्, त्वयापि तत्र तत्र तथैवाभ्युपगमात्।

अध्यात्मपक्षे तु—देवेन द्योतनात्मकेन सवित्रा सर्वजगदुत्पादकेन परमात्मना सह जुषत इति सजूः समानप्रीतिरग्निरग्रणीर्यजमानः 'यजमानोऽग्निः' (श० ६।५।४।४) इति जीवात्मा तद्विषयकप्रीतिमान् तत्प्रीतिपात्रं च, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इति श्रुतेः। इन्द्रवत्या इन्द्रसंयुक्तया इन्द्रः परमात्मा अधिष्ठानभूतोऽस्या अस्तीति इन्द्रवती तया इन्द्रवत्या साधिष्ठानया रात्र्या भगवत्या सजूः समानप्रीतिः तत्प्रीतिमान् तत्प्रीतिपात्रं च जुषाणो नानाविधान् भोगान् सेवमानस्तथाविधोऽग्निर्वेतु सर्वं त्यक्त्वा ब्रह्मात्मकं सुखं वेतु कामयताम्। तस्मै स्वाहा इदं ब्रह्मात्मकं हविरर्पितमस्तु। तथैव सवित्रा देवेन सजूः समानप्रीतिः, इन्द्रवत्योषसा इन्द्रः परमात्मा तद्वत्योषसा रात्र्यंशभूतया प्रबोधोन्मुखया सजूः समानप्रीतिः सूर्यः क्षेत्रप्रकाशकः क्षेत्री जुषाणः संसारं सेवमानस्ततो विरज्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परमात्मानमेव वेतु कामयताम्। तस्मै परमात्माभिन्नाय क्षेत्रिणे स्वाहा सर्वमिदं स्वाहा। तस्मिन्नेव साक्षात्कारेण प्रविलापितमस्तु।

स संसारः, ज् जयः, ऊः रतिः, संसारजये रतः सवित्रा नारायणेन जुषाणः प्रीतियुक्तो नारायणार्पणं कर्म कुर्वाणः, अथवा संसारजये रत इन्द्रदेवतावत्या रात्र्या पितृयाणाधिष्ठात्र्या देवतया जुषाणः प्रीतियुक्तः, अग्निर्यजमानः, 'यजमानोऽग्निः' (श० ६।५।४।४) स्वाहा ब्रह्मार्पणकर्मणा सकामकर्मणा वा वेतु वं विष्णुं वसतिं स्वर्गं वा एतु प्राप्नोतु। सजूः देवेन सवित्रा कैवल्यमोक्षाधिष्ठातृदेवतया प्रीतियुक्तः सूर्यो ब्रह्मभावं प्राप्तो योगी स्वाहामहावाक्योपदेशेन वेतु ब्रह्म प्राप्नोतु' इत्यादिव्याख्यानं तु क्लिष्टकल्पनाबहुलं निर्मूलं च, स्वाहापदस्य निष्कामकर्माद्यर्थत्वे मानाभावात्। तथा स्वाहापदस्य महावाक्योपदेशरूपोऽर्थोऽपि चिन्त्य एव। श्रुतिसूत्रादिविरोधस्त्वस्मिन्नर्थे स्फुट एव।

एवम्—'विविधं नवनीतादिभोगजातं कृष्णाय भगवते निवेदयन् भक्तः प्रार्थयते सवित्रा देवेन भास्करेण सजूः प्रीतिमान् यजुर्वेदमुखेन भगवता तस्मै कर्मयोगस्योपदिष्टत्वे स्वशिष्यत्वात् तत्रानुरागो युक्तः। स्वप्रियायाः कालिन्द्याः पितृत्वेन श्वसुरत्वादपि तत्रानुरागो युक्तः। इन्द्रवत्या इन्द्रो योगेश्वरः कृष्णो विद्यते यस्यां रासक्रीडारजन्यां सा इन्द्रवती शारदी राका। तया रात्र्या प्रीतिमान् अग्निः स्वोपासकानां पापराशिदग्धा परमात्मा श्रीकृष्णोऽस्माभिरपि जुषाणः "अस्मास्वपि प्रीतो वेतु अस्मदर्पितं विविधभोजनवस्तुजातं भक्षयतु। इन्द्रः स्वभर्ताऽनिरुद्धः, तद्वती उषा वरुणपुत्री श्रीकृष्णस्य पौत्रवधूस्तया सजूः स्नेहातिरेकवान् वात्सल्यादिति भावः। सूर्यः अविद्यातमोनिरासकः श्रीकृष्णो वेतु' इति व्याख्यानं दयानन्दीयव्याख्यानापेक्षयाऽतीव सुन्दरम्, परं सिद्धान्तदृष्ट्या तु गौणार्थमेव ॥ १० ॥

स्वामी दयानन्द कहते हैं कि ईश्वर के द्वारा निर्मित अग्नि रात्रि के व्यवहारों को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार सूर्य भी उषाकाल में समस्त मूर्त द्रव्यों को प्रकाशित करता है। यह उपदेश परमेश्वर मनुष्यों को देता है और भी अन्यान्य बातें इसी प्रकार उन्होंने लिखी हैं, जो श्रौतसूत्र, शतपथ, पूर्वाचार्यों के तथा व्याकरण की दृष्टि से भी विरुद्ध हैं।

अध्यात्मपक्ष में—भगवान् श्रीकृष्ण हमारे द्वारा समर्पित वस्तुओं को स्वीकार करें। हम पर वे सर्वदा प्रसन्न रहें ॥ १० ॥

उप प्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये । आरे अस्मे च शृण्वते ॥ ११ ॥

'सायमाहुत्याᳪ हुतायां यजमानोऽग्नी उपतिष्ठते वात्सप्रेण । न वा । तिस्रस्त्रिरुपप्रयन्तोऽस्य प्रत्नां परिते चित्रावसविति चेति' (का० ४।१२।१–३) । सायं हि देवा उपविष्ठन्त इति वचनाद् वात्सप्रमिति चोपस्थानक्रिया नाम यद्यपि हुतायामित्युक्तम्, तथापि समिदाधानमन्त्रक्रमानन्तर्यात् तदनन्तरमेवोपस्थानं कर्तव्यम् । हुतशब्दो हुतप्रायविषयः । आहवनीयगार्हपत्यावग्नी उप प्रयन्तोऽध्वरमित्यारभ्य सुपोषः पोषैरित्यन्तं बृहदुपस्थानं देवदृष्टम् । तत्राद्ये द्वे आग्नेय्यौ गायत्र्यौ क्रमेण गोतमविरूपाभ्यामपि दृष्टे। तत्रादावाहवनीयोपस्थानमन्त्राः— वयं यज्ञानुष्ठातारः, उपप्रयन्त उपगच्छन्तः, अग्नयेऽग्न्यर्थमग्निप्रीत्यर्थम्, मन्त्रं मननेन त्राणकरमार्षमपौरुषेयशब्दसमूहं वोचेम उच्याम अब्रूयाम । कीदृशायाग्नये आरे दूरे अस्मे अस्माकं शृण्वते दूरेऽपि स्थिताय समीप इवास्माकं मन्त्रवाक्यं श्रोतुमुद्युक्ताय श्रवणाभिमुखाय वोचेमेति वचधातोराशीर्लिङि रूपम् । यद्वा आरे दूरे अस्मै अस्माकं समीपे च स्थिताय ।

अपरस्तु—'यज्ञमागच्छन्तः परमेश्वरस्योपासनायै मन्त्रानुच्चारयामः । सोऽस्माकं दूरे समीपे सर्वत्र शृणोति' इति । स्पष्टमत्रार्थो मन्त्राक्षराणि न स्पृशति । उपप्रयन्त इति प्रथमाबहुवचनमुपस्थानकर्तुर्बोधकम्, परमत्र अध्वरमुपगच्छतः परमेश्वरस्येत्यर्थो विभक्तिविपरीतः । 'अग्नये' इत्यस्यापि शब्दस्य विभक्तिविपरीतोऽर्थः । 'शृण्वते' इत्येतस्यापि विपरीतोऽर्थः । सिद्धान्ते तु वयं यजमाना अध्वरं यज्ञमुपप्रयन्तः, अग्नयेऽग्निप्रीतये मन्त्रसमूहं वोचेम उच्चारयामः । कीदृशायाग्नये ? आरे दूरे स्थितायापि, अस्मै अस्माकं समीपेऽपि स्थिताय शृण्वते मन्त्रं श्रोतुमभिमुखाय । अत्राग्निर्देवता । अग्निहोत्रे यदुद्देश्येनाहुतिर्दीयते तत्प्रीतये मन्त्रोच्चारणमुपासनमेव, सर्वात्मन ईश्वरस्यैवाग्न्यादिरूपेणाप्यवस्थानात् । 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥' (भ० गी० ९।२७) इति श्रीमद्भगवद्गीतारीत्याग्निहोत्रादीनि सर्वाण्यपि कर्माणि तदर्पणानि क्रियन्ते ।

सूत्रार्थस्तु—अग्नी आवहनीयगार्हपत्यौ वात्सप्रसंज्ञकेनोपस्थानेन वक्ष्यमाणेन 'उपप्रयन्त' (वा० सं० ३।११) इत्यारभ्य 'परि ते' (वा० सं० ३।३६) इत्यन्तेनानुवाकेन तिष्ठन्नुपतिष्ठेत । इदमेवोपस्थानं बृहदुपस्थानमुच्यते । तिस्र ऋचः, चित्रावसो इति यजुश्च यथास्थानस्थित एव त्रिर्जपेत् । नामग्रहणादेव त्रित्वसिद्धेस्तिस्र इति ग्रहणं स्वस्थानस्थितानामेव मन्त्राणां त्रिर्जपप्राप्त्यर्थम् ।

दयानन्दस्तु – 'उपप्रयन्त उत्कृष्टं निष्पादयन्तो जानन्तः, अध्वरं क्रियामययज्ञं मन्त्रं वेद वेदस्थं विज्ञानहेतुं वोचेम उच्याम । अग्नये विज्ञानस्वरूपायान्तर्यामिणे जगदीश्वराय आरे दूरे, अस्मे अस्माकं शृण्वते यो यथार्थतया शृणोति तस्मै, अध्वरमुपप्रयन्तो वयम् अस्मे अस्माकं दूरे चकारात् समीपे शृण्वतेऽग्नये जगदीश्वराय मन्त्रं वोचेमोच्याम' इति, तच्च न सङ्गतम्, उपपूर्वस्येण्धातोरुत्कृष्टनिष्पत्त्यर्थत्वे मानाभावात् । शतपथे सूत्रे चाग्नेरुपस्थाने मन्त्रोऽयं प्रयुक्तः । तथाहि 'प्रजापतिर्वा एष भूत्वा यावत ईष्टे यावदेनमनु तस्य रेतः सिञ्चति । यदग्निहोत्रं जुहोतीदमेवैतत् सर्वमुपतिष्ठमानोऽनुविकरोतीदᳪ सर्वमनुप्रजनयति' (श० २।३।४।८) । यस्मात् कारणादग्न्युपस्थानमवश्यं कर्तव्यं तदुच्यते—प्रजापतिर्वेति । अग्निहोत्रहोमो हि रेतःसेकस्थानीयगर्भाशये

मन्त्रार्थ—यज्ञ में उपस्थित होनेवाले हम लोग दूर से तथा समीप से श्रवण करनेवाले अग्नि को उद्देश्य करके मन्त्र कहते हैं। सायंकाल की आहुति का होम करने के पश्चात् इस मन्त्र से लेकर छत्तीस संख्या तक के मन्त्रों से आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों का उपस्थान करना चाहिये ॥ ११ ॥

निषिक्तस्य रेतसो हस्तपादादिमत्त्वेन यद्विशिष्टरूपकरणं तदग्न्युपस्थानसाध्यम् । अतोऽग्निमुपतिष्ठमानो यजमानः सर्वमिदं निषिक्तं विशिष्टरूपं कुर्वन् अनुप्रजनयति अनुक्रमेणोत्पादयति । तस्मादवश्यमग्न्युपस्थानं कर्तव्यम् ।

'स वा उपवत्या प्रतिपद्यते । इयं वा उप द्वयेनेयमुप यद्धीदं किञ्च जायतेऽस्यां तदुपजायते । अथ यन्मृच्छत्यस्यामेव तदुपोप्यते तदह्ना रात्र्या भूयो भूय एवाक्षय्यं भवति । तदक्षय्येणैवैनद् भूम्ना प्रतिपद्यते' (श० २।३।४।९) । तत्रोपस्थानाङ्गभूतायाः प्रथमाया ऋचो लिङ्गविशेषमुपन्यस्य प्रशंसति—स वेति । उपवत्या उपशब्दयुक्तया ऋचा प्रतिपद्यते उपतिष्ठते इयं वा उप योऽयमुपेत्युपसर्गः, इयं भूमिरेव सः । द्वयेन द्विप्रकारेण इयं भूमिर् उपशब्दवाच्या । तदेव प्रकारद्वयं दर्शयति—यद्धीदमिति । यत्किञ्च जायमानं तत्सर्वमस्यामुपजायते यन्मृच्छति नितरामार्तिं प्राप्नोति तदप्यस्यामेव उपोप्यते निलीयते । अतो जायमानेन लीयमानेन चेयं भूमिरुपगम्यत इत्युपशब्दवाच्या सा । यत्रेदं जायमानं लीयमानं यत् तद्भूय एव अहोरात्राभ्यामक्षय्यं भवति । तत्सम्बद्धोपशब्दयुक्तया ऋचा प्रतिपद्यमानः क्षयरहितेन भूम्ना प्रतिपद्यते । उपस्थानं प्रारभ्यते । कश्चित्तूत्पत्तिप्रलयाभावेनाहोरात्रं मन्यते । 'स आह । उपप्रयन्तोऽध्वरमित्यध्वरो वै यज्ञः । उपप्रयन्तो यज्ञमित्येवैतदाह । मन्त्रं वोचेमाग्नय इति मन्त्रमु ह्यस्मा एतद्वक्ष्यन् भवत्यारे अस्मे च शृण्वत इति । यद्यप्यस्मदारकादस्यथ न एतच्छृण्वेवैवमेवैतन्मन्यस्वेत्येवैतदाह' (श० २।३।४।१०) । क्रमेणोपस्थानमन्त्रान् विधित्सुरुपवतीमृचं विधाय प्रशंसति—यद्यप्यस्मदारकादसीति । स्पष्टार्थमेतत् । आरे अस्मे चेत्यस्मच्छब्दात् पञ्चम्यर्थे शे आदेश इति व्याचष्टे—अस्मदारकादिति । हे अग्ने ! त्वं दिव्यदेवरूपत्वाद्यद्यप्यस्मत्त आरकाद् दूरे असि, तथापि शृण्वते अस्मदीयवाक्यं श्रोतुमुद्युक्ताय । अनेन शतपथीयव्याख्यानेन दिव्यत्वाल्लौकिकपुरुषेभ्यो दूरत्वमेवाग्नेरुक्तम् । अग्निशब्दस्येश्वरार्थत्वे तु दूरे स्थितिर्न सम्भवत्येव, तस्य व्यापकत्वेन सर्वगतत्वात् । दूरे स्थितस्यापि देवस्याग्नेस्तु महाभाग्यादैश्वर्यवशाद् दूरादपि श्रवणं सम्भवति । शैघ्र्येण समीपमागत्यापि श्रवणं सम्भवति । एतेन आरे समीपे 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरात्' इत्यपि न युक्तम्, शतपथश्रुतिविरोधात् ।

अध्यात्मपक्षे तु—अध्वरं हिंसारहितं वैदिकमार्गप्रदातारं वा यज्ञं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदं व्यापनशीलं विष्णुम् उपप्रयन्त उपतिष्ठमाना मन्त्रं मननात् त्राणकरं तदीयं मन्त्रमष्टाक्षरं द्वादशाक्षरं वा तदवबोधकं वेदवेदान्तवाक्यसमूहं वा, अग्नये सर्वपातकपुञ्जदाहकाय ब्रह्माकारवृत्तावभिव्यक्त्या स्वातिरिक्तसर्वप्रपञ्चदाहकाय विष्णवे वोचेम उच्चारयामः । कीदृशाय ? अस्मे अस्माकम् आरे दूरे स्थितायापि, चकारोऽप्यर्थकः, शृण्वते आकर्णयते स्तुतिस्त्वोमं श्रोतुं समुद्यताय वैकुण्ठवासिरूपदृष्ट्या व्यापकस्यापि दूरस्थायित्वसम्भवात् । यद्वा आरे वैकुण्ठपतिरूपेण चात् समीपे च प्रत्यगात्मरूपेण स्थित्वा भक्ताह्वानं शृण्वते आकर्णयते । भगवान् क्वचिदपि स्थितानां प्राणिनां

भाष्यसार—यज्ञ के समय उच्चारण किये जानेवाले मन्त्रों को सुनने के लिये अग्नि के रूप में परमेश्वर ही सम्मुख रहता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार अग्निहोत्रादि सभी कर्म उसीको अर्पित किये जाते हैं। यह मन्त्रोच्चारण उस परमेश्वर की उपासना ही है।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ करते हुए 'उप' पूर्वक 'इण्' धातु का 'उत्कृष्ट निष्पत्ति' अर्थ किया है, किन्तु वैसा अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। निष्कर्ष यही है कि शतपथ, श्रौतसूत्रादि के विरुद्ध होने से वह अर्थ उपेक्षणीय है।

अध्यात्मपक्ष में—वैदिक यज्ञमार्ग के प्रदर्शक भगवान् ही हैं। उनकी कृपा से ही ब्रह्माकार वृत्ति अभिव्यक्त हो पाती है। हमारे द्वारा उच्चारित अष्टाक्षर अथवा द्वादशाक्षरादि मन्त्रों को वे सुनते रहते हैं।

प्रार्थनाः शृणोति। यत्तु—'यज्ञकरणार्थं कृष्णेन सह मन्त्रणाय धर्मराजो व्याहरत्युपप्रयन्त इति। अध्वरो हिंसारहितो यज्ञस्तमुपप्रयन्तः, अर्थादग्निष्टोमादियज्ञेऽग्नीषोमीयाः पशवो हिंसनीया इत्येकदेशिमतं निरस्तम्। तमध्वरम् उपप्रयन्तो मनसिकृतानुष्ठाननिश्चयाः, अग्नये नीतिविदग्रेसराय श्रीकृष्णाय वोचेम। कीदृशाय आरे दूरे समीपे च, अस्मे अस्माकं प्रार्थनां शृण्वते आकर्णयते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिसूत्रादिविरोधात्। यज्ञिया हिंसा त्वहिंसैव, 'तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः' (म० स्मृ०) इति मनुस्मरणात्, 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत', 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्' (ब्र० सू० ३।१।२५) इत्यादिश्रुतिसूत्रादीनां विद्यमानत्वात् ॥ ११ ॥

अ॒ग्निर्मू॒र्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः पृथि॒व्या अ॒यम् । अ॒पाᳬरेताᳬसि जिन्वति ॥ १२ ॥

अयं दृश्यमानोऽग्निः, दिवो द्युलोकस्य मूर्धा शिरः, अङ्गेषु मूर्धेव देवेषु प्रधानत्वात्। यथा वा मूर्धा देहस्योपरि भवति, तथाग्निरप्यहनि स्वतेजसादित्ये प्रविष्टत्वाद् आदित्यरूपेण द्युलोकस्योपरि वर्तते। सर्वोपरि वर्तमानत्वादेवायमग्निः ककुदित्युच्यते, गवां गलपृष्ठोन्नतावयवः ककुत्, तद्वदादित्यरूपेण सर्वोपरि विराजमानत्वात् ककुत्सदृश इत्यर्थः। यद्वा 'ककुदमिति महन्नाम' (निघ० ३।३।१९)। पृषोदरादित्वात् ककुद् महानात्मा हिरण्यगर्भरूपेण जगत्कारणत्वात्, 'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्' (म० १२।१२३) इति मनुवचनात्। अयमेव पृथिव्याः पतिः पालकः, दाहपाकप्रकाशादिभिः पृथ्वीलोकस्योपकारकत्वात्। तादृशादित्यरूपोऽग्निः, अपां द्युलोकाद् वृष्टिरूपेण पतन्तीनां रेतांसि साराणि व्रीहियवादिरूपेण परिणतानि जिन्वति प्रीणयति वर्धयति। यद्वा अपां रेतांसि कारणानि पुष्णाति व्रीहियवाद्याहुतिपरिणामेन वृष्टिं जनयति, 'ते वा एते आहुती उत्क्रामतः' इत्यारभ्य 'यतस्ततः पुत्रो जायते स लोकः' इति श्रुतेः।

अपरस्तु—'सर्वस्वामी परमेश्वरः सर्वोपरि विराजते। स हि लोकादाकाशादादित्याच्च महान् सोऽपामुत्पादकसामर्थ्यानि पोषयति' इति। अस्मिन् व्याख्याने पतिः पृथिव्या इत्यंशो न व्याख्यातः। रेतःपदं स्वसामर्थ्यपरमित्यत्र मूलं चिन्त्यम्। सूत्रेण चाग्न्युपस्थाने विनियुक्तस्य मन्त्रस्याग्निस्तुतावेव तात्पर्यम्, परमात्मपरत्वेन तद्विरोधः स्फुट एव।

किसी ने 'अग्नीषोमीय पश्वालम्भन' को जो 'हिंसा' शब्द से कहा है, वह उचित नहीं है, क्योंकि भगवान् ने 'यज्ञिय हिंसा' को 'अहिंसा' शब्द से कहा है। अतः वेदमन्त्र की व्याख्या वही यथार्थ कही जाती है, जो शतपथादि ब्राह्मण, श्रौतसूत्र और याज्ञिक परम्परा के विरुद्ध नहीं होती ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक का मस्तकरूप तथा वृषभ के ककुद् के समान आदित्य के रूप में सबके ऊपर रहनेवाला और सम्पूर्ण जगत् का कारण तथा पृथिवी का पालन करनेवाला यह अग्नि वृष्टि के रूप में बरसनेवाले जल के परिणामस्वरूप व्रीहि-यवरूप धान्य का संवर्धन करता है ॥ १२ ॥

भाष्यसार—ऊपर दिये गये भावार्थ में भाष्य का सार गतार्थ है, अतः पृथक् से उसका नहीं दे रहे हैं।

किसी ने अग्नि की स्तुति में इसका तात्पर्य न बताकर कुछ पृथक् अर्थ ही बताया है, किन्तु वैसा मनःकल्पित पृथक् अर्थ करने में विरोध स्पष्ट प्रतीत हो जाता है।

दयानन्दस्तु—'अग्निरीश्वरो भौतिको वा मूर्धा सर्वोपरि विराजमानो दिवः सूर्यादेर्जगतः ककुद् महान् पृथिव्यादेः पतिः। अयमपां प्राणानां जलानां रेतांसि जिन्वति रचयितुं जानाति प्रापयति वा। 'जिन्वतीति गतिकर्मसु पठितम्' (निघण्टु २।१४)। यः प्रकाशवत् सूर्यादिकमप्रकाशवत् पृथिव्यादिकं रचयित्वा प्राणेषु बलं दधाति, योऽयं पृथिव्यादिजगतः पालनहेतुर्भूत्वा विद्युज्जाठरादिरूपः प्राणानां जलानां वीर्याणि जनयतिः स एव सुखसाधको भवति' इति, तत्तु यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारबहुलव्याख्यानत्वात्।

शतपथे तु 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपाᳬसि रेताᳬसि जिन्वतीत्यन्वेव धावति। तद्यथा याचन् कल्याणं वदेदामुष्यायणो वै त्वमस्यलं वै त्वमेतस्मा असीत्येवमेषा' (श० २।३।४।११) इति सिद्धवदनूद्य तात्पर्यमाह—अन्वेव धावतीति। अनुसृत्य प्रशंसति-यथा याचक इति। याचको यथा याचन् कल्याणं वदेद् आमुष्यायण अमुकस्य विशिष्टस्य वंशज! त्वमेतस्मै याच्यमानवस्तुदानाय त्वमलं समर्थस्तथैवानयाग्निः प्रार्थ्यते। पृथिव्याः पतिर्दिव. ककुत् समर्थोऽसि त्वमस्मान् स्वर्गं प्रापयितुमित्यग्निदेवताविशेषोपस्थानपरोऽयं मन्त्र इति स्पष्टं प्रतीयते।

अध्यात्मपक्षे तु—अग्निः परमेश्वरः, दिवो द्युतेः प्रकाशस्य मूर्धा मूर्धेव मूर्धा, सर्वनैरपेक्ष्येण प्रकाशमानत्वात् सूर्यादयः प्रकाशाः स्वसजातीयप्रकाशनैरपेक्ष्येऽपि चक्षुर्मनआदिप्रकाशसापेक्षा एव। ज्योतिषामपि ज्योतिः-स्वरूपः परमेश्वरस्तु सजातीयविजातीयसर्वविधप्रकाशान्तरनैरपेक्ष्येण भासमानस्तेषां मूर्धेव भवति। पृथिव्याः पृथिव्युपलक्षितस्य सर्वस्यैव जगतः सत्तास्फूर्तिप्रदानेनायमेव पालकः पतिः। स एव च अपां दुग्धदध्याज्य-सोमादिलक्षणजलबहुलानामप्समवेतानां कर्मणां रेतांसि तत्परिणामभूतानि शरीराणि फलानि च जिन्वति प्रीणयति पोषयति 'जिवि प्राणने'।

यत्तु—'युधिष्ठिरः सख्युः कृष्णस्य सामर्थ्यं वर्णयति—अयमग्निर्निगिरतो बकासुरस्य तालुमूलदाहकः, दिवः स्वर्गस्य ब्रह्मेन्द्रादेः ककुद् ककुदः अभिभविता महान् कृष्णेन निर्जितत्वात्। 'ककि सहने'। 'ककेरुहः' इति उह् प्रत्ययः। मूर्धा साम्प्रतं राजन्यवर्गस्य मूर्धा पराक्रमेण श्रेष्ठत्वात्। पृथिव्याः सत्राजित्सुतायाः सत्यभामायाः पतिः। एतेन कलङ्कमार्जनप्रसङ्गे बलभृतांवरो लङ्कासंग्रामेऽप्यमृतो जाम्बवान् ऋक्षराजोऽपि पराजित इति सर्वातिशायी पराक्रमोऽस्येति ध्वन्यते। अयमपां रेतांसि साराणि जलाध्यक्षं वरुणं जिन्वति प्रीणयति। स्वपित्रानयनप्रसङ्गेन तत्र गत्वा स्वदर्शनेन (बहुवचनमादरार्थम्)' इति, तत्तु भगवत्स्मारकत्वात् सिद्धान्ताविरुद्धत्वाच्च क्लिष्टकल्पनाबहुलमप्यादरणीयमेव। पृथिव्याः सत्यभामाया इत्यर्थे तु बीजं चिन्त्यम्॥ १२॥

स्वामी दयानन्द ने बताया है कि पृथिव्यादि जगत् का पालन-हेतु बनकर विद्युत् जाठरादिरूप होकर प्राण-जल के वीर्य को उत्पन्न करता है, वही सुखसाधक होता है। किन्तु यह व्याख्या निर्मूल और अध्याहारबहुल है। शतपथ के विरुद्ध होने से यह मन-मानी व्याख्या उचित प्रतीत नहीं हो रही है।

अध्यात्मपक्ष में सम्पूर्ण जगत् को सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करने के कारण परमेश्वर ही सम्पूर्ण जगत् का पालक है।

किसी ने कृष्ण के सामर्थ्य का वर्णन इसमें बताया है। इस अर्थ में क्लिष्टकल्पना के रहने पर भी उसे उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। तथापि 'पृथिवी' का अर्थ 'सत्यभामा' जो किया है, उसका हेतु चिन्तनीय है॥ १२॥

उ॒भा वा॑मिन्द्राग्नी आ हु॒वध्यै॑ उ॒भा राध॑सः स॒ह मा॑द॒यध्यै॑ ।
उ॒भा दा॒तारा॑वि॒षाᳪं र॑यी॒णामु॒भा वाज॑स्य सा॒तये॑ हु॒वे वा॑म् ॥ १३ ॥

इयमैन्द्राग्नी त्रिष्टुप् । इन्द्रशब्देनात्र सूर्यो गृह्यते । 'एष वा इन्द्रो य एष तपति' । अग्निपदेन चाहवनीयाग्निः । 'स यदस्तमेति तदाहवनीयं प्रविशति तदुभावेवैतत्सह सन्ता उपतिष्ठते' (श० २।३।४।१२) इति श्रुतेः । युवामुभौ इषामन्नानां रयीणां धनानां दातारौ । अत उभौ वां युवां वाजस्यान्नस्य सातये दानाय हुवे आह्वयामि । उभशब्दस्य विभक्तेराकारः 'षणु दाने' इति धातोः 'ऊतियूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' (पा० सू० ३।९।९७) इति निपातनात् सातिः । 'ह्वेञ् आह्वाने' इति धातोः शपि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० १।३।३४) इति सम्प्रसारणे उवङि 'हुवे' इति रूपम् ।

अस्य तात्पर्यं कण्वो दर्शयति—उभौ मे दातारौ सन्तौ दत्तमित्येवैवदाहेति सायणः । अपरस्तु राजपरत्वेनैतं मन्त्रं व्याख्याति । हे ऐश्वर्यवद् राजन्, हे शत्रुसन्तापक सेनापते, उभौ युवामैश्वर्येणानन्दलाभार्थमाह्वयामि । उभौ युवामन्नानामैश्वर्यस्य च दातारौ उत्तमान्नोपलब्धये भोगाय चाहमाह्वयामि' इति, अत्र व्याख्यातुः स्वाच्छन्द्यमेव । अग्न्युपस्थानमन्त्राणां राज-सेनापतिपरत्वयोजने, वाजस्यैकपदस्याप्यन्नस्य भोगस्य प्राप्त्य इत्यर्थकरणमपि निरङ्कुशमेव । कश्चायं राजसेनापत्योराह्वाता ? किं तदाह्वानेनैव धनैश्वर्यलाभः सेत्स्यति ? किमुत्कोचदानेन भोजनदानेन वा ततो बहुलिप्सुरेवमाह्वयति, कुतश्च वेदे तदुल्लेखः ? किमीश्वरवाणीरूपे वेदे एतादृगेवोपदेशः ? यद्वा इन्द्रशब्देनात्र यज्ञसाधकत्वरूपैश्वर्यवशादाहवनीयोऽग्निरुक्तः । अग्निशब्देन च गार्हपत्योऽग्निरुक्तः, अग्रे नयतीति यास्कोक्तेः, तस्यैव प्रथममाधीयमानत्वात् । हे इन्द्राग्नी वां युवामुभौ आहुवध्यै आह्वातुमिच्छामि । ह्वयतेस्तुमर्थे 'तुमर्थे सेसेन' (पा० सू० ३।४।९) इति कध्यैप्रत्ययः । राधसो हविस्वरूपाद्धनात् (राध्नोति हिनस्ति दारिद्र्यमिति देवयज्वा) सह मादयध्यै युगपदेककर्मणि युवां मादयितुं हर्षयितुमिच्छामीति शेषः । 'मदो हर्षे, मदी तृप्तौ' इति वा धातोर्विजन्तात् तुमर्थे शध्यैप्रत्ययः ।

यत्तु आङ्पूर्वकाद् ह्वयतेः ध्यैप्रत्ययेन आहुवध्यै इत्यस्य साधुत्वमुक्तम्, तदसङ्गतम्, 'तुमर्थे सेसेन' इति सूत्रे ध्यैप्रत्ययस्यानिर्देशात् । सम्पूर्णसूत्रस्वरूपं तु—'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यै-शध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः' (पा० सू० ३।४।९) इति । उव्वटस्तु उत्तमपुरुषस्यैकवचनस्थाने कध्यैप्रत्ययेन व्याचक्षाणो विमृश्य इत्युक्तिरेव विमृश्या, तत्पक्षे इच्छामीत्यध्याहारमन्तरैव व्यत्ययेन आह्वयामीत्यर्थापनस्य वैशिष्ट्यात् ।

दयानन्दस्तु—'इन्द्राग्नी इन्द्रो वायुः, विद्युदादिरग्निश्च । येऽग्निवायुगुणानविदित्वैतौ सम्प्रयुज्य कार्याणि साधयन्ति, ते सर्वाणि धनानि प्राप्य मोदन्ते नेतरे' इति, तदपि मन्दम्, मुख्यार्थत्यागस्य गौणार्थाश्रयणस्या-

मन्त्रार्थ—हे इन्द्राग्नी देवताओं ! मैं तुमको बुलाने की इच्छा करता हूँ और इस कर्म में तुम हविर्भाग को ग्रहण करके सन्तुष्ट हो जाओ, यह इच्छा करता हूँ । तुम धन देनेवाले हो, अतः धन देने के लिए मैं तुम्हें बुला रहा हूँ ॥ १३ ॥

भाष्यसार—'इन्द्र' शब्द से यहाँ 'सूर्य' का ग्रहण किया गया है । उपर्युक्त भावार्थ के अनुकूल ही सायण ने कहा है । किसी ने इस मन्त्र की व्याख्या राजपरक की है, किन्तु वह स्वच्छन्दता से भरी हुई है । उव्वट-महीधरोक्त अर्थानुकूल व्याख्या को ही सिद्धान्त समझना उचित है ।

युक्तत्वात्। नहि त्वद्रीत्या जडयोरग्निवाय्वोरिषां रयीणां च दातृत्वं सम्भवति, न तयोराह्वानं न वा मादनं सम्भवति।

शतपथे तु—'अथैन्द्राग्नी। उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या उभा राधसः सह मादयध्यै। उभा दाताराविषाᳪ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वामित्येष वा इन्द्रो य एष तपति स यदस्तमेति तदाहवनीयं प्रविशति तदुभावेवैतत्सह सन्ता उपतिष्ठते। उभौ मे सह सन्तौ दत्तामिति तस्मादैन्द्राग्नी' (श० २।३।४।१२)। अस्यामृचि इन्द्रशब्देन य एष तपति स सूर्य उच्यते। स यदस्तमेति तदाहवनीयं प्रविशति। तदुभावेव सह सन्तौ उपतिष्ठते। किमर्थम् ? सह सन्तौ दत्तं मह्यमभीष्टमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे तु —उभा उभौ इन्द्राग्नी, इन्द्रः परमैश्वर्यवान् रामः, अग्निश्च लक्ष्मणः, दनुजवनकृशानुत्वात्। तौ रामलक्ष्मणौ कृष्णबलदेवौ वा वां युवाम् आहुवध्यै आह्वातुमिच्छामि। उभौ सहैव राधसः, राध्नुवन्ति साधयन्ति पुरुषार्थाननेन धर्मानुष्ठानेनोपासनेनाराधनेन वेति राधस्तस्माद् राधसः प्रेमधनात् प्रेममयादाराधनाद्वा मादयध्यै युवां हर्षयितुमिच्छामि उभाविषामिष्यमाणानां पदार्थानां रयीणां तत्साधनभूतानां धनानां च दातारौ वाजस्य परमपुरुषार्थभूतस्य प्रेमलक्षणस्यान्नस्य सातये दानाय वां युवां हुवे आह्वयामि। 'वज गतौ' वज्यतेऽभिगम्यते सर्वैरिति वाजः। 'हुवे' इत्यत्र छान्दसत्वात् सम्प्रसारणम्।

कश्चित्तु—इन्द्रोऽर्जुनः, अग्निर्दैत्यदानवदहनः कृष्णस्तौ कलिन्दनन्दिनी प्रार्थयते—उभौ युवामहमाह्वातुमिच्छामि। राधस आराधनात् यथाविधिसत्कारादिसेवनात् सह युगपद् हर्षयितुमिच्छामि। युवामिषामभिलषितानां विष्णुपाणिग्रहणतत्पादपद्मसेवादिधनानां दातारौ, एकः साक्षादपरः प्रेरकत्वादिति। उभौ युवां वाजस्य विविधरुचिरभोजनस्य सातये दानाय ॥ १३ ॥

अ॒यं ते॒ योनि॑र्ऋ॒त्वियो॒ यतो॑ जा॒तो अरो॑चथाः।
तं जा॒नन्न॑ग्न आ॒रोहाथा॑ नो॒ वर्ध॑या र॒यिम् ॥ १४ ॥

तिस्र आग्नेय्योऽनुष्टुब्जगतीगायत्र्यः। तत्र प्रथमा देवश्रवोदेववातदृष्टा। पूर्वमन्त्रेऽग्निपदेन गार्हपत्यग्रहणेऽपि न तथात्र ग्रहणम्, यागे आहवनीयस्यैव प्राधान्यात्, मन्त्रार्थानुगमाच्च। हे अग्ने आहवनीय! ते तवायं गार्हपत्यो योनिर् उत्पत्तिस्थानम्। कीदृशः ? ऋत्वियः। उत्पत्तियोग्यः काल ऋतुरुच्यते। ऋतुः प्राप्तोऽस्येति ऋत्वियः। सायंप्रातरादौ तत्रोत्पादकत्वेन तथाविधकालोपेतः। ऋतुशब्दात्प्राप्तोऽस्येत्यर्थे 'छन्दसि घस्' (पा० सू० ५।१।१०६) इति घसि ऋत्वियरूपनिष्पत्तिः। सायंप्रातःकाल उत्पादनयोग्यो योनिः, यतो

स्वामी दयानन्द ने मुख्यार्थ को त्यागकर गौण अर्थ का जो आश्रय किया है, वह भी अनुचित है। क्योंकि वह शतपथ, श्रौतसूत्र, याज्ञिक परम्परा तथा व्याकरण के विरुद्ध है ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे आहवनीय अग्ने ! सायं और प्रातः उत्पन्न होने योग्य जो 'गार्हपत्य' अग्नि है, वह तुम्हारा उत्पत्तिस्थान है। तुम गार्हपत्य से उत्पन्न होकर कर्मकाल में प्रकट हुए हो, इसलिये हे अग्ने ! तुम गार्हपत्य को अपना उत्पत्तिस्थान समझकर कर्म के समाप्त होने पर उसमें प्रवेश करो। तदनन्तर यागानुष्ठानार्थ हमारे द्रव्य का संवर्धन करो ॥ १४ ॥

यस्माद् ऋतुकालोपेताद् गार्हपत्याद् जात उत्पन्न उद्धृतस्त्वमरोचथाः कर्मकाले दीप्तिमानभूः । तं गार्हपत्यं स्वजनकं जानन् हे अग्ने, आरोह कर्मान्ते तत्रैव प्रविश पुनरुद्धरणाय । अथानन्तरं नः अस्माकं रयिं वर्धय पुनर्यागाय स्फीतं धनं कुरु । तथैव पुष्टं वै रयिर्यदस्माकं पुष्टं तन्नो भूय एव कुरु तन्नो वर्धयेत्येवैतदाह (श० २।३।४।१३) ।

आधुनिकस्तु—'हे राजाग्ने ! तव तन्मूलमाश्रयस्थानम् ऋतुषु राजकर्तृषु सदस्येष्वाश्रितम्, यतः सामर्थ्योपेतो भूत्वा त्वं प्रकाशवान् भवसि । तन्मूलकारणं सम्यग् जानन् त्वमुच्चसिंहासनारूढो भव । अस्माकमैश्वर्यं वर्धय । पूर्वमन्त्रेऽग्निपदेन सेनापतिर्गृहीतः, इह तु राजाग्निसम्बोधनं किमाधृत्य धृतमिति तु नोक्तम् । मन्त्रे—अयं योनिरित्येकवचनेन मूलकारणस्यैकत्वमुक्तम् । ऋत्वियशब्दोऽपि तस्यैव विशेषणीभूतः । परं व्याख्यात्रा तु स्वाच्छन्द्येन क्रतूनां राजकर्तृणां सदस्यानां चाश्रयत्वमुक्तम् । मूले योनित्वमुक्तम्, व्याख्यात्रा तु ततः सामर्थ्यलाभ उच्यते । यदि निर्वाचनप्रथाङ्गीक्रियेत, तदा तु राजोत्पादकत्वमपि तत्रोपपन्नं स्यात्, किन्तु सर्वमेतद् व्याख्यानं ब्राह्मणसूत्रादिविरुद्धमेव । तत्पोषणाय 'क्रतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य वै' (१।१) इति वचनमुद्धृतम्, परं न तत्पोषकम्, यतस्तत्र सोमस्य राज्ञो राजभ्रातृत्वं क्रतूनामुक्तम् । क्रतूनां सोमस्य राज्ञः पोषकत्वात् । अयमिह प्रथमोऽधायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः । यमप्नवाना भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविश इति ।

दयानन्दस्तु—'अयं वायुस्तवेश्वरस्याग्नेर्वा सृष्टौ योनिः निमित्तकारणम्, ऋत्वियः ऋतुः प्राप्तोऽस्य सः । यतो जातो अरोचथा दीपयति व्यत्ययः । हे अग्ने ईश्वर विद्युद्वा, आ समन्ताद् रोह उन्नतिं गमय गमयति वा । अथास्माकं वर्धय सर्वोत्कृष्टतां सम्पादयति वेति' (पृ० २५७), तदेतदपि प्रकरणविरुद्धम्, यदपि 'यथावद्वि- दित्वा सम्प्रयोज्य कार्याणि साधनीयानि' इति, तदपि निःसारं प्रयोगस्यानुक्तत्वात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर ! 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्र- वर्णात् । अयमपरोक्षः प्रत्यगात्मा योनिर् आविर्भावस्थानम्, प्रत्यगभेदेनैव परमेश्वरस्य स्वप्रकाशत्वपरप्रेमा- स्पदत्वपरमानन्दत्वाद्याविर्भावसम्भवात् । स्वतस्तु परोक्षत्वादिकमेवानुभूयते । ऋत्विय आविर्भावयोग्यः काल ऋतुः । ब्रह्माकारवृत्त्युत्पत्तिकाले प्रादुर्भावयोग्यः । यतः स्वप्रकाशपरमानन्दरूपेणाविर्भूतो भवति, तमारोह प्रत्यगात्मरूपेणाविर्भव । अथानन्तरं रयिं ब्रह्मात्मनिष्ठारूपां सम्पत्तिं वर्धय उत्कृष्टभूमिकां प्रापय ॥ १४ ॥

भाष्यसार—पूर्व मन्त्र में 'अग्नि' पद से 'गार्हपत्य' का ग्रहण किया गया था, किन्तु इस मन्त्र में वैसा नहीं है, क्योंकि मन्त्रार्थ के अनुगमानुरोध से यहाँ 'आहवनीय' की ही प्रधानता है ।

किसी आधुनिक व्याख्याकार ने राजाग्निपरक व्याख्या की है, किन्तु ऐसी व्याख्या करने का कोई आधार स्पष्ट नहीं है । शतपथादि ब्राह्मण, सूत्र आदि के विरुद्ध रहने से इस प्रकार की व्याख्या को त्याज्य कोटि में समझना चाहिये ।

स्वामी दयानन्द ने भी प्रकरणविरुद्ध ही अर्थ किया है । यह श्रुति-सूत्र विरुद्ध भी है, अतः उपेक्षणीय ही है ।

अध्यात्मपक्ष में—ज्ञाननिष्ठा में तत्पर रहने वाले के लिये कहा गया है कि ब्रह्मात्मनिष्ठारूप सम्पत्ति को वृद्धिगत करो ॥ १४ ॥

अयमिह प्रथमोऽधायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ १५ ॥

इयं जगती वामदेवदृष्टा । अयमाहवनीय इह कर्मानुष्ठानस्थाने प्रथमः मुख्यः । धातृभिर् आधानकर्तृभिरधायि आहितः । होता देवानामाह्वाता । यजिष्ठो मानुषाद्धोतुरग्निरूपो होता यष्टृतमः, देवानामाह्वानाय यजिष्ठोऽतिशयेन यागोपयुक्तो वा । अध्वरेषु सोमादियज्ञेषु । ईड्यः स्तुत्यः । यमप्नवानो यमग्निं वनेषु वन्यारणिष्वास्थितमाधाय पूर्वेऽपि ऋषय अप्नवानप्रभृतयो भृगवो भृगोरपत्यानि, विरुरुचुः विविधां दीप्तिं प्राप्तवन्तः । कीदृशम् ? चित्रं चयनयागादिषु चयनीयम् । पुनः कीदृशम् ? विशेविशे विभ्वं विशिष्टजनेषु व्यापकं विभूतिशक्तियुतं वा ।

सायणरीत्या तु—अप्नशब्दस्य अपत्यनामसु पठितत्वाद् अप्नवानः पुत्रवन्तः भृगवो भृगुवंशोत्पन्नाः सर्वे महर्षयो विशेविशे विडिति मनुष्यनाम तस्मै तस्मै यजमानरूपाय मनुष्याय तस्योपकारार्थं वनेषु ग्रामाद् बहिर्यजनाख्येषु अरण्यप्रदेशेषु यमाहवनीयमग्निं रुरुचुर्विशेषेण दीपितवन्तः । कीदृशमग्निम् ? चित्रं विविधकर्मोपयोगित्वेन विचित्रमाश्चर्यकारिणं विभ्वं विभुत्वशक्तियुक्तम् । अयमित्यस्य मुख्यार्थपरत्वं तित्तिरिर्दर्शयति—'अयमिह प्रथमोऽधायि धातृभिरित्याह मुख्यमेवैनं करोति' इति ।

अध्यात्मपक्षे—इहलोके वेदे चायमपरोक्षः प्रत्यगात्मा प्रथमः प्रामुख्येन धातृभिर्लौकिकवैदिकव्यवहारपरायणैर्धायि न्यधायि पुरस्कृतः । अयमेव होता देवानामाह्वाता । अयमेव यजिष्ठो यष्टृतमः । अध्वरेषु प्रस्तुतेष्वयमेव यागादिकर्तृयजमानरूपेण हिरण्यगर्भादिरूपेण परमात्मरूपेण च ईड्यः स्तुत्यः । ध्यायिभिः प्रसंख्यानपरायणैश्चायमेव परमात्मरूपेण हृदये धायि ध्येयत्वेन धारितः । अप्नवन्तः पुत्रवन्तो भृगवो भृगुपत्न्या रक्षिताः सर्वे ऋषय आत्मरूपेण परमात्मरूपेण वने विरुरुचुः विशेषेण दीपितवन्तः प्रकाशितवन्तः, विशेविशे प्रतिजनं प्रतिप्रजनं चित्रमद्भुतमनेकधा देवतिर्यगादिरूपेणावस्थितं विभ्वं विभुताशक्तियुतं रोचयामासुः । अन्तर्भावितणिजर्थाद्विपूर्वकाद् रोचते रूपम् । अयं परमात्मा निर्गुणः सगुणो निराकारो वा साकारो वा रामः कृष्णः परशुरामो वा प्रथमः प्राथम्येन प्रामुख्येन धातृभिः श्रुतिशास्त्रकारकैर्ब्राह्मणैः, अधायि सर्वकार्येषु पुरस्कृतः, तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धच च' (भ० गी० ८।७) इति भगवत्स्मरणात् । होता पुण्याचरणाय सर्वेषां देवानां दानवानां मानवानां च आह्वाता अध्वरेषु यज्ञेषु याजकैर्यष्टृभिश्च स एवेड्यः । स्वयं च यजिष्ठो यष्टृतमो यजमानेषु शक्तिप्रदानेन रामकृष्णपरशुरामादिरूपेण च यजमानो भूत्वा अतिशयेन

मन्त्रार्थ—यह आहवनीय अग्नि इस स्थान में मुख्य है और आधान करनेवाले यजमान के द्वारा उसका स्थापन किया गया है । यह अग्नि देवताओं का आवाहन करनेवाला (बुलानेवाला) और उत्कृष्ट प्रकार से याग करने वाला है । यज्ञ में ऋत्विग् लोग उसकी स्तुति करते हैं । भृगुकुलोत्पन्न पुत्रवान् मुनियों ने प्रत्येक यजमान के लिये अरण्य में इस अग्नि को प्रदीप्त किया था । इस अग्नि का भिन्न-भिन्न कर्मों में उपयोग होता है, अतः वह महान् आश्चर्यकारक और व्यापक है ॥ १५ ॥

भाष्यसार—यजिष्ठः, अर्थात् मनुष्य होता की अपेक्षा यह अग्निरूप होता यष्टृतम, अर्थात् देवों को बुलाने में अधिक कुशल है । चयनादि यागों में चयनीय होने से इसे 'चित्र' कहा गया है ।

यष्टा, अप्नवानः पुत्रवन्तो वनेषु भृगूपलक्षिता मुनय ऋषयश्च यं ध्यात्वा विरुरुचुः लोके वेदे च दीप्तिमन्तोऽभूवन्, वेदपुराणादिशास्त्रैः कर्मोपासनज्ञानैर्यं विरोचयामासुश्च । कीदृशं तम् ? चित्रमाश्चर्यमयम् 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (भ० गी० २।२९) इत्यादिस्मरणात् । विभ्वं व्यापकं विशेविशे प्रतिजनं विरुरुचुः प्रकाशितवन्तः ।

दयानन्दस्तु—'अप्नवानो भृगवो विद्वांस इह वनेष्वध्वरेषु विशेविशे विभ्वं चित्रं यमग्निं विरुरुचुर्विदीपयन्ति सोऽयं धातृभिः प्रथम ईड्यः । होता यजिष्ठोऽग्निरिह धायि ध्रियते । अप्नवान इति अप्नान् विद्यासन्तानान् कुर्वन्ति ते अप्नवानः । 'अप्न इति अपत्यनामसु पठितम्' (निघण्टु २।२), 'भृगव इति पदनामसु' (निघण्टु ५।५) अनेन ज्ञानवत्त्वं गृह्यते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वायुजलादिशुद्ध्यर्थमग्नौ घृतादिनिःक्षेपस्य अध्वरयज्ञादिशब्दव्यपदेश्यताऽसम्भवात्, श्रुतिसूत्रादिविरोधाच्च ॥ १५ ॥

अ॒स्य प्र॒त्नामनु॒ द्युत॑ᳪं शु॒क्रं दु॑दुह्रे॒ अह्र॑यः । पयः॑ सहस्र॒सामृषि॑म् ॥ १६ ॥

अवत्सारदृष्टा गायत्री गोऽग्निपयोदेवत्या अग्न्युपस्थाने विनियुक्ता । 'स वै त्रिः प्रथमां जपति त्रिरुत्तमाम्' इति 'उपप्रयन्त' इत्यस्या इव 'अस्य प्रत्नाम्' इत्यस्या अपि उत्थाय त्रिर्जपः कार्यः । अस्याग्नेः प्रत्नां चिरन्तनीं द्युतं दीप्तिमनुसृत्य अह्रयो लज्जारहिता दोग्धारम् ऋषिम् अर्षति दोहनस्थाने गच्छतीति ऋषिर्गौः, ऋषी गताविति तन्निष्पत्तेः । तामृषिं गां शुक्रं शुक्लं श्वेतवर्णं पयः दुह्रे दुदुहेऽग्निहोत्रहोमार्थं दुग्धवन्तः । सायंदोहनकालेऽग्निसम्बन्धिदीप्ति(प्रकाशा)भावे दुह्यमानं क्षीरं भूमौ निपतिष्यतीत्येवं दोग्धृणां लज्जा भवति । अग्निदीप्तौ सत्यां तु दुग्धपतनशङ्काभावाद् लज्जादोषो नास्ति । सहस्रसामिति गोर्विशेषणम् । सहस्रसंख्याकानि कर्माणि स्यति क्षीरदध्याज्यादिप्रदानेन समापयति पूरयतीति सहस्रसा, तां सहस्रसामिति सायणानुसारी भावः ।

अपरस्तु—'दूराद् दूरं प्रज्ञया व्याप्नुवन्तो विद्वांसोऽस्य राज्ञः श्रेष्ठां कान्तिं सहस्रसंख्याकानां जनानामन्नवस्त्रशरणप्रदं पुष्टिकारकं बलं च गोदुग्धमिव प्राप्नुवन्ति' इति, अत्र विद्वांसोऽविद्वांसो वा कथमन्यनिष्ठां कान्तिं बलं च प्राप्तुं शक्नुवन्तीति न विचारितम्, अन्यनिष्ठरूपस्येवान्यनिष्ठकान्तेरन्यत्र संक्रान्त्यसम्भवात् । प्रत्नां सहस्रसामित्यादीनां पदानामर्थास्तु नोक्ताः । पदानपेक्षेच्छामात्रेण यत्किञ्चित् कथनं तु न वेदार्थः । सिद्धान्ते तूपस्थाप्यत्वेन प्रकृतस्याग्नेः प्रकृतपरामर्शिनेदमा ग्रहणं युक्तम् । राज्ञो ग्रहणे प्रकृतहान्यप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम् ।

अध्यात्मपक्ष में—यह परमात्मा निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, राम-कृष्ण, परशुराम आदि सभी रूपों में वेद-शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मणों के द्वारा प्रमुखतया पुरस्कृत किया जाता है ।

स्वामी दयानन्द ने वायु-जल आदि की शुद्धि के लिये अग्नि में घृत के प्रक्षेप को 'अध्वर' कहा है, किन्तु यह अर्थ तो श्रुति-सूत्र आदि के विरुद्ध रहने से ग्राह्य नहीं है ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—बहुत प्राचीन काल से इस अग्नि की कान्ति का अनुसरण करके (अग्नि की दीप्ति की ओर ध्यान देकर) दोहनेवाले लोग, निःसङ्कोच होकर जिसके दूध का उपयोग हजारों कार्यों में किया जाता है, ऐसी गौ के दूध का दोहन किया करते थे ॥ १६ ॥

उव्वटमहीधररीत्या तु—'तामुहाग्निरभिदध्यौ मिथुन्येन यास्यामीति ता७ह सम्बभूव तस्यां रेतः प्रासिञ्चत्' इत्यग्निहोत्रब्राह्मणोक्तमर्थमभिवदतीयमृक्। ब्राह्मणार्थस्तु—अग्निस्तां गामभिलक्ष्य दध्यौ चिन्तनं कृतवान् मिथुनधर्मेणैतामुपयास्यामीत्येवं ध्यात्वा तां सम्बभूव तया मिथुनीभूतस्तस्यां रेतः प्रसिक्तवान्। ननु चेदमश्लीलमिति चेन्न, श्रुतेरपौरुषेयत्वेनापास्तसमस्तकलङ्कपङ्काया अपर्यनुयोज्यत्वात्। तेनार्थमेवावगन्तुं शक्ष्यामो न पर्यनुयोक्तुम्। सत्यघटनायाः स्वानभीष्टाया अपि वर्णनं न दूषणम्। वस्तुतस्तु नेदमश्लीलम्, 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (भ० गी० १४।३) इतिवत्तत्समाधानोपपत्तेः। परमेश्वरः प्राकृतपुरुषवत् प्रकृतियोनौ न गर्भं दधाति, किन्तु स्वप्रतिबिम्बरूपं तेजस्तत्र निःक्षिपति। तेनैवाचेतनापि प्रकृतिश्चेतना भवति ततो महदादिप्रपञ्चं प्रसूते, तथैवाग्निरपि गोषु विलक्षणसामर्थ्योपेतं तेजो निक्षिपति, तेनैव तद्गतं घासादिकमुज्ज्वलदुग्धरूपेण परिणमते। उपलक्षणमिदम्। सर्वत्रैव स्त्रीष्वग्नितेजसैव दुग्धं भवति, तेनैवान्नादिपरिणामसम्भवात्। अत्र त्वग्नि-गो-पयसामग्निहोत्रादियज्ञसम्बन्धेन प्रशंसामिषेणैव तथोक्तिः, विधिना त्वेकवाक्यत्वेनार्थवादानां विधेयार्थप्राशस्त्यबोधपर्यवसायित्वात्। सामान्यस्त्रीणामपि—'अग्निष्टे प्रथमः पतिः' इति मन्त्रेणैवाग्नेः प्रथमपतित्वमुक्तम्।

मन्त्रार्थस्तु—अह्रयो गावः, नास्ति ह्रीर्यासां ता अह्रयः अलज्जाः प्रशस्ताः। मलिनो हि लज्जते न निर्मलः। निर्मला हि गावः, ब्राह्मणोक्ताग्निकृत्तेजोनिःक्षेपस्य लज्जानास्पदत्वात्। तादृश्योऽह्रयो गावोऽग्नेः प्रत्नां स्वभावसिद्धां चिरन्तनीं घृतं द्युतिमात्मनि सिक्तां शुक्रं शुक्ररूपापन्नां घृतमेव पयो दुग्धं दुहन्ति क्षरन्ति। अग्निना शुक्ररूपेण सिक्तां तदीयकान्तिमेव गावो दुग्धरूपेण क्षरन्ति। अस्मिन् व्याख्याने सहस्रसामृषिमिति च पयसो विशेषणे सहस्रं सनोतीति सहस्रसा तं 'षण् संभक्तौ' चातुर्मास्यपशुसोमानां संभक्तारम्। पुंस्त्वमार्षम्। संभक्तृसम्पादयित्रि इत्यर्थः, पयसैव तन्निष्पत्तेः। ऋषिं द्रष्टारम्, सामहिंकारद्रष्ट्रित्यर्थः। गत्रि वर्तमानं द्रष्टृत्वं तत्पयस्युपचर्यते, सा हैनानुदीक्ष्य हिंचकारेत्युपक्रम्य ते देवा विदाञ्चक्रुरेष साम्नो हिंकार इति श्रुत्या गौर्हिङ्कारद्रष्टृत्वोक्तेः। विभक्तिलिङ्गवचनव्यत्ययेन तु अह्रिय इत्यस्यैव तद्विशेषणम्। तेनाह्रियो गाव एव चातुर्मास्यादियागसम्पादयित्र्यः। ता एव हिंकारद्रष्ट्र्यः। उव्वटभाष्ये—शुक्ररूपापन्नां गां दुग्धं क्षरन्ति। का दुहन्ति रक्षन्तिका इति वाक्यानि संशोधकप्रमादजनितान्येव। तत्र गामिति स्थाने गावः, रक्षन्तीति स्थाने क्षरन्ति, का दुहन्ति रक्षन्तीति स्थाने का दुहन्ति क्षरन्तीति शोधने पूर्वोक्त एवार्थः। तज्ज्ञात्वैव महीधरेण तदनुसारेणैव व्याख्यातम्।

अध्यात्मपक्षे तु—अह्रयो लज्जाभयशोकादिवर्जिता वीतरागा अस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नस्य परमेश्वरस्य प्रत्नां पुराणीं पुराप्यभिनवां सहस्रसां स्वज्योतिषा सूर्यचन्द्रादिसहस्रप्रकाशप्रदां घृतं स्वरूपभूतां दीप्तिमृषिं सर्वद्रष्ट्रीमनुसृत्य शुक्रं शुद्धं तद्विषयमपरोक्षसाक्षात्काररूपं पयो दुदुह्रिरे प्रपूरितवन्तः।

भाष्यसार—यहाँ 'ऋषि' शब्द का अर्थ 'गो' है। सायंकाल के समय दोहनकाल में प्रकाश न रहने से भूमि पर दूध के गिरने से दोहनेवाले को लज्जा होना स्वाभाविक है। किन्तु अग्नि का प्रकाश होने पर दूध के गिरने की शङ्का नहीं रहती, इसलिये ग्वाले लज्जारहित हो जाते हैं।

किसी ने अपनी स्वच्छन्द व्याख्या को ही वेदमन्त्र की व्याख्या समझ लिया है, किन्तु वैसा साहस दिखाना उचित नहीं है। उव्वट-महीधर की व्याख्या ही वस्तुतः व्याख्या है, क्योंकि शतपथ, सूत्र, परम्परा आदि सभी व्याख्यागुणों से युक्त है। उव्वट की व्याख्या में किसी को 'अश्लीलता' दोष दिखाई देता है, किन्तु वह देखने वाले के

'अस्य जमदग्नेः प्रत्नामतिप्राचीनां द्युतं सर्वाभिलषितप्रदत्वेन द्योतमानां कामधेनुमनुभूय मयासौ क्रेतव्येति निश्चित्य अह्रियो निर्लज्जा राजानुचराः सत्कर्तुरपि मुनेर्धेनुं नेतारः । ऋषिं ऋषेः, गौणकर्मणि द्वितीया । सहस्रसां सहस्रप्रदाद् गोः शुक्रं शुद्धं पयो दुग्धमिव दुदुह्रिरे । दोहनं चात्र सारयुक्तवस्तुनः सारस्य पृथक्करणम्' इति, तत्तु बलादिव स्वाभिमतेऽर्थे मन्त्रस्य योजनमिव, दयानन्दीयव्याख्यानवत् क्लिष्टकल्पनाबहुलं च ।

दयानन्दस्तु—'अस्याग्नेः प्रत्नामनादिवर्तमानां पुराणीमनादिं स्वरूपेण नित्याम् अनु पश्चाद् द्युतं कारणस्थां दीप्तिं शुक्रं कार्यकरं साधनं दुदुह्रे प्रपूरयन्ति । अह्रयः अह्नुवन्ति व्याप्नुवन्ति सर्वा विद्या ये ते विद्वांसः । 'अह व्याप्तौ' इत्यस्माद् बाहुलकेनौणादिकः क्विन्प्रत्ययः । पयो जलं सहस्रसां या सहस्राण्यसंख्यातानि कार्याणि सनोति ताम् ऋषिं कार्यसिद्धिप्राप्तिहेतुम् । अन्वयस्तु—अह्रयो विद्वांसोऽस्याग्नेः सहस्रसामृषिं प्रत्नां द्युतं ज्ञात्वा शुक्रं पयश्चानु दुदुह्रे प्रपूरयन्ति । सर्वविद्याव्यापका विद्वांसोऽस्याग्नेः सहस्रसामसंख्यातकार्यप्रदामृषिं कार्यसिद्धिप्रापिकां प्रत्नां द्युतं कारणस्थां दीप्तिं ज्ञात्वा शुक्रं कार्याणां साधनरूपं पयो जलमनुदुदुह्रे अनुपूरयन्ति, अर्थाद् अग्नौ हवनादिकं कृत्वा वृष्ट्या संसारं पूरयन्ति' इति हिन्दीभाषार्थं इति, तदप्यसाम्प्रतम्, अनिरूपणात् । अग्नेः सा कारणस्था द्युतिर्या असंख्यातकार्याणां प्रापिका अग्नेः कारणं वायुर्भवति तत्र द्युतिरेव नास्ति । शुक्रं कार्यकरं साधनमिति तु निर्मूलमेव । अत्र ज्ञात्वेत्यध्याहारोऽपि निर्मूलः । अग्नौ हवनादिकं कृत्वेत्यादिकमप्यक्षरबाह्यमेव । 'अह व्याप्तौ' इति धातोर् अह्रय इति साधनमपि निरर्थकम्, विदुषां जीवानामणुत्वेन व्यापकत्वासम्भवात् । न च जीवानां सर्वविद्याव्यापकत्वमपि, जीवस्य सार्वज्ञ्याभावात् । नहि धनादिप्रापकस्यापि देवदत्तस्य तद्व्यापकत्वमुच्यते ।

यत्तु—'अह्लोतेर्वा क्विन्प्रत्ययः, ज्ञातार इति भट्टभास्करः' (पृ० २६१) इति, तत्तु धातोरनेकार्थत्वाश्रयेण ज्ञातव्यम् । न च प्रसिद्धार्थत्वे सम्भवत्यप्रसिद्धार्थाश्रयणं युक्तम्, तस्मादुव्वटसायणमहीधराणां नास्ति ह्रीर्लज्जा यासां ता अह्रय इति व्याख्यानमेव विजयते । वस्तुतस्तूव्वटाद्युद्धृतब्राह्मणानुसारेणाग्ने रेतोगर्भाधानप्रसङ्गेन गवां लज्जा प्राप्ता, तन्निवारणाय अह्रयो लज्जारहिता इत्येवार्थो युक्तः, व्याप्त्यर्थस्य धातोस्तत्रासङ्गतेः, अर्थानुसारेण स्वरव्यत्ययस्यापीष्टत्वात् ।

यत्तु कश्चित्तदनुकरणं कृत्वा 'पयोदोहने व्याप्तिमन्तस्त्वरया गोदोहनसम्भारमाप्नुवानाः' इत्युक्तवान्, तदपि तथाविधमेव युक्तिशून्यम्, कर्तॄणां कार्यव्यापकत्वासम्भवात् । नहि सर्वभूमिप्रापकोऽपि राजा भूमिं व्याप्नोति । तद्गतस्वामित्वमात्रेणौपचारिकमेव तद्व्यापकत्वमिति मन्तव्यम् ।

एवमेव 'वेदे पश्यत्यर्थं ऋषिः, दोग्धारः कदा मां दुहन्तीति कालं प्रतीक्षमाणाम्' इत्यपि यत्किञ्चित्, दर्शनप्रतीक्षयोर्भेदप्रसिद्धेः ।

मन में जमी अपनी अश्लीलता ही उसके सामने उपस्थित होती है और उसे दिखाई देती है, जिसे वह विश्वमान्य प्राचीन व्याख्याकारों की व्याख्या पर मढ़ने का प्रयत्न करता है ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, उसमें न तो कार्य-कारणभाव ही ठीक बैठ पा रहा है और न व्याकरण की संगति ही हो रही है । शतपथ, सूत्र आदि से तो व्याख्या का कोई मेल ही नहीं है, अतः ऐसी व्याख्या को सारहीन ही कहना होगा ।

शतपथे च—'अस्य प्रत्नाम्। अनुद्युत७ शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिमिति परमा वा एषा सनीनां यत्सहस्रसनिस्तदेतस्यावरुद्ध्यै तस्मादाह पयः सहस्रसामृषिमिति' (श० २।३।४।१५)। षष्ठीमृचं विधातुं प्रशंसति—परमा वा एषा इति। सनीनां दानानां मध्ये यत् सहस्रसनि सहस्रसंख्याकस्य दानम्, एषा परमा सनिः ॥ १६ ॥

तनूपा अ॑ग्नेऽसि त॒न्वं मे पाह्यायुर्दा अ॑ग्ने॒ऽस्यायु॑र्मे देहि वर्चोदा अ॑ग्नेऽसि वर्चो॑ मे देहि। अग्ने॒ यन्मे॑ त॒न्वा ऊ॒नं तन्म॒ आपृ॑ण ॥ १७ ॥

यजूंष्येतानि चत्वारि अग्निदेवत्यानि। हे अग्ने ! यस्त्वं स्वभावत एव तनूपा असि प्रकरणादग्निहोत्रिणां तनूः शरीराणि पासि गोपायिता, स त्वं मे मम तन्वं शरीरं पाहि गोपाय। यस्त्वमायुर्दा आयुषो दातासि हे अग्ने ! स त्वं मे मम आयुर्देहि। अत एव शरीरेषु यावदग्नेरौष्ण्यं पाचकत्वं च भवति तावदेव जीवनं भवति। हे अग्ने ! त्वं वर्चोदा वर्चसो वैदिकानुष्ठानप्रयुक्तस्य तेजसो दातासि, अतो मे वर्चो देहि येनाहं वर्चस्वी स्याम्। हे अग्ने ! मे मम तन्वाः शरीरस्य यत् चक्षुराद्यङ्गम् ऊनं न्यूनं दृष्टिपाटवादिरहितं तन्मे मम आपृण आसमन्तात् पूरय। अग्नेरनुग्रहेणैव समुचितरसपाकादिनिष्पत्त्या शरीरस्य व्यङ्गतानिवृत्त्या पूर्णं सौष्ठवं जायते।

आधुनिकस्तु अग्निशब्देन परमेश्वरो बोध्यत इति वक्ति, तत्तु श्रुतिविरुद्धमेव, मन्त्रस्यास्य कर्मसु विनियोगात्। 'यस्तनूपाः सर्वपदार्थदेहान् पाति परमेश्वरो भौतिकोऽग्निर्वा असि अस्ति। सर्वत्र व्यत्ययः। तन्वं शरीरं पाहि पाति वा। अग्ने विज्ञानरूपेश्वर विज्ञाननिमित्तोऽग्निर्वा असि। आयुर्जीवनं मे देहि ददाति। वर्चो विज्ञानं ददातीति वर्चोदाः। अग्ने सर्वविद्यामयेश्वर विद्याहेतुर्वा वर्चो विद्याप्राप्तिं मे देहि। हे अग्ने ! कामानां प्रपूरकेश्वर कामपूर्तिहेतुर्वा मम तन्वा अन्तःकरणाख्यस्य बाह्यस्य शरीरस्य वा ऊनमपर्याप्तं तत् तावत् तस्माद्वा आपृण पूरयति वा' (पृ० २६३) इति दयानन्दीयं व्याख्यानं त्वसङ्गतमेव, प्रकरणविरोधादसङ्गतेः, भौतिकाग्निपक्षे जडादायुरादिप्रार्थनासङ्गतेश्च।

शतपथे—'यद्ध वा अग्निहोत्रं जुह्वद् बाह्येन कर्मणा वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तदवघात्यायुषो वर्चसो वा प्रजायै वा' (श० २।३।४।२०), 'तदु खलु तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृणेति' (श० २।३।४।१९)। तनूपा अग्नेऽसीत्यादिमन्त्रैराहवनीयोपस्थानं विधित्सुस्तन्निवर्त्यं दोषमुपन्यस्यति यद्ध वा इति। अग्निहोत्रहोमं कुर्वन्

अध्यात्मपक्ष में—प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमेश्वर की प्रकाशप्रद सूर्य-चन्द्रादिरूप कान्ति का आश्रय कर वीतराग, ज्ञानी, भक्त आदि जन अपरोक्ष साक्षात्कार किया करते हैं ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! स्वाभाविक रूप से ही तुम अग्निहोत्री के शरीर के रक्षक हो, अतः मेरे शरीर का पालन करो। उसी प्रकार तुम आयु और तेज के देने वाले हो, अतः मुझे आयु और तेज दो। हे अग्ने ! मेरे शरीर और इन्द्रियों में जो न्यूनता हो, उसे तुम पूर्ण कर दो ॥ १७ ॥

भाष्यसार—'तनूं पाति' शरीर का जो पालन करता है, उसे 'तनूपा' कहते हैं। उदराग्नि में अन्न के जीर्ण होने पर ही शरीरपालन होता है। अपमृत्यु के परिहार के द्वारा आयु की कामना की गई है, क्योंकि अग्नि ही आयु का दाता है। जितने समय तक शरीर में उदराग्नि की उष्णता उपलब्ध होती है, तब तक मनुष्य मरता नहीं है।

बाह्येन व्यवहारसाध्येन मन्त्रोच्चारणेन शरीरसाध्येन कर्मणा यन्मिथ्याकरोति अन्यथानुतिष्ठति तत् तेन आत्मनो यजमानस्य आयुषो जीवनस्य वर्चसस्तेजसः प्रजायाश्च अवद्यति । वाशब्दश्चार्थे । तद्दोषपरिजिहीर्षया तदुचित-मन्त्रकरणकोपस्थानं कर्तव्यम् । तदु खलु तत्र खलु दोषे सति तनूपा अग्ने इत्यादिमन्त्रेणोपस्थानं कार्यम् । मन्त्रार्थस्तूक्त एव । दयानन्दीयं व्याख्यानं नैनमर्थं मनागपि स्पृशति ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने परमेश्वर ! त्वं तनूपा असि । सर्वेषामपि पदार्थानां तनूः शरीराणि स्वसत्तया स्फूर्त्या च सत्तावन्ति स्फूर्तिमन्ति च करोषि । अतो मे मम जिज्ञासोः, तन्वं स्वरूपं प्रत्यक्चैतन्यरूपं पाहि विवेकप्रदानेन अनात्मतादात्म्याध्यासाद् रक्ष । हे अग्ने ! आयुर्जीवनं ददासि स्वसत्तया सर्वपदार्थसत्त्वं सम्पादयसि, अतो मे मह्यमपि, आयुर् अनात्मनैरपेक्ष्येण स्वात्मनावस्थानहेतुभूतं स्वरूपसत्त्वं देहि; घटाकाशस्य महाकाशेनेव प्रतीचः परमात्मसत्त्वेन सत्तावत्त्वात् । हे अग्ने ! स्वप्रकाशपरमात्मन् ! त्वं वर्चोदाः सूक्तादिषु कर्मोपासनादि-परिनिष्ठितेषु च वर्चस्तेजः प्रकाशं ब्रह्मतेजश्च ददासि । अतो मे वर्चः प्रत्यगभिन्नब्रह्मापवरकाज्ञानापनोदनेन निवारणात्मप्रकाशरूपं वर्चो देहि । यन्मे तन्वश्चिदात्मशरीरस्योनमनात्मारोपेणाविवेकेन वा न्यूनत्वं व्यङ्गत्वं कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यारोपेणापरिच्छिन्नत्वं पूर्णत्वं परमानन्दरूपत्वमावृतं तदपाकरणेन आपृण आसमन्तात् पूरय ।

यत्तु – 'हे अग्ने जगदग्रणीः ! मे तत्त्वं तनूं सगर्भां पाहि रक्ष त्वं जगतस्तनूनां पालकोऽसि' इत्यादिनोत्तरा-कृतस्वगर्भरक्षणप्रार्थनापरत्वेन योजितम्, तत्तु यत्किञ्चित्, 'कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्' (भा० पु० १।८।१०) इति श्रीमद्भागवतविरोधात् । मन्त्रे तु तन्वा रक्षा प्रार्थिता न गर्भरक्षेति ॥ १७ ॥

इन्धा॑नास्त्वा श॒तꣳ हिमा॑ द्यु॒मन्तꣳ॒ समि॑धीमहि । वय॑स्वन्तो वय॒स्कृतꣳ॒ सह॑स्वन्तः सह॒स्कृत॑म् । अग्ने॑ सपत्न॒दम्भ॑न॒मद॑ब्धासो॒ अदा॑भ्यम् । चित्रा॑वसो स्व॒स्ति ते॑ पा॒रम॑शीय ॥ १८ ॥

अग्निदेवत्या महापङ्क्तिः, यस्यामष्टाक्षराः षट्पादा भवन्ति सा पङ्क्तिः, षष्ठः पादस्त्वत्र सप्ताक्षर एव । हे अग्ने शतं हिमा शतं वर्षाणि त्वा त्वां समिधीमहि नैरन्तर्येण त्वत्परिचर्यया त्वां वर्धयामः । यथा शरच्छब्देन संवत्सरोऽभिधीयते, तथैव हिमशब्देनापि संवत्सरो बोध्यते । यथेदानीं वसन्तसम्पाताद्वसन्तेन संवत्सरः प्रवर्तते, तथैव कदाचिच्छरदा कदाचिच्च हेमन्तेनापि सम्पातानुसारेण संवत्सरप्रतीतिरासीत् । नित्यया श्रुत्या शरद्धिम-शब्दाभ्यां संवत्सरव्यवहृतिरुच्यते । हिमशरदो रोगबाहुल्यशीताधिक्यादिभिर्दुरत्ययत्वात् तदुत्पद्यते, संवत्सर-जीवनं निश्चप्रचं भवतीति वा हिमादिशब्दैः संवत्सराभिधानम् । कीदृशा वयम् ? इन्धानास्त्वदनुग्रहेण दीप्यमान-दैवब्रह्मवर्चस्विनः सन्तः सम्पन्नास्तथा वयस्वन्तः अन्नवन्तो दैववित्तमानुषवित्तपूर्णाः, सहस्वन्तः बलवीर्यवन्तः, अदब्धासः केनचिदनुपद्रुताः शाल्वादिकृतबाधारहितास्त्वत्प्रसादेसर्वेन षड्गुणसामग्र्यादिसम्पन्नाः सर्वोपद्रवरहितास्त्वां

वैदिकानुष्ठान से प्राप्त होने वाले 'तेज' को 'वर्च' कहते हैं । जिसके देखते ही दर्शकों को यह अनुभव होता है कि यह ब्राह्मण महान् व्यक्ति है, महान् विद्वान् है, यह अपनी तपस्या से अग्नि के समान जाज्वल्यमान कान्ति से चमक रहा है, उसे 'वर्चस्' = तेज कहते हैं ।

स्वामी दयानन्द ने भौतिक अग्निपरक व्याख्या की है, किन्तु वह प्रकरणविरुद्ध होने से असंगत ही है ।

अध्यात्मपक्ष में—जितने जड़ पदार्थ हैं, वे सब परमेश्वर के अनुग्रह से सत्ता-स्फूर्तिमान् हो पाते हैं । अतः मुझे विवेक प्रदान कर अनात्म-तादात्म्याध्यास से मेरी रक्षा करो, इत्यादि प्रार्थना की गई है ॥ १७ ॥

सन्दीपयाम आहुत्यादिप्रदानेनार्चयामः। कीदृशं त्वाम्? द्युमन्तं दीप्तिमन्तम्। अग्नेः प्रसिद्धं दीप्तिमत्त्वम्। तथा वयस्कृतं वयोऽन्नं करोतीति वयस्कृत् तम्, अग्निप्रत्ताहुतीनामेव वृष्ट्यादिक्रमेण व्रीहियवान्नादिहेतुत्वस्मरणात्। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥' (म० ३।७६) इति मनुवचनात्। सहस्कृतं सहो बलं करोतीति सहस्कृत् तं बलवीर्यंकरम्, अग्नेरौष्ण्याभावे महाबलवतामपि बलरहितस्य मरणस्य च दर्शनात्। अदाभ्यं केनापि हिंसितुमशक्यम् अप्रधृष्यम्, व्यापकस्याग्नेरस्त्राद्यगोचरत्वात्। स्थूलाग्निर्यद्यपि जलेन हिंस्यते न तु व्यापकः, तस्य जलस्यापि कारणत्वेन तद्व्यापकत्वात्, 'अग्नेरापः' इति श्रुतेः। 'वय इत्यन्ननाम' (निघ० २।७।७), 'सह इति बलनाम' (निघ० २।९।७)। सपत्नदम्भनं सपत्नानां शत्रूणां दम्भनम्, अग्निमान्द्यादिरुजोत्पादनेन नाशकम्। 'चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय' इति यजुः, ऋषिदृष्टं रात्रिदेवत्वम्। चित्राणि विचित्राणि चन्द्रनक्षत्रग्रहान्धकाररूपाणि वसन्ति यस्यां सा चित्रावसुः रात्रिः। हे चित्रावसो रात्रे! 'रात्रिर्वै चित्रावसुः सा हीयꣳ सङ्गृह्येव चित्राणि वसति' (श० २।३।४।२२)। चित्रावसो हे रात्रे! स्वस्ति क्षेमं यथा स्यात्तथा ते तव रात्रेः पारं समाप्तिमशीय व्याप्नुयाम। सुप्तेषु जनेषु चौराद्युपद्रवाद्देवयजने राक्षसाद्युपद्रवो मा भूदित्यग्निः प्रार्थ्यते। रात्र्युपलक्षिता रात्रिसूक्तप्रतिपादिता साधिष्ठाना परमात्मशक्तिरूपा, तादृशी प्रकृतिर्वात्र सम्बोध्यते। विचित्राणि जगन्ति तत्र निवसन्तीति सा सर्वकारणरूपा रात्रिश्चित्रावसुपदेन सम्बोध्यते, पञ्चदश्यादिवेदान्तग्रन्थेषु चित्रदीपादिप्रसङ्गेन तस्या विचित्रजगदाश्रयत्ववर्णनात्। तस्याः पारगमनाय तदीयकैवल्यात्मकमुक्तोपसृप्यस्वरूपप्रापणाय सा प्रार्थ्यते, 'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये' (सप्तशती १।५७), 'भोगस्वर्गापवर्गदा' (सप्तशती १३।५) इत्यादिवचनेभ्यः, 'मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः। शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययात्मा न मुह्यति॥' (भा० पु० २।७।५३) इत्युक्तेश्च। अन्यस्तु चित्रावसुशब्देनापि परमेश्वरो गृह्यत इत्याह, तन्मते चित्रावसो रात्रित्वबोधकश्रुतिविरोधः स्फुट एव।

दयानन्दस्तु भावार्थं निरूपयन्नाह—'मनुष्यैः पुरुषार्थेनेश्वरोपासनयाऽग्न्यादिपदार्थेभ्य उपकारकरणेन सर्वदुःखान्तं गत्वा परं सुखं प्राप्य शतवर्षपर्यन्तं जीवितव्यम्, एकक्षणमप्यालस्येन न स्थातव्यम्' इति, तत्तु विसङ्गतमेव, जिजीविषाया रागप्राप्तत्वेन विधेयत्वायोगात्। यत्तु—'द्यौरनन्तः प्रकाशो विद्यते यस्मिन् परमेश्वरे' इति, तत्तु निर्मूलम्, द्युशब्दस्यानन्तप्रकाशवाचकत्वे मानाभावात्।

शतपथे—'इन्धानास्त्वा शतꣳ हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहीति शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाह तावत्त्वा महान्तꣳ समिधीमहीति यदाह द्युमन्तꣳ समिधीमहीति वयस्वन्तो वयस्कृतꣳ सहस्वन्तः सहस्कृतमिति वयस्वन्तो वयं भूयास्म इति वयस्कृत्त्वं भूया इत्येवैतदाहाग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽदाभ्यमिति त्वया वयꣳ सपत्नान् पापीयसः क्रियास्मेत्येवैतदाह। चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीयेति। त्रिरेतज्जपति रात्रिर्वै चित्रावसुः सा हीयꣳ संगृह्येव चित्राणि वसति तस्मान्नारकाच्चित्रं ददृशे। एतेन ह स्म वा ऋषयो रात्रेः स्वस्ति पारꣳ समश्नुवत एतेनो ह स्मैनान्रात्रेर्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न विन्दन्त्येतेनो ह एवैष एतद्रात्रेः स्वस्ति पारꣳ समश्नुत एतेनो एनꣳ रात्रेर्नाष्ट्रा

मन्त्रार्थ—हे अग्ने! सौ वर्ष तक हम तुम्हें प्रकाशित करते रहें। तुम्हारी कृपा से हम प्रकाशित होंगे। हमें अन्न और बल प्राप्त होगा। कोई भी हमारी हिंसा नहीं कर पायेगा। क्योंकि तुम प्रकाशमान् हो, अन्न और बल के देने वाले हो, शत्रुओं के विनाशक हो, तथा सभी के लिये अहिंस्य हो। चन्द्र-नक्षत्रादि विविध पदार्थों को धारण करनेवाली हे रात्रि! हम कल्याणमय पद्धति से तेरी समाप्ति तक प्राप्त हों, अर्थात् सम्पूर्ण रात्रि तक हमें चोरों से और राक्षसों से पीड़ा न हो॥ १८॥

रक्षाꣳसि न विन्दन्त्येतावन्नु तिष्ठन् जपति' (श० २।३।४।२१-२३)। शतं हिमा इत्यस्य तात्पर्यं शतं वर्षाणि। अत एव शतं हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहीत्यस्य शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवार्थः। तैत्तिरीयकेऽपि—'शतं हिमा इत्याह शतं त्वा हेमन्तानिन्धिषीयेति वावैतदाह' (तै० १।५।८।५)। द्युमन्तमित्यस्यार्थमाह–तावत्त्वेति। शतसंवत्सर-जीवनावधि हे अग्ने ! त्वां द्युमन्तं दीप्तिमन्तं महान्तं समिधीमहि सन्दीपयेमेत्यर्थः। वयस्वन्तः प्रभूतान्नयुक्ता भूत्वा वयसोऽन्नस्य कर्तारं त्वामुपतिष्ठेमहि। सहः शत्रूणामभिभवनम्, तद्वन्तो वयं तादृशं सहः शत्रुविषयकमभि-भवनं करोतीति सहस्कृत् तं वयमुपतिष्ठेमहि। अग्ने सपत्नदम्भनमिति। हे अग्ने ! सपत्नो दभ्यते हिंस्यतेऽनेनेति सपत्नदम्भनोऽग्निः, त्वामदाभ्यमदब्धासो वयमुपतिष्ठेमहि त्वया वयं सपत्नान् पापीयसः क्रियास्म अतिशयेन निकृष्टान् क्रियास्म करवामेति विशेषणतात्पर्यकथनम्। चित्रावसोरित्यादिमन्त्रस्य त्रिर्जपं विधत्ते—हि यस्मादियं रात्रिः ग्रहनक्षत्रादीनि चित्राणि सङ्गृह्य इव वसति तस्माच्चित्रावसुरग्नेर्नामधेयम्। अत एव तारकालक्षणं चित्रं ददृशे दृश्यते। नारकापदं तारकापरम्। मन्त्रजपस्य प्रयोजनं वक्तुं पुरावृत्तमुदाहरति—एतेन मन्त्रेण रात्रेः पारमवसानं स्वस्ति क्षेमेण समश्नुवते स्म सम्प्राप्नुवन्। एनान् ऋषीन् एतन्मन्त्रजपेनैव रात्रेः प्रीणनात् तत्सम्बन्धिनो राक्षसादयो न विन्दन्ति। इदानीन्तनस्य मन्त्रमिममग्न्युपस्थाने जपतस्तत्फलमाह—एतेना एवेति। 'एतावदन्ना उपप्रयन्त' इत्यारभ्य 'चित्रावसो' इत्येतावत्पर्यन्तमाहवनीयस्य समीपे तिष्ठन् जपेत्।

यत्तु—'शतं हिमा अनन्तान् हिमाः' इति, तदसङ्गतम्, जीवनानन्त्यस्याप्रामाणिकत्वात्। यत्तु 'सह उत्साहं करोति वर्धयतीति सहस्कृत्' इति, तदप्यसङ्गतम्, करोतेर्वर्धनार्थत्वायोगात्, पूर्वोक्तशतपथवचनविरुद्ध-त्वाच्च। तेन अदब्धासो दम्भाहङ्काररहिता इत्यपि व्याख्यानमसङ्गतमेव, धात्वर्थविरोधात्।

अध्यात्मपक्षे—भगवन्तं निर्गुणं सगुणं श्रीरामं श्रीकृष्णं श्रीविष्णुं श्रीशिवं वा भक्तास्तदनुगामिनो देवा मानवा वानरा भल्लूका वा वदन्ति—हे अग्ने परमेश्वर ! त्वदनुग्रहेण इन्धाना दीप्यमाना ज्ञानक्रियासमृद्धिभिर्लब्ध-ज्ञानादयस्त्वां शतं हिमाः शतं वर्षाणि इह परत्र च द्युमन्तं द्योतनवन्तं स्वप्रकाशं परमात्मानं त्वां समिधीमहि महावाक्यजन्यज्ञानेन त्वद्विषयकमनिर्वचनीयमावरणमपास्य स्वप्रकाशत्वेन साक्षात्कुर्मः। यद्वा द्युमन्तं कोटिसूर्यसम-प्रभं सूर्यचन्द्रादिप्रकाशकं त्वां समिधीमहि दीपैः सूर्यमिव विविधोपचारैरनन्तानन्दसूर्यचन्द्रादिदीपैश्च नीराजयामः। त्वत्कृपया वयस्वन्तोऽन्नवन्तो वयं प्रशस्तनानोपकरणवन्तो वयस्कृतमन्नबलकृतं त्वां सर्वस्यास्य परमेश्वरशेषत्वात् सर्वशेषिणं त्वामुपतिष्ठेमहि। सहस्कृतम् आन्तरबाह्यसर्वविधसपत्नाभिभवनं सहस्तत्करोतीति सहस्कृत् तं सहस्कृतं त्वां त्वत्कृपया बाह्यसपत्नजेतारः कामादिसपत्नाभिभवनसामर्थ्यवन्तश्च भूत्वा वयं त्वामुपतिष्ठेमहि। बाह्या आन्तराश्च दभ्यन्ते हिंस्यन्ते येन तं सपत्नदम्भनम्, अदाभ्यं दैत्यैर्दानवैर्मायया च सर्वैरहिंसनीयं त्वां त्वत्कृपया अदब्धासः कैश्चिदप्यनुपहिंसिता मदमत्सरादिभिरनुपहिंसिताश्च वयं त्वां प्रत्यक्चैतन्याभेदेन त्वामुप-

भाष्यसार—हे अग्ने ! सौ वर्ष तक हम समिदाधान करते रहें, अर्थात् निरन्तर तुम्हारी सेवा करके तुमको वृद्धिङ्गत करते रहें। जैसे 'शरत्' शब्द 'संवत्सर' को बताता है, वैसे 'हिम' शब्द भी 'संवत्सर' का बोधन करता है। जैसे आजकल वसन्त सम्पात से (वसन्त ऋतु से) संवत्सर का आरंभ होता है, उसी तरह किसी समय 'शरद् ऋतु' से, किसी समय 'हेमन्त ऋतु' से भी संपात के अनुसार संवत्सर का आरंभ हुआ करता था।

स्वामी दयानन्द ने व्याख्या करते हुए 'मनुष्य को सौ वर्ष तक जीवित रहना चाहिये' इत्यादि जो कहा है, वह विसंगत ही है, क्योंकि जिजीविषा तो रागप्राप्त है, अतः वह 'विधेय' कैसे हो सकेगी ? एवं शतपथ, तैत्तिरीयादिश्रुति-सूत्रादि से विरुद्ध व्याख्या है, अतः उसे उपेक्षणीय ही समझना चाहिये।

तिष्ठेमहि। हे चित्रावसो रात्रिसूक्तस्तुते साधिष्ठानप्रकृते भगवच्छक्तिरूपे वा ! स्वस्ति क्षेमं यथा स्यात्तथा ते ते संसारमूलभूताविद्यारूपं तीर्त्वा चिदानन्दमयं पारमशीय प्राप्नवानि, 'या देवी सर्वभूतेषु चितिरूपेण संस्थिता' (सप्तशती ५।७८) इति स्मरणात्। यद्वा चित्रदीपरीत्या संसारचित्रं चेतनाचेतनात्मकं पशु-पक्षि-मनुष्य-देव-यक्ष-गन्धर्व-सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादिमयस्य सर्वस्य जगतो निवासभूत हे चित्रावसो ! ते तव प्रसादात् स्वस्ति निर्विघ्नं पारं विपदां पारं युद्धादिपारं संसारपारं वा अशीय प्राप्नुयाम्। श्रुतिसूत्राविरोधिनोऽनेके मन्त्राणामर्थाः सम्भवन्तीति तथाविधा अनेके अर्थाः कर्तुं शक्यन्ते ॥ १८ ॥

सन्त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणाᳬ स्तुतेन। सम्प्रियेण धाम्ना समहमायुषा संवर्चसा सम्प्रजया सᳬरायस्पोषेण ग्मिषीय ॥ १९ ॥

'सं त्वमित्युपविश्येति' (का० श्रौ० ४।१२।४), जपतीति शेषः। इतः पूर्वतनैर्मन्त्रैरुत्थायोपस्थानं कर्तव्यमनेन तूपविश्येति विशेषः। हे अग्ने! त्वं सूर्यस्य वर्चसा तेजसा समगथाः। समित्युपसर्गस्य अगथेत्याख्यातेन सम्बन्धः, रात्रौ सङ्गतो भवसि, 'तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह' (श० २।३।४।२४) इति श्रुत्या तथैव मन्त्रार्थवर्णनात्। ऋषीणां मन्त्राणां स्तुतेन स्तोत्रेण समगथाः। समुपसर्गस्यावृत्त्या अगथा इत्यस्याख्यातस्याश्रुताप्यावृत्तिः कर्तव्या। बहवो मन्त्रा अग्निं स्तुवन्ति। तेषां मन्त्राणां स्तुतेन मन्त्रसम्बन्धिना स्तोत्रेण स्तुत्या त्वं सङ्गतोऽसि। बहुभिर्मन्त्रैस्त्वं स्तूयस इत्यर्थः, 'तद्यदुपतिष्ठते तेनैवेतदाह' (श० २।३।४।२४) इति श्रुतेः। प्रियेण धाम्ना समगथाः सङ्गतोऽसि। यद्वा प्रियेण धाम्ना स्थानेन नाम्ना जन्मना च समगथाः, स्थानानि नामानि जन्मानीति वेति निरुक्तवचनात्। 'आहुतयो वा अस्य प्रियं धाम' (श० २।३।४।२४) इति श्रुत्या धामशब्देनाहुतयो बोध्यन्ते। तेन प्रियाभिराहुतिभिर्वा सङ्गतोऽसि। हे अग्ने ! यथा त्वमेतैस्त्रिभिः संगतस्तथैव त्वदनुग्रहादहमप्यायुषा आरोग्यानपमृत्य्वादिभिः सग्मिषीय संगतो भूयासम्, तथैव वर्चसा विद्यैश्वर्यप्रयुक्ततेजसा संग्मिषीय तथा रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या संग्मिषीय प्रजया पुत्रपौत्रादिरूपया संग्मिषीय संगतो भूयासम्। 'समो गम्यृच्छि' (पा० सू० १।३।२९) इत्यादिना मध्यमपुरुषैकवचने लुङि सिचि 'गमश्च' (पा० सू० १।२।१३) इति सिचः क्वित्वे 'अनुदात्तोपदेश' (पा० सू०६।४।३७) इति मलोपे 'ह्रस्वादङ्गात्' (पा० सू० ८।२।२७) इति सिचो लोपे समगथा इति रूपम्। गमेराशीर्लिङि उत्तमपुरुषैकवचने 'इटोऽत्' (पा० सू० ३।४।१०६) इत्यकारे परे सीयुटि कृते छान्दसे इडागमे 'गमहन' (पा० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपे संग्मिषीयेति रूपम्।

अध्यात्मपक्ष में—भक्तजन भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं कि हे भगवन् ! हम लोग महावाक्यजन्य ज्ञान से त्वद्विषयक अनिर्वचनीय आवरणात्मक अज्ञान को नष्ट कर सौ वर्ष तक तुम्हारा साक्षात्कार करते रहें। श्रुति-सूत्र के विरोध को बचाकर मन्त्रों के अनेकानेक अर्थ भी संभव हो सकते हैं ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! तुम रात्रि के समय सूर्य के तेज से युक्त हुए हो। तथा ऋषियों के स्तोत्रों से और प्रिय आहुतियों से युक्त हुए हो। जिस प्रकार इन तीन वस्तुओं से तुम युक्त हुए हो, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे अनुग्रह से आयु, वैदिक तेज, पुत्रादि प्रजा और धन की वृद्धि से युक्त होऊँ, अर्थात् आयु आदि मुझे प्राप्त हो। उपस्थान करते समय पूर्वोक्त मन्त्र तक खड़े रहना है और प्रस्तुत 'सं त्वम्' (३।१९) मन्त्र से बैठकर उपस्थान करना है ॥ १९ ॥

भाष्यसार—इस मन्त्र से अपने आयुरादि की कामना की गई है।

'अथासीनः सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसा गथा इति। तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह—समृषीणाᳬ स्तुतेनेति। तदुपतिष्ठते तेनैतदाह—सम्प्रियेण धाम्नेत्याहुतयो वास्य प्रियं धामाहुतिभिरेव तदाह समहमायुषा संवर्चसा संप्रजया सᳬरायस्पोषेण ग्मिषीयेति यथा त्वमेतैः समगथा एवमहमायुषा वर्चसा प्रजया रायस्पोषेणेति। यद्भूम्नेति तदेवमहमेतैः संगच्छा इत्येवैतदाह' (श० २।३।४ २४)। 'सं त्वमग्ने' इत्येवमादिकान् मन्त्रानासीनो जपति। हे अग्ने! त्वं सूर्यस्य वर्चसा तेजसा समगथा संगतवानसीति प्रतीयमानमर्थमुपपादयति—अस्तं यन् गच्छन् आहवनीयं प्रविशतीति। अग्निज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति प्रसङ्गे उक्त एव। ऋषीणां सम्बन्धि यत्स्तुतं स्तोत्रं तेन समगथाः। प्रकृताग्न्युपस्थानाभिप्रायमाह—तद्यदिति। अस्याग्नेः आज्यदधिक्षीराद्याहुतय एव प्रियं धाम तज्ज्योतिर्मयं शरीरं तथा च संप्रियेण धाम्ना संगतोऽसीत्यस्याहुतिभिरेव सङ्गतोऽसीत्यभिप्रायः। हे अग्ने! त्वमेतैरायुरादिभिः संगतवानसि तथाहमप्येतैः संगच्छेयेति। यद् भूम्नेति रायस्पोषेणेत्यस्य व्याख्यानम्। भूम्ना धनकनकादिबहुत्वेनेत्युक्ते यावानर्थो भवति रायस्पोषेणेत्यनेन तावानर्थो भवति।

अध्यात्मपक्षे—भगवन्तं श्रीरामं श्रीकृष्णं वा प्रार्थयन्ते भक्ताः—हे अग्ने नराकार परमेश्वर! त्वं सूर्यस्य कोटिकोटिसूर्यसमूहस्य वर्चसाऽनन्तदीप्त्या समगथाः संगतोऽसि, सूर्यस्यापि सूर्यत्वात्। 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यः' इति वाल्मीकीयरामायणवचनात् कोटिकोटिसूर्यसमप्रभत्वाच्च। 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥' (भ० गी० ११।१२) इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनात्। ऋषीणां मन्त्रद्रष्टॄणां स्तुतेन स्तोत्रसमूहेन स्तोत्रसमूहस्तुतेन निरतिशयैश्वर्येण माहात्म्यातिशयेन वा समगथाः। रावणवधान्ते ब्रह्मादिदेवैर्महर्षिभिश्च संस्तुतत्वात्। कृष्णावतारे च गर्भस्तुत्यादिषु ब्रह्मादिभिः स्तुतत्वाच्च। संप्रियेण सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदेन धाम्ना साकेतधाम्ना गोलोकधाम्ना स्थानेन दिव्येन लोकोत्तरेण भक्तप्रियतमेन जन्मना च संगतोऽसि। 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥' (भ० गी० ४।९) इति गीतावचनात्। तथैव संप्रियेण संसारतारकेण पापतापहारकेण च नाम्ना संगतोऽसि। धामानि स्थानानि नामानि जन्मानि वेति निरुक्तेः। अहं च त्वत्प्रसादाद् आयुषा सफलेन भक्तिज्ञानवैराग्यादियुक्तेन पूर्णायुषा वर्चसा ब्रह्मचर्यवेदाध्ययनादिजनितेन तेजसा प्रजया लोकपरलोककल्याणकारिण्या धर्म-भक्ति-ज्ञाननिष्ठया रायस्पोषेण कर्मोपासनाद्युपयोगिनोत्तमधनेन संग्मिषीय।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने जगदीश्वर! यस्त्वं सूर्यस्य प्राणस्यर्षीणां येन संस्कृतेन सम्प्रियेण वर्चसा धाम्ना समायुषा संप्रजया रायस्पोषेण सह समगथाः, तेनैवाहमपि सर्वाणि सुखानि संग्मिषीय सम्यक् प्राप्नुयाम्—इत्येकः, योऽग्निः सूर्यस्य प्रत्यक्षस्य सवितृमण्डलस्यर्षीणां संस्तुतेन संप्रियेण संवर्चसा धाम्ना समायुषा संप्रजया रायस्पोषेण समगथाः संगतो भूत्वा राजते तेन संसाधितेनाहं सर्वाणि व्यवहारसुखानि संग्मिषीय' इत्यपरः। तदेतद् द्वयमप्यसङ्गतमेव, परमेश्वरस्य नित्यस्य सर्वज्ञस्याप्तसमस्तकामस्य विद्याध्ययनस्थानसमायुःसन्तानोत्तमधनभोगपुष्टिसंगत्यसङ्गतेः। भौतिकोऽप्यग्निर्नहि विद्याध्ययनराज्यसंप्रजोत्तमधनभोगादिभिः संगतो भवति, तस्य जडत्वात्। शतपथविरुद्धं चैतत्। त्वद्रीत्या कथं सूर्योऽग्निं प्रविशति? तस्मादत्र देवविशेषश्चेतनो देवो महाभाग्यादेवमुपस्थीयत इत्येव मन्तव्यम्॥ १९॥

अध्यात्मपक्ष में—भक्तजन भगवान् श्रीराम अथवा श्रीकृष्णचन्द्र की प्रार्थना अपने अभ्युदय हेतु कर रहे हैं।

स्वामी दयानन्द ने दो अर्थ किये हैं, किन्तु दोनों असंगत हैं। शतपथ के विरुद्ध भी हैं॥ १९॥

अन्धस्थान्धो॑ वो भक्षीय मह॑स्थ महो॑ वो भक्षीयोर्ज॑स्थोर्ज॑ वो भक्षीय रायस्पोष॑स्थ रायस्पोषं॑ वो भक्षीय ॥ २० ॥

'गां गच्छत्यन्धस्थेति' (का० श्रौ० ४।१२।५)। अन्धस्था रेवती रमध्वमिति यजुर्द्वयेन गां गच्छति, कर्माङ्गभूतां गामुपतिष्ठत इत्यर्थः। हे गावः! यूयमन्धःस्थ अन्नरूपा भवथ। क्षीराज्यादिरूपस्यान्नस्य जनकत्वाद् गोष्वन्नत्वोपचारः। श्रुत्या त्वन्धपदेन लक्षणया वीर्यमुच्यते। यानि वो वीर्याणि यानि वो महांसीति यतो यूयं वीर्यहेतुभूतमन्धः स्थ भवथ, अतो अन्धो वो युष्मत्सम्बन्धि वीर्यं भक्षीय भजेयम्। 'भज सेवायाम्' इति धातोराशीर्लिङि उत्तमपुरुषैकवचने रूपम्, न भक्षतेस्तदर्थाननुगमात्। क्षीराज्यादिरूपं वा अन्नमहं भजेयम्। तथा यूयं महः स्थ। महःशब्देन गौर्वै प्रतिधुक् तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनमिति दश वीर्याणीत्युच्यन्ते। तत्कालं दुग्धं प्रतिधुक्, उष्णं ततः शृतम्, शरो दुग्धमण्डः, मस्तु दधिरसः, आतञ्चनं दधिपिण्डः, आमिक्षा स्फुटितं दुग्धम्, वाजिनस्तच्छेषभूतं जलम्। यतो महः स्थ, अतो वो महो वीर्यं भजेयम्। यद्वा—'मह पूजायाम्'। पूज्यरूपाः, अतोऽहं वः पूज्यत्वं भक्षीय सेवेय। गौर्न पदा स्प्रष्टव्येति स्मृतेर्गवां पूज्यत्वं प्रसिद्धमेव। तामेतां प्रसिद्धिं तित्तिरिः सूचयति—'महसा महो वा भक्षीयेत्याह महो होता' इति। यूयम् ऊर्जः स्थ बलरूपाः स्थ, गोक्षीरादेर्बलहेतुत्वाद् गोषु बलरूपत्वोपचारः। 'ऊर्ज बलप्राणनयोः'। वो युष्माकमनुग्रहेण ऊर्जं बलं भक्षीय सेवेय। तथा रायस्पोषाः स्थ यूयं धनपुष्टिरूपाः स्थ क्षीराज्यादिक्षेत्रोपत्र(खाद)गोमूत्रगोमयादिद्वारा धनपुष्टिहेतुत्वात् तत्र रायस्पोषत्वोपचारः। वो युष्माकं प्रसादाद्वा धनपुष्टी भक्षीय सेवेय। अन्धः स्थेत्यादिषु सर्वत्र 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' (पा० सू० ८।३।३६ स्थलीयं वार्त्तिकम्) इति विसर्गलोपः।

अन्यस्तु 'जलमाप्तपुरुषा गावो भूमयश्चानेन मन्त्रेण वर्ण्यन्ते। हे आपः! अन्नोत्पादका हे भूमयः! हे गावः! यूयं प्राणप्रदान्नरूपाः स्थ। अतो युष्मत्प्राप्तान्नं भक्षयामि। यूयं बलवीर्यरूपाः, वयं त्वदीयबलादिकमुपभोक्ष्यामः' इति। तन्न मनोरमम्, भक्षीयेत्यस्य क्वचिद् भक्षणं क्वचिद्भोगः क्वचित्प्राप्तिश्चेति यथेष्टमेवार्थो वर्ण्यते। तदेषा वेदेषु स्वच्छन्दचारिता दोष एव। कश्च प्रार्थयिता कथं स तेभ्यस्तत्तदभीष्टान्नबलवीर्यादिकं प्राप्स्यतीति तु चिन्त्यम्। सिद्धान्ते त्वार्षप्रमाणेन कर्माङ्गगवामुपस्थानेऽस्य मन्त्रस्य विनियोगः। तत्तदधिष्ठात्र्या देवतायाः प्रसादादेव तत्तत्सेवनं काम्यते।

अध्यात्मपक्षे—'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वभूतमहेश्वरम्' (भ० गी० ५।२९) इति गीतानुसारेण भगवानेव चेतनाचेतनसर्वभोक्ता। सर्वे च तद्भोग्यत्वेनात्मानं कृतार्थं मन्यन्ते। भोक्तृभोग्यरूपाः परापरप्रकृतयः स्वात्मानं

मन्त्रार्थ—हे गोमाताओं! तुम अन्नरूप हो, अतः तुम्हारे प्रसाद से मैं क्षीरादि अन्न का भक्षण करूँगा तथा तुम पूजनीय हो, अतः तुम्हारे प्रसाद से मुझे पूज्यत्व प्राप्त हो। तुम बलस्वरूप हो, अतः तुम्हारे प्रसाद से मुझे बल प्राप्त हो। तथा तुम धनपोषण करने वाली हो, अतः तुम्हारे प्रसाद से मेरे धन का पोषण होता रहे। 'अन्धस्थ' और अग्रिम 'रेवती' इन दो मन्त्रों से गौओं के समीप गमन करे ॥ २० ॥

भोग्यत्वेन सर्वभोक्त्रे भगवते समर्पयन्त्यः स्वीकाराय च प्रार्थयन्ते—परमेश्वरः परापरप्रकृतिरूपान् भोक्तृ-भोग्यवर्गानुपलक्ष्याह—अन्धस्थ यूयमन्नरूपाः स्थ परमेश्वरीयसृष्ट्युपकरणत्वेन भोग्यत्वाद् वो युष्माकं सम्बन्धि अन्नं भुञ्जीय सेवेय। महः परप्रकृतयो जीवाश्चिद्रूपत्वात् तेजोरूपाः, अपरप्रकृतयस्तु मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारेन्द्रिय-रूपाश्चिदभिव्यञ्जकवृत्तिजनकत्वात्, सूर्यचन्द्रनक्षत्रादयस्त्वन्धकारनाशकत्वात् तेजोरूपा वो युष्माकं महो भक्षीय युष्मत्कृतोपकारान् युष्मांश्च भक्षीय आत्मसात्करणेन सेवेय। ऊर्जःस्थ बलप्राणरूपा वो युष्माकं सम्बन्धि ऊर्जं भक्षीय यूयं धनपुष्टिरूपाः स्थ वो युष्माकं रायस्पोषं धनपुष्टिं भक्षीय। संहतानां परार्थत्वाद् भोक्तृभोग्यात्मकस्य सर्वस्यैव जगतः परार्थत्वात् तत्कृतं सर्वं कार्यं तदीयम्, तच्च भगवत्येव पर्यवस्यतीति भगवत एव तद्भोक्तृत्वम्।

दयानन्दस्तु—'येऽन्धस्थान्धो वीर्यवन्तो वृक्षौषध्यादयः पदार्थाः सन्ति, वस्तेषां सकाशादहमन्धो वीर्य-कराण्यन्नानि भक्षीय स्वीकुर्याम्। ये महः स्थो महान्तो वाय्वग्न्यादयो विद्यादयो वा सन्ति वस्तेषां सकाशान्महः महांसि क्रियासिद्धिकराण्यहं भक्षीय भुञ्जीय। य ऊर्जस्थोर्जो रसवन्तो जलदुग्धघृतमधुफलादयः सन्ति, वस्तेषां सकाशादूर्जं रसमहं भुञ्जीय। ये रायस्पोषः स्थ रायस्पोषो बहुगुणसमूहयुक्ताः पदार्थाः सन्ति, वस्तेषां सकाशादहं रायस्पोषं बहुशुभगुणैः पोषं भक्षीय सेवेय' इति, तदपि शतपथविरुद्धमेव, तत्रानेन मन्त्रेण गोरुपस्थीयमानत्वात्। न च अन्धआदिपदेन वृक्षौषध्यादयो ग्रहीतुं शक्यन्ते, तस्य तत्राशक्तत्वात्। न वा कश्चिदिच्छामात्रेण तेषां सकाशाद् बलवीर्यकराण्यन्नानि भोक्तुं शक्नोति, तथैव महःशब्दस्याग्निवाय्वादिपदार्था अर्थाः, तेषां सकाशाच्च क्रियासिद्धिकराणि सम्पादयितुं शक्नोति, वैज्ञानिकानां चोपायानां लेशस्याप्यनिर्देशात्। शतपथे तु स्पष्टमेवास्य मन्त्रस्य अथ गामभ्यैतीति कर्माङ्गभूताया गोरुपस्थानेऽयं मन्त्रो विनियुक्तः। तथाहि—'अथ गामभ्यैति। अन्धः स्थान्धो वो भक्षीय महः स्थ महो वो भक्षीयेति यानि वो वीर्याणि यानि वो महाꣳसि तानि वो भक्षीयेत्येवैतदाहोर्जस्थ ऊर्जं वो भक्षीयेति रसस्थ रसं वो भक्षीयेत्येवैतदाह रायस्पोषस्थ रायस्पोषं वो भक्षीयेति भूमा स्थ भूमानं वो भक्षीयेत्येवैतदाह' (श० २।३।४।२५) ॥ २० ॥

भाष्यसार—मनुष्य को अपने अभ्युदयार्थ जो कुछ भी अपेक्षित है, वह सब गोमाता में विद्यमान है। गोमाता पूजनीय है। उसके गोमय-गोमूत्र से धन की समृद्धि होती है।

किसीने गोमाता को बलवीर्यरूप बताकर उसके बल आदि के उपभोग करने की बात अपनी व्याख्या में लिखी है, किन्तु यह लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रद्धालु भक्तजन प्रत्येक वस्तु की अधिष्ठात्री देवता के अनुग्रह से ही प्रत्येक वस्तु का सेवन करना चाहते हैं।

अध्यात्मपक्ष में—भगवान् ही चेतन-अचेतन सब का भोक्ता है और सब उसके भोग्य बनकर अपने को कृतार्थ मानते हैं। भोक्तृ-भोग्यरूप परापर प्रकृतियाँ भोग्य होने से अपने को सर्वभोक्ता भगवान् के अर्पण करती हुई अपने स्वीकार के लिये उसकी प्रार्थना करती हैं। परमेश्वर भोक्तृ-भोग्यरूप परापर प्रकृतियों को उद्देश्य कर कह रहे हैं।

स्वामी दयानन्द ने मन्त्रगत 'अन्ध' आदि पद से वृक्ष-औषधि आदि जो अर्थ बताये हैं तथा वैज्ञानिक उपायों का निरूपण किया है, वह नितान्त अनुचित है। प्रस्तुत मन्त्र से तो गोमाता का उपस्थान किया जा रहा है। अतः दयानन्दोक्त अर्थ का मन्त्र के शब्दों से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है॥ २०॥

रेवती रमध्वमस्मिन् योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिल्लोकेऽस्मिन् क्षये । इहैव स्त मापगात ॥२१॥

हे रेवतीः ! रेवत्यो गावः ! अस्मिन् दृश्यमाने योनौ अग्निहोत्रहविर्दोहनस्थाने रमध्वं क्रीडत। दोहनादूर्ध्वमस्मिन् गोष्ठे गृहाद् बहिर्विश्रम्भेण गवामावासस्थाने व्रजेऽस्मिन् यजमानलोके दृष्टिविषये लोकदर्शने रमध्वं रात्रौ अस्मिन् क्षये यजमानगृहे 'क्षि निवासगत्योः' रमध्वम्। किं बहुना, इहैव यजमानदृष्टिविषये स्त यूयं भवत मा अपगात इतः स्थानाद् अन्यत्र मा गच्छत। रेवतीशब्दस्य गोविषयत्वं कण्वो दर्शयति—पशवो वै रेवतीरिति। तित्तिरिश्चेति सायणः। रयिर्विद्यते यासां ता रेवत्यः। रयिशब्दान्मतुप्। 'रयेर्मतौ बहुलम्' (पा० सू० ६ १।३७) इति स्थलीयवार्त्तिकाद् रयेर्मतौ सम्प्रसारणम्, 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० सू० ६।१।१०८) इति पररूपम् 'आद्गुणः' (पा० सू० ६।१।७) इति गुणः, तथा च रेवतीति रूपसिद्धिः। पुत्रपौत्राद्यभिवृद्ध्या धनयुक्ताः क्षीरदध्याज्यादियुक्ताः पशवो रयिमत्त्वात् पशवो देवता उच्यन्ते।

अध्यात्मपक्षे—रेवत्यो धनवत्यो जीवरूपाः परप्रकृतयः सम्बोध्यन्ते। ताश्च बाह्याध्यात्मिकधन-सम्पन्नत्वाद् रेवत्यः। पशुपतेः पशुरूपेण रेवताश्च वक्तुं शक्यन्ते। हे रेवत्यः! अस्मिन् योनौ सर्वकारणे परमात्मनि रमध्वम्। अस्मिन् गावो जीवरूपाः पशवो यत्र तिष्ठन्ति स पशुपतिरेव गोष्ठः। एवं च लोकः, लोक्यते दृश्यते भुज्यते इति लोकः फलम्, परमात्मन एव सर्वोत्कृष्टफलरूपत्वात्, 'येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' इति श्रुतेः। 'क्षयन्ति निवसन्ति सर्वे यत्र गोष्ठे' इत्यनेन जीवानां विशेषतः स्थितिस्थानत्वमुक्तम्, इह तु समेषामिति विशेषः। प्रत्यक्चैतन्याभिन्नत्वेन शास्त्रदृष्ट्या अपरोक्षत्वादस्मिन्निहैवेत्यादिप्रयोगाः। इहैव स्तं मनसापि तदेव चिन्तयन्त्यस्तस्मिन्नेव तिष्ठत। मापगात ततोऽन्यन्मनसापि मा चिन्तयत, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तकल्पितसत्ताया अभावात्। प्रपञ्चस्य बाधितत्वं भावयतेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'रेवतीः विद्याधनसहिताः प्रशस्ता नीतयो गाव इन्द्रियाणि पशवः पृथिवीराज्यादियुक्ता यासु ताः, हे मनुष्याः! प्रशस्ता नीत्यादयो रेवत्योऽस्मिन् योनौ जन्मनि स्थले वा, अस्मिन् समक्षे गोष्ठे गावः पशव इन्द्रियाणि यस्मिंस्तिष्ठन्ति तस्मिन् अस्मिल्लोके संसारे क्षये निवसनीये गृहे रमध्वं रमन्ताम्। स्त सन्ति इहैव स्त भवन्त एतेभ्यो मापगात दूरं मा गच्छन्तु। यत्र विद्वांसो निवसन्ति तत्र विद्यादीनां गुणानां निवासात् प्रजा विद्यासु शिक्षाधनवत्यो भूत्वा नित्यं सुखे युञ्जते। तस्मादेवं सर्वैरिच्छा कार्या। अस्माकं समीपाद्विद्वांसो विदुषां सकाशाच्च वयं कदाचिद् दूरे मा भवेमेति भावार्थः' इति। स्पष्टमेवात्र यथाश्रुतान् श्रौतान् शब्दान् विपरिणमय्य व्यत्यासादिनाऽर्थापनम्। रमध्वमिति यथाश्रुतार्थाङ्गीकारेऽभिमतस्थाने रेवतीनां रमणं प्रार्थ्यते। तासां स्थानविशेषेऽवस्थानं ततोऽपगमनाभावश्च प्रार्थ्यते। नीतयो धनविद्याश्च कथमेवं प्रार्थयितुं शक्यन्ते। ताश्चेल्लोके सन्ति स्थास्यन्त्येव। तत्कथनं निरर्थकमेव। संसाराच्च तासामपगमनमपि न सम्भवतीति तदपि कथनं व्यर्थमेव। विदुषां स्थित्या तासामवस्थाने तेषामेव प्रार्थनं युक्तम्। गोष्ठपदमपि न संसारपरम्, लोकपदेनैव गतार्थत्वात्।

मन्त्रार्थ—हे धनयुक्त गौओं! आगे रहनेवाले अग्निहोत्र से सम्बन्धित हविर्द्रव्य के दोहनस्थान में स्वस्थ चित्त से आप रहें और दोहन होने के पश्चात् यजमान के गोचर क्षेत्र में सुख से संचार करें। रात में यजमान के घर गोष्ठ में शान्ति से रहें, अन्यत्र आप न जांय ॥ २१ ॥

भाष्यसार—क्षीर, दधि, आज्य से युक्त पशु, धनवान् होने से उन्हें देवता शब्द से कहा जाता है।

शतपथे—'रेवती रमध्वमिति रेवन्तो हि पशवस्तस्मादाह रेवती रमध्वमित्यस्मिन् योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिन् क्षये इहैव स्त मापगातेत्यात्मन एवैतदाह मदेव मापगातेति' (श० २।३।४।२६)। आत्मन एवैतदाह—स्वस्यैवैतत् फलमाशास्यते। हे गावो यूयम् इहैव मदीये गोष्ठे स्त भवत मापगच्छतेत्यत्रापगमनावधेरनुपादानात् तमुपन्यस्य योजयति। मदेव मत्सकाशात् मापगच्छतेत्यर्थः। नैतदपि दयानन्दीयव्याख्यानानुगुणम्।

कश्चित्तु—'रेवतीः शमादिधनवत्यो वागादयोऽस्मिन् योनौ जीवरूपायां परशक्तौ 'इयं वा अस्य सर्वस्य योनिरस्यै वा इमाः प्रजाः' (श० ४।१।२।१९)। अस्मिन् गोष्ठे इन्द्रियालये अस्मिल्लोके शरीरे क्षये संसारे रमध्वम् इह संसार एव स्त मापगात समाध्यादौ मापगच्छतेति' इति, तदसङ्गतमेव, उदाहृतश्रुतौ पृथिवी विवक्षिता न जीवरूपा पराशक्तिः, पृथिव्या एव प्रजानां योनित्वात्, तस्या एव प्रजानां प्रजातत्वात्। वागादयस्तु स्वयमेव देह एव भवन्ति, ततोऽन्यत्र गन्तुं तेषामसामर्थ्यात्। समाध्यादौ मनसो गमनेऽपि वागादीनां तत्राप्रवेशात्; गमनेऽपि तदिष्टमेवेति कुतो निषेधः। समाध्यभावे कथमात्मनि रमणं वागादीनां संभवति?

'श्रीकृष्णेन रेवत्यो गावः सम्बोध्यन्ते—इहैव स्तेति। मापगात प्रदेशान्तरं मा व्रजत, तथा सति गोपानां मद्गवेषणक्लेशः सिंहाद्याक्रमणशङ्का च स्यात्' इत्यादिकं तु न विरुद्धयते। कृष्णवेणुगीतपीयूषमास्वाद्य तत्पादमुपागता गोप्यो रेवत्यो गवादिधनसम्पन्ना वस्त्रालङ्कारसमलङ्कृतगात्रा यूयं योनौ जन्मभूमौ पितृगृहे गोष्ठे ग्रामतो नातिदवीयसि गवावासस्थाने दोहनाय लोके उपभोगस्थाने पतिगृहे क्षये निवासे पत्यादिनिर्मितनूतननिवासस्थाने इहैव एतेषु स्थानेषु भवतीनां रमणमवस्थानं च युज्यते। मापगात ततोऽपेत्य दूरे मागात तानि स्थानानि परित्यज्य अस्मत्समीपं न गच्छत' इति, तदपि न मनोज्ञम्, लोके उपभोगस्थाने क्षये नूतनगृहे अस्मत् समीपं न गच्छतेत्यादिव्याख्यानस्य विमृश्यत्वात्।

'योनौ जगत्कारणे गोष्ठे सर्वजगतोऽधिष्ठाने लोके सर्वलोकसाक्षिणि क्षये सर्वनिवासस्थाने मत्समीपे रमध्वम्, इहैव स्त मापयात व्रजं न गच्छत' इत्येतदपि न मनोज्ञम्, स्वभावत एव सर्वस्य कारणेऽवस्थानं ततोऽपगमनं च न सम्भवति, उपादानं परित्यज्य कार्याणां स्थातुमशक्तत्वात्। ततश्च सगुणसाकारकृष्णरूपेणावतीर्णे मयि मत्समीपे वा रमध्वमितो न गन्तव्यमित्युपपत्तौ सत्यामपि क्लिष्टकल्पनाबहुलमेवैतत्॥ २१॥

अध्यात्मपक्ष में—यहाँ जीवरूप पर प्रकृतियों को सम्बोधित किया गया है। उन्हीं को बाह्य-आध्यात्मिक धन-सम्पन्नता के कारण 'रेवती' शब्द से कहा गया है। सर्वत्र वही चैतन्य ब्रह्म भरा हुआ है, उसकी सत्ता पर ही यह सब प्रतिष्ठित है। अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त कल्पित की सत्ता है ही नहीं। अतः प्रपञ्च को बाधित ही समझो।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, उसमें श्रौत शब्दों का यथेष्ट विपरिणाम-व्यत्यास आदि करके अर्थ किया गया है। कहीं पर तो ऐसा अर्थ किया है कि जो उन्हीं के व्याख्यान के प्रतिकूल हो गया है। अतः यह दयानन्दीय व्याख्यान विश्वासार्ह नहीं हो पाया है।

किसी ने एक अन्य ढंग से भी व्याख्या की है, जो अंशतः ठीक है, कहीं असंगत भी है॥ २१॥

स॒ꣳहि॒तासि॑ विश्वरू॒प्यू॒र्जा मावि॑श गौप॒त्येन॑। उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्। नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥ २२ ॥

मन्त्रेणानेन यजमानो गां स्पृशति, 'सꣳहितेत्यालभते' (का० श्रौ० ४।१२।६)। हे गौः ! त्वं संहितासि क्षीराज्यहविर्दानेन संलग्नासि यज्ञहोमादिकर्मभिः। यद्वा सन्दधासि क्षीणान् प्राणिनः पोषयसि क्षीराज्यादिभिस्तेन संहितासि। विश्वानि सर्वाणि शुक्ल-कृष्ण-रोहितादिरूपाणि यस्याः सा विश्वरूपी। जात्यभिप्रायेण शुक्लकृष्णादि-बहुरूपवती सा त्वमूर्जान्नरसेन गौपत्येन गवां स्वामित्वेन मां यजमानमाविश आसमन्तात् प्रविश। त्वत्प्रसादाद् बहुविधः क्षीराज्यादिरसो बहुविधं गोस्वामित्वं सम्पद्यताम्। 'गार्हपत्यं गत्वोपतिष्ठत उप त्वेतीति' (का० श्रौ० ४।१२।७)।

तिस्रो गायत्र्य आग्नेय्यो मधुच्छन्दोदृष्टाः। अनेन मन्त्रेण गार्हपत्योपस्थानम्। कण्वोऽप्याह—'अथ गार्हपत्यमुपैत्युप त्वेति'। हे दोषावस्तः ! दोषा रात्रिस्तस्यामपि वसतीति दोषावस्तोऽग्निः, अजस्रं धार्यमाणत्वाद् रात्रावप्यनुशान्तत्वात्। यद्वा—'अग्नौ ह वै देवाः सर्वान् पशून्निदधिरे। ये च ग्राम्या ये चारण्या विजयं वोपप्रयन्तः कामचारस्य वां कामायायं नो गोपष्ठो गोपायादिति वा तानु हाग्निर्निचक्रमे तैः संगृह्य रात्रिं प्रविवेश' (श० २।३।४।१-२) इतीतिहासानुसारेण दोषावस्तः ! रात्रौ वसनशील हे गार्हपत्याग्ने हे तथाविधाग्ने ! दिवेदिवे प्रतिदिनं धिया श्रद्धावत्या बुद्ध्या वयं यजमाना नमस्कारं सम्पादयन्त उप समीपे त्वा एमसि त्वां प्रत्यागच्छामः। 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६)। यद्वा 'नम इत्यन्ननाम' (निघण्टु २।७।२१) अन्नं हविर्बिभ्रतः। ऋक्संहिता-भाष्ये (१।१।७ स्थले) सायणाचार्यस्तु दोषा रात्रौ वस्तर् अहनि चेति द्वन्द्वसमासे 'कार्तकौजपादयश्च' (पा० सू० ६।२।३७) इत्याद्युदात्तत्वमुक्तवान्।

यत्तु—'मन्त्रपठितेन दिवेदिवे इत्यनेनैवाहर्निशमित्यर्थस्य गतार्थत्वान्नास्मभ्यं रोचते' इति केनचिदुक्तम्, तन्न, दिवेदिवे इत्यस्य प्रतिदिनमित्येवार्थः। तथा च प्रतिदिनं रात्रौ अहनि चेत्यर्थविशेषलाभाय सायणीय-व्याख्यानस्यौचित्यात्। वस्तःशब्दोऽहर्वाची, तस्य दोषाच्छादकत्वात्, 'वस आच्छादने' इति धातोर्निष्पन्नत्वात्। 'दिवेदिवे' (११)। 'द्यविद्यवि' (१२) इति द्वादश अहर्नामानि (निघण्टु १।९) 'अहर्दिवम्' अहनि अहनि इति तत्त्वबोधनी। 'अहर्दिवं दिवः' (शि० का० १।५१) अहनि च दिवा चेति अहर्दिवम् अहनि अहनीति

मन्त्रार्थ—हे गोमातः ! तू यज्ञकर्म से संयुक्त है। शुक्ल-कृष्ण आदि अनेक रूपोंवाली तू अपने क्षीरादि रस को मुझे दे और मेरे स्वामित्व को स्वीकार कर। रात्रि में भी उपासना करने वाले के घर में निवास करने वाले, अर्थात् यज्ञशाला में रहने वाले हे गार्हपत्यसंज्ञक अग्ने ! प्रतिदिन हम यज्ञ करने के लिये श्रद्धापूर्ण हृदय से तुम्हारे सन्मुख होते हैं और तुम्हें प्रणाम करते हैं। 'सꣳहिता' इस मन्त्र से गौ को स्पर्श करे। 'उप त्वा' इस मन्त्र से गार्हपत्य के समीप जाकर उपस्थान करे ॥ २२ ॥

भाष्यसार—किसीका कथन है कि 'दिवे-दिवे' कहने मात्र से ही 'अहर्निश' अर्थ उपलब्ध हो जाता है। अतः उसे अलग से बताना ठीक नहीं है। किन्तु उनका यह कथन साहसपूर्ण ही है। 'दिवे-दिवे' का अर्थ प्रतिदिन किया गया है, जिसे साहसी व्यक्ति ने 'अहर्निश' के रूप में समझ लिया है। 'दिवे-दिवे' को 'अहर्निशार्थक' कहने में कोई प्रमाण नहीं है। तथा च 'प्रतिदिन' अर्थात् 'रात में और दिन में' इस अर्थविशेष के लाभार्थ सायण ने 'दिवे-दिवे' का अर्थ 'प्रतिदिन' किया है। यह समझने की बात है।

मल्लिनाथः । 'दोषावस्तर्धिया वयम्' (ऋ० सं० १।१।७) दोषावस्तः रात्रावहनि च । दोषाशब्दो रात्रिवाची वस्तर् इति अहर्वाचीति सायणः । 'दोषावस्तर्दीदिवांसम्' (ऋ० सं० ४।४।९) दोषावस्तः रात्रावहनि च । यद्वा दोषाया रात्रिकृतस्य तमसो वस्त आच्छादयितः निवारयित इति सायणः । 'त्वं नः पाह्यंहसो दोषा वस्तरघायतः । दिवा नक्तमदाभ्यः ॥' (ऋ० सं० ७।१५।१५)। दोषावस्तः रात्रेराच्छादयितः । तमसो वारयित इत्यर्थ इति'सायणः।

'अथ गामभिमृशति सꣳहितासि विश्वरूपीति । विश्वरूपा इव हि पशवस्तस्मादाह विश्वरूपीत्यूर्जामाविश गौपत्येनेत्यूर्जेति यदाह रसेनेति तदाह गौपत्येनेति यदाह भूम्नेति तदाह । अथ गार्हपत्यमभ्यैति स गार्हपत्यमुपतिष्ठत उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसीति नम एवास्मा एतत्करोति यथैतं न हिंस्यात् ।' (श० २।३।४।२७-२८)। अथ गामभिमृशतीति श्रुतिः सꣳहितासीति मन्त्रेण गोस्पर्शनं विधाय प्रशंसति । विश्वानि सर्वाणि शुक्लकृष्णादीनि रूपाणि यस्यासाविति व्युत्पत्तिमपेक्ष्य व्याचष्टे—विश्वरूपा इव हि पशव इति । ऊर्जेति व्याचष्टे—रसेनेति । गौपत्येनेति व्याचष्टे—भूम्नेति तदाहेति । मतुपो भूमार्थत्वाभिप्रायेण बहुविधेन गौपत्येन मामाविशेति । एवमाहवनीयस्य समन्त्रकं सप्रपञ्चमुपस्थानं विधाय गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते-अथ गार्हपत्यमभ्यैतीति श्रुतिः । नमो भरन्त इति नमस्कारस्य सम्पाद्यत्वावगमाद् आहवनीयस्य योनिभूतं गार्हपत्यं त्यक्त्वा पूर्वमाहवनीयोपस्थानेन तदतिक्रमजनितापराधापनोदनाय गार्हपत्याय नमस्करोति । इतरथा प्रथमाग्निमतिक्रम्य आहवनीयोपस्थानकरणाद् गार्हपत्यः क्रुद्धः सन् यजमानं हिंस्यात् । तस्माद्यथा न हिंस्यात् तथा नमस्कारः क्रियते ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे राजराजेश्वरि चिद्रूपे भगवति ! त्वं संहितासि सर्वैः प्राणिभिः सत्तास्फूर्तिप्रदानेन संपृक्तासि । क्षीणानां बुद्धिबलादिहीनानाम् अनात्मतादात्म्यापत्त्या स्वरूपप्रच्युतानाम् अनुग्रहपारवश्येन बुद्धिबलादिप्रदानेन स्वात्मसाक्षात्कारप्रदानेन सन्दधासि सन्धानं स्वास्थ्यसम्पादनं करोष्यतः संहितासि । विश्वानि सर्वाणि रूपाणि लोहितादीनि ऊर्जा गोक्षीराज्यादिरसेन बलेन स्वरूपानुभवजनितेन लोकोत्तरानन्देन निष्ठादार्ढ्यलक्षणेन बलेन वा गौपत्येन गवां धेनूनामिन्द्रियाणां वा स्वामित्वेन नियन्तृत्वेन वा मामाविश । हे अग्ने परमेश्वर ! दोषावस्तः स्वीयज्ञानात्मकेन तेजसा अविद्यालक्षणाया रात्रेराच्छादक निवारयितः ! दिवेदिवे प्रतिदिनं धिया ब्रह्माकारया स्निग्धया बुद्धिवृत्त्या नमो नमस्कारं भरन्तो बिभ्रतः, त्वाम् उपैमसि प्राप्नुमः । यद्वा—हे अग्ने अविद्यातत्कार्यदाहक ! दिवेदिवे प्रतिदिनं दोषावस्तः रात्रावहनि च वयं नमस्कारं भरन्तः सम्पादयन्तः, उप सामीप्येन प्रत्यगात्मत्वेन त्वा आ इमसि अवगच्छामः साक्षात्कुर्मः ।

'आहवनीय' का अर्थ योनिभूत 'गार्हपत्य' है । उसे त्यागकर प्रथमतः 'आहवनीय' का उपस्थान करने से जो अतिक्रमणरूप अपराध होता है, उसको दूर करने के लिये गार्हपत्य को नमस्कार किया जा रहा है । अन्यथा प्रथमाग्नि का अतिक्रमण करके आहवनीय का उपस्थान करने से 'गार्हपत्य' को क्रोध हो आवेगा, जिससे यजमान की हिंसा भी हो सकती है। अतः किसी भी प्रकार से यजमान की कोई हिंसा न हो पाय, तदर्थ नमस्कार किया जा रहा है ।

अध्यात्मपक्ष में—हे राजराजेश्वरि चिद्रूपे भगवति ! तुम समस्त प्राणियों से सम्पृक्त हो और सबको स्वस्थ रखती हो । मेरी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर अपने स्वरूप का अनुभव कराती हुई मुझे अलौकिक आनन्द से भर दो । हे परमेश्वर ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, मेरी अविद्या को दूर करते हुए मेरी बुद्धि ब्रह्माकार हो, ऐसी कृपा करो ।

किसी ने -कामधेनु को सम्बोधित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, इस अर्थ को व्यक्त किया है । वह अर्थ करना दयानन्दीय अर्थ से अच्छा ही है ।

केचित्तु—'श्रीकृष्णस्याभिषेकार्थं गोविन्दनामकरणायेन्द्रेण सार्धमागतां कामधेनुं सम्बोध्य कृष्णो वक्ति—हे कामधेनो ! त्वं संहिता सन्निहिता मम सन्निधावागतासि । सम्यग् हिता अभीष्टप्रदानाद् हितकारिणी विश्वरूपी सङ्कल्पवशाद् बहुरूपधारिणी वशिष्ठेन स्पर्धमानस्य ससैन्यस्य विश्वामित्रस्य प्रबलसेनारूपधारिणी भूत्वा तत्पराजयकारिणी यथाकामं रूपधारणक्षमा त्वं गौपत्ये गवामिन्द्रत्वे ऊर्जा क्षीरदध्यादिरसेन मामभिषिञ्चती अनुग्रहीत्रीत्वेन आसमन्तात् प्रविश' इति, तदपि दयानन्दीयाद् व्याख्यानात्तु सुश्लिष्टमेव।

दयानन्दस्तु —'संहिता सर्वपदार्थैः सह वर्तमाना विद्युत् सर्वव्यापकः परमेश्वरो वा। विश्वरूपी विश्वं सर्वं रूपं यस्याः सा विश्वरूपी । अत्र —'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' (पा० सू० ४।१।६३) इति ङीप्प्रत्ययः। ऊर्जा वेगपराक्रमादियुक्ता मामाविश गौपत्येन गवामिन्द्रियाणां पशूनां वा पतिः पालकः, तस्य भावः कर्म वा। उप त्वा त्वां तं वा अग्ने अग्निं दिवेदिवे ज्ञानस्य प्रकाशाय प्रतिदिनं वा दोषावस्तः दोषां रात्रिं वस्ते स्वतेजसाच्छाद्य निवारयति सोऽग्निस्तं धिया कर्मणा प्रज्ञया वा वयं नमः अन्नं भरन्तः धारयन्तः आसमन्तात् इमसि प्राप्नुमः' इति, तदपि न युक्तम्, पूर्वोक्तशतपथश्रुत्या संहितासीति मन्त्रस्य गवामुपस्पर्शने, उप त्वेति मन्त्रान्तरस्य च गार्हपत्योपस्थाने विनियुक्तत्वात्। विश्वरूपीत्यत्र ङीप्प्रत्ययोऽपि न युक्तः, विश्वरूपशब्दस्य गुणवाचकत्वेन जातिवाचकत्वाभावात् । किन्तु 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० सू० ४।१।४१) इति ङीष्प्रत्ययो युक्तः, गौरादेराकृतिगणत्वात् ॥ २२ ॥

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्धमानꣳ स्वे दमे ॥ २३ ॥

अत्र क्रियापदं पूर्वस्मादनुवर्तते। वयं यष्टारो राजन्तं दीप्यमानमध्वराणां यज्ञानां गोपां गोप्तारं गोपायतीति गोपाः। ऋतस्य सत्यवचनरूपस्य व्रतस्य दीदिविं दीपयितारम् अग्निसमीपे यजमानो व्रतं गृहीत्वा सत्यमेव वदतीत्यस्यार्थस्य द्योतकमिदं विशेषणम्। स्वे दमे दाम्यन्ति दुर्जयानिन्द्रियारातीन् जयन्ति गृहस्था यत्र तस्मिन् दमे गृहे। 'दम इति गृहनामसु' (निघण्टु ३।४।१२)। स्वीयेऽस्मदीये गृहे वर्धमानं चातुर्मास्य-सोम-पश्वादिभिर्वृद्धिं गच्छन्तम्, ईदृशमग्निम् उप आ इमसि उपैम इत्यर्थः। वर्धमानशब्दस्य तात्पर्यं कण्वो दर्शयति—'यदस्माकमिष्टं त्वं नो भूय एव कुरु तन्नो वर्धयेत्येतदाह' इति ।

अपरस्तु राजपरत्वेनैतन्मन्त्रं योजयति । मन्त्राणां सङ्गतिस्त्वेतन्मते नापेक्षिता। अग्निं राजानं गां परमेश्वरं वोद्दिश्य संगतिमन्तरा वदन्नुन्मत्तवदेव भाति । यशसा प्रतापेन प्रकाशमानं शत्रुभिरप्रधृष्यं दुर्गाणां रक्षकं साधनानां च रक्षकं सत्यज्ञानप्रकाशकं स्वीये दमनकार्ये सर्वतोऽधिकं वर्धमानं त्वां राजानं वयमन्नमुपहरामः। अध्वरशब्दस्य प्रसिद्धं मुख्यमर्थमुपेक्ष्य रक्षासाधनदुर्गाद्यर्थकरणमपि स्वैरित्वमेव ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह शातपथी श्रुति के विरुद्ध है। श्रुति ने तो उपस्पर्शन और मन्त्रान्तर का उपस्थान में विनियोग बताया है। 'विश्वरूपी' में जो व्याकरण बताया है, वह भी प्रमादपूर्ण है।। २२ ।।

मन्त्रार्थ—प्रकाशमान यज्ञ का रक्षक, सत्यवचन का प्रकाशक तथा हमारे घर में चातुर्मास्यादि यज्ञ के रूप में वृद्धि को प्राप्त होने वाला जो अग्नि है, उसके प्रति हम लोग प्राप्त हों।। २३ ।।

भाष्यसार—मन्त्र का भाष्य मन्त्रार्थ से ही स्पष्ट हो जाता है। 'वर्धमान' शब्द के तात्पर्य को कण्व ने भी बताया है। किसी व्याख्याकार ने इस मन्त्र की व्याख्या 'राजपरक' की है, किन्तु उस अर्थ में मन्त्रसंगति नहीं होती। संगतिहीन अर्थ करना उन्मत्तप्रलाप के समान ही है।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर ! राजन्तं स्वप्रकाशत्वेन विभ्राजमानम् अध्वराणां गोपां गोप्तारम् ऋतस्य सत्यस्य स्वस्वरूपस्य तज्ज्ञानस्य वा दीदिविं प्रद्योतयितारं स्वे दमे स्वस्वरूपभूते गृहे वर्धमानं नित्यं नवनवायमानत्वेनानुभूयमानं त्वा वयं धिया भक्त्या त्वदर्पितेन कर्मणा वा प्राप्तुं श्रीरामं श्रीकृष्णं कामेश्वरं वा उपैमसि राजन्तं नित्यसिद्धस्वमहसा कोटिकोटिसूर्यसमप्रभेण विभ्राजमानम् अध्वराणां यज्ञानां गोपां स्वयमनुष्ठानेन तदनुष्ठानप्रोत्साहनेन वा त्रातारम् अध्वना शास्त्रीयेण यथा ये रान्ति दानयज्ञादि कुर्वन्ति तेषां वा रक्षकं ऋतस्य सत्यज्ञानादिलक्षणस्य स्वरूपस्य दीदिविं प्रद्योतयितारं स्वे दमे स्वीये धाम्नि स्वरूपे वा वर्धमानम् उपैमसि ।

दयानन्दस्तु—'अध्वराणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाध्यानां वा सर्वथा रक्ष्याणां यज्ञानां गोपाम् इन्द्रियपश्वादीनां रक्षकम्, ऋतस्यानादिस्वरूपस्य सत्यस्य कारणस्य जलस्य वा दीदिवं व्यवहारयन्तं वर्धमानं हानिरहितं स्वे स्वकीये दमे दाम्यन्त्युपशाम्यन्ति यस्मिन् तत्र स्वस्थाने परमोत्कृष्टे प्राप्तुमर्हे पदे राजन्तं प्रकाशमानमग्निं जगदीश्वरं भौतिकं वा नमो भरन्तो वयं धिया बुद्धया कर्मणा वा उपैमसि नित्यमाप्नुम' इत्यादि, तदपि श्रुतिसूत्रविरोधादुपेक्ष्यम् । अध्वरपदस्य शिल्पविद्यासाध्याः सर्वथा रक्ष्या यज्ञा अर्थः, इत्यस्य निर्मूलत्वाच्च । 'येन परमात्मना अध्वराणां गोपा ऋतस्य दीदिविः स्वे दमे वर्धमानोऽग्निः प्रकाशितोऽस्ति, तं नमो भरन्तो वयं धियोपैमसि नित्यमाप्नुम' इत्यपि वेदबाह्यमेव, तादृशार्थबोधकस्य पदसमुदायस्य मन्त्रेऽदर्शनात्, येनाग्निः प्रकाशित इत्यर्थबोधकस्य पदस्य तत्रासत्त्वात् ।

शतपथे तु—'राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविं वर्धमानꣳ स्वे दम इति स्वं वै त इदं यन्मम तन्नो भूयोभूय एवं कुर्वित्येवैतदाह' (श० २।३।४।२९) । मन्त्रं पठित्वा तात्पर्यमाह—स्वं वै त इदमिति । हे अग्ने ! यन्मदीयं गृहं ते तव स्वभूतम्, अतस्तथाविधं नः अस्माकं पुनः पुनः कुरु । यन्मम स्वं गृहमिदं ते तव स्वभूतम्, अत एव नात्र दमपदस्य सर्वोत्कृष्टमोक्षोऽर्थः, तस्य भूयोभूयः करणासम्भवात् ॥ २३ ॥

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व । सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑ ॥ २४ ॥

हे गार्हपत्याग्ने ! स पूर्वोक्तगुणविशिष्टस्त्वं सूनवे पुत्रायौरसाय पिता जनक इव नोऽस्मभ्यं सूपायनः सुष्ठु शोभनमुपायनमासन्नप्रापणमुपचरणं नमस्कारादिभिरुपचारैरुपचरणं यस्य सः सूपायनः सुखोपगमनः सूपचरो भव । यथा पुत्राय पिता भयं विना सुखेनैव प्राप्तुं नमस्कारादिभिरुपचारैरुपचरितुं च शक्यते, तथास्माकं सुष्ठूपप्राप्तुं सूपचरितुं शक्यो भव । अन्येषां कृते भयानकोऽपि सिंहो यथा पुत्राय सूपगमनो भवति, तथा सूपगमनो भव । सर्वैर्देवैर्दानवैर्लक्ष्म्या च दुरासदोऽपि नृसिंहो यथा प्रह्लादाय सूपायनो जातः, तथास्माकं सूपचरो भव ।

शोभनानि उपायनानि उपहारा दातव्यत्वेन यस्येति तु न युक्तम्, पूज्यं प्रत्येवोपायनानामुपस्थानीयत्वात् । नः स्वस्तये क्षेमाय आसमन्तात् सचस्व अनेन कर्मणा समवेतो भव । सांहितिको वा दीर्घः । 'षच्

अध्यात्मपक्ष में—हम लोग यज्ञयागादि के अनुष्ठान से उस स्वप्रकाश परमेश्वर को ही प्राप्त करते हैं ।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह श्रुति-सूत्र के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय ही है ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ हे गार्हपत्य अग्ने ! जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के घर निर्भय होकर जाता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त गुणों से युक्त तुम हमारे घर भी सुख से आओ और हमारे कल्याणार्थ उत्तम कर्म से युक्त होकर रहो ॥ २४ ॥

समवाये' इति धातोर्यद्वा 'षच् सेवने' इति धातोः सचस्वेति रूपम्। नोऽस्माकं स्वस्तये कल्याणाय अस्मद्दत्तं हविः आसमन्तात् सेवस्य। स्वयमवाप्तसमस्तकामत्वेऽप्यस्मद्धितायास्मद्दत्तं हविरुपभुङ्क्ष्व। यतो हि—'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते। यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥' (भा० ७।९।११) इति वचनान्निजलाभपूर्णो भगवान् आत्मनो मानम् अर्चनादिलक्षणं सम्मानं यद्यपि न वृणीते, तथापि करुणाक्रान्तमानसत्वाद् भक्तजनोपस्थापितं सम्मानं वृणीते कामयते स्वीकुरुते च। ननु तत्तदैश्वर्यदाने कारुण्यं युक्तमादाने कुतः कारुण्यमिति चेत्, शृणु तदादानस्यैव जीवकल्याणहेतुत्वादादत्ते। जनो भगवते यन्मानं सम्मानं विदधीत विदधाति तत् सर्वमात्मने स्वात्महितायैव। यथा बिम्बरूपे समर्पिता श्रीः शोभाधायकालङ्करणादिकं प्रतिमुखस्य प्रतिबिम्बस्य भवति, प्रतिमुखे मुखप्रतिबिम्बे मुकुटकुण्डलादिसमर्पणस्यायमेवोपायो यद् बिम्बे समर्पणम्, तथैव बिम्बरूपे भगवति समर्पितानामैश्वर्याणामेव प्रतिबिम्बभूतेषु जीवेषु संक्रान्तिः। तस्मात् पूर्णकामोऽपि भगवान् भक्तकृतां सपर्यां स्वीकरोति भक्तार्थमेव कामयते तत्समर्पितं हविः सेवते च। दृष्टान्ततात्पर्यं कण्वो दर्शयति—'यथा पिता पुत्राय सूपचरः, एवं नः सूपचर एधीत्येवैतदाहेति'। एतेन सनातनधर्मसम्मत एवार्थ आर्षः।

अध्यात्मपक्षेऽपि तथैव। हे अग्ने परमात्मन्! सूनवे पुत्राय पितेव नः सूपायनो भव सुष्ठूपगन्तुं योग्यो भव। शोभनमुपायनमिव प्रेमास्पदीभूयाभिव्यक्तो भव। नोऽस्माकं स्वस्तये परमकल्याणाय सचस्व समवेतो भव नित्यतादात्म्यसम्बन्धावरणापनयनेनाभिव्यक्तप्रत्यक्चैतन्याभेदवान् भव। श्रीकृष्णः श्रीरामः श्रीविष्णुः शिवो गुरुश्चानेन मन्त्रेण प्रार्थयितुं शक्यन्ते।

दयानन्दस्तु—'स जगदीश्वरः नोऽस्मभ्यं पितेव जनक इव सूनवे औरसाय सन्तानाय अग्ने करुणामय विज्ञानस्वरूप सर्वपितः! सूपायनः। सुष्ठूपगतमयनं ज्ञानप्रापणं यस्मात् स भव भवति। सचस्व संयोजय नः अस्मान् स्वस्तये सुखाय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकरणविरुद्धत्वात्। शतपथरीत्यात्रापि गार्हपत्योपस्थानमेव प्रकृतम्। सूपायन इत्यनेन सुखोपगमनतैव विवक्षिता। तस्यां सत्यामेव ततो ज्ञानप्राप्तिसम्भवोऽपि। सचस्वेत्यस्य संयोजयेत्यप्यसाम्प्रतम्, समवायार्थस्य सचधातोः संयोजनार्थत्वायोगात्।

शतपथे च—'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव सचस्वा नः स्वस्तय इति यथा पिता पुत्राय सूपचरो नैवैनं केनचन हिनस्त्येवं नः सूपचर एधि मैव त्वा केनचन हिꣳसिष्मेत्येवैतदाह' (श० २।३।४।३०)। दृष्टान्तसिद्धयर्थं निष्कृष्यानुवदति—यथा पितेति। सूपचरः सुष्ठूपचरितुं पुत्रस्य सेवितुं योग्य एव भवति, स च पुत्र एनं पितरं न केनचनापि साधनेन हिनस्ति, एवं हे गार्हपत्याग्ने! त्वं नः अस्माकं सूपचर एधि। सुष्ठूपचरितुं योग्यो भव। वयमपि त्वां न केनचिदपि साधनेन हिंसिष्मेति॥ २४॥

भाष्यसार—हे गार्हपत्याग्ने! हमारे लिये तुम्हारी प्राप्ति सुलभ रहे। दूसरों के लिये भयानक प्रतीत होने वाला भी सिंह अपने बच्चे के लिये सुप्राप्य रहता है, उसी प्रकार तुम भी हमारे लिये सुप्राप्य रहो। सम्पूर्ण देव-दानव और लक्ष्मी के द्वारा भी नृसिंहावतार धारण किये हुए भगवान् यद्यपि दुष्प्राप्य थे, तथापि प्रह्लाद के लिये वे सुप्राप्य हो गये थे। उसी तरह तुम हमारे लिये सुप्राप्य बने रहो।

अध्यात्मपक्ष में—अधिकारी भक्त श्रीराम, श्रीविष्णु, शिव, गुरु आदि की इस मन्त्र से प्रार्थना कर सकता है।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह प्रकरणविरुद्ध है। अतः उपेक्षणीय है॥ २४॥

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ॥ २५ ॥

चतस्रो द्विपदा विराज आग्नेय्यो बन्ध्वादिदृष्टाः, दशार्णपादा विराट् । हे गार्हपत्याग्ने ! त्वं नः अस्माकं अन्तमः अन्तिकतमः सदा अत्यन्तसमीपवर्ती भवा 'द्वचचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः । 'अन्तम इति समीपनाम' (निघण्टु २।१६९) । अन्तिकशब्दस्य तमपि पृषोदरादित्वेनान्तमेति रूपं वा, यद्वा 'अम् गतौ' अमति समीपं प्राप्नोतीत्यम् अतिशयेन अम् इति अन्तमः, अम्शब्दात्तमप् । यो हि ब्रह्मचर्यप्रभृति अग्निं परिचरति, तस्याग्निर्निकटतमो भवति । देशविवक्षया परोक्षान्यदेवतापेक्षयाऽपरोक्षोऽग्निः सन्निकृष्ट एव । उतापि च त्राता सर्वरक्षक ऊष्मरूपेण जाठराग्निरूपेण वा, ऊष्माभावे अग्निमान्द्ये मरणदर्शनात् । शिवः कल्याणरूपः । वरूथ्यो भव पुत्रपौत्रादिसमूहो वरूथम्, गृहं वा वरूथम्, तस्मै हितो वरूथ्यः, गृहस्य साङ्गोपाङ्गस्य सकुटुम्बस्य मम अत्यन्तसमीपवर्ती कल्याणकल्पतरुर्हितसाधको भव । हे अग्ने ! त्वं वसुः सर्वेषु प्राणिषु वसति वासयति वा सर्वानिति वसुः सर्वजनानां वासयिता सर्ववासी वा, तापपाकप्रकाशोपकारकत्वात्, वसु धनम्, उपासकानाम् उपास्यस्यैव सर्वप्रियधनरूपत्वाद्वा । अग्निः अङ्गतीत्यग्निः । 'अगि गतौ' । आहवनीयादिरूपेण गमनशीलः, गार्हपत्याग्नेरेवाहवनीयखरेऽङ्गनात् । वसुश्रवा वसुना धनेन श्रवः कीर्तिर्यस्य सः, धनप्रदोऽग्निरिति कीर्तिरग्नेराहिताग्निषु प्रसिद्धा । हे अच्छ निर्मलस्वभाव अग्ने ! त्वं नक्षि अस्मदीयं होमस्थानं गच्छ 'नक्ष गतौ' । यदा यदा होमः स्यात्तदा तदा तत्रागच्छेति भावः । यद्वा हे अग्ने ! त्वं अच्छानक्षि अच्छ त्वां प्राप्तुं नक्षि अस्मानभिव्याप्नुहि । 'णशिराप्नोति कर्मेति । अच्छा मेराप्तुमिति शाकपूणिः' (नि० ५।२८) । अर्थात् 'अच्छेतिशब्दो अभेरर्थे भवति, आप्तुमिति योऽर्थ उक्तः, स एवार्थोऽच्छेत्यनेनोक्तो भवति' इति दुर्गाचार्यः । 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घे 'अच्छा' इति रूपम् । त्वत्प्राप्तये त्वमस्मानाप्नुहि द्युमत्तमं रयिं दाः धनं देहि । ददातेर्लुङि रूपं दा इति । 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इति ।

सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर एवाग्नीन्द्रादिरूपेण तत्तद्यागेष्विज्यते, मन्त्रैश्च स्तूयते । यथा पादुकारथादिष्वपि वैदिकदत्तानि पदानि भूमावेव दत्तानि भवन्ति, पादुकादीनां भूमिविकारत्वात्; तथैव तत्तद्देवताभिधायिनां मन्त्राणां परब्रह्माभिधायित्वमेव, सर्वेषां तद्विकारत्वात् । 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'तज्जलान् इति शान्त उपासीत' इत्यादिश्रुतिभ्यः । मन्त्रब्राह्मणात्मका वैदिका मन्त्राः शब्दाश्च क्वचित्परोक्षरूपेण क्वचिदपरोक्षरूपेण वा, क्वचिदवान्तरतात्पर्यविधया क्वचिन्महातात्पर्यविधया वा परमात्मानमेवाभिव्याहरन्ति । तदधिष्ठात्र्यो देवताः कृष्णस्य भगवतोऽनन्यपूर्विकाः स्वकीया अन्यपूर्विकाः परकीयाभासाश्च व्रजसीमन्तिन्य आसन् । तत्र यासां 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१),

मन्त्रार्थ—हे गार्हपत्य अग्ने ! तुम सर्वदा हमारे समीप रहो, हमारा पालन करो और शान्त होकर हमारे पुत्रादि का रक्षण करो । तुम समस्त लोगों के आश्रयस्थान हो । आहवनीयादि रूप से गमन करने वाले और धनदाता के रूप में जिसका यश सर्वत्र विस्तीर्ण है, ऐसे हे अग्ने ! तुम निर्मल स्वभाव के होकर हमारे हवन स्थान में आओ । अर्थात् जब-जब हम हवन करें, तब प्रत्येक समय तुम हवनशाला में आकर उपस्थित रहो और अत्यन्त प्रकाशमय द्रव्य हमें दो ॥ २५ ॥

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० उ० ३।९।३४) इत्यादीनां श्रुतीनां साक्षाद् भगवत्येव पर्यवसानं ता एवानन्यपूर्विकास्तासामन्यसम्बन्धाभावात् । यासां पुनः 'अग्निमीळे पुरोहितम्' (ऋ० सं० १।१।१) 'राजन्तमध्वराणाम्', (शु० य० ३।२३), 'अग्ने त्वं नो अन्तम' (साम० ४४८) इत्यादिश्रुतीनामवान्तरस्य तात्पर्यस्य तासु तासु कर्माङ्गदेवतासु सत्त्वेऽपि महातात्पर्यं ब्रह्मण्येवेति ता अन्यपूर्विकाः परकीयाभासाः। वस्तुतस्तु स्वकीयाः सत्योऽपि दौर्लभ्यादिप्रयुक्तरसविशेषास्वादनाय परकीया इवावभासन्ते, स्वकीयापेक्षयापि भगवत्प्रियतमा यथा तासां तासां गोपसीमन्तिनीनां ते ते गोपाः पत्याभासाः सन्तोऽपि मुख्यः पतिर्भगवानेव, तथैव तासां तासां श्रुतीनां तत्तद्देवतास्ववान्तरतात्पर्यविषयतासत्त्वेऽपि महातात्पर्यविषयता भगवत्येव, तैस्तैर्वैदिककामकर्मज्ञानैः पाशविककामकर्मज्ञानरूपं मृत्युं तीर्त्वा परमात्मसाक्षात्कारेण परमात्मप्राप्तेरेवेष्टतमत्वात्, 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (वा० सं० ४०।१४) इति मन्त्रवर्णात् । जलविकारभूतानां तरङ्गाणां मुख्यः सम्बन्धो जलेनैव, तरङ्गान्तरैः सम्बन्धस्त्वनित्य एव, तथैव परमात्मविकाराणां जीवानां मुख्यः सम्बन्धः परमात्मनैव, जीवान्तरैः सम्बन्धस्त्वनित्य एव। तेन सर्वेषां जीवानां पतिपुत्रभ्रातृमातृपत्न्यादिसम्बन्धोऽनित्य एव परमात्मसम्बन्ध एव नित्यः ।

मीमांसकनये घटपटादितत्तत्पदानां घटत्वपटत्वादिजातिष्वेव शक्तत्वेन, जातीनां च परजातिरूपायां सत्तायामेव पर्यवसानात्, सत्ताया अपि स्वप्रकाशे सद्रूपेऽपरोक्षब्रह्मण्येव पर्यवसानं सेत्स्यति । एवं च समेषामपि वस्तूनां पर्यवसानं स्वस्वकारणे भवति, कारणानां च परमकारणे कार्यकारणातीते ब्रह्मण्येव पर्यवसानम् । तदुक्तं श्रीमद्भागवते—'सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः । तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥' (भा० १०।१४।५७) भवति कार्याकारेण परिणामं प्राप्नोतीति भवत् कारणम्, तस्मिन् भवति कारणे। तेनाग्नेः परमात्मरूपेण सर्वान्तरतरत्वेनान्तिकतमत्वं शिवत्वं सर्वहिततमत्वं च स्वभावसिद्धं भवति । सच्चिदानन्दमहासमुद्रेऽभिधानात्मकप्रपञ्चोत्पादनानुकूलशक्त्यवच्छिन्नचिदानन्दविवर्तरूपाः प्रणवस्तद्विकारभूता वाचकाः शब्दाश्च तरङ्गरूपाः, अभिधेयात्मकप्रपञ्चोत्पादनानुगुणशक्त्यवच्छिन्नसदानन्दविवर्तभूता अव्याकृत-हिरण्यगर्भविराडादिसमष्टिव्यष्टिपदार्था अपि तरङ्गरूपा एव । तरङ्गाणां जलेनैव स्वाभाविकोऽविच्छेद्यः सम्बन्धः, तरङ्गान्तरैस्तु सम्बन्धोऽस्वाभाविकोऽनित्यश्च । ततः स्वाभाविक एव श्रुतीनां सर्वाधिष्ठानरूपेण परमात्मनैव सम्बन्धः, तद्विकारैस्त्वनित्य एव सम्बन्धः । तस्मादेव 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० २।१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५।१५) इत्यादयः श्रुतिस्मृतिवादाः सङ्गच्छन्ते, तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमेन शब्दार्थानामपि परस्परं तादात्म्यसम्बन्धावगमात् ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे अग्ने परमात्मन् ! त्वमस्माकम् अन्तमः अन्तिकतमः सामीप्यस्य प्रत्यगात्मनि पर्यवसानेन प्रत्यगात्मासि, प्रत्यगात्मत्वेन सर्वान्तरतमत्वात् प्रियतमश्चासि, त्राता रक्षकश्चासि, प्रत्यगात्मतया ज्ञातस्य मोक्षप्रदत्वेन संसारभयात् त्रातृत्वात् । शिवो मोक्षरूपश्चासि, निरावरणस्यात्मन एव मोक्षरूपत्वात् । 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः' इत्याप्तोक्तेः । वरूथ्यः वरूथं गृहमाश्रयस्तत्र साधुर्वरूथ्यः शरण्योऽसि

भाष्यसार—जो ब्रह्मचर्याश्रम से ही अग्नि की परिचर्या करता है, उसके समीप ही अग्नि सर्वदा रहता है। ऊष्मा के रूप में अथवा जाठराग्नि के रूप में अग्नि सभी का रक्षक है । अग्नि के रूप में सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर की ही तत्तद् यज्ञों में पूजा होती है । मन्त्रों के द्वारा उसी की स्तुति की जाती है । मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक मन्त्र और शब्द सभी कुत्रचित् परोक्षतया, क्वचित् अपरोक्षतया, कहीं अवान्तर तात्पर्य के रूप में, तो कहीं महातात्पर्य के रूप में उस परमात्मा को ही बताते हैं ।

'वृञ् वरणे'। वृणोति परित आच्छादयतीति वरूथः कवचदवद्रक्षकः क्षान्तिशान्तिसन्तोषादिसमूहस्तत्र हितो वा वरूथ्योऽसिः, त्वदनुग्रहेणैव तद्दाढ्योंपपत्तेः। त्वं वसुः सर्वस्मिन् जगति वससि, जगच्च स्वस्मिन् वासयसीति वा वसुः। वसुश्रवा वसु सर्वोत्कृष्टधनरूपं श्रवः कीर्तिर्यस्य स वसुश्रवाः। यशोधन इत्यर्थः। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥' (वि० पु० ६।५।७४) इति षड्भिर्भगैः पूर्णत्वाद् वसुश्रवाः। हे अच्छ मायातत्कार्यसम्बन्धशून्य! त्वम् अग्निः ब्रह्माकारवृत्तावभिव्यज्य संसारदाहकोऽसि। नक्षि सर्वत्र व्यापकोऽसि, सर्वकारणत्वात्। यद्वा अच्छानक्षि त्वां प्राप्तुमभिमुख्येनास्मान् व्याप्नुहि। हे परमेश्वर! द्युमत्तमं रयिम् अतिशयेन द्योतमानं ब्रह्मात्मसाक्षात्काराख्यं ज्ञानं साक्षादपरोक्षं स्वात्मानमेवादाः देहि।

यत्तु 'महीधरः 'अम् गतौ' इत्यतः अमति समीपं प्राप्नोतीति कर्तरि क्विपा अम्शब्दं संसाध्य तमपि अन्तम इति शब्दसिद्धिमाह। अर्वाचीनश्च कश्चन (दयानन्दः) 'अन् प्राणने' आदादिकः, इत्यतः अनिति जीवति सोऽतिशयित इत्याह, तदुभयं न साधु, पुरीतत् संयत् इत्यादिषु 'गमादीनामपि वक्तव्यः' (पा० सू० ६।४।४०) इति वार्त्तिकेन क्विपि 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) तुगागमे अम् अन् इत्यनयोरपि अनुनासिकलोपादिप्रसक्तेः' इति, तत्तुच्छम्, गणपाठेषु गमादिगणस्यानुक्तत्वात्। तथा च तत्र महाभाष्ये परिगणितानामेव गमादित्वेन, महाभाष्ये च अम् इत्यस्य अपरिगणितत्वेनानुनासिकलोपाद्यप्रसक्तेः। तथाहि—'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) अनुनासिकेति लुप्तषष्ठीकं वनतीतरेषां विशेषणम्। अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याद् झलादौ किति ङिति परे इति सूत्रार्थः। यमिरमिनमिगमिहनिमन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः। तनुषणुक्षणुक्षिणुऋणुतृणुघृणुवनुमनुतनोत्यादयः। तस्मादेतेषामनुनासिकलोपो भवति। 'वा ल्यपि' (पा० सू० ६।४।३८) आगत्य, आगम्येत्यादिरूपाणि भवन्ति। 'न क्तिचि दीर्घश्च' (पा० सू० ६।४।३९) क्तिचि लोपो दीर्घश्च न भवतः। तेन यन्तिः, रन्तिः, वन्तिः, तन्तिः— इत्यादि रूपाणि भवन्ति। 'गमः क्वौ' (पा० सू० ६।४।४०) इति गमधातोः क्वौ अनुनासिकलोपः, तेन 'अङ्गमत्' इति रूपं निष्पद्यते। अत्र सूत्रे वार्त्तिकम्—'गमादीनामिति वक्तव्यम्' परीतत्, संयत्, सुनुत्,। अपरं चात्र वार्तिकम्—'ऊङ् च गमादीनामिति वक्तव्यम्' चादल्लोपश्च। तेन अग्रेगूः, अग्रेभ्रूः। अत्र गणपाठे गमादीनामुल्लेखाभावात्, महाभाष्ये च तनुयमिनमिभ्रमीतिधातूनामुदाहरणात् पञ्चैव गमादय इति। तस्मान्मुधैव महीधरदोषान्वेषणम्। ननु तर्ह्यनतेरेवैतद्रूपं किं न स्यादिति चेन्न, मन्त्रस्येश्वरपरत्वे तथात्वेऽग्निपरत्वे तदनुपपत्त्या अमतेरेव रूपस्य युक्तत्वात्।

दयानन्दस्तु —'हे अग्ने ईश्वर! त्वं करुणामयो नोऽस्माकमस्मभ्यं वा अन्तमः आत्मान्तःस्थः अनिति जीवति सोऽतिशयितः 'स उ प्राणस्य प्राणः' (के० उ० १।१)! उतापि त्राता रक्षकः शिवः मङ्गलकारी भव। वरूथ्यः वरूथेषु श्रेष्ठेषु गुणकर्मस्वभावेषु भवो वरूथ्यः। हे अग्ने! यस्त्वं वसुश्रवाः वसुरग्निः नक्षि सर्वत्र प्राप्तोऽसि स त्वं नोऽस्माकमन्तमस्त्राता वरूथ्यः शिवो भव। उतापि नोऽस्मभ्यं रयिमच्छ दाः सम्यग्देहि' इति, तदपि श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव। 'अथ द्विपदा ......अग्ने त्वं नोऽन्तमः' (श० २।३।४।३१) इत्यनया कण्डिकया चतसृभिर्द्विपदाभिर्गार्हपत्यस्याग्नेरुपस्थानमाह—अग्ने त्वमिति प्रथमा, वसुरग्निरिति द्वितीया, तं त्वा शोचिष्ठेति तृतीया, स नो बोधि इति चतुर्थी॥ २५॥

अध्यात्मपक्ष में—हे अग्निरूप परमात्मन्! तुम ही हमारे प्रत्यगात्मरूप होने से प्रियतम हो, रक्षक हो। यशोधन हो, इत्यादि अर्थ भी मन्त्र से अभिव्यक्त होता है।

तं त्वा॑ शोचिष्ठ दीदिवः सु॒म्नाय॑ नू॒नमी॑महे॒ सखि॑भ्यः ।
स नो॑ बोधि श्रु॒धी हव॑मरु॒ष्या णो॑ अघाय॒तः सम॑स्मात् ॥ २६ ॥

हे शोचिष्ठ शोचिष्मत्तम ! शोचिरिति ज्वालोच्यते, दीप्तिमत्तम ! छान्दसो मतुब्लोपः । हे दीदिवः सर्वस्य दीपयितः ! हे सर्वप्रकाशक ! तं पूर्वोक्तगुणविशिष्टं त्वामग्निं सखिभ्यो मित्रेभ्योऽर्थाय नूनं निश्चयेन सुम्नाय सुखं द्वितीयार्थे चतुर्थी । नूनं निश्चयेन ईमहे याचामहे । यद्वा निम्नाय सुखार्थमस्मत्सखीनामुपकाराय त्वामीमहे । 'सुम्नमिति सुखनाम' (निघण्टु ३।६।१६) । स त्वं नोऽस्मान् भवद्भक्तानबोधि बुद्धयस्व अनुग्रहेणावलोकय । हवं श्रुधी अस्मदीयाह्वानं शृणु । श्रुधीत्यत्र 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः । समस्मात् सर्वस्मात्, अघायतः शत्रोरस्मानुरुष्य रक्ष । परस्याघं पापं य इच्छति स अघायत् । तस्मादघायतः शत्रोः 'छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।१।८) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन क्यचि रूपसिद्धिः । सर्वेभ्योऽघकारिभ्यः शत्रुभ्योऽस्मान् रक्ष । उरुष्यती रक्षणकर्मा (नि० ५।२३) ।

अध्यात्मपक्षे—हे शोचिष्ठ ज्योतिष्मत्तम कोटिकोटिसूर्यसमप्रभ परमात्मन् आन्तराणां बुद्धयादीनां बाह्यानां सूर्यादीनामपि प्रकाशक 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठो० ५।१५), 'येन सूर्य्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९७) इत्यादिश्रुतिभ्यः । दीदिवः अनन्तानन्तविश्वब्रह्माण्डप्रकाशक तं वेदान्तेषु प्रसिद्धं त्वा त्वां सखिभ्यः त्वदीयसमानख्यानेभ्यो मित्रेभ्यो जीवेभ्यस्तेषां हिताय पापताप-वारणाय सुम्नाय ब्रह्मात्मप्राप्तिसुखाय च नूनं निश्चयेन ईमहे याचामहे । स त्वं नोऽस्मान् बोधि अनुग्रहपूर्ण-दृष्ट्यावलोकय । हवं मदीयमाह्वानं प्रार्थनामयं श्रुधि शृणु । समस्मात् सर्वस्माद् अघायतः अस्मासु पापमाचरतो बाह्यादान्तराच्च पापकामादेः, नोऽस्मान् उरुष्य रक्ष स्वात्मप्रकाशनेन । अनेन मन्त्रेण संसारदावानले दंदह्यमाना जीवा वृन्दावने दावानलपरीता गोपबाला लाक्षागृहदाहपीडिताः पाण्डवाश्च भगवन्तं प्रार्थयन्ते ।

अन्यस्तु—'हे तेजसातिशयेन दीप्तिमन् राजन् निश्चयेन प्रसिद्धान् त्वत्तो मित्राणां कृते प्रार्थयामः । अस्मदभिप्रायं बुद्ध्वा ज्ञानवतो वाऽस्मान् कृत्वा अस्मत्कृतां प्रार्थनां शृणु । त्वमस्मान् पापकृताद् हिंसकाद् पुरुषात् सर्वतो रक्ष' इत्याह । अयं तु महीधरादिभाष्येभ्योऽर्थं बुध्वा व्याख्याय तत्र स्वाभिप्रायं योजयित्वा यत्किञ्चिद् वक्ति । वैदिकदेवतादिषु विश्वासराहित्यात् क्वचित् परमात्मपरत्वेन क्वचिन्नृपमन्त्रिसेनापति-सैनिकादिपरत्वेन मन्त्रान् यथेच्छं योजयति ।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ अपनी बुद्धि के अनुसार किया है, वह श्रुति और सूत्र के विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—ज्वालायुक्त तथा सर्वप्रकाशक अग्ने ! पूर्वोक्तगुणविशिष्ट तुमसे हम लोग अपने मित्र के कल्याणार्थ निश्चित रूप से याचना करते हैं । अतः तुम हमारे अभिप्राय को जानकर हमारी आमन्त्रणरूप प्रार्थना को सुनो, समस्त शत्रुओं से हमारी रक्षा करो ।। २६ ।।

भाष्यसार—हे दीप्तिमत्तम, हे सर्वप्रकाशक ! हमारे मित्रों को निश्चित सुख प्राप्त हो, यह हमारी याचना तुमसे है । तथा पापी शत्रुओं से हमारी रक्षा करो ।

अध्यात्मपक्ष में—हे भगवन् ! हमारे पाप-ताप का निवारण करते हुए ब्रह्मात्मप्राप्ति के सुख की हमारी कामना को मित्रों के साथ ही पूर्ण करें, ऐसी हमारी याचना है ।

यत्तु दयानन्दः—'तं जगदीश्वरं त्वां हे शोचिष्ठ पवित्रतम दीदिवः प्रकाशमयानन्दप्रद ! वयं नोऽस्माकं सखिभ्यश्च नूनं सुम्नाय त्वामीमहे। यो भवान्नोऽस्मान् बोधि सम्यग् विज्ञानं बोधयति स त्वं नोऽस्माकं हवं श्रोतुं श्रावयितुमर्हं स्तुतिसमूहं यज्ञं श्रुधि कृपया शृणु। नोऽस्मान् समस्माद् अघायतः परपीडाकरणरूपात् पापाद् उरुष्य सततं पृथग् रक्ष' इत्याह, तन्न मनोज्ञम्, गार्हपत्योपस्थानविनियोगविरोधात्। अग्निपरत्वे च दीप्त्यर्थक एव शुचिर्युक्तः। दीदिव इत्यस्यापि योग्यत्वादग्नौ दीपयितृत्वमेवार्थः। हवमित्यस्याह्वानमेव मुख्यार्थः। स्तुतिसमूहो यज्ञो वा गौणार्थ एव। न च मुख्यार्थसम्भवे गौणार्थाश्रयणं युक्तम्। सम्यग्विज्ञानं बोधयतीति चासङ्गतम्, प्रकाशप्रकाशनस्येव विज्ञानबोधनस्यानपेक्षणात्। यद्वा—'आहवनीयमुपतिष्ठते। पशूंस्तद्याचते। तस्मात्तमुच्चावचैश्छन्दोभिरुपतिष्ठत उच्चावचा इव हि पशवः' इति द्विपदाभिर्गार्हपत्योपस्थानस्य पुरुषप्राप्तिहेतुतां वक्तुमाहवनीयोपस्थानस्य पशुप्राप्तिहेतुत्वमुक्त्वा—'अथ द्विपदाः पुरुषश्छन्दसां वै द्विपदा द्विपाद्वा अयं पुरुषः पुरुषानेवैतद्याचते' (श० २।३।४।३२-३३)। पुरुषवत् पादद्वयोपेतत्वात् पुरुषप्राप्तिहेतुत्वम् ॥ २६ ॥

इड॒ एह्यदि॑त॒ एहि॒ काम्या॒ एत॑। मयि॑ वः काम॒धर॑णं भूयात् ॥ २७ ॥

'गां गच्छतीड एहीति' (का० श्रौ० ४।१२।८)। कर्माङ्गभूतां गां प्रति गच्छेत्। द्वे यजुषी गोदेवत्ये। हे इडे इडारूपे गौः। 'इडेति गोनाम' (निघण्टु १।१।१५)। मातः 'अदितिरदीना देवमाता' (नि० ४।२२)। अदितिरूपे धेनो मनोर्दुहिता। इडा मनुमिवास्मानेहि होमस्थानं वा आगच्छ। अदितिरादित्यानिवास्मानेहि। अत्रानिडायामनदितौ च गवि इडादितिशब्दप्रयोग उपमार्थः। अतस्मिंस्तच्छब्दस्तद्वदतिदेशार्थः। 'काम्या एतेत्यालभते' (का० श्रौ० ४।१२।९)। काम्येति मन्त्रेण तामेव गां स्पृशति, 'मनुष्याणां ह्येतासु कामाः प्रविष्टाः' (श० २।३।४।३४) इति श्रुतेः। हे काम्याः सर्वैः कामयितव्याः, यूयं एत आ इत आगच्छत। वः युष्माकं कामधरणं कामा ध्रियन्ते यस्मिन् तत्कामधरणम्, अभीष्टफलधारकत्वं मयि यज्ञानुष्ठातरि भूयात्। युष्माकमनुग्रहेणाहमभीष्टफलभाग् भूयासम्। अहं वः प्रियो भूयासम्। यद्वा अदिते अखण्डनीयेऽहन्तव्ये अघ्न्ये, 'दोऽवखण्डने' इति धातो रूपम्। इडादितिशब्दौ गोनामत्वेन प्रसिद्धौ। मनुष्याणां क्षीरदध्याज्यादिविषयाः कामा हि यस्मादेतासु गोषु प्रविष्टाः, तस्मादेताः कामनाविषयत्वात् काम्याः। तथा च शातपथी श्रुतिः—'अथ गामभ्यैति। इड एह्यदित एहीतीडा हि गौरदितिर्हि गौस्तामभिमृशति काम्या एतेति। मनुष्याणाᳬ ह्येतासु कामाः

किसी व्यक्ति ने महीधरादिभाष्योक्त अर्थ को ही बताकर साथ-साथ अपने अभिप्राय को भी जोड़ दिया है। किन्तु वैदिक देवताओं पर विश्वास न होने से कहीं तो परमात्मपरक और कहीं राजा-मन्त्री-सेनापति परक अर्थ करते हुए अपनी उन्मुक्त कल्पना का परिचय दिया है।

स्वामी दयानन्द ने श्रुत्युक्त विनियोग के विरुद्ध ही यथेष्ट व्याख्या कर दी है। अतः उसे प्रामाणिक कैसे कहा जा सकता है ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ – हे इडे (मनुदुहिते) ! हे अदिति ! तुम सभी प्रार्थनीय हो। तुम सब हमारे होमस्थान (हवनशाला) में आओ। तुम्हारा अपेक्षित काम (अभिलषित फल) के धारण (सुरक्षित) करने का जो धर्म (कर्तव्य) है, मुझ में (मेरे विषय में) सर्वदा बना रहे। अर्थात् तुम्हारी कृपा से मैं अभीष्ट फल से युक्त रहूँ। 'इड एहि' इस मन्त्र से गौ के समीप खड़ा रहे और 'काम्या एत' इस मन्त्र से उसे स्पर्श करे ॥ २७ ॥

प्रविष्टास्तस्मादाह काम्या एतेति मयि वः कामधरणं भूयादित्यहं वः प्रियो भूयासमित्येवैतदाह' (श० २।३।४।३४)। अनया कण्डिकया गोसमीपगमनं तदुपस्पर्शनं च समन्त्रकं विधत्ते।

अध्यात्मपक्षे—हे इडे संविद्रूपे परा वाक्! एहि स्वरूपप्राकट्येन मत्सन्निधावागच्छ, 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥' (वा० प० १।१) इति वाक्यपदीयवचनात्। हे अदिते अखण्डनीये अपरिच्छिन्ने चिन्मयि त्रिपुरे! एहि प्रत्यगानन्दरूपेणात्मानं मयि स्वात्मानं प्रकाशय स्वविषयकावरणापनयनेनेत्यर्थः। हे काम्याः कामेश्वरीरूपा दशमहाविद्यारूपाः! सर्वा यूयम् एत अस्मत्सन्निधावागच्छत। स्वस्वरूपं प्रादुर्भावयत। वो युष्माकं कामधरणं सर्वाभीष्टधारणसामर्थ्यं मयि युष्माकमुपासके मयि भूयात्।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर भवत्कृपयेडेयं पृथिवी मह्यं राज्यकरणाय एहि समन्तात् प्राप्नुयात्। एवमदितिः सर्वसुखप्रापिका नाशरहिता राज्यनीतिरेहि प्राप्नुयात्। एवं हे भगवन्! पृथिवीराज्यनीतिभ्यां मह्यं काम्याः पदार्था एत समन्तात् प्राप्नुवन्तु। तथा मयि वस्तेषां कामानां धरणं भूयात्' इत्याह, तदपि पूर्वोक्तशतपथश्रुतिविरोधादुपेक्ष्यम्, अश्रुतसम्बोधनपुरुषव्यत्ययादिकल्पनादोषाच्च। इडापदेन पृथिवीराज्यस्यादितिपदेन नाशरहितराज्यनीतेर्ग्रहणे प्रमाणाभावाच्च॥ २७॥

सोमानꣳ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिजः॥ २८॥

'सोमानमित्यनुदकं व्रतोपायनवत्' (का० श्रौ० ४।१२।१०)। अथान्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्नग्निमीक्षमाणो जपति दाशुष इत्यन्तम्। सोमानं स्वरणं तृचो गायत्रो ब्रह्मणस्पतिदैवत्यस्तेनैव दृष्टः। हे ब्रह्मणस्पते ब्रह्मणो वेदस्य पालक! सोमानं सोमानामभिषोतारं स्वरणं शब्दयितारं प्रकाशनवन्तं वा। 'स्वृ शब्दोपतापयोः'। कृणुहि मामिति शेषः। त्वत्प्रसादादहं सोमयागे सोमानां लताविशेषाणां सोमराज्ञामभिषोता स्तोता च स्यामित्यर्थः। सुनोतीति सोमा, 'षुञ् अभिषवे' इति धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिन्प्रत्यये रूपसिद्धिः। सोमानं सोमयागकर्तारम्। सोमानं सोतारं पातारमिति पर्याया इत्युव्वटाचार्याः। सोतारं पातारं सामर्थ्यात् प्रसङ्गाच्च सोमानां पातारं वा कुरु। तत्रोपमानमुच्यते—कक्षीवन्तं

भाष्यसार—'गौ' को 'अदिति' कहकर उसे अवध्य बताया है। 'इडा' यह 'गौ' का नाम है।

अध्यात्मपक्ष में—हे चिन्मयि त्रिपुरे! स्वविषयक आवरण को दूर करके प्रत्यगानन्दरूप से अपने को प्रकट करने की कृपा करो। मैं तुम्हारा उपासक हूँ।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह शतपथश्रुति के विरुद्ध रहने से उपेक्षा के ही योग्य है। साथ ही अश्रुत सम्बोधन और पुरुषव्यत्ययादि कल्पना तथा प्रमाणरहित अर्थ की कल्पना आदि दोषों से परिपूर्ण वह अर्थ है॥ २७॥

मन्त्रार्थ—हे ब्रह्मणस्पते वेदपालक! जिस प्रकार तुमने दीर्घतमस्संज्ञक पिता और उशिक्संज्ञक माता से उत्पन्न हुए कक्षीवान् नामक ऋषि को सोमयाग और स्तुति से युक्त कर दिया था, उसी प्रकार मुझे भी वैसा कर दे। 'सोमानम्' इन नौ मन्त्रों का ('सोमानम्' इस मन्त्र से लेकर 'परि ते दूडभो' इस ३६ वें मन्त्र तक नौ मन्त्रों से) आहवनीय के समीप पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर जप करे॥ २८॥

कक्षीवानिति नामकमृषिं दीर्घतमसः पुत्रं धनदानेन यथा सोमपायिनं स्तुतिशब्दयुक्तं स्तोतारं कृतवानसि तथैव मामपि कुरु। इवशब्दो लुप्तो ज्ञातव्यः। कोऽसौ कक्षीवानित्याह—यः औशिजः, उशिग्नाम्नी कक्षीवतो माता, तस्याः पुत्र औशिजः कक्षीवान्। अनुष्ठातृषु मुनिषु कक्षीवतः प्रसिद्धिः। तथाहि तैत्तिरीयश्रुतौ—'एतं वै अपृणारः कक्षीवाँ औशिजो वीतहव्यः श्रायसस्त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः प्रजाकामा अचिन्वत' (तै०सं० ५।६।५।३), 'अहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः' (ऋ० सं० ४।२६।१)।

यास्कस्तु—'सोमानं सोतारं प्रकाशवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः कक्षीवान् कक्ष्यावानौशिज उशिजः पुत्र उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणोऽपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्। सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु......' (नि० ६।१०) इति निरुक्ते मन्त्रमिमं व्याख्यातवान्। सोमानमनेकेषां सोमानां सोतारमभिषोतारं मां स्वरणं शब्दयितारं स्तुवन्तं यशस्विनं प्रकाशनवन्तं कुरु। कथं य औशिजः कक्षीवान् तमिव। कक्षीवान् कक्षे भवा कक्ष्या अश्वोदरसम्बन्धिनी रज्जुः, साऽस्यास्तीति कक्षीवान्। निरुक्तदृष्ट्या मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः। स हि कक्ष उत्पन्नः। तदुत्पत्तिसंयोगात् कक्षीवान्। औशिजः उशिजः पुत्रः। उशिग् इति कान्तिकर्मणो वष्टे रूपम्। तमिव मां सोमानं स्वरणं कुरु। तैत्तिरीयाश्च तथैवाहुः—'सोमानं स्वरणमित्याह सोमपीथमेवावरुन्धे कृणुहि ब्रह्मणस्पत इत्याह ब्रह्मवर्चसमेवावरुन्धे' (तै० सं० १।५।८।४) इति। तथैव शतपथे—'अथान्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन्नग्निमीक्षमाणो जपति सोपानँ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तं य औशिजः' (श० २।३।४।३५)। 'यद्वा आहवनीयमुपतिष्ठते दिवं तदुपतिष्ठतेऽथ यद् गार्हपत्यं पृथिवीं तदथैतदन्तरिक्षमेषा हि दिग् बृहस्पतेरेषा हि दिग् बृहस्पतेरेताँ ह्येतद्दिशमुपतिष्ठते। तस्माद् बार्हस्पत्यं जपति' (श० २।३।४।३६)। गोरुपस्थानानन्तरं प्राङ् गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये तिष्ठन्नग्निमीक्षमाणो जपति सोमानमिति। मन्त्रव्याख्यानं तूक्तमेव। सोमानमित्यस्य जप्यस्य तृचस्य प्रयोजनमाह—यद्वेति। आहवनीयगार्हपत्योपस्थानाभ्यां द्यावापृथिव्योस्तन्मध्यवर्तिनोऽन्तरिक्षस्य चोपस्थानं कृतं भवति। तस्य देवताविशेषसम्बन्धं प्रशंसति—एषा हीति। द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमाना येयमूर्ध्वा दिक्, एषा बृहस्पतेः स्वभूता। 'ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिर्देवता'। बृहस्पतिब्रह्मणस्पत्योरभेदान्न विरोधः। अतएव दाशतय्यां 'गणानां त्वा....' (ऋ० सं० २।२३।१) इति ब्रह्मणस्पत्यसूक्तेषु बृहस्पतिः स्तूयते।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मणस्पते! वेदस्य तद्धारयितुर्ब्राह्मणस्य च पालक! त्वं तं स्वोपासकं सोमानं त्वदाराधनबुद्ध्या अभिषोतारं ज्योतिष्टोमादियागानुष्ठातारं स्वरणं शब्दयितारं देवब्राह्मणातिथीनां स्तोतारं दीयतां भुज्यतामिति बृहत्या वाचो वक्तारं वा कृणुहि कुरु धनबुद्ध्यादिप्रदानेन। कमिव औशिजं कक्षीवन्तमृषिमिव उपमानबोधक इवशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः। यद्वा उशिक् कमनीयं सगुणसाकारं ब्रह्म, 'न यत्र हंसा निरयन्त्युशिक्क्षयाः' इति श्रीमद्भागवतवचनात्। तत्सम्बन्धी तदीयो भक्त औशिजः कक्षीवान् कक्ष्या रज्जुरविद्यारूपा साऽस्यास्तीत्यविद्यावान् जीवात्मा शास्त्रीयनियमो वा कक्ष्या तद्वान् नियन्त्रितकार्यकरणसंघातो यः परमात्मभक्तस्तमिव। यद्वा मां जीवात्मानं सोमानमभिषोतारं स्वधर्मानुष्ठानेन शुद्धं निर्मलं स्वरणं वेदान्ताभ्यासपरायणं महावाक्यशब्दवन्तं कृणुहि। 'अरुन्मुखान् यतीन्

भाष्यसार—मन्त्रार्थ से भाष्यार्थ स्पष्ट है। ब्रह्मणस्पति, कक्षीवान्, सोम आदि शब्दों की व्युत्पत्तियों को भाष्य से अवगत कर लेना चाहिये।

अध्यात्मपक्ष में—भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि मुझ नियन्त्रित सगुण भगवद्भक्त को तत्त्वसाक्षात्कार जिस प्रकार कराना चाहो, वैसा कर दो।

शालावृकेभ्यः प्रायच्छमित्यरुन्मुखत्वस्य निन्दितत्वात् । नियन्त्रितं नियतात्मानं सगुणभगवद्भक्तं तत्त्वसाक्षात्कारवन्तं यथा करोषि तथा कुरु। 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥' (भ० गी० १०।११), 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयन्ति ते' (भ० गी० १०।१०) इत्यादिश्रीमद्भगवद्गीतावचनात् ।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मणस्पते ! योऽहमौशिजः, तं मां सोमानं सुनोति निष्पादयत्योषधिरसान् विद्यासिद्धीश्च येन तं स्वरणं सर्वविद्याप्रवक्तारं कृणुहि सम्पादय। कक्षेषु विद्याध्ययनकर्मसु साध्वो नीतिः कक्ष्या, सा बह्वी विद्यते यस्य विद्यां जिघृक्षोः, तं भूमार्थे मतुप्। 'संज्ञायां मतौ सम्प्रसारणम्' (पा० सू० ६।१।३७) इति स्थलीयेन वार्तिकेन सम्प्रसारणादेशः। यः सर्वा विद्या वष्टि स उशिक् तस्य विद्यापुत्र इव' इत्यादि, तच्चाविचारितरमणीयम्, प्रसिद्धस्य औशिजस्य कक्षीवतो दीर्घतमसः पुत्रस्यार्थस्य परित्यागेऽर्थान्तरस्य कल्पने मानाभावात् । उशिक्पदवाच्यापि तस्यर्षेर्मातृत्वेन प्रसिद्धा काचित् स्त्रीति उशिक्पदेन सैव ग्राह्या । अन्यथा सर्वा विद्या एकां वा विद्यां परमेश्वरं धनं वा वष्टीति विनिगमनाविरहाद् उशिक्पदार्थोऽनिर्णीत एव स्यात् । कक्षेषु विद्याध्ययनकर्मसु साध्वी नीतिरित्यप्यर्थो निर्मूल एव, मानाभावात् ।

यत्तु कश्चित्—'सोमानमित्यत्र छान्दसो मनिःप्रत्यय औणादिकप्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । कर्तरि मनिन्प्रत्ययं व्याचक्षाणौ उव्वटमहीधरौ स्वरदोषान्न रमणीयौ' इति, तत्तुच्छम्, नित्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्तेऽपि 'उञ्छादीनां च' (पा० सू० ६।१।१६०) इत्यन्तोदात्तस्वरसिद्धौ बाधाभावात् । किञ्च, यथा छान्दसत्वाद् मनिप्रत्ययः साध्यते, तथैव छान्दसत्वेनान्तोदात्तत्वमपि किं न साध्यते ? प्रक्रियागौरवापेक्षया स्वरस्य छान्दसत्वाश्रयणे लाघवात् ।

यत्तु केनचित्—'यत्तु सायणभाष्ये (ऋ० १।१८।१) 'भवेच्छन्दसि' इति यप्रत्यय ···प्रत्ययस्वरेण ईकार उदात्तः' इति, तदयुक्तम्, 'भवेच्छन्दसि' (४।४।११०) इत्यत्राधिकारप्राप्तो यत्प्रत्यय एव सर्वसम्मतः। अतो यप्रत्ययेनेष्टस्वरसिद्धेरपि यत एव सर्वसम्मतत्वात् छान्दसत्वादेवेष्टस्वरसिद्धिरिति साधीयान् स्यात्' इति, तदपि तुच्छम्, यप्रत्ययेनेष्टस्वरसिद्धौ छान्दसत्वाश्रयणस्यायुक्तत्वात्, तस्यागतिकगतित्वाच्च ॥ २८ ॥

यो रे॒वान् यो अ॑मीव॒हा व॑सु॒वित् पु॑ष्टि॒वर्ध॑नः । स नः॑ सिषक्तु॒ यस्तु॒रः ॥ २९ ॥

यो ब्रह्मणस्पतिः, रेवान् रै धनं तद्वान् धनवान् । यश्चामीवहा व्याधिहन्ता । वसुविद् वसुनो धनस्य सारासारतां वेत्ति जानाति वेदयति च ददाति च स्तोतृभ्यो भक्तेभ्यः स वसुवित् । पुष्टिवर्धनः पुष्टेः पोषणस्य वर्धयिता । यश्च तुरः स नोऽस्मान् सिषक्तु सेवताम् । 'सिषक्ति सचते इति सेवमानस्य' (नि० ३।२१)।

स्वामी दयानन्द ने स्व-कल्पित अर्थ करके प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग अकारण ही किया है । अतः उस अर्थ को प्रामाणिक नहीं कह सकते ।

किसी आधुनिक व्याख्याकार ने 'सोमानम्' शब्द की व्युत्पत्ति के प्रदर्शन में जो व्याकरण का पाण्डित्य बताया है, वह उपहासास्पद ही हो गया है । कुछ आधुनिक व्याख्याकार अपनी अल्पज्ञता को न पहिचान कर उव्वट-महीधर-सायणादि महान् आचार्यों की हँसी उड़ाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु सूर्य पर धूलिप्रक्षेप के समान वे स्वयं ही अपने को हँसी का पात्र बना लेते हैं ॥ २८ ॥

अविलम्बेन स्तोतॄणां कामपूरकस्त्वरणस्तूर्णकारी पूर्वोक्तधनवत्त्वादिगुणविशिष्टो ब्रह्मणस्पतिः बृहस्पतिः, तेनोपलक्षितः परमात्माऽस्मान् सेवतां सेवनीयविशेषणीभूतगुणादिवस्तुप्रदानेनानुगृह्णातु इत्यर्थः। प्रभूणां सेवकेष्वनुग्रहणमेव तत्सेवनम्। यद्यद्गुणो देव उपास्यते तत्तद्गुणाः फलरूपेणोपासकायोपतिष्ठन्ते। विशेषणीभूतैर्गुणैः समवेतं कुरु, गुणादिसर्वानपेक्षस्य देवस्य परमबृहतः परमानन्दस्य नित्यनिरस्तसर्वानर्थस्य गुणसम्पादितानां महत्त्वातिशयानन्दातिशयाधानानर्थनिबर्हणादीनां कृत्यानामसम्भवेन भक्तार्थमेव गुणधारणसम्भवात्। यद्वानेन मन्त्रेण पुत्रः प्रार्थ्यते—हे ब्रह्मणस्पते ! यः पुत्रो धनवान् यश्च व्याधिहन्ता लब्धधनस्य पुष्टेश्च वर्धयिता यश्चतुरः शीघ्रकारी त्वत्प्रसादात् सोऽस्मान् सेवताम्। कालातिक्रमो हि प्रत्यग्रं रसं पिबति। तथा च राजनीतिः—'आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः। क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्॥' इति।

अन्यस्त्वनेन मन्त्रेण परमेश्वराद् राजा काम्यते। 'हे वेदपते ! यो धनवान् रोगाणां दोषाणां च निरसिता रत्नानां ज्ञाता वासयोग्यस्थानानां नगरग्रामादीनां लोकलोकान्तराणां च ज्ञाता शरीराणां वर्धयिता यश्चाविलम्बेन यथाकालं कार्याणां सम्पादयिता स राजा मह्यं प्राप्तोऽस्तु' इति, परं नैतन्मनोरमम्। शब्दानां यथा तथा योजनेनानेकेऽर्था लापयितुं शक्यन्ते। अत एव श्रीमद्भागवतटीकाकृता वंशीधरेण तदीयाद्यपद्यस्य जन्माद्यस्य यत इत्यस्याष्टोत्तरशतसंख्याका अर्थाः प्रदर्शिताः। तथापि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायेन शब्दतात्पर्यानुसारेणार्थो युज्यते। राज्ञश्च समष्टिराज्यस्योपकारकत्वेन नैककामनास्पदत्वं सम्भवति। तस्मात् पुत्रकामनापरत्वे देवविशेषणानुभूतफलपरत्वेनैव वा मन्त्रव्याख्यानं युक्तम्, अग्निहोत्रादिकर्मणां प्रातिस्विकत्वेन प्रातिस्विकफलपरत्वस्यैवौचित्यात्।

अध्यात्मपक्षे—यः परमेश्वरः सगुणो निर्गुणः, साकारो निराकारो वा रेवान् विविधैश्वर्यमाधुर्यादिगुणोपेतः, अमीवहा विविधानामाध्यात्मिकाधिभौतिकादिजरामरणक्रामक्रोधादिरोगाणां हन्ता ब्रह्मज्ञानरूपस्य वसुनो धनस्य वेदयिता पुष्टिवर्धनलब्धज्ञानदाढर्यस्य वर्धयिता तुरः त्वरावान् द्रौपद्यास्त्राणे गजोद्धरण इव वा अविलम्बेनाभीष्टकार्यसाधकः, 'या त्वरा द्रौपदीत्राणे या त्वरा गजमोक्षणे। मय्यार्ते करुणामूर्ते सा त्वरा क्व गता हरे॥' इत्याप्तोक्तेः। स त्वं नोऽस्मान् सिषक्तु मदभीष्टभक्तिज्ञानवैराग्यादिभिरस्मान् समवेतान् कुरु।

दयानन्दस्तु—'यो रेवान् अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनो यस्तुरो ब्रह्मणस्पतिरीश्वरः स नोऽस्मान् शुभैर्गुणैः कर्मभिश्च सह सिषक्तु संयोजयतु' इति, तदपि न, गुणैः कर्मभिश्चात्मनः संयोगासम्भवात्, द्रव्ययोरेव संयोगनियमात्॥ २९॥

मन्त्रार्थ—धनवान्, रोगहारक, धन को जानने वाला, पुष्ट करने वाला और शीघ्र कार्य करने वाला जो ब्रह्मणस्पति है, वह हमारा सेवन करे, अर्थात् वह हमें प्राप्त हो॥ २९॥

भाष्यसार—स्वामी का अपने सेवक पर जो अनुग्रह होता है, वही स्वामी के द्वारा सेवक का सेवन (सेवा) है। जिस-जिस गुण के कारण देवता की उपासना की जाती है, वे-वे गुण फल के रूप में उपासक को प्राप्त होते हैं।

अध्यात्मपक्ष में— जो परमेश्वर साकार-निराकार, अनेक ऐश्वर्यमाधुर्यादि गुणों से युक्त और विविध रोगों का नाशक, ज्ञान-विज्ञान का वर्धक और कार्य को शीघ्र करने वाला है, वह परमेश्वर हमें हमारे अभीष्ट भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों से युक्त कर दे।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि वे 'द्रव्य-द्रव्ययोरेव संयोगः' इस नियम को भूल गये हैं॥ २९॥

मा नः शꣳसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य । रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ ३० ॥

अररुषो दानादिधर्मरहितस्य मर्त्यस्य कृपणमनुष्यस्य शंसोऽनिष्टचिन्तनम्, तत्कृता धूर्तिर्हिसा च नोऽस्मान् मा प्रणग् मा व्याप्नोतु मा नाशयतु वा । हे ब्रह्मणस्पते अग्ने ! अस्मान् रक्ष । रराविति ररिवान् (दानवान्) 'रा दाने' इत्यस्माद् धातोः क्वसुनि प्रत्यये ररिवानिति रूपम् । तस्यैव षष्ठ्यां ररुष इति रूपम् । नञ्योगे अररुष इति रूपम् । णशिर्व्याप्त्यर्थकोऽदर्शनार्थकश्च । धूर्वतिर्वधकर्मसु पठितः । अररुषोऽदानशीलस्येत्यत्रादानमिति दानादिधर्मरहितस्योपलक्षणम् । दानादिधर्मरहितस्य परलोकबुद्ध्यभावेनान्येषामनिष्टचिन्तने हनने च प्रवृत्ति-सम्भवान्न केवलस्यादानवतस्तत्त्वस्याभावमूलकत्वस्यापि सम्भवात् । यद्वा काण्वसंहितास्थसायणभाष्यरीत्या हे ब्रह्मणस्पते ! अररुषः कदाचिदपि हविर्दानमकृतवतो यज्ञदानादिशून्यस्य मर्त्यस्य मनुष्यस्य शंसः प्रशंसिता धूर्तिः कर्माननुष्ठानप्रशंसारूपेण धौर्त्येन युक्तः पुत्रो नोऽस्मान् मा प्रणग् मा व्याप्नोतु मा प्राप्नोतु, नोऽस्मान् मा विनाशयतु वा । हे ब्रह्मणस्पते ! नोऽस्मान् रक्ष नास्तिकः पुत्रो यथा नोत्पद्येत तथा पालय ।

अध्यात्मपक्षे तु—हे ब्रह्मणस्पते वेदरक्षक विष्णो श्रीराम श्रीकृष्ण वा, अररुषः स्वसर्वस्वमनिवेदयतो देहादितादात्म्याध्यासेन मरणधर्मकस्य बहिर्मुखस्य शंसः अनिष्टचिन्तनं धूर्तिः हिंसा चास्मान् मा प्रणग् मा पृणक्तु । अस्मान् ब्रह्मात्मनिष्ठादार्ढ्यसम्पादनेन रक्ष ।

दयानन्दस्तु 'हे ब्रह्मणस्पते ! भवत्कृपया नोऽस्माकं शंसो मा प्रणक् कदाचिन्मा प्रणश्यतु । या अररुषः परस्वादायिनो मर्त्यस्य धूर्तिर्हिसास्ति तस्याः सकाशादस्मान् सततं रक्ष' इति, तदपि न सङ्गतम्, शंस इत्यनेन वेदविद्याग्रहणे मानाभावात् । अररुष इत्यस्य परस्वादानं नार्थः, रातेर्धात्वर्थाननुगमात् । एवमेव मूले प्रथमान्तस्य धूर्तिपदस्य पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणामस्तस्या इत्यध्याहारो वा अप्रामाणिक एव ।

ऋक्संहितासायणभाष्यरीत्या तु अररुषो मर्त्यस्य उपद्रवं कर्तुमस्मत्समीपं प्राप्तस्य शत्रुरूपस्य मनुष्यस्य धूर्तिः हिंसकः शंसः शंसनमधिक्षेपस्तादृशो वाग्विशेषः, नः अस्मान् मा प्रणग् मा सम्पृणक्तु शत्रुणा प्रयुक्तोऽधिक्षेपः कदाचिदस्मान् मा प्राप्नोतु । तदर्थं हे ब्रह्मणस्पते ! नोऽस्मान् रक्ष पालय । 'अर्तेररुः' (उ० सू० ४।५।१९) । अन्तर्भावितण्यर्थात् 'ऋ गतौ' इत्यस्माद् अररुष इति रूपम् । धूर्तिः, धूर्वी हिंसार्थः । प्रणक् 'पृची सम्पर्चने' इत्यस्माल्लङि तिपि 'इतश्च' (पा० सू० ३।४।१००) इतीकारलोपे हल्ङ्यादिलोपे कुत्वे 'रुधादिभ्यः श्नम्' (पा० सू० ३।१।७८) तस्य 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इत्यडागमे यणादेशेऽकारस्य आगमानुदात्तं बाधित्वा व्यत्ययेनोदात्तत्वे 'चादिलोपे विभाषा' (पा० सू० ८।१।६३) इति निघाताभावः ।

यत्तु—'मन्त्रे घसह्वरणश ' (पा० सू० २।४।८०) इति णश्धातोर्लेर्लुग्विधानात् तदयुक्तम्' इति, तत्तुच्छम्, णशधातोस्तादृग्रूपसिद्धावपि प्रकृते तदर्थासम्भवेन पृचे रूपसाधने दोषाभावात् । यत्तु पदमञ्जरीन्यास-कारादयः 'प्रणङ् मर्त्यस्य' इति प्रकृतमन्त्रस्यैवोदाहरणं प्रदर्शयन्तीति, तदपि न किञ्चित्, णशेर्व्याप्त्यर्थतायां तदुक्तेरपि निर्दोषत्वात् । सम्पर्कार्थे क्लृप्तार्थस्य पृचेर्ग्रहणे मन्त्रस्य स्वारस्याधिक्यादेव सायणाचार्योक्तिर्विजयते-

मन्त्रार्थ—कभी भी हविर्दान न करनेवाले मनुष्य के द्वारा किया जानेवाला हमारे सम्बन्ध में जो अनिष्ट चिन्तन और हिंसा है, वह हमारा विनाश न करे । हे ब्रह्मणस्पते वेदपालक अग्ने ! तुम हमारी रक्षा करो ॥ ३० ॥

भाष्यसार—हमारे कुल में ऐसा धूर्त पुत्र न हो, जो यज्ञ दान न करनेवाले की भी कर्मानुष्ठानरूप मिथ्या प्रशंसा करे । हे ब्रह्मणस्पते ! नास्तिक पुत्र हमारे कुल में उत्पन्न न हो, उस तरह हमारी रक्षा करो ।

तराम् । पाणिनिसूत्रं णशेः प्रणगिति रूपं साधयति, नास्य धात्वन्तरात् प्रकारान्तरेण वा सिद्धिं वारयति, वाक्यभेदप्रसङ्गात् । यदपि च पृचीधातोः प्र इति रेफस्य कथं निर्वृत्तिः स्यादिति, तदपि न किञ्चित्, छन्दसि दृष्टानुविधित्वेन तन्निर्वृत्तौ बाधाभावात् । आश्चर्यमिदं यद् यः पदे पदे 'अर्थनित्यः परीक्षेत यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्' (नि० २।१) इत्यादीनि वचनान्याश्रित्य यथेष्टं मन्त्रेषु स्वैरित्वं प्रदर्शयति, स एव सायणाचार्यस्यार्थप्राधान्येन परीक्षणे दोषमाविष्करोति ॥ ३० ॥

म॒हि त्री॒णामवो॑ऽस्तु द्यु॒क्षं मि॒त्रस्या॑र्य॒म्णः । दु॒रा॒धर्षं॒ वरु॑णस्य ॥ ३१ ॥

सत्यधृतिदृष्ट आदित्यदेवत्यस्तृचो गायत्रीजपे विनियुक्तः पथिजातोपद्रवनाशकश्चेति महीधरः । एतदपि सूक्तमन्तराग्नी तिष्ठन् जपेत् । मित्रस्यार्यम्णो वरुणस्येति त्रीणां त्रयाणामादित्यानामवः अवनम्, तत्कर्तृकपालनमस्तु । 'त्रेरामि छन्दसि त्रयादेशो वेति वाच्यम्' (पा० सू० ७।१।५३) इति स्थलीयेन वार्त्तिकेन त्रीणामिति रूपसिद्धिः । कीदृशं पालनम् ? महि महत् सर्वापद्विनाशकम् । द्युक्षं द्युमन्ति सुवर्णरत्नादीनि द्रव्याणि क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिन् पालने तादृशं पालनम् । पुनः कीदृशम् ? दुराधर्षम्, अन्यैर्दुराधर्षयितुं तिरस्कर्तुमशक्यम्, अर्थाद् मित्रार्यमवरुणास्त्रय आदित्या देवा एवंविधं पालनं कुर्वन्तु, येन सर्वापद्विनिवारणम्, रत्नसुवर्णादिदीप्तिमद्धनलाभः, असुरराक्षससर्पव्याघ्राद्युपद्रवादिनिवारणं च भवेत् ।

अध्यात्मपक्षे तु साधका भगवन्तं प्रार्थयन्ते—त्रीणां त्रयाणां त्रिविधानां मानसवाचिककायिककर्मणामवोऽवनं रक्षणं भगवत्यर्पणेन भवतु, भगवदर्पणमन्तरा तेषां संसारहेतुत्वेन नैरर्थक्यापातात् ।

अन्यस्तु सायणादिव्याख्यानानुसार्यर्थमेव गृहीत्वा तत्र स्वाभिप्रेतमर्थं संयोज्य मित्रपदेन रक्षाविभागम्, अर्यमशब्देन न्यायविभागम्, वरुणशब्देन च योद्धृवर्गं गृह्णाति । त्रयाणां विभागानामच्छेद्यमाज्ञापालनमस्ति, तच्च तत्कल्पनामात्रमूलकम् । तथा च शातपथी श्रुतिः—'महित्रीणामवोऽस्तु । द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णो दुराधर्षं वरुणस्य नहि तेषाममाचन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुमघशꣳसः । ते हि पुत्रासोऽदितेः प्र जीवसे मर्त्याय ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रमिति तत्रास्ति नाध्वसु वारणेष्वित्येते ह वा अध्वानो वारणा य इमेऽन्तरेण द्यावापृथिवी एतान् ह्येतदुपतिष्ठते । तस्मादाह नाध्वसु वारणेष्विति' (श० २।३।४।३७) । महित्रीणां ३१, नहि तेषाममाचन ३२,

अध्यात्मपक्ष में—हे ब्रह्मणस्पते वेदरक्षक ! हे विष्णो ! हे श्रीराम ! हे श्रीकृष्ण ! जिसने आपके चरणारविन्द पर अपना सर्वस्व अर्पित नहीं किया, अर्थात् देहादि तादात्म्याध्यास के कारण मृत्युधर्मा बहिर्मुख व्यक्ति के द्वारा किया अनिष्टचिन्तन और हिंसा का हमें स्पर्श तक न हो । ब्रह्मात्मनिष्ठ दृढता सम्पादन कराकर हमारी रक्षा करो ॥

स्वामी दयानन्दोक्त अर्थ मन्त्रगत शब्दों का न होने से तथा विपरिणाम, अध्याहार आदि का स्वीकार करने में कोई प्रमाण न होने से त्याज्य है ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—मित्र, अर्यमा और वरुण ये तीनों हमारा रक्षण करें । वह रक्षणसामर्थ्य (बल) महान् है और उसमें सुवर्णादि द्रव्य निवास करते हैं । दूसरे के द्वारा उसका तिरस्कार करना शक्य न हो पाय, अर्थात् अशक्य रहे ॥ ३१ ॥

भाष्यसार—मित्र, अर्यमा और वरुण ये तीनों देवता ऐसा पालन करें, जिससे सर्वविध विपत्तियों का निवारण हो जाय और रत्न-सुवर्णादि धन का लाभ होता रहे ।

तत्सवितु ३३ रिति तृचस्य प्रयोजनमाह । तत्र न अध्वसु वारणेषु इत्यस्ति । तस्याभिप्रायो वर्ण्यते—एते ह वेति । द्यावापृथिव्योर्मध्ये य इमेऽध्वानो वितताः, एते खलु पुरुषस्य फलप्राप्तिवारणाय भवन्ति । अतो द्यावापृथिवीसंस्तुतयोर्गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये स्थित्वा इमं तृचं जपन् एतानेव मार्गानुपतिष्ठते । एवमध्वनामुपस्थितत्वात् तं न कोऽपि वारयितुमीश्वरः । मित्रवरुणार्यमरक्षितानां तेषां यष्टॄणाम् अघशंसो रिपुः पृथिव्यन्तरिक्षदिव्यमार्गेषु वारणेषु न ईशे समर्थो भवति । ते मित्रादयः अदितेः पुत्रासो भवन्ति । ते मर्त्या यज्ञकर्तुर्यजमानस्य जीवसे जीवनाय अजस्रं ज्योतिः प्रयच्छन्ति । द्यावापृथिव्योर्मध्ये ये वितता मार्गाः सन्ति, ते वारणाः पुरुषस्य फलप्राप्तौ वारणा बाधका भवन्ति । एतेषु विद्यमाना असुरादयो नाष्ट्राः स्वर्गगतौ प्रतिबन्धकाः, अतः स्वर्गगमने बाधावारणाय गार्हपत्याहवनीययोर्द्यावापृथिवीरूपयोर्मध्ये स्थित्वा अस्य तृचस्य जपेन मार्गानेवोपतिष्ठते । तस्मात्तन्मार्गेभ्योऽपसारणे न कोऽपि समर्थो भवति ।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मणस्पते ! तव कृपया मित्रस्य बाह्याभ्यन्तरस्य प्राणस्य अर्यम्णः, य ऋच्छति नियच्छत्याकर्षणेन पृथिव्यादीन् सोऽर्यमा सूर्यलोकस्तस्य, वरुणस्य वायोर्जलस्य वा च त्रीणां त्रयाणां सकाशान्नोऽस्माकं द्युक्षं दुराधर्षं महि महद्वोऽस्तु ' द्यौर्नीतिः प्रकाशः क्षियति निवसति यस्मिंस्तत् द्युक्षम्' इति, तदेतच्छतपथश्रुतविरुद्धमेव । यद्येते मित्रादयो भयहेतवस्तस्मादेतेषां सकाशादात्मरक्षाभिप्रेता, तदा तेषां भयहेतुत्वे कारणं वाच्यम्, यतो हि तेषामुपकारकत्वस्यैव प्रसिद्धिः । यद्येतेषां रक्षकत्वेनैतेषां सकाशाद् रक्षणमभीष्टम्, तदापि तव कृपयेत्यस्य स्वारस्यं वाच्यम्, परमेश्वरकृपयैव रक्षोपपत्तौ तदपेक्षणस्याकिञ्चित्करत्वात् ॥ ३१ ॥

नहि तेषा॑म॒मा च॒न नाध्व॑सु वा॒र॒णेषु॑ । ईशे॑ रि॒पुर॒घशं॑ऽसः ॥ ३२ ॥

अमा चन गृहेऽपि वर्तमानानाम्, अमाशब्दस्य गृहनामसु पठितत्वात् । अपीत्यर्थे चनशब्दः । मित्रार्यमवरुणैस्त्रिभिर्देवैः पालितानां यजमानानामुपद्रवार्थमिति शेषः । अघशंसः पापप्रशंसको रिपुः, न ईशे न समर्थो भवति । तथा वारणेषु चोरव्याघ्रादयो यत्र स्थिता निवारयन्ति पथिकान् ते वारणास्तेषु, येषु चोरव्याघ्रादिभयवशान्निवारितेष्वपि, अध्वसु चोरव्याघ्राद्युपद्रुतेषु मार्गेषु रिपुर्नेशे अनिष्टसम्पादनाय समर्थो न भवति, मित्रादिदेवपालितानां गृहेऽरण्ये वा शत्रुचोरव्याघ्रादिकृता बाधा न भवतीत्यर्थः । तथैव परमेशपालितानां कामक्रोधादीनामान्तराणां बाह्यानां च रिपूणां न भवतीति ।

अध्यात्मपक्ष में—साधक भक्त अपने भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि हमारे मानस, वाचिक और कायिक कर्म सर्वदा भगवान् के अर्पण होकर ही चलते रहें ।

किसी अन्य व्याख्याकार ने सायणाचार्य के अर्थ की छाया का आश्रय लेकर अपनी कल्पनाओं का मिश्रण कर दिया है, जिससे वह शतपथश्रुति के प्रतिकूल हो गया है ।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या भी शतपथश्रुति के विरुद्ध ही है । अतः वह भी उपेक्षा के ही योग्य है ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—घर में रहनेवाले तथा चोर और व्याघ्रों के भय से पूर्ण मार्ग में रहने वाले यजमानों को उपद्रव पहुँचाने के लिये पापकर्म की बड़ाई मारनेवाला शत्रु समर्थ नहीं होता, क्योंकि मित्र, अर्यमा और वरुण इन तीन देवताओं से उस यजमान की रक्षा की गई है ॥ ३२ ॥

अन्यस्तु—'तेषां राष्ट्रवासिनां गृहेषु मार्गेषु शत्रुचोरव्याघ्रादिनिवारकेषु कार्येषु पापकर्मोपदेशका दुष्टाः षड्यन्त्रकारिणो बलवन्तो न भवेयुरितीश्वरः प्रार्थ्यते। सङ्गतिनैरपेक्ष्येण व्याख्याने केनापि पदेन स्वाच्छन्द्येन किमपि ग्रहीतुं शक्यते, अन्यथा तेषां पदेन कथमिव राष्ट्रवासिनां ग्रहणम् ? मार्गवाचकस्य अध्वपदस्य सत्त्वेऽपि तस्य तद्विशेषणस्य वारणशब्दस्य व्याघ्रादिनिवारककार्यपरत्वयोजनमुच्छृङ्खलत्वमेव।

यत्तु—'शंसनं शंसः, भावे घञ्। अघस्य पापस्यैव शंसश्चिन्तनं कथनं वा यस्येति बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः' इति, तन्न, तथात्वेऽघशंसपदस्य शत्रुबोधकत्वासम्भवात्। अघस्य शंसश्चिन्तनं कथनं वा अघजिहासोरपि सम्भवति। अतोऽत्र शत्रुविवक्षया अघं पापं शंसति, अथवा अघेन तीव्रपापेन भक्षणादिना शंसो घातक इत्येवार्थो युक्तः। यत्त्वत्र बहुव्रीहेरभावात् पूर्वपदप्रकृतिस्वराभावो दोष इति, तन्न, 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' (पा० सू० ६।२।२) इत्यादिभिः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वोपपत्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मणस्पते ! य ईश्वरोपासकास्तेषां गृहेषु अध्वसु वारणेषु चनाप्यघशंसो रिपुर्नह्युपतिष्ठते न खलु तान् क्लेशयितुं शक्नोति तं तांश्चाहं प्राप्नुमोशे' इति, तन्न, तच्छब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वात्। पूर्वमन्त्रे ईश्वरोपासकानामप्रकृतत्वेन तदसङ्गतेः। गृहेष्वध्वसु इत्याभ्यामेव पदाभ्यां गृहे मार्गे च रिपुकृतबाधाभावेनैव चोरव्याघ्रादिबाधावारणेन वारणेष्वपि रिपुबाधाभावोपपत्तौ वारणेष्वित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, तस्माच्चौराद्युपद्रुतेषु मार्गेषु शत्रुकृतबाधाभावसिद्धयेऽध्वविशेषणत्वेनैव तद्योगस्यौचित्यात्।

अध्यात्मपक्षे तु—मित्रस्य सर्वमित्रस्य परमात्मनः, अरीनन्तरङ्गान् कामादीन् बहिरङ्गानग्निदगरदान् नियच्छतीत्यर्यमा आदित्यः। तस्य आदित्यमण्डलान्तर्गतस्य पुरुषस्य अरीणां तमसामज्ञानानां वा नियन्तु; अर्यम्णः सूर्यस्य महावाक्यजन्यवृत्त्यारूढस्य संशयविपर्ययविप्रतिपत्त्यज्ञानाद्यपनोदकस्य 'अर्यमा आदित्योऽरीन्नियच्छतीति' (नि० ११।२३)। वरुणस्य वरणीयस्य सर्वसम्भजनीयस्य सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नस्य इत्येतेषां भगवद्रूपाणां सम्बन्धी अवस्तत्कर्तृकं मत्कर्मकं पालनमस्तु। कीदृक् तत्पालनम् ? महत् सर्वोत्कृष्टं तदपेक्षयेतरदेवमनुष्यादिकर्तृकं रक्षणं तु लघ्वेव, तद्रक्षितानामपि पराभवदर्शनात्। द्योतमानाः शमादयो गुणा रत्नसुवर्णादयः पदार्थाः क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिंस्तद् दुराधर्षं केनापि धर्षयितुमशक्यम्। तच्चावनं सर्वापद्भ्यः कामक्रोधादिभ्योऽन्तरङ्गेभ्यो बहिरङ्गेभ्यश्च शत्रुभ्यः, अविद्यापनोदनेनाविद्यातत्कार्यात्मिकात् संसाराच्च संसरणं मास्त्विति।

मित्रस्य नन्दस्य व्रजराजपुत्रस्य अर्यम्णः पूतनादिकंसान्तानरीन्नियच्छतस्तव कृष्णस्य। यद्वा अर्यं स्वामिनं राजानम्, 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३), निर्मिमीते कंसस्य स्थाने तत्पितुरुग्रसेनस्य राज्ञो निर्माता अर्यमा, तस्य तव त्वदुपलक्षितस्य यदुकुलस्य वरुणस्य वरणीयस्य संभजनीयस्य भगिनीपुत्रत्वात् स्नेहास्पदस्य पाण्डवकुलस्य त्रयाणां रक्षणमस्तु। यद्वा मित्रस्य युधिष्ठिरस्य, अर्यम्णो निवातकवचादिघातकस्य भीमार्जुनयुगलस्य, वरुणस्य लोकस्पृहणीयस्य नकुलसहदेवयुगलस्य रक्षणमस्त्वित्यादिकं यद्यपि भगवच्चरित्र-

भाष्यसार—मन्त्रार्थ से ही भाष्य का अर्थ स्पष्ट हो रहा है।

किसी अन्य व्यक्ति ने जो व्याख्या की है, वह व्याकरण नियमों के विरुद्ध है, तथा सङ्गति-रहित होने से उसमें उच्छृङ्खलता के सिवाय ग्राह्य अंश कुछ भी नहीं है।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या भी उन्हीं दोषों से पूर्ण है। अतः उसे त्याज्य ही समझना चाहिये।

परत्वेन स्पृहणीयं व्याख्यानम्, तथापि न तन्मन्त्राक्षराणां स्वारसिकं व्याख्यानम्, किन्तु बलादिवाभिमतेऽर्थे योजनम्, क्लिष्टकल्पनाबाहुल्यात् ॥ ३२ ॥

ते हि पु॒त्रासो॒ अदि॑तेः प्र जी॒वसे॒ मर्त्या॑य । ज्योति॒र्यच्छ॑न्त्य॒जस्र॑म् ॥ ३३ ॥

कस्मान्मित्रादिदेवरक्षितानां गृहे वने वा शत्र्वादिभयाभावः, यतस्तेऽदितेरखण्डितायाः शक्तेर्देवमातुः पुत्रासः पुत्रा मित्रार्यमवरुणा मर्त्याय मनुष्याय यजमानाय प्रजीवसे चिरं जीवनाय अजस्रं निरन्तरमनुपक्षीणं ज्योतिर्ज्ञानरूपं तेजः प्रयच्छन्ति । किमर्थम् ? जीवसे यथा चिरं जीवनं भवति तथा त उपायज्ञानं प्रयच्छन्तीत्यर्थः । विशिष्टशक्तिरूपाया अदितेः पुत्रत्वाद् विशिष्टशक्तिमन्तस्तेऽतस्तद्रक्षिततत्वादेव तद्रक्षितानां भयाभावः । दीर्घजीवनोपायज्ञानरूपानुपक्षीणज्योतिःप्रदातृत्वाच्च तद्रक्षितानामकुतोभयत्वम् ।

अध्यात्मपक्षे तु—ते पूर्वोक्ता मित्रादयो देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्याया ब्रह्मरूपायाः स्वच्छसंविदः पुत्रासस्तदवस्थाविशेषाः । तस्या एव पूर्वोक्ताया मित्रार्यमवरुणा अवस्थाविशेषविशिष्टरूपाः । अत एव ते विशेषानुग्रहेण मर्त्याय जीवसे ब्रह्मात्मभावानुप्राणनाय अजस्रमनुपक्षीणज्ञानज्योतिः प्रयच्छन्ति । गोपा यादवाः पाण्डवा मित्रार्यमवरुणा अदितेः पुत्रास्ते मर्त्येभ्योऽजस्रं ज्योतिर्ज्ञानं प्रयच्छन्ति प्रददति, येन तैर्दर्शितभगवद्भक्तिमार्गाः प्रभुमाराधयन्तः ससुखमुपजीवन्ति । तेषामाचरणेन ज्योतिःप्राप्तौ सत्यामपि तद्दाने तेषामन्यथासिद्धतैव, तथापि दयानन्दीयव्याख्यानादुत्कृष्टतरमेव ।

स्वामिदयानन्दस्तु—'ये अदितेः पुत्रास्ते मर्त्याय जीवसे अजस्रं ज्योतिः प्रयच्छन्ति' इति, तच्च तद्रीत्या कथं मित्रादयः कारणशक्तेः पुत्राः, सर्वस्यैव कार्यस्य तत्पुत्रत्वेन पुत्रत्वावैशेष्यात् ।

अन्यस्तु—'ते मित्रार्यमवरुणाः, अदितेः अखण्डशासनस्य पृथिव्या वा पुत्रान् पापेभ्यो दुःखेभ्यश्च त्रायन्ते मनुष्यजीवनायाविनाशिप्रकाशं प्रयच्छन्ति' इति, तन्न, मन्त्रे पुत्रास इति प्रथमान्तत्वान्न ते कर्मभूताः । कथञ्चित् व्यत्ययेन तत्स्वीकारेऽपि त्रातृबोधकपदाभावात् ते पृथिव्या अखण्डशास्त्रा शासनस्य वा पुत्रान् त्रायन्ते इति कथमवगन्तुं शक्यते ? मन्त्रे दुःखपापबोधकपदमपि नास्ति । ततो यत्किञ्चिदेव तत् । क्वचिददितिशब्देन

अध्यात्मपक्ष में—भगवत्कर्तृक रक्षण ही सर्वोपरि रक्षण है, उसकी तुलना में मनुष्यादिकर्तृक रक्षण तो बहुत लघुकोटि का है ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—क्योंकि वे मित्र, अर्यमा और वरुण जो हैं, वे उस अखण्डित शक्ति अदिति के पुत्र हैं। अतः वे यजमान को चिरकालतक जीवित रहने के लिये निरन्तर तेज देते रहते हैं ॥ ३३ ॥

भाष्यसार—उक्त तीनों देवता विशिष्ट शक्तिरूप अदिति के पुत्र होने से वे भी विशिष्ट शक्तिसम्पन्न हैं। ऐसे शक्तिशाली उन देवताओं से सुरक्षित होने के कारण ही उन्हें किसी प्रकार के भय की सम्भावना नहीं है।

अध्यात्मपक्ष में—परिच्छेदरहित ब्रह्मरूपिणी विशुद्ध संवित् की विशेष अवस्था रूप ये मित्र आदि हैं। अत एव वे बहुत अनुग्रह करके मर्त्य जीव को ब्रह्मात्मभाव के अनुप्राणनार्थ निरन्तर अनुपक्षीण ज्ञानज्योति दिया करते हैं।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में कार्य-कारणभाव की संगति नहीं हो रही है।

देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यः परमात्मैव बोध्यते। प्रकृते त्वादित्यादिदेवानां माता अखण्डभगवच्छक्तिरूपा कश्यपपत्नीरूपाऽदितिः ॥ ३३ ॥

कदाच न स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ३४ ॥

इयमैन्द्री पथ्याबृहती मधुच्छन्दोदृष्टा जपे विनियुक्ता। यस्यास्तृतीयः पादो द्वादशार्णोऽन्ये च त्रयः पादा अष्टाक्षराः सा पथ्याबृहती। हे इन्द्र! परमैश्वर्यशालिन्! त्वं कदाचन कदापि भूयो भूयो याच्यमानो न स्तरीरसि न स्तृणासि। स्तृणातेर्हिंसार्थस्यैतद्रूपम्। न क्रुध्यसि, किन्तु दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय सश्चसि धनपुत्रादिसमृद्धिं प्रापयसि। 'गतिकर्मसु सश्चतिः पठितः' (नि० २।१४।४१)। यद्वा द्वितीयार्थे चतुर्थी। दाश्वांसं त्वदनुग्रहार्थमाहुतिप्रदातारं यजमानं सश्चसि सेवसे अभीष्टदानेन प्रीणयसे। 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा० सू० ८।१।६) एक उपशब्दः पादपूरणे। इच्छब्द एवार्थकः। नुशब्दः क्षिप्रवचनः। एवमुपपदं पृच्यत इत्यनेन युज्यते। तथा च हे मघवन्! धनोपलक्षितविविधैश्वर्यवन्! देवस्य प्रकाशमानस्य ते तव भूय इद् बहुतरमेव दानं नु इद् क्षिप्रमेव दाश्वांसमुपपृच्यते। 'पृची सम्पर्के' यजमानेन सम्पृक्तं भवति। अन्ये याच्ञया क्रुध्यन्ति, त्वं पुनर्याच्यमानोऽपि न क्रुध्यसि, हविर्दानपरायणं सदा प्रीणयसे, त्वत्कर्तृकदानं यजमानेन सम्पृच्यते। तेन त्वत्कृतदानेन त्वद्भक्तः कृतार्थो भवतीत्यर्थः। यद्वा वेदे मात्रामात्रस्याप्यानर्थक्यायोगाद् उपोपेत्यस्यात्यन्तसामीप्यमर्थः। उपोप सश्चसि अत्यन्तानुग्रहेण सेवकवत् क्षिप्रमेवातिसमीपमागच्छसीत्यर्थः।

कश्चित्तु राजन्निति सम्बोधयन् इन्द्रपदेन राजानमवगच्छति, तथा दाशुष इत्यात्मसमर्पणमभिप्रैति। यद्यपि परमात्मपरत्वे सर्वथापि श्लिष्यते बृहतीयम्, निरङ्कुशस्य परमैश्वर्यस्य तत्रैव सम्भवात्। दाशुषे आत्मसमर्पणं कृतवते भक्ताय एवात्यन्तानुग्रहेणातिसामीप्यमात्मभावमुपयाति—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इति रीत्या आत्मसमर्पयित्रे सोऽपि तस्मै स्वात्मानमर्पयति। सामीप्यस्य पर्यवसानमात्मन्येव भवति, तस्यैव सर्वान्तरतमत्वात्। तत्कर्तृकमेवामोघदानं सम्पृक्तं सद् भक्तं कृतार्थयति। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० सं० ६।४७।१८) इत्यादिमन्त्रेषु परमात्मन एवेन्द्रशब्देन ग्रहणं भवति। अत्रापि परमार्थदृष्ट्या सर्ववेदादिशास्त्रमहातात्पर्यविषयत्वेन परमात्मपरैवेयमित्यध्यात्मव्याख्यानम्' तथापि यज्ञादिव्यावहारिकदृष्ट्या यज्ञदेवतापरैवेयमिति, तथैव माध्यन्दिनाद्युक्तेः। देवताया विग्रहवत्त्वेन प्रतिकल्पं भेदेऽपि मीमांसकानां सिद्धान्ते जातौ शक्त्यङ्गीकारेण इन्द्रत्वजातेर्नित्यत्वेन नित्यैर्वैदिकैः शब्दैर्नित्यः सम्बन्धो नानुपपन्नः।

किसी अन्य के व्याख्यान में भी वैसी ही असंगति हो रही है ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र! तुम कभी भी हिंसक नहीं होते और हविर्दान करनेवाले यजमान का सेवन तुम किया करते हो। हे धनवान् इन्द्र! प्रकाशमान रहनेवाले तुम्हें दिया हुआ पुष्कल द्रव्य शीघ्र ही हविर्भाग देनेवाले यजमान को प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

यत्तु केनचिदुच्यते—'सायणादिभिर्भूमिकायां ववरः प्रावाहणिरकामयतेत्यादिस्थलेषु शब्दार्थसम्बन्धानित्यत्वभिया श्रुतिसामान्याभिप्रायेण नित्यवाय्वादिपरा एव वैदिकाः शब्दा नानित्यजरामरणादिधर्मव्यक्तिपरा इत्युद्घोषितम्, परं भाष्येऽनेकेषां मन्त्राणां व्यक्तिपरत्वं व्याचक्षाणैर्विस्मृतमेव तत्' इति, तदपास्तम्, उक्तदृष्ट्या सम्बन्धनित्यत्वोपपत्तेः। उर्वशीपुरूरवआद्याख्यानेष्वपि कैमर्थ्याकाङ्क्षावशाल्लक्षितार्थपरत्वेनाख्यानानां स्वार्थेषु वाच्यार्थेषु तात्पर्याभावेन तददोषात्।

यद्यपीयमैन्द्री ऋग् इन्द्रपरैव, तथापि 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति गार्हपत्योपस्थाने विनियोगात् पारमैश्वर्यस्य लक्ष्यमाणस्य गुणस्य योगेन गार्हपत्याग्निपरोऽपीन्द्रशब्दः। शतपथे तु —'अथैन्द्री। इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सेन्द्रमेवैतदग्न्युपस्थानं कुरुते कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे इति यजमानो वै दाश्वान्न यजमानाय द्रुह्यसीत्येवैतदाहोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत इति भूयोभूय एव न इदं पुष्टं कुर्वित्येवैतदाह' (श० २।३।४।३८)। ऐन्द्री इन्द्रदेवताका कदाचन स्तरीरसीत्यादिका अग्न्युपस्थाने प्रयोक्तव्या। तथा च तदग्न्युपस्थानमिन्द्रसहितं सद् यज्ञात्मना निष्पद्यते। तदेतदुच्यते इन्द्रो यज्ञस्य देवता तस्मात् सेन्द्रमेवैतदग्न्युपस्थानम्। पूर्वार्धमनूद्य तात्पर्यमाह—कदाचनेति। 'दाशृ दाने'। 'दाश्वान् साह्वान्' (पा० सू० ६।१।१२) इति निपातनाद् हविषां दाता यष्टा यजमानस्तस्मै कदाचिदपि स्तरीः हिंसको नासि न भवसि न द्रुह्यसीति। उत्तरार्धं व्याचष्टे—हे मघवन्! अस्मभ्यं दीयमानं त्वदीयं धनं भूयोभूय एव उपपृच्यते समीपं प्राप्नोति। नोऽस्माकमिदं पुष्टं कुरु।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र! यदा त्वं स्तरीरसि सदा दाशुषे कदाचनेन्नु न सश्चसि तदा हे मघवन्! देवस्य ते तव दानं तस्मै दाशुषे भूयः कदाचनेन्नु नोपपृच्यते' इति, तन्न समीचीनम्, अन्वयस्यास्पष्टत्वात्। तत्रत्यटिप्पणीकारोऽपि तथैवाह—'अन्वयोऽयमस्पष्टः प्रतीयते' इति। 'यदीश्वरः कर्मफलदाता न स्यात् तर्हि न कश्चिदपि जीवो व्यवस्थया कर्मफलं प्राप्नुयादिति भावार्थः। प्रायेणायमेवार्थो हिन्दीभाष्येऽपि। अस्मिन्नर्थे इदित्यर्थस्य ज्ञानमर्थः, स क्वोपयुज्यत इति न स्पष्टम्। आच्छादनार्थस्य स्तृणातेर्ग्रहणेऽपि सुखैराच्छादयति यः स स्तरीरिति ग्रहीतुं दुःखैः सुखाच्छादकेऽपि तदन्वयस्य तुल्यत्वात्। मन्त्रे नेत्येकमेव निषेधार्थकं पदम्, तत्कथं न सश्चसि इत्यन्वयेन शान्ताकाङ्क्षं सत् पुनरुपपृच्यत इत्यनेन सम्बध्येत ? अत्रार्थे शतपथविरोधोऽपि स्पष्ट एव।

'गोवर्धनोद्धरणानन्तरं क्षमाप्रार्थनार्थमागतायेन्द्राय भगवान् कृष्ण उपदिशति—हे इन्द्र! दाशुषे मह्यमात्मानं निवेदयते मद्भक्ताय तमपकर्तुमधुना व्रजजनमिमं कदाचित् कदापि स्तरीः घातकः असि न मा भूद् मा भव। विस्मृत्यापि मद्भक्तस्यावज्ञां मा कुरुष्व। क्षमे कृतमपराधं व्रजोपप्लावनलक्षणम्। सश्चसि यथासुखं राजधानीं गच्छ, छन्दसि कालानियमात्। हे मघवन्! देवस्य देवेन मया दीयमानं भूयो यद् बहुलमेव वैभवम्, तत् क्षिप्रमेव तवोपपृच्यते सम्पृक्तं भवतु। मद्दत्तवैभवस्य त्वं स्वामी न मनागपि ते स्वकीयं वर्तते। धिक् त्वां न त्रपसे मदाश्रितोऽपि मद्भक्तान् दुःखीकर्तुं समीहसे। अत ऊर्ध्वं न प्रमदितव्यम्' इत्येतद् व्याख्यानं सर्वथाऽमनोज्ञमेव,

भाष्यसार—हे परमैश्वर्यशालिन्! बार-बार याचना करने पर भी तुम कभी क्रुद्ध नहीं होते हो। तुम्हारा अनुग्रह प्राप्त करने के लिये हवि देने वाले यजमान को तुम उसका अभीष्ट प्रदान कर प्रसन्न कर देते हो। अन्य लोग तो याचना करने पर क्रुद्ध होते हैं।

किसी ने राजन् ऐसा सम्बोधन करते हुए 'इन्द्र' पद से राजा को समझ लिया है।

उपपत्तिमन्तरा निष्प्रमाणलिङ्गविभक्तिव्यत्ययेन स्वेच्छानुसारेण मन्त्रार्थापनत्वात्। न च तद्युक्तम्, स्वेच्छाया अव्याहतप्रसरत्वात्। पूर्वाचार्यास्तु श्रुतिसूत्राद्यनुसारेणार्थापने तदनुरोधेनैव क्वचित् किञ्चिद् व्यत्ययादिकमिच्छन्ति स्म। इमामेव पद्धतिमाश्रित्य दयानन्दो यथेष्टं योजयति मन्त्रान्। केचिच्च स्वस्वसम्प्रदायाचार्यव्याख्यानमपि मन्त्रैरेव साधयन्ति। केचित्तु—'अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रौतवचनेन अहमदपदवाच्यस्य नादं वेदेषु साधयन्ति। तदेतत् सर्वमुच्छृङ्खलमेव। एवंप्रकारेण सङ्गतिहीनतया मन्त्राणां यथेष्टार्थबोधकत्वे प्रमत्तगीतत्वापत्तेः ॥ ३४ ॥

तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि । धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥ ३५ ॥

तदिति लुप्तषष्ठीकं पदम्। तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवकर्तुः। सूतिरुपलक्षणं स्थितिप्रलययोरपि। जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलस्य परमात्मन आदित्यस्य, 'सूर्याद्वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इति सूर्योपनिषच्छ्रुतेः। सूर्यमण्डलान्तर्गतस्य हिरण्यश्मश्रोर्हिरण्यकेशस्य आप्रणखाग्रं हिरण्यशरीरस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्य तदुपलक्षितस्याशेषविशेषातीतस्य शुद्धब्रह्मणो वा देवस्य द्योतनात्मकस्य। अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वेन स्वप्रकाशस्य वरेण्यं वरणीयं संभजनीयं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदं भर्गः स्वरूपभूतं ज्योतिः सर्वपापानामविद्यातत्कार्यात्मिकस्य सर्वसंसारस्यैव वा भर्जनसमर्थं तेजः, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९७), 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (योगशिखो० ३।२२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। धीमहि ध्यायामः चिन्तयामः, तन्निदिध्यासनं कुर्म इत्यर्थः। 'ध्यै चिन्तायाम्'। छान्दसं सम्प्रसारणम्। तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानमिति स्मृतेः। तस्य कस्य ? यः सविता नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात् प्रकर्षेण सत्तामात्रेण प्रेरयति। यथायःकान्तः सन्निधानमात्रेणायसः प्रवर्तकस्तथैव तस्य निर्विकारकूटस्थस्य सत्तामात्रेण बुद्धीन्द्रियादीनि प्रवर्तन्ते। 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाच॑ स प्राणस्य प्राणः' (केनो० १।२), 'येनेषिता वागसवश्चरन्ति', 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना। अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥' (भा० पु० ४।९।६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणवचनेभ्यः। 'यः' इति लिङ्गव्यत्ययेन 'यत्' इत्यवगन्तव्यम्। यद्वा धीशब्दो बुद्धिवचनः कर्मवचनो वाग्वचनश्चेति। यश्च नो बुद्धिं कर्माणि वाचो वा प्रेरयति, तदनुग्रहेणैव बुद्ध्यादिप्रवृत्तेः। यद्वा सवितुर्देवस्य तद् भर्गो धीमहि यो यद् भर्गो नो बुद्धीः प्रचोदयात्। राहोः शिरः, पुरुषस्य चैतन्यमितिवदभेदे षष्ठी। तेन सवितुः स्वरूपाभिन्नमेव तद् भर्गोऽस्य बुद्धीः प्रचोदयादिति कामना सत्कर्मानुष्ठानाय परमात्मोपासनाय प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरात्मसाक्षात्काराय प्रचोदयात् प्रेरयेदिति। भर्गशब्देन मण्डलं पुरुषो रश्मयश्चोच्यन्ते। तथा चाधिकारभेदेन भगवत आदित्यस्य रश्मीन् मण्डलं तदन्तर्गतं पुरुषं वा ध्यायाम इत्यर्थो भवति। वीर्यं वा भर्गः, 'वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानाद् भर्गोऽपचक्राम। वीर्यं वै भर्गः' (श० ५।४।५।१) इति श्रुतेः। भृज्ज्यते सर्वं पातकमत्रेति भर्गः। पौनःपुन्येनाभिषिच्यमानाद् वरुणाद् वीर्यलक्षणं भर्गोऽपचक्रामेति तदर्थः। तथा सवितुर्देवस्य वीर्यं पराक्रमं जगदुत्पादनादिलक्षणं ध्यायामः।

स्वामी दयानन्द ने अपनी इच्छा के अनुसार ही सर्वत्र मन्त्रों की योजना कर दी है ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—उस प्रकाशक प्रेरक आदित्यान्तर्गत पुरुषरूप ब्रह्म का सभी के द्वारा प्रार्थनीय जो सम्पूर्ण संसारनाशक तेज है, उसका हम ध्यान करते हैं। वह सविता हमारी बुद्धि को सत्कर्मानुष्ठान की प्रेरणा दे ॥ ३५ ॥

कण्वसंहितायां वरेणियमिति पाठः। माध्यन्दिनीयैस्तु 'पाठकाले वरेण्यं स्याज्जपकाले वरेणियम्' इत्यङ्गीक्रियते, अन्यथा चतुर्विंशत्यक्षरत्वानुपपत्तिः। 'पाठकाले वरेण्यं स्याज्जपकाले वरेणियम्' इति स्मरणात् तथैव पारम्पर्याच्च तदुपपादनीयम्। सवितृपदेन जगत्कारणत्वबोधनात् श्रुतिस्मृतिपुराणाद्यनुसारेण सूर्यो विष्णुः शिवो रामः कृष्णस्त्रिपुरसुन्दर्यादयोऽपि गृह्यन्ते। तेषां सगुणसाकाराणां भर्गस्तेजः प्रकाशः स्वरूप-सौन्दर्यं चिन्त्यते, सगुणनिराकाराणां सर्वकारणत्वसर्वशक्तिमत्त्वसर्वकर्मफलप्रदत्वादिकं वीर्यं चिन्त्यते। निर्गुण-निराकारस्य तु स्वरूपभूतं ज्योतिरेव भर्गश्चिन्त्यते। यद्वा सवितुर्देवस्येति तत्पदार्थः परमात्मोच्यते। धियो यो नः प्रचोदयादिति त्वंपदार्थो बोध्यते। भर्गःपदेन तयोरैक्यं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरमात्मरूपमुच्यते। यः स्वप्रकाशः सर्वकारणभूतः परमात्मा, यश्च सर्वबुद्ध्यादिप्रवर्तकः प्रत्यगात्मा, तयोरभिन्नं सर्वोपाधिविवर्जित-मैक्योपलक्षितमनन्तसदात्मकं ज्योतिषामपि ज्योतिर्ध्यायाम इति निष्कर्षः। सवितृपदस्य तात्पर्यं कण्वो दर्शयति—'सविता वै देवानां प्रसविता, तथो हास्मा एते सवितृप्रसूताः सर्वे कामाः समृद्ध्यन्ते' इति सायणोद्धरणात्। शतपथे तु—'अथ सावित्री। सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्मा एते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृद्ध्यन्ते तत्सवितुर्वरेण्यमित्यादि' (श० २।३।४।३९) इति श्रुतेः सर्वभूतानां सवनात् पावनाच्च सविता, दीव्यते क्रीडते द्योतते दिवि रोचते तस्माद् देवः, सर्वैः स्तूयमानत्वाच्च देवः, तस्य सवितुर्देवस्य भर्गो धीमहि चिन्तयामः, यो नः धियो बुद्धिवृत्तीः, धर्मार्थकाममोक्षेषु प्रचोदयात्। भर्गः भृज्जति पातकानि पाचयतीति भर्गः, अथवा भ्राजते दीप्यते सर्वं जगद् यस्मात् स भर्गः, अथवा कालाग्निरूपेणान्ते हरतीति भर्गः, अथवा स्वरूपे यो भ्राजते स भर्गः, अथवा लोकान् भासयति भीषयति वेति भर्गः, अथवा प्रजा रज्यन्ते यस्मिन् स भर्गः, अथवा गच्छति सर्वत्र व्याप्नोतीति भर्गः, अथवा भास्य रज्यते गच्छति च सर्वं जगद्यस्मात् स भर्गः, वरेण्यं संसारभयभीरुभिर्यद्वरणीयं तच्चिन्तयामः। तदुक्तम् –'सवनात् पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते' इत्यादिना।

आध्यात्मिकोऽर्थः—सवितुः सृष्टिस्थितिलयलीलस्य विष्णोर्देवस्य रामकृष्णाद्यवताररूपेण क्रीडतः, असुरान् विजिगीषतः, भर्गः स्वरूपभूतं तेजो धीमहि। यो नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयति, तत्परमानन्दमयं वरेण्यं भर्गो धीमहि। तथैव सवितुः शिवस्य 'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' (माण्डूक्यो० ७) इत्यादि-श्रुतेः, देवस्य सर्वप्रकाशकस्य 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डको० २।२।१०) इति श्रुतेः। तद् वेदान्तेषु ब्रह्मविद्वरिष्ठेषु प्रसिद्धं नित्यज्ञानात्मकं वरेण्यं सर्वजनसंभजनीयं त्रिपुरान्धकादिविविधासुरव्रातं भृज्जत्यनेनेति भर्गः, एवं रावणादिभर्जकत्वेन रामः, कंसादिभर्जकत्वेन कृष्णः, भण्डासुरादिभर्जकत्वेन त्रैपुरं महः सवितुर्देवस्य सवित्रुपलक्षितस्य देवसमूहस्य वरेण्यं संभजनीयं तेजो धीमहि ॥ ३५ ॥

परि॑ ते दू॒डभो॒ रथो॒ऽस्माँ२अ॑श्नोतु वि॒श्वतः॑। येन॒ रक्ष॑सि दा॒शुषः॑ ॥ ३६ ॥

वामदेवदृष्टा आग्नेयी गायत्री। हे अग्ने! येन रथेन त्वं दाशुषो हविर्दत्तवतो यजमानान् रक्षसि पालयसि, 'यजमानो वै दाश्वान्' (श० २।३।४।३८) इति श्रुतेः। स ते तव रथो अस्मान् यजमानान् विश्वतः सर्वासु दिक्षु परि परितो अश्नोतु व्याप्नोतु, अस्मद्रक्षणाय सर्वतस्तिष्ठतु। कस्याञ्चिदपि दिश्यल्पमपि स्थानमपरि-त्यज्यास्मद्रक्षणाय व्याप्नोत्वित्यर्थः। इति परि विश्वत इत्यपुनरुक्तिः। कथंभूतो रथः? दूडभः दुर्दमः

अध्यात्मपक्ष में—सृष्टि-स्थिति-लय की लीला करने वाले, असुरों पर विजय प्राप्त करने वाले भगवान् के तेज का हम ध्यान करते हैं ॥ ३५ ॥

हिंसितुमशक्यः । प्रतिषेधार्थकदुरित्युपसर्गपूर्वकस्य हिंसार्थकस्य दम्नोतेः खल्प्रत्यये 'दुरोदाशनाशदमध्येषूत्वमुत्तरपदादेष्टुत्वं च' (पा० सू० ६।३।१०९) इति स्थलोयेन भाष्यवार्त्तिकेन नलोपे 'उकारं दुर्दे' (प्रा० का० ३।३।४) इति प्रातिशाख्यसूत्रेण दुरो रेफस्योकारः पूर्वसवर्णदीर्घः । अप्रधृष्यानाहतव्यापकरथारूढः स नो रक्षतु सर्वतोऽस्मानित्यर्थः । 'रथो रंहतेर्गतिकर्मण', स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा रसतेर्वा । यज्ञसंयोगाद्राजा स्तुतिं लभेत, राजसंयोगाद्युद्धोपकरणानि । तेषां रथः प्रथमागामी भवति । रंहति वेगेन धावतीति रथः, स्थिरतेर्विपरीतस्य । तत्र हि सुप्रतिष्ठितो भवति योद्धा न तथाश्वादिषु । रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठति रपति रसति वेति रथः' (नि० ९।११) ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन् विष्णो ! ते तव रथो गरुडध्वजोऽस्मान् विश्वतः सर्वासु दिक्षु परितः सर्वतोऽश्नोतु व्याप्नोतु । येन दाशुषः सर्वस्वात्मनि वेदयितॄन् रक्षसि पासि ।

'कृष्णे इन्द्रप्रस्थं गते शाल्वत्रस्ता यदुनार्यः सविनयं भगवन्तमाचक्षते—येन रथेन दाशुष आत्मनिवेदकान् त्वं रक्षसि, स त्वदीयो दूडभो दुर्दमनीयो रथोऽस्मान् विश्वतः सर्वतः पर्यश्नोतु' । अयमर्थो न विरुद्धः ।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश ! येन रथेन त्वं दाशुषो विश्वतो रक्षसि, स ते तव दूडभो रथो विज्ञानं विश्वतो रक्षितुमस्मान् पर्यश्नोतु सर्वतः प्राप्नोतु । रयते जानाति येन स रथः' इति, तन्न, ज्ञानस्य रथपदवाच्यत्वे प्रमाणाभावात् । न च 'रथो रंहतेर्गतिकर्मणः' इति निरुक्तमेव प्रमाणमिति वाच्यम्, 'राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि, तेषां रथः' (नि० ९।११) इत्युपक्रमविरोधात् । युद्धोपकरणभूतस्यैव रथस्यात्र निर्वचनम् । नानेन रथस्य ज्ञानत्वं सिद्धयति । रंहतीत्यादीनामिव रयतेरपि तत्रैव सङ्गतिः । न च त्वन्मते निराकारस्येश्वरस्य रथः सम्भवति, निराकारत्वादेव । किञ्चात्र सर्वत्र व्यापनार्थमेव रथोपयोग उक्तः, स्वतो व्यापकस्य रथानुपयोगात् ।

शतपथविरुद्धमप्येतत् । तथाहि—'अथाग्नेयी । तदग्नय एवैतदात्मानमन्ततः परिददाति गुप्त्यै परि ते दूडभो रथो····दाशुष इति यजमाना वै दाश्वांसो यो ह वा अस्यानाधृष्यतमो रथस्तेनैष यजमानानभिरक्षति तेन नः सर्वतोऽभिगोपायेत्येवैतदाह त्रिरेतज्जपति' (श० २।३।४।४०) । आग्नेयीमग्निदेवताकामृचं विधत्ते—तदग्नय एवैतदात्मानमन्ततः परिददातीति । परिदानं रक्षणार्थं दानं गुप्त्यै । मन्त्रमुपन्यस्य व्याचष्टे—यजमाना वै दाश्वांस इति । योऽस्याग्नेरप्रधृष्यतमो रथस्तेनैष यजमानमभिरक्षति तेन नः सर्वतोऽभिगोपाय । अस्या ऋचस्त्रिर्जपं विधत्ते—त्रिरेतज्जपतीति ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! जिस साधन से तुम हविर्दान करनेवाले समस्त यजमानों की रक्षा करते हो, वह तुम्हारा अविनाशी रथ हमारी सर्वत्र रक्षा करे ॥ ३६ ॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ का ज्ञान मन्त्रार्थ से ही स्पष्ट हो रहा है ।

अध्यात्मपक्ष में—हे अग्ने परमात्मन् ! विष्णो ! आपका गरुडध्वज रथ सभी दिशाओं में व्याप्त हो जाय ।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह उनके ही मन्तव्यों के तथा शतपथश्रुति के विरुद्ध हो गया है ॥ ३६ ॥

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः । नर्य प्रजां मे पाहि शᳬस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ ३७ ॥

'भूर्भुवः स्वरिति वोभौ' (का० श्रौ० ४।१२।१२) । पूर्वोक्तेन 'उपप्रयन्त' (का० श्रौ० ४।१२।३) । इत्यादिना वक्ष्यमाणेन भूर्भुवः स्वरित्यादिना वा विकल्पेनोभावग्नी उपतिष्ठेतेति सूत्रार्थः। आसुरेशर्षम् । मन्त्रार्थस्तु –हे अग्ने ! त्वं भूर्भुवःस्वरिति व्याहृतित्रयात्मकः, तदभिधेयलोकत्रयात्मकश्च । त्वत्प्रसादादहं प्रजाभिर्बन्धुभृत्यादिरूपाभिः सुप्रजाः शोभना अनुकूलाः शोभनगुणयुक्ताः प्रजा यस्य सोऽनुकूलप्रजावान् भवेयम् । तथा वीरैः पुत्रैः सुवीरैः शोभनसन्मार्गस्थस्वस्थपुत्रपौत्रादिमान् भवेयम् । पोषैर्गोभूहिरण्यरत्नधान्यादिभिः सुपोषो बहुमूल्यसुखदगोभूहिरण्यरत्नधान्यादिसम्पन्नः स्याम् । हे व्याहृतित्रयात्मकाग्ने ! भवत्प्रसादादहं यदा बन्धुभृत्यादिरूपया प्रजया युज्येयं तदानीमनूकूलप्रजावानेव भूयासम् । वीरैः स्वस्वकार्येषु शूरैर्यदा युज्येयं तदा शास्त्रानुमोदितमार्गवर्तिशोभनपुत्रो भूयासम् । यदा पोषैः पुष्टिकारकैर्युज्येयं तदा बहुमूल्यार्हहिरण्यादियुक्तो भूयासमिति सायणाचार्यः । प्रवत्स्यदुपस्थानमागतोपस्थानं चादित्यदृष्टम् । 'प्रवत्स्यन् सर्वान्नर्येति प्रतिमन्त्रम्' (का० ४।१२।१३) । यजमानो ग्रामान्तरं जिगमिषुः सर्वानग्नीन् नर्येत्यादिभिर्मन्त्रैरुपतिष्ठेत । मन्त्रार्थस्तु—हे नर्य नरेभ्यो हित गार्हपत्य ! मे मम प्रजां पाहि पालय । हे शंस्य अनुष्ठातृभिः स्तोतुं योग्य आहवनीय ! मे पशून् पाहि । हे अथर्य दक्षिणाग्ने ! मे पितुमन्नं पाहि । दक्षिणाग्निः सततं गार्हपत्यात् स्वस्थानं नीयतेऽतः सातत्यगमनादथर्यः, अतनवानुच्यते । 'अत सातत्यगमने' इत्यस्माद्धातोर्निपातनादथर्येति रूपसिद्धिः । 'पितुरित्यन्ननाम' (निघ० २।७।६) । 'पा रक्षणे' इत्यस्माद् बाहुलकात् तुप्रत्ययो धातोरकारस्येकारश्च ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने ! परमेश्वरो हिरण्यगर्भो वाग्निः । त्वं भूरादिलोकत्रयरूपोऽसि । त्वत्प्रसादादहं प्रजाभिः परिपालनीयप्रजाभिः पुत्रशिष्यादिरूपाभिर्वा शोभनप्रजावान् स्याम् । वीरैर्योद्धृभिः साधनानुष्ठानदृढैः साधकैर्वा सुवीरः, दृढनिष्ठावद्भिर्योद्धृभिः साधकैश्चाहं सुवीरः स्याम् । पोषैः पुष्टिसाधनैर्धनादिभिर्भक्तिज्ञाननिष्ठापोषकैः शमदमादिभिरमानित्वादम्भित्वादिभिर्वा सुपोषः शोभनधनादिसम्पन्नः शमदमादिसाधनसम्पन्नो वा स्याम् । हे नर्य नरेभ्यो हित सर्वभूतसुहृत् परमेश्वर ! 'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' (भ० गी० ५।२९) इति गीतावचनात् । मे प्रजां पूर्वोक्तां पाहि । शंस्य स्तोतुं योग्य प्रभो ! मे पशून् गवादीन् उपकरणभूतान् देहेन्द्रियादीन् वा पाहि सेवोपयोगिनः कुरु संसारान्निवर्त्य परमात्मनिष्ठान् कुरु । हे अथर्य ! भक्तरक्षार्थं सततगमनशील ! मे मम पितुमन्नं व्रीहियवादिकमन्नमयं शरीरं च रक्ष भगवत्प्राप्तिसाधनानुष्ठाननिष्ठतासम्पादनेन भोगपरायणताया रक्ष । यद्वा भूः भवति सर्वं जगदस्मादिति भूः सर्वजगदुत्पादकोऽसि त्वम्, भुवः भूत्वा वसति सर्वं यस्मिन् स त्वं भुवः विश्वपालकोऽसि, स्वः स्वर्ति सर्वं तापयति प्रलय इति स्वः, अथवा स्वरति लयं गच्छति सर्वं यस्मिन् स त्वं स्वः सर्वलयाधिष्ठानभूतोऽसि ।

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! तुम 'भूः भुवः स्वः' इन तीन व्याहृतियों के स्वरूप हो । अतः तुम्हारे प्रसाद से मैं बन्धु, भृत्यादि प्रजा से युक्त और अनुकूल प्रजावान् हो सकूंगा तथा शास्त्रमार्गवर्ती पुत्रों से युक्त होऊँगा, हिरण्यादि द्रव्य से पुष्ट होऊँगा । मनुष्यों का हित करनेवाले हे गार्हपत्याग्ने ! मेरी प्रजा का रक्षण करो । अनुष्ठान कर्ताओं के द्वारा स्तुति करने योग्य हे आहवनीय अग्ने ! मेरी प्रजा का रक्षण करो । हे अथर्य ! अर्थात् सर्वदा रहनेवाले हे दक्षिणाग्ने ! हमारे अन्न की रक्षा करो ॥ ३७ ॥

श्रुतदेवबहुलाश्वकर्तृककृष्णस्तुतिपरत्वेन मन्त्रयोजनमपि नासङ्गतम्, परं मुख्योऽर्थस्तु श्रुतिसूत्रानुसार्येव 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) इति रीत्या परमेश्वराराधनबुद्ध्यानुष्ठीयमानकर्मप्रतिपादन-चित्तशुद्ध्यादिद्वारा कर्मपराणामपि मन्त्राणां ब्रह्मणि पर्यवसानात्, विनियोगवशात्कर्मपरत्वेऽपि शक्त्या भक्त्या (गौण्या) वा वृत्त्या मन्त्राणां ब्रह्मबोधकत्वं नानुपपन्नम् ।

कश्चित्तु—'प्राणोदानव्यानानां बलैरहं पुत्रपौत्रादिसन्तानवान् भवेयम् । वीर्यवद्भिः शूरवीरपुरुषैरहं पुत्रवान् भवेयम्' इति, अत्र प्रजाभिरिति पदेन प्राणोदानव्यानबलं कथं गृहीतम् ? तत्र किं मूलमिति चिन्त्यम् । यस्य स्वयं पुत्रोत्पादने शक्तिर्न भवति स एवान्यैर्वीर्यवद्भिः पुत्रवान् भवति । तद्रीत्या नर्यशंस्यादिभिरेक एव कश्चिद्धितकारी सम्बोद्ध्यते । अथर्येत्यस्य संशयरहितेति कथमर्थः ? तेषां तेषां सम्बोद्ध्यानां प्रार्थनीय-प्रजादिभिः कः सम्बन्धः ? इत्यादिकं तु नोक्तमेव ।

सिद्धान्ते तु कात्यायनकाण्वादिविनियोगवशाद् गार्हपत्यादयोऽग्नय एव सम्बोध्याः । 'अथ हुतेऽग्निहोत्र उपतिष्ठते । भूर्भुवः स्वरिति तत्सत्येनैवैतद्वाचꣳ समर्धयति यदाह तया समृद्ध्याशिषमाशास्ते सुप्रजाः प्रजाभिः स्यामिति तत्प्रजामाशास्ते सुवीरो वीरैरिति वद्वीरानाशास्ते सुपोषः पोषैरिति तत्पुष्टिमाशास्ते ॥ यद्वा अदो दीर्घमग्न्युपस्थानम् । आशीरेव साशीरियं तदेतावतैवैतत्सर्वमाप्नोति तस्मादेतेनैवोपतिष्ठेतैतेन न्वेव वयमुपचराम इति ह स्माहासुरिः' (श० २।४।१।१-२) । एवमग्निहोत्रहोमोपस्थानमन्त्राणामनन्तरं लघूपस्थानमन्त्रा उच्यन्ते । भूर्भुवः स्वरित्यादिमन्त्रेणाहवनीयमुपतिष्ठते—अथ हुत इति । पूर्वोक्तादग्निहोत्रादनन्तरं मन्त्रस्यातिशयमाह—सत्यरूपा एता व्याहृतयः, त्रयीसारत्वात् । 'भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात्' (ऐ० ब्रा० ५।३२) । एवं व्याहृतिरूपेण सत्येनैव इमां मन्त्ररूपां समर्धयति तया समृद्धया वाचा प्रागुक्तां सर्वामप्याशिषमाशास्ते प्रार्थयते । तदाशासनप्रकारमेवाह—स प्रजामाशास्ते प्रजाभिः पुत्रपौत्रादिभिः सुप्रजाः शोभनप्रजोपेतः स्याम् । एकः प्रजाशब्दोऽनुवादः । सुवीरो वीरैः । वीर्यवन्तः पुत्रा वीराः । तेषां प्रजाशब्देन परिगृहीतत्वेऽपि पुनः प्राधान्यख्यापनार्थं पृथगाशासनमिति । प्रागुक्तेन महोपस्थानेनास्य लघूपस्थानस्य समानकार्यकारित्वाद् विकल्पमाह—यद्वेति । अदः पूर्वोक्तं बहुकर्तव्योपेतं बहुमन्त्रसाध्यं यदग्न्युपस्थानम्, तद् आशीः फलप्रार्थनमेव । तथा भूर्भुवः स्वरिति मन्त्रसाध्यमुपस्थानमपि तादृगाशीभिर्युक्तम् । तत् तत एतावतैवोप-स्थानेन एतत् प्रागुक्तं फलमाप्नोति । अस्मिन्नुपस्थाने ऋषिवचनं सम्पादयति—तस्मादेतेनैवोपतिष्ठेतैतेनैव लघूपस्थानेन वयमग्निमुपपरिचराम । यस्मादेवमासुरिर्महर्षिराह स्म उक्तवान् तस्मादिदमेवोपस्थानं कर्तव्यम् ।

'अथ प्रवत्स्यन् । गार्हपत्यमेवाग्र उपतिष्ठतेऽथाहवनीयम्' (श० २।४।१।३), 'स गार्हपत्यमुपतिष्ठते । नर्य प्रजां मे पाहीति प्रजाया हैष ईष्टे तत्प्रजामेवास्मा एतत्परिददाति गुप्त्यै' (श० २।४।१।४) । अथ प्रवासं

भाष्यसार—यजमान जब प्रवास करना चाहता है तब वह 'नर्य' इत्यादि मन्त्रों से सभी अग्नियों का उपस्थान करता है ।

अध्यात्मपक्ष में—परमेश्वर को व्याहृतिरूप बताने से वही सृष्टि-स्थिति-लय कर्ता है । तथा कृष्णस्तुतिपरक बताकर इस मन्त्र को ब्रह्मबोधक भी गौणी वृत्ति के बलपर कह सकते हैं ।

किसी व्याख्याकार ने मन्त्रगत 'प्रजाभिः' पद से प्राण-उदान-व्यानादि वायुओं का ग्रहण किया है । किन्तु वह निराधार है । तथैव शतपथश्रुति के विरुद्ध रहने से अप्रमाण है ।

कुर्वता यजमानेन कर्तव्यमुपस्थानं दर्शयति—गार्हपत्यमेवाग्र इति। विहिते गार्हपत्योपस्थाने मन्त्रं विधत्ते—नर्यं प्रजामिति। मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—एष हि गार्हपत्य इति। प्रजाया ईष्टे, कृत्स्नाग्नियोनिभूतत्वात्। अतोऽस्मै गार्हपत्याय रक्षणार्थं प्रजाया परिदानं क्रियते। 'अथाहवनीयमुपतिष्ठते। शꣳस्य पशून् मे पाहीति पशूनाꣳ हैष ईष्टे तत्पशूनेवास्मा एतत्परिददाति गुप्त्यै' (श० २।४।१।५)।

दयानन्दस्तु—'हे नर्य त्वं कृपया मे प्रजां पाहि मे पशून् पाहि ये अथर्य मे पितुं पाहि हे शंस्य जगदीश्वर ! भवत्कृपयाहं भूर्भुवःस्वःप्राणापानव्यानैर्युक्तः सन् प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः सुवीरः, पोषैः सह सुपोषः स्यां नित्यं भवेयम्' इति, तन्न, भूरित्यादिभिर्व्याहृतिभिः प्राणादिग्रहणे हेत्वनुक्तेः। भूः प्रियस्वरूपः प्राणः, भुवः बलनिमित्त उदानः, स्वः सर्वचेष्टानिमित्तो व्यान इत्यपि निर्मूलम्। यत्तु—'थर्वतिश्चरतिकर्मा' (नि० ११।१८) थर्वति संशेते यः स थर्वो न थर्व्योऽथर्व्यः, वर्णव्यत्ययेन वकारस्थाने यकारः' इति, तदपि न, परमेश्वरे संशयाप्राप्तेर्निषेधस्य व्यर्थत्वात्। तस्मादत्र शतपथानुसारेणाग्न्युपस्थानमन्त्रा इमे, अत्राग्नय एव सम्बोधनीयाः। अथर्व्य इत्यनेन 'अत सातत्यगमने' इति धातोर्निपातसिद्धेन सातत्येन गार्हपत्याद् दक्षिणाग्निस्थानगमनाद् दक्षिणाग्निरेव सम्बोधनीयः। अत एव गार्हपत्यमुपतिष्ठेत नर्य्य प्रजां मे पाहि······आहवनीयमुपतिष्ठेत शंस्य पशून् पाहीति श्रुतिभ्यां शंस्यनर्यशब्दाभ्यां स्पष्टमेव गार्हपत्याहवनीयौ सम्बोधनीयौ विज्ञायेते ॥ ३७ ॥

आग॑न्म विश्ववे॑दसम॒स्मभ्यं॑ वसु॒वित्त॑मम् ।
अग्ने॑ सम्राड॒भि द्यु॒म्नम॒भि सह॒ आय॑च्छस्व ॥ ३८ ॥

'समित्पाणिरनुपेत्य कञ्चिदुपतिष्ठते आवहनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नीनागन्मेति प्रतिमन्त्रम्' (का० ४।१२।१७)। प्रत्यागतः समिधं हस्त आदाय कञ्चिदपि जनमगत्वैव प्रथममेवाग्न्यागारं गत्वाऽऽगन्मेत्यादिमन्त्रत्रयेणाहवनीयादीनग्नीनुपतिष्ठेत। आवहनीयदेवत्याऽनुष्टुप्। हे आहवनीय ! सम्राट् सम्यग् राजते दीप्यते यः स सम्राट् अग्ने ! वयं त्वामगन्म त्वामुद्दिश्य ग्रामान्तरात् प्रत्यागताः। कीदृशं त्वाम् ? विश्ववेदसं विश्वं वेत्तीति वेदयतीति वा विश्ववेदास्तं सर्वज्ञं सर्वज्ञानप्रदातारं वा विश्वं वेदो धनं वा यस्य स विश्ववेदास्तं सर्वधनं वा। पुनः कथम्भूतम् ? अस्मभ्यं वसुवित्तमम् अस्मदर्थमतिशयेन वसुनो धनस्य वेदितारं दातारं वसुनो लम्भयितृतमं वा। यद्वा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। अस्माकमतिशयेन धनस्य वेदितारम्। हे अग्ने ! अभिद्युम्नं सर्वतोऽवस्थितं यशोऽन्नं वा द्योततेर्निष्पन्नत्वात्। 'द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा' (नि० ५।५)। अभिसहः रिपूनभिभवितुं सहो बलं 'षह मर्षणे'। 'सह इति बलनाम' (निघ० २।९।१७)। आयच्छस्व अन्नं यशो बलं गृह्णीष्व। पूर्णकामस्य तवावाप्तसमस्तकामत्वेऽपि स्वोपासकार्थमेव अन्नादीन् गृह्णीष्व। अभ्यायच्छस्व अभिगमय वा विस्तारय वा।

स्वामी दयानन्द ने भी स्व-मनःकल्पित निराधार व्याख्या की है, अतः वह भी उपेक्षणीय **है। शतपथानुसारी व्याख्या जो** भाष्यकार ने की है, वही सिद्धान्तरूप होने से ग्राह्य है ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वप्रकाशमान् हे आहवनीय अग्ने ! हम ग्रामान्तर से तुम्हारे निमित्त आये हैं। तुम सर्वज्ञ और सम्पूर्ण धन से युक्त हो। हमारे लिये धन का संग्रह किया करते हो। हे अग्ने ! तुम हमें यश और बल प्रदान करो ॥ ३८ ॥

भाष्यसार—ऊपर दिये गये **मन्त्रार्थ** से ही भाष्य का अभिप्राय स्पष्ट हो रहा है।

अथवा 'दाण् दाने' इत्यस्य 'पाघ्राध्मा ······' (पा० सू० ७।३।७८) इत्यादिना यच्छादेशः। यशो बलं चास्मभ्यं देहि। स्थापनार्थो वा यच्छतिः। अस्मासु यशो बलं स्थापयेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे सम्राट्! सम्यक् स्वप्रकाशत्वेन राजमान दीप्यमान अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधिपते निरङ्कुशैश्वर्यवत्त्वेन निरतिशयैश्वर्यवन् अग्ने परमेश्वर! विश्ववेदसं सर्वज्ञं सर्वसाक्षिणं वसुवित्तमं वसुनः साम्राज्यलक्ष्म्या मोक्षलक्ष्म्याश्च लम्भयितृतमं त्वाम् अभ्यागन्म आभिमुख्येन भक्त्या प्रपन्नाः स्म। द्युम्नं ज्ञानरूपं द्योतमानं धनं सहस्तन्निष्ठादार्ढ्यं च अस्मभ्यम् आयच्छस्व विस्तारय च।

यत्तु— समस्तज्ञानधनादियुक्तं सर्वाधिकैश्वर्यप्रदायिनं श्रेष्ठपुरुषमभिप्रपद्याहमिदं वदेयम्—हे अस्माकमग्रणीः! त्वं नः सम्राडसि त्वं धनमन्नं समस्तबलं च सर्वतः संगृह्णीष्व अस्मभ्यं च तत्प्रयच्छ' इति, तत्तु कल्पनामात्रम्, अक्षराननुगुणं च, वाक्यमेतत्प्रसङ्गं च प्रपद्याहमेवं वदेयमित्यर्थबोधकपदाभावात्। नह्यमूढः कश्चिदपि यं कञ्चित् श्रेष्ठपुरुषं गत्वा तं प्रति कथयति त्वं नः सम्राडसीति। सम्राजमभिलक्ष्यैव सम्राडित्युक्तिः सङ्गच्छते। निर्वाचनप्रथायामपि न तथा सङ्गतिः, बहुमतापेक्षत्वात् साम्राज्यवादस्य घृणास्पदत्वाच्च। सर्वतो धनबलाद्याहृत्य केभ्यश्चिद्दानं चापि निर्वाचनप्रथायां दूषणमेव, कात्यायनादिसूत्रविरोधश्च।

अत्र शातपथी श्रुतिः—'अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति। स यत्र वेलां मन्यते तत्स्यन्त्वा वाचं विसृजतेऽथ प्रोष्य परेक्ष्य यत्र वेलां मन्यते तद्वाचं यच्छति स यद्यपि राजान्तरेण स्यान्नैव तमुपेयात्' (श० २।४।१।६)। एवं गार्हपत्याहवनीययोः समन्त्रकमुपस्थानं कृत्वा वाहनहीनश्चेत् स्वयं प्रव्रजति गच्छति। सवाहनश्चेदश्वरथादीन् धावयेत् प्रगमयेदिति। स गच्छन् यत्र यस्मिन् देशे वेलां स्वनिवासग्राममर्यादां मन्यते तत्स्थानपर्यन्तं वाचंयमो गत्वा तदनन्तरं वाचं विसृजेत्, न तु ततः प्राक्। एवं पुनरागमनकालेऽपि तत्स्थानप्रभृति अग्निसमीपगमनपर्यन्तं वाग्यमनं विधत्ते—अथ प्रोष्येति। प्रोष्य प्रवासं कृत्वा पुनरागत्य यत्र ग्राममर्यादां मन्यते तत्र वाचंयमो भवेत्। एवं वाग्यतस्य यजमानस्य अग्न्यगारस्य च मध्ये यदि राजा स्यात् तमपि नैवोपेयात्। वाग्यमनानन्तरं राजादिपूज्यजनसन्निधानेऽपि तदनादरेण अग्निगतमनस्क एवाग्निसमीपं गच्छेत्। तदेतदापस्तम्बेनाप्युक्तम्—'आरादग्निभ्यो वाचं यच्छति। यद्येनऽ७ राजा पिताचार्यो वाऽन्तरेणाग्नीन् स्याच्छदिर्दर्शनेनैनमाद्रियेत' (आप० श्रौ० २५।५।६)। दर्शने छदिर्व्यवधायकत्वेन स्यात्, नैनमाद्रियेतेति।

'स आहवनीयमेवाग्र उपतिष्ठते। अथ गार्हपत्यं गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति' (श० २।४।१।७)। प्रवत्स्यत उपस्थानवैपरीत्येनागतोपस्थानस्य विधानम्—गमनकाले गार्हपत्योपस्थानमग्रे पश्चादाहवनीयोपस्थानं प्रत्यागमनवेलायामाहवनीयोपस्थानमग्रे पश्चाद् गार्हपत्योपस्थानम्। तदुपपादयति— सर्वाग्नीनां योनित्वाद् गृहपतिना संयुक्तत्वाद् गार्हपत्यस्य गृहशब्दाभिधेयत्वम्। गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा गृहेष्वेव प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति। तस्माद् गार्हपत्यस्य पश्चादुपस्थानम्। 'स आहवनीयमुपतिष्ठते।

अध्यात्मपक्ष में—हे अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक! निरंकुश ऐश्वर्यशालिन्! परमेश्वर! आप सब कुछ जानते हैं। आप ही साम्राज्यलक्ष्मी तथा मोक्षलक्ष्मी दोनों को दे सकते हैं। हम भक्तिपूर्वक आपके शरण में हैं। आप हमें ज्ञानरूप धन और उसमें दृढनिष्ठा देकर उसका विस्तार करें॥

किसी अन्य व्यक्ति ने जो स्व-कल्पना प्रसूत व्याख्या की है, वह मन्त्र के शब्दों से कोई सम्बन्ध नहीं रख रही है तथा श्रौतसूत्र, शतपथश्रुति के विरुद्ध भी है, अतः उसे त्याज्य ही समझना चाहिये।

आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम् । अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्वेत्यथोपविश्य तृणान्यपलुम्पति' (श० २।४।१।८) । प्रथमकर्तव्योपस्थानं समन्त्रकं दर्शयति—स आहवनीयमिति । समिदाधानं विधत्ते—अथेति । उपस्थानानन्तरमाहवनीयाग्निसमीपे उपविश्य तृणानि तृणोपलक्षितानि समिदादीनि अवलुम्पति प्रच्छिद्य तस्मिन्नग्नौ प्रक्षिपति 'लुप्लृ छेदने' ।

दयानन्दस्तु—'हे सम्राडग्ने जगदीश्वर ! त्वमस्मभ्यं द्युम्नं सहश्चाभ्यायच्छस्व विस्तारय । एतदर्थं वयं वसुवित्तमं त्वामभ्यागन्म प्राप्नुयाम इत्येकोऽन्वयः । यः सम्राडग्नेयमग्निरस्मभ्यं द्युम्नं सहश्चाभ्यायच्छस्व अभ्यायच्छति । तं वसुवित्तमं विश्ववेदसमग्निं वयमभ्यागन्म' इति, तदेतस्येश्वरपरत्वेनादोषेऽपि शतपथविरुद्धत्वाद् हेयमेवैतत्, तत्रास्य मन्त्रस्याहवनीयोपस्थाने विनियुक्तत्वात् । भौतिकाग्निपक्षे पृथिव्यादिलोकान् वेदयति सूर्यरूपेणाग्निरेतान् प्रकाश्य प्रापयति स वसुविदित्यसङ्गतमेव, अग्नेः सूर्यरूपेण प्रकाशकत्वे सत्यपि प्रापकत्वासिद्धेः, तस्य त्वया जडत्वाभ्युपगमात् ॥ ३८ ॥

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ ३९ ॥

गार्हपत्यमुपतिष्ठते''''न्यङ्कुसारिणी बृहती । यत्र द्वितीयः पादो द्वादशाक्षरोऽन्यत्र त्रयोदशाक्षराणि सा न्यङ्कुसारिणी । अत्र तृतीयो नवार्णस्तेनैकाधिका । अयं पुरोवर्ती गार्हपत्यस्तन्नामकोऽग्निर्गृहपतिः गृहपालकः, प्रजायाः पुत्रपौत्रादिरूपायाः सन्ततेरनुग्रहार्थं वसुवित्तमः, अतिशयेन धनस्य लब्धा दाता वा । हे अग्ने ! स त्वं द्युम्नं सहश्च अस्मा यच्छस्व ।

अध्यात्मपक्षे—अयमपरोक्षः प्रत्यगात्मा क्षेत्रज्ञः, गृहपतिः गृहस्य क्षेत्रस्य कार्यकरणसंघातस्य परार्थत्वेन पतिः स्वामी । यथा शय्याप्रासादादिकं न स्वार्थं किन्तु स्वविलक्षणान्यचेतनार्थप्रयुक्तं भवति, तथैव देहेन्द्रियादिकमपि सुखदुःखमोहात्मकमनेकात्मकं न स्वार्थं किन्तु स्वविलक्षणसुखदुःखमोहातीतासंहतैकचेतनार्थ-प्रयुक्तम् । स च गार्हपत्यो गृहपतिना अनन्तब्रह्माण्डात्मकस्य पत्या सत्तास्फूर्तिप्रदेन पालकेन परमात्मना युक्तः । 'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' (पा० सू० ४।४।९०) इति ञ्यप्रत्ययेन रूपसिद्धिः । क्षेत्रज्ञः शोधितस्त्वंपदार्थः, अनन्तब्रह्माण्डवेदित्रा परमेश्वरेण युक्तः सदैव तादात्म्यलक्षणेन सम्बन्धेन सम्पृक्तः, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति श्रुतेः । परमेश्वरेण सम्पृक्तत्वादेवायं क्षेत्रज्ञः प्रजायाः प्राणलक्षणाया अनुग्रहार्थं वसुवित्तमः । कर्मानुष्ठानार्थं वसूनां गोभूहिरण्यादिलक्षणानां मानुषवित्तानां कर्मदेवतादिज्ञानलक्षणानां

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह भी शतपथश्रुति के विरुद्ध होने से त्याज्य है ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—यह सामने अवस्थित रहने वाला गार्हपत्यसंज्ञक अग्नि गृह-रक्षक है और पुत्र-पौत्रादि प्रजा के निमित्त अत्यधिक धन-संग्राहक है । हे गार्हपत्य अग्ने ! तुम हमें यश और बल प्रदान करो ॥ ३९ ॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ की स्पष्टता मन्त्रार्थ से हो रही है ।

अध्यात्मपक्ष में—यह गृहपतिरूप गार्हपत्याग्नि अनन्तब्रह्माण्डात्मक गृह का पति जो परमात्मा है, उससे युक्त है । अतः वही गार्हपत्याग्नि हमारी प्रजा पर अनुग्रह करने के लिये हमें ज्ञानरूप धन और योगशक्तिरूप बल प्रदान करे अथवा उसका विस्तार करे ।

दैववित्तानां च लब्धृतमः। हे अग्ने परमेश्वर गृहपते निखिलब्रह्माण्डपालक! अभिद्युम्नं अभि सह सहश्च विद्यादिधनं तदीयदार्ढ्यं च आयच्छस्व देहि वर्धय विस्तारय वा। यद्वा निखिलब्रह्माण्डाधिपतिरेव गृहपतिरत्र सम्बोध्यः। स च गृहपतिभिः क्षेत्रज्ञैः संयुक्तत्वात् तेषामनुग्राहकत्वाच्च गार्हपत्योऽप्युच्यते। स त्वमस्माकं सम्बन्धित्वादस्माकं प्रजाया अनुग्रहार्थं वसुवित्तमः वसूनां लम्भयितृतमः। अस्मभ्यं द्युम्नं ज्ञानादिलक्षणं द्योतमानं धनं योगज्ञानादिशक्तिरूपं बलं च प्रयच्छ विस्तारय वा।

अन्यस्तु सम्राजमेव गृहस्वामितुल्यत्वाद् गृहपतिं गार्हपत्याग्नितुल्यत्वात् समस्तगृहस्वामिसंयुक्तं राष्ट्रपतिं च वक्ति, तदपि स्वाभ्यूहितमेव, तुल्यत्वबोधकपदाभावात्। 'अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते। अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः। अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्वेत्यथोपविश्य तृणान्यपलुम्पत्येतन्नु जपेनैतेन न्वेव भूयिष्ठा इवोपतिष्ठन्ते' (श० २।४।१।९)। एतेन जपेन भूयिष्ठा इवोपतिष्ठन्ते।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने गृहपते परमात्मन्! योऽयं भवान् गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया बहुवित्तमोऽग्निः, तस्मात्त्वमस्मदर्थं द्युम्नं सहश्चायच्छस्व' इत्येको भौतिकाग्निपरत्वेनान्योऽप्यन्वयो दर्शितः, तदुभयमसङ्गतम्, शतपथश्रुतौ गार्हपत्याग्निपरत्वेन मन्त्रस्योक्तत्वात्। एवमेव सर्वेश्वरस्य गृहपतित्वं गृहपतिसंयुक्तत्वकथनमपि निर्मूलमेव। यदुक्तम्—'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' (पा० सू० ४।४।९०) इत्यनेन गृहपतिना संयुक्त इत्यर्थे ञ्यः प्रत्ययः। 'इदं पदं महीधरादिभिर्व्याकरणज्ञानविरहाद् गृहस्य पतिः पालक इत्यशुद्धं व्याख्यातम्' इति, तदेतद्दयानन्दस्यास्थाने पाण्डित्यप्रदर्शनम्, महीधरादिभाष्यानवबोधात्। 'नह्येष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' (नि० १।१६)। तथा चेदं महीधरभाष्यम्—'अयं पुरोऽवस्थितो गार्हपत्य एतन्नामकोऽग्निर्गृहस्य पतिः पालकः। विदाङ्कुर्वन्तु विद्वांसोऽस्य दयानन्दस्वामिनो धार्ष्ट्यं साहसं च। मन्त्रे गृहपतिशब्दः पठितः। तस्येदं व्याख्यानं गृहस्य पालकः। न गार्हपत्य इत्यस्य तद्व्याख्यानम्। अत एव टिप्पणीकारोऽछद्मना तत्स्वीकरोति, यदि गृहस्य पतिर्गार्हपत्यार्थे तदैवायं दोषः स्यादिति ॥ ३९ ॥

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः।
अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ ४० ॥

आसुरेरार्षम्। अनुष्टुप्। आहवनीयं गार्हपत्यं चोपस्थाय दक्षिणाग्निमुपतिष्ठते—अयं प्रत्यक्षो दक्षिणाग्निः पुरीष्यः पशव्यः, 'पशवो वै पुरीषम्' (श० ७।५।१।९) इति श्रुतेः। पुरीषेभ्यो हितं पुरीष्यम्। रयिमान् धनवान्। पुष्टिवर्धनः पुष्टेर्धनधान्यादिसमृद्धेर्वर्धयिता। हे पशव्य दक्षिणाग्ने! अभि द्युम्नम् अभि सह आयच्छस्व।

अध्यात्मपक्षे—अयं परमेश्वरोऽग्निः, महावाक्यजन्यवृत्त्यारूढस्य तस्य अविद्यातत्कार्यात्मकप्रपञ्चदाहकत्वात्। स च पुरीष्यः पृणाति पश्यति स्वेन रूपेण सर्वमिति पुरीषम्, 'पॄ पालनपूरणयोः' इत्यस्मात् 'श्रृपॄभ्यां

किसी व्याख्याकार ने राष्ट्रपतिपरक मन्त्र को लगाया है, किन्तु वह भी स्वकपोलकल्पित ही है।

स्वामी दयानन्द ने भौतिक अग्निपरक अर्थ लगाकर व्याख्या की है, वह भी असंगत है। शतपथश्रुति के भी विरुद्ध है, अतः उपेक्षणीय है ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—यह दक्षिणाग्नि पशुओं के लिये हितकारक, धनवान् और पोषण करने वाला है। अतः हे पशुहित करने वाले दक्षिणाग्ने! हमें कीर्ति और बल दो ॥ ४० ॥

विच्च' (उ० ४।२७)- इत्यौणादिक ईषन्प्रत्यये पुरीषम्, तत्र साधुरिति वा, छान्दसत्वाद्वा स्वार्थिके यत्प्रत्यये पुरीष्यः। रयिर्धनादिर्दातव्यत्वेनास्त्यस्येति रयिमान् पुष्टिवर्धनो ब्रह्मादिनिष्ठाया वर्धयिता। स त्वम् अग्ने ! अभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व।

दयानन्दस्तु—'हे पुरीष्याग्ने जगदीश्वर ! योऽयं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनोऽग्निरस्ति, तस्मादस्मभ्यमभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व। पृणन्ति पूरयन्ति सुखानि यैर्गुणैः, पृणन्ति यानि कर्माणि तानि पुरीषाणि, तेषु साधुः पुरीष्यः' इति, तदप्यसङ्गतम्, व्युत्पत्त्या गुणानां कर्मणामन्येषां वा पुरीषपदवाच्यत्वेन विनिगमनाविरहेणैकस्याप्यर्थस्यानिश्चयात्। तस्मात् 'पशवो वै पुरीषम्' (श० ७।५।१।९) इति श्रुत्यनुरोधेन पुरीषपदेन पशव एव ग्रहीतुं योग्याः। किञ्च, गुणेषु कर्मसु च साधुत्वमसाधुत्वं वा कर्तुर्भवति नाग्नेर्जडस्येति। श्रुतिसूत्रादिषु तु दक्षिणाग्न्युपस्थानमन्त्रत्वाद् दक्षिणाग्निरेवात्र प्रतिपाद्यः ॥ ४० ॥

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ४१ ॥

सुमनाः शोभनमनस्कः। सुमेधाः शोभनया धारणावत्या मेधया प्रज्ञया युक्तः। मनसा मोदमानः दुःखरहितेन हृष्यन् वो युष्मान् गृहान् एम आ इमः आ एमि आगच्छामि। आ इम इति बहुवचनम् 'अस्मदो द्वयोश्च' (पा० सू० १।२।५९) इति बहुवचनस्मरणात्।

अध्यात्मपक्षे तु—नामरूपलीलाधाम्नां भगवद्रूपत्वेन भगवद्धामानि भगवता सम्बोधयितुं शक्यन्ते, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति श्रुतेः। तथा च वनवासादागतः श्रीरामः कुतश्चित् प्रवासादागतः श्रीकृष्णो गृहान् सम्बोध्याश्वासयति—हे गृहा यूयं मा बिभीत युष्मांस्त्यक्ष्यामीति भयं मा कार्ष्ट। असुरराक्षसाद्युपद्रवभीत्या मा कम्पध्वम्। किं तर्हि ऊर्जं बलं रसं वा धारयन्तः स्थिरा भवतेति शेषः। ऊर्जं बलं रसं च बिभ्रत धारयत। युष्मान् रसितुमेमि। सुमना भक्तविषयकेण शोभनेन मनसा भक्तकल्याणधारणावत्या च मेधया युक्तो मोदमानः प्रहृष्यमाणः प्रहर्षयंश्च स्वीयान् एमि।

अन्यस्तु—'गृहपदेन गृहस्थाः पुरुषा उच्यन्ते। हे गृहस्थाः ! (सैनिकाः कथयन्ति यदा वयं विशेषबलं धारयमाणा आगच्छामस्तदा) सैनिकराजपुरुषेभ्यो भयं मा कुरुत मा कम्पत। शोभनेन मनसा सुमेधया मोदमाना गृहस्थान् प्राप्नुमः' इति, अस्मिन् व्याख्याने वक्तृकल्पना स्वातन्त्र्येण कृता। सनातनिव्याख्याने

अध्यात्मपक्ष में—यह परमेश्वररूप अग्नि महावाक्यजन्य वृत्त्यारूढ है, अतः अविद्या-तत्प्रपञ्च का दाहक है, पशुओं का हित करने वाला है। वही धनवान् है, वही पुष्टिवर्धन है, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा का वर्धक है। अतः जो तुम्हारे पास है, वह मुझे भी दो।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या को असङ्गत ही कहना होगा, क्योंकि वह किसी अर्थ का निश्चय ही नहीं कर पा रही है तथा श्रुति-सूत्र के विरुद्ध मार्ग से चलती है ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—हे गृहो ! अपना पालक यजमान ग्रामान्तर को गया है, यह समझकर भयभीत मत होना। तथा कोई शत्रु आकर तुम्हारा नाश कर देगा, इस विचार से कम्पित मत होना। क्योंकि हम बलप्राप्त किये तुम्हारे पास आ

कात्यायनादिसूत्रानुसारेण प्रत्यागता यजमाना वास्तुदेवताविशिष्टान् गृहान् प्रतिवदन्ति। अत एतदेव व्याख्यानं साधीयः। 'गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः' (वा० स० ३।४१), 'गृहा मा बिभीतेति गृहानुपैति' (का० श्रौ० ४।१२।२१)। ग्रामान्तरादागतो गृहा मेत्यादिमन्त्रत्रयेण गृहं प्राप्नुयात्। तिस्रोऽपि वास्तुदेवत्याः शंयुदृष्टास्त्रिष्टुब्विराड्रूपाः। हे गृहा यूयं मा बिभीत भयं मुञ्चत गृहपतिर्गत इति भयं मा कुरुत मा वेपध्वं कम्पनं मुञ्चत कश्चिदरातिर्विनाशयिष्यतीति बुद्धया कम्पं मा कार्ष्ट, यतो वयं युष्मान् ऊर्जमन्नं बिभ्रतो धारयमाणाननुपक्षीणान् अन्नेनैव आ इमसि आगताः स्मः। अहमपि ऊर्जमन्नं बिभ्रद् धारयन् वः युष्मान् प्रति सुमनाः शोभनमनाः सुमेधाः शोभनप्रज्ञः सन् गृहान् प्रति ऐमि आगच्छामि। मनसा मोदमानो दुःखरहितेन मनसा हृष्यन्।

'अथातो गृहाणामेवोपचारः। एतद्ध वै गृहपतेः प्रोषुष आगताद् गृहाः समुत्रस्ता इव भवन्ति किमयमिह वदिष्यति किं वा करिष्यतीति स यो ह तत्र किञ्चिद्वदति वा करोति वा तस्माद् गृहाः प्र त्रसन्ति तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोरथ यो ह तत्र न वदति न किञ्चन करोति तं गृहा उपसꣳश्रयन्ते न वा अयमिहावादीन्न किञ्चनाकरदिति। स यदिहापि सुक्रुद्ध इव स्याच्छ्व एव ततस्तत्कुर्याद् यद्वदिष्यन् वा करिष्यन् वा स्यादेष उ गृहाणामुपचारः' (श० २।४।१।१४)। एवं प्रवासादागतस्य यजमानस्याग्निविषयं कर्तव्यमुपदिश्य गृहविषयं वक्तुं प्रतिजानीते—अथातो गृहाणामुपचार इति। उपचरणमुपचारः समाश्वासनम्, वक्ष्यत इति शेषः। गृहा मा बिभीतेति मन्त्रेण तेषामुपस्थानं विधित्सुस्तेषां भयसम्भावनां साधयति—एतद्ध वा इति। प्रोषुषः प्रवासं कृतवतो यजमानाद् गृहाः समुत्त्रस्ता भीता इव भवन्ति। भीतिकारणमाह—किं वदिष्यति किं वा करिष्यतीत्यभिप्रायेण तेषां भयशङ्का। स खलु यजमान आगत्य गृहा मा बिभीतेत्युपस्थानं विना यत्किञ्चन वदन् कुर्वन् वा भवति, अस्मद्विषये क्रुद्ध एवासौ वर्तत इति। तस्माद् यजमानाद् गृहाः प्रत्रसन्ति प्रोद्विजन्ते। ननु तेषां त्रासेन को दोष इत्याह—तस्येश्वरः तस्य यजमानस्य कुलं वंशं विक्षोब्धोः विनष्टं कर्तुमीश्वरः। व्यत्ययेनैकवचनम्। ईश्वराः समर्था इत्यर्थः। यस्तु गृहानुपागत्य किमपि न वदति मौनमेव भजते गृहा मा बिभीतेत्युपस्थानं वा करोति तं गृहा उपसंश्रयन्ते उपगच्छन्ति। तेषामभिप्रायमाह—न खल्वयं यजमान इहास्मिन् समये किमप्यवादीत्, किमपि च नाकरत् नाकार्षीत्। यदि अस्मदपराधः स्यात् तदा तद्विषयं वदिष्यति। तस्माद् यजमानस्यास्मद्विषये क्रोधो नास्तीत्यनेनाभिप्रायेण तमुपश्रयन्ते। स यदिहापीति—इहास्मिन् गृहविषये यद्यपि स आगतो यजमानोऽपराधश्रवणात् क्रुद्ध इव स्यात् ततस्तस्मादागमनदिवसात् श्वः अनन्तरदिवस एव तद् वक्तव्यं कर्तव्यं वोपचारनिर्वृत्तये प्रयुञ्जीत, न त्वागमनदिवसे। तदुक्तं सूत्रकृतापि—'गृहा मा बिभीतेति गृहानुपैति, क्षेमाय व इति प्रविशति, न हिंस्यात् गृह्यान्

पहुँचे हैं। जैसे तुमने बल धारण किया है, वैसे ही मैं भी बल प्राप्त कर तथा उत्तम मनोभावना और सद्बुद्धि से युक्त हुआ, दुःखरहित अन्तःकरण से तुम्हारे समीप आया हूँ। 'गृहा मा' आदि तीन मन्त्रों का उच्चारण कर अपने निवासगृह में आवे॥ ४१॥

भाष्यसार—दिये गये मन्त्रार्थ के द्वारा भाष्य का भाव स्पष्ट हो जाता है।

अध्यात्मपक्ष में—वनवास की अवधि समाप्त कर वापस आये हुए भगवान् रामचन्द्र अथवा कभी प्रवास के पश्चात् कहीं से वापस आये हुए भगवान् श्रीकृष्ण अपने निवासगृह को सम्बोधित कर आश्वासन दे रहे हैं। अग्रिम भाव स्पष्ट है।

किसी व्यक्ति ने बिना किसी आधार के ही अपनी स्वतन्त्र कल्पना से पूर्ण व्याख्या कर दी है, जो शतपथश्रुति, श्रौतसूत्र-परम्परा के विरुद्ध है।

कामं श्वः' (का० श्रौ० ४।१२।२१–२३)। अत्र न केवलं जडभूतानां गृहाणामुपस्थानं किन्तु गृहाधिष्ठातॄणां वास्तुदेवतानामेवैतदुपस्थानम्, तेषामेव भयाशङ्काया अनिष्टकरणादिसामर्थ्यस्य च सम्भवात्।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मचर्येण कृतविद्या गृहा गृहाश्रमिणो मनुष्या ऊर्जं बिभ्रतो यूयं गृहाश्रमं प्राप्नुत। तदनुष्ठानान्मा बिभीत मा वेपध्वम्। ऊर्जं बिभ्रतो वयं युष्मान् गृहान् एमसि समन्तात् प्राप्नुमः। वो युष्माकं मध्ये स्थित्वैवं गृहाश्रमे वर्तमानः सुमनाः सुमेधा मनसा मोदमान ऊर्जं बिभ्रत् सन्नहं सुखान्येमि नित्यं प्राप्नुयाम्। गृहा गृह्णन्ति ब्रह्मचर्याश्रमानन्तरं गृहाश्रमं ये मनुष्यास्ते गृहाः' इति, तन्न, गौणार्थग्रहणात्, गृहपदेन गृहस्थानां ग्रहणे मानाभावात्। अन्यथा व्युत्पत्तिलभ्यार्थग्रहणे ये ब्रह्मचर्याश्रमानन्तरं संन्यासाश्रमं गृह्णन्ति तेऽपि कुतो न गृहपदव्यपदेश्या भवेयुः? शतपथे सूत्रे च यथाग्नीनामुपस्थानमुक्तम्, तथैव गृहाणामपि। उपस्थानस्य गृहपति-कर्तृकत्वेन न प्रथमतो गृहपतिरेव गृहपदेन सम्बोधनीयः सम्भवति।

एवमेव 'शाल्वत्रस्तानां द्वारकास्थानां नरनारीणां दाराणां वा सम्बोधनेन श्रीकृष्णस्तानाश्वासयति' इत्यपि कल्पनामात्रम्, गृहशब्देन व्युत्पत्त्या तथैवान्येषां गृहस्थानामपि सम्बोधनसम्भवे तादृशार्थग्रहणे विनिगमनाविरहात्॥ ४१॥

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न्येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः। गृ॒हानुप॑ ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः॥ ४२॥

अनुष्टुप्। प्रवसन् देशान्तरं गच्छन् गृहपतिर्यजमानः, येषामध्येति 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (पा० २।३।५२) इति षष्ठी, यान् गृहान् स्मरति गृहविषयं क्षेमं चिन्तयति, तथा येषु गृहेषु यजमानस्य बहुप्रकारं सौमनसः सौमनस्यं प्रसन्नतातिशयश्च भवति, तान् गृहाभिमानिनो वास्तुदेवानुपह्वयामहै आह्वयामः। ते गृहदेवा आहूताः सन्तो जानत उपकाराभिज्ञान् कृतज्ञानस्मान् जानन्तु, एते कृतघ्ना न सन्तीत्यवगच्छन्तु।

अध्यात्मपक्षे यान् गृहान् धामानि प्रवसन् कार्यवशात् प्रवासं कुर्वन् भगवानपि स्मरति, येषु भगवतः प्रीत्यतिशयस्तान् गृहान् भगवद्धामानि वयं भक्ता उपह्वयामहे। भगवत्प्रीत्यास्पदत्वाद् भगवद्रूपत्वाच्च ते तन्माहात्म्यं जानतोऽस्मान् जानन्तु कृपापात्रतयाऽनुग्रहबुद्ध्याऽवगच्छन्तु।

अन्यस्तु 'सैनिकानां राजपुरुषाणामुक्तिः। प्रवसन् मनुष्यो यान् गृहस्थान् स्मरति, येषु सौमनस्येन सुहृद्भावेन तिष्ठति, वयमधिकारिजनास्तान् पुरुषान् स्वसमीपे मानपूर्वकमाह्वयामहे। ते प्रत्यभिज्ञावतोऽस्मान् जानन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजनयिकव्यवहारेषु सैनिका राजपुरुषाश्च स्वे स्वे कार्ये संलग्ना

स्वामी दयानन्द ने भी अपने स्वभावानुसार मन्त्रगत शब्दों के मुख्यार्थ को त्याग कर गौण अर्थ को ही स्वीकार करके व्याख्या की है। अतः वह भी श्रुति-सूत्र के विरुद्ध होने से त्याज्य ही है॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—प्रवास पर जाते समय (देशान्तर-ग्रामान्तर जाते समय) यजमान जिस गृह (घर) का स्मरण करता है और जिस घर के विषय में उसे अतिशय प्रेम रहता है, उन घरों (गृहों) को हम आमन्त्रित कर रहे हैं। वे गृह अर्थात्, वे गृहदेवताएँ हमें कृतज्ञ समझें। तात्पर्य यह है कि हम उनके प्रति कृतघ्न नहीं हैं, इस बात को गृहदेवताएँ स्मरण रखें॥ ४२॥

भाष्यसार—भाष्य का सार मन्त्रार्थ के पढ़ लेने से स्पष्ट हो रहा है।

भवन्ति न गृहस्थेषु सज्जन्ते, पक्षपातादिदोषोद्गमसम्भवात्। तेषामाह्वानं च न कुर्वन्ति, समेषामाह्वानासम्भवात्, केषाञ्चिदाह्वाने वैषम्यापातात्। वेदा लोकानवगतबोधनाय प्रवर्तन्ते न लोकसिद्धव्यवहारप्रवर्तनाय, तथा सति पिष्टपेषणापत्तेः। लोकायतपथे वेदप्रवर्तनमेवेह दूषणम्।

दयानन्दस्तु—'प्रवसन्नतिथिर्येषामध्येति येषु बहुः सौमनसोऽस्ति तान् गृहान् गृहस्थान् वयमतिथय उपह्वयामहे। ये सुहृदो गृहस्थास्ते जानतो नोऽस्मान् अतिथीन् जानन्तु' इति, तत्तु निरर्गलमेव, मन्त्रेऽतिथि-बोधकपदाभावात्। तस्माद् ब्राह्मणसूत्रसम्मतत्वात् सिद्धान्तव्याख्यानमेव युक्तम्॥ ४२॥

उप॑हूता इ॒ह गाव॒ उप॑हूता अ॒जाव॑यः। अथो॑ अन्न॑स्य की॒लाल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः। क्षेमा॑य वः॒ शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शं॒योः शं॒योः॥ ४३॥

त्र्यवसाना महापङ्क्तिः। यस्या अष्टार्णाः षट्पादाः सा पङ्क्तिः। पञ्चमो नवार्णस्तेनैकाधिका। इहास्माकं गृहेषु गावो गोत्वजातिविशिष्टा धेनवो बलीवर्दा अस्माभिरनुज्ञाताः सुखेन तिष्ठन्तु, तथा अजावयः अजात्वावित्व-जातिद्वयविशिष्टाः पशव उपहूताः सुखेन वर्तन्ताम्। अथो अपि च अन्नस्य कीलालो रसः अन्नसम्बन्धिबहुरसोऽस्म-दीयगृहेषूपहूतः समृद्धस्तिष्ठतु। 'क्षेमाय व इति प्रविशति' (का० श्रौ० ४।१२।२३)। हे गृहाः! क्षेमाय विद्यमान-धनादे रक्षणाय शान्त्यै सर्वारिष्टशमनाय वो युष्मान् प्रपद्ये प्रविशामि। शं सुखं कामयत इति शंयुः। 'इदंयुरिदं कामयमानः' (नि० ६।३१)। इतिवत्। तस्य शंयोः सुखं कामयमानस्य मम शिवं लौकिकं सुखं शग्ममामुष्मिकमित्युभयविधं बहुविधं वा सुखं भवत्विति शेषः। शिवं शग्मं द्वे अप्येते सुखस्य नामनी। शंयोरिति द्विरुक्तिरत्यादरार्था।

अध्यात्मपक्षे नोऽस्माकं गृहेषु शरीरेषु उपहूता गाव इन्द्रियाणि वेदवाचश्चोपहूताः। अजा प्रकृतिः, अवयो महदाद्याश्च सान्निध्यमुपगताः। अथो अन्नस्य भोग्यजातस्य कीलालो रस उपहूतः। अहं च क्षेत्रज्ञो वो युष्मान् तादृग्प्रसादिसम्पन्नान् गृहान् प्रपद्ये प्राप्नोमि। किमर्थं शंयोः मोक्षलक्षणं परमानुरागात्मकं भक्तिरूपं सुखं कामयमानस्य मम शान्तये सर्वानर्थनिवृत्तिपूर्वकपरमोपशमलक्षणस्य मोक्षस्य निरावरणभगवत्स्वरूपलक्षणस्य सुखस्य प्राप्तये क्षेमाय प्राप्तस्य तादृशस्य सुखस्य तदुपकरणस्य च रक्षणाय शंयोः शं सुखं मोक्षं वा कामयमानस्य मम शिवं मोक्षरूपं शग्मं भगवत्प्रापकं भक्तिसुखं च भूयादिति शेषः। शं सुखं गम्यतेऽनेनेति शग्मम्।

अध्यात्मपक्ष में—भगवान् के चारों धामों तथा अन्यान्य भगवत्सम्बन्धी धामों की यात्रा श्रद्धा-भक्ति-भगवत्स्मरण के साथ जो भक्त जन किया करते हैं, उनपर भगवान् अनुग्रह करते हैं। भगवान् उन भक्तों को कृतघ्न नहीं समझते, अपितु कृतज्ञ समझते हैं।

किसी व्यक्ति ने राजनयिक व्यवहारपरक व्याख्या की है। वेद को उसने अनुवादक ही समझ लिया है, जो वेद के स्वरूप के विरुद्ध है। अतः ऐसी व्याख्या को त्याज्य ही समझना चाहिये।

स्वामी दयानन्द ने भी निरर्गल व्याख्या की है, क्योंकि मन्त्र में उन अर्थों के बोधक शब्द ही नहीं हैं और श्रुति सूत्र के विरुद्ध व्याख्या है। अतः उसे उपेक्षणीय ही समझना होगा॥ ४२॥

मन्त्रार्थ—हमारी अनुज्ञा से इस घर में धेनु, बैल, अजा, मेष सुखपूर्वक रहें। उसी प्रकार अन्न का विशेष रस हमारे घर में हमारी अनुज्ञा से समृद्ध रहे। हे गृहों! मैं तुमको प्राप्त हो रहा हूँ (मैं तुममें प्रवेश कर रहा हूँ)। तुम हमारे द्रव्य की रक्षा करो और हमारे समस्त अनिष्टों की शान्ति करो। मैं महान् सुख की कामना करता हूँ, अतः मुझे

अपरस्तु—'राष्ट्रे गृहेषु च पयस्विन्यो गावः, अजाश्चावयश्च प्राणधारका उत्तमान्नादिपदार्थाः प्राप्नुवन्तु। हे गृहस्थाः! युष्माकं कुशलक्षेमाय विघ्नानां विघ्नकारिणां च शमनाय सुखप्रदानाय युष्मान् प्राप्नुयाम' इति, तदप्यविचारचारु, उपहूता इत्यस्य प्राप्त्यर्थताभावात्। तथा सकृदुच्चरितस्य 'वः' इत्यस्य 'युष्मान्' 'युष्माकम्' इति द्व्यर्थतायाः 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' इति सिद्धान्तविरोधात्, आवृत्तौ च प्रमाणाभावात्।

दयानन्दस्तु—'इहास्मिन् संसारे वो युष्माकं शान्त्यै नोऽस्माकं क्षेमाय गृहेषु गाव उपहूताः। अथोऽन्नस्य कीलाल उपहूतोऽस्त्येवं कुर्वन्नहं गृहस्थः शंयोः शिवं शर्म्मं च प्रपद्ये' इति, तदप्यसङ्गतम्, पौर्वापर्यविरोधात्। तथाहि—गृहा मा बिभीतेत्यत्र गृहपदेन गृहाश्रमं प्राप्ता मनुष्या उक्ताः। तेषामेव भयकम्पादिनिषेधः कृतः। इह तु येषामध्येतीति मन्त्रे येषां गृहस्थानामित्यर्थ उक्तः। पुनः कथमिहाकस्मात् 'गृहेषु' इति तृतीयमन्त्रे प्रासादेष्वित्यर्थः कृतः। अत्र मन्त्रव्याख्याने युष्माकमित्यनेन केषां ग्रहणमस्माकमित्यनेन च केषां ग्रहणमित्यस्पष्टमेव। किमर्थं युष्माकं शान्त्यै किमर्थं चास्माकं क्षेमायेत्यर्थः? एवं शंयोरित्यस्य कल्याणवतः साधनात् कर्मणो वा सुखवतो वा इत्यर्थे, अपरत्र शंयोः सुखाद् इत्यर्थे च भेदे किं बीजम्? 'कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः' (पा० सू० ५।२।१३८) इति विधीयमानयुप्रत्ययस्योभयत्र समानत्वात्। सिद्धान्ते तु त्रिष्वपि मन्त्रेषु गृहपदस्य गृहा एवार्थः। 'वः' इत्यस्य वो युष्मान् गृहान् प्रपद्य इत्येवार्थः, 'क्षेमाय व इति प्रविशति' (का० श्रौ० ४।१२।२२) इति कात्यायनसूत्रस्वारस्यात्। किमर्थं क्षेमाय विद्यमानस्य वसुनो रक्षणाय शान्त्यै मम सर्वारिष्टनिवृत्त्यै शंयोरित्यत्य सुखं कामयमानस्य मम शिवं शग्मम् अनेकप्रकारकं सुखमस्तु। द्विरुक्तिस्त्वादरार्था। 'इदंयुरिदं कामयमानः' (नि० ६।३१) इति प्रमाणादत्र युस्प्रत्ययस्य कामयमान इत्येवार्थः।

यत्त्वत्र कश्चित्—'एवमेतत्पदमेव दुर्गाचार्येण (ऋ० सं० १०।१५।४) इति निरुक्तोद्धृतमन्त्र-व्याख्यानानन्तरम् अर्थसम्भवाद् द्विधा विभज्य भाष्यकारेण निरुक्तम्' इति, तदप्यसत्, निरुक्तोद्धृतमन्त्रे शंयोरिति पदस्य सर्वोदात्तत्वात् पदद्वयमेव सम्भवति, कुतोऽत्र मन्त्रे एकपदत्वसम्भवः स्यादिति तत्तुच्छम्, पदद्वयसत्त्वे शंयोरिति पदस्येति त्वदुक्तेरेवाशुद्धत्वापातात्, 'शाचीन्' (बा० सं० २३।८) इत्यादिषु सर्वोदात्तत्वस्य दृष्टत्वात्। निरुक्तोद्धृतमन्त्रेऽप्येकपदत्वमेव प्रतीयते, प्रतीत्यभिप्रायेणैवैकपदत्वमालम्ब्यार्थ-विचारे तदुक्तेः सार्थक्यात्। स्कन्दस्वामिनापि तदेवोक्तम्—'शंयोरिति द्वैपदमनवगतम्, शमित्येकम-नवगतम्, शमनमित्यवगमः, योरिति द्वितीयम्। अन्यस्यापि यावनमिति'।......तथैव दुर्गाचार्योऽपि—'शंयोरित्यनवगतं पञ्चम्यन्तं वा षष्ठ्यन्तं वा सत्। न चैवं यजमानोऽर्थात्तस्माद् बृहस्पतिपुत्रादर्थमपेक्षते ममैते पितरः किञ्चिदर्थं विदध्युरिति। किं कारणम्? स्वत एव ते विधातुं समर्थाः। न च

ऐहिक और पारलौकिक उभयविध सुख की प्राप्ति हो। 'क्षेमाय वः' यह मन्त्र कहकर गृह में प्रवेश करे। उपस्थान मन्त्र यहाँ समाप्त हुए॥ ४३॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में—जीव कह रहा है कि इस शरीरात्मक गृह में मैं प्रवेश कर रहा हूं। इन्द्रिय, वाणी, प्रकृति, भोग्य रस आदि से सम्पन्न यह गृह है। मैं मोक्षरूप और परमानुरागात्मक भक्तिरूप सुख चाहता हूँ। अतः सर्वानर्थ-निवृत्तिपूर्वक परमोपशमात्मक मोक्ष की, निरावरण भगवत्स्वरूपात्मक सुख की प्राप्ति मुझे हो।

बृहस्पतिपुत्रस्य शंयोः किञ्चिदेभिः पितृभिर्विधीयेतेति। एवं पञ्चम्यर्थासंभवं षष्ठ्यर्थासंभवं च पश्यन् भाष्यकारः शंयोरित्येकं पदं द्वितीयान्ते द्वे पदे चकार शमिति योरिति च। शमित्यस्य शमनमित्यर्थं निराह, योरित्यस्य यावनमिति। एवं द्वितीयान्तेन विपरिणामं कृत्वार्थं निराह। कस्य शमनं कस्य वा यावनमिति पुनः पर्यनुयोगे रोगाणां भयानां चेत्यध्याजहार भाष्यकारः। शान्तरोगाश्च प्रहीणभयाश्च यथा स्याम तथाकुरुतेत्यभिप्रायः। (निरु० ४।२१)। सम्पूर्णो मन्त्रश्चेत्थम्—

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात॥ (ऋ० सं० १०।१५।४)

'हे बर्हिषदः पितरः! 'ये वै यज्वानस्ते पितरो बर्हिषदः' (तै० ब्रा० १।६।९।६) इति श्रुतेः। अर्वाग् अर्वाचीनानामस्माकम् ऊती रक्षा कर्तव्येति शेषः। वो युष्मभ्यं इमा हव्या एतानि हवींषि चकृम। तानि जुषध्वम्। ते यूयं शन्तमेन सुखतमेन अवसा रक्षणेन आगत आभिमुख्येनास्मान् प्राप्नुत। अथ नोऽस्मभ्यं शं सुखं योः दुःखवियोगं अरपः पापरहितं दधात दत्त। एवमेतत् पदमेकमप्यर्थासम्भवाद् द्विधा विभज्य भाष्यकारेण निरुक्तम् इयमप्यर्थासम्भवे सति निर्वचनप्राप्तिरस्तीत्यर्थस्य ख्यापनाय। टिप्पणीकारैस्त्वत्रानेकेषां पुस्तकानां विभिन्नान् पाठान् विमृश्योक्तम्। मूलपाठोऽपि दुर्बोधः, अशुद्धत्वाद् गलितशब्दत्वाच्च।

'प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत। स प्रजा असृजत। ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुस्तानीमानि वयाᳬसि। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं द्विपाद्वा अयं पुरुषस्तस्माद् द्विपादो वयाᳬसि' (श० २।५।१।१) इत्यादिना चातुर्मास्यविधित्सया वैश्वदेवस्य प्रजासृष्टि-हेतुत्वमुक्तम्। प्रजापतिना तपसा प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुस्तानीमानि वयांसि पक्षिरूपेणाभवन्। पुरुषो मनुष्यः सृष्टानां प्रजानां मध्ये प्रजापतेर्नेदिष्ठं कार्यं स च द्विपात्। तत्परिणामत्वात् पक्षिणोऽपि पादद्वयोपेताः। पुनः प्रजापतिना प्रजा सृष्टास्ता अपि पराबभूवुः। तदिदं क्षुद्रं सरीसृपं पुनश्च तृतीयायां सृष्टौ सृष्टाः प्रजाः पराभूताः सर्पा अभवन्। प्रजापतिस्त्रिवारं सृष्टानां प्रजानां पराभवकारणं किमिति विचार्य उत्पन्नानां प्रजानामशनराहित्यं पराभवकारणमिति ददर्श। ततः स्वसम्बन्धिनोः स्तनयोः पय आप्याययाञ्चक्रे। एवमशनं परिकल्प्य ततः प्रजापतेः सृष्टाः प्रजाः पयसा पूर्णौ स्तनावभिपद्य जीवनवत्योऽभवन्। अनन्तरं प्रजाः सम्यगुत्पन्नाः, न पराबभूवुः। 'तद्वै पय एवान्नम्' (श० २।५।१।६) इत्यादिना इतरान्नसृष्टेः प्राक् पयस एवान्नत्वमुक्तम्। इदानीं स्त्रियाः स्तनौ पयसा पूरितौ भवतः। प्रजारक्षणाय गवादिपशूनामूधः पयसा पूर्णं भवति। उत्पन्नाः प्रजाः स्तनौ प्राप्य प्रवर्धन्ते। अनन्तरं 'स यः प्रजाकाम एतेन हविषा यजत आत्मानमेवैतद्यज्ञं विधत्ते प्रजापतिं भूतम्' (श० २।५।१।७) इति वैश्वदेवाख्यस्य चातुर्मास्यस्य प्रथमपर्वणो विधानम्।

अयमभिप्रायः—चतुर्षु मासेष्वनुष्ठेयत्वाच्चातुर्मास्यानीति कर्मणां संज्ञा। तत्र चत्वारि पर्वाणि—१. वैश्वदेवम्, २. वरुणप्रघासाः, ३. साकमेधा, ४. शुनासीरीयम्। तत्र प्रथमं पर्व फाल्गुन्यां पूर्णिमायामनुष्ठेयम्। ततश्चतुर्षु मासेषु गतेष्वाषाढ्यां पूर्णिमायां द्वितीयं पर्व। ततश्चतुर्षु मासेषु गतेषु कार्तिक्यां पूर्णिमायां तृतीयं पर्व। ततः फाल्गुनशुक्लप्रतिपदि चतुर्थं पर्वानुष्ठीयते। एवं पुनः पुनरावर्तनम्। तत्र प्रथमे

स्वामी दयानन्द तथा अन्य किसी व्याख्याकार ने भी जो व्याख्या की है, वह स्व-कपोलकल्पित होने से निराधार है, श्रुति-सूत्र के विरुद्ध है। अतः उसे अग्राह्य ही कहना चाहिये॥ ४३॥

पर्वण्याग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः सारस्वतश्चरुः पौष्णः पैष्टश्चरुः केवलेभ्यो मरुद्भ्यः स्वतवद्गुणविशिष्टेभ्यो वा सप्तकपालः पुरोडाशो वैश्वदेवी पयस्या द्यावापृथिवीय एककपाल इत्यष्टौ हवींषि। वरुणप्रघासाख्यं द्वितीयं पर्व आषाढ्यां प्रारभ्यते। वैश्वदेवे यानि हवींषि तेष्वादितः पञ्चहवींष्यत्राप्यनुष्ठेयानि। ततोऽधिकानि चत्वारि—ऐन्द्राग्नोऽष्टाकपालः, वारुण्यामिक्षा, मारुत्यामिक्षा, काय एककपाल इति। 'वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः। प्रजाः ससृजे ता अस्य प्रजाः सृष्टा वरुणस्य यवान् जक्षुर्वरुण्यो ह वा अग्रे यवस्तद् यन्त्वेव वरुणस्य यवान् प्रादंस्तस्माद्वरुणप्रघासा नाम' (श० २।५।२।१)। 'ता वरुणो जग्राह। ता वरुणगृहीताः परिदीर्णा अनत्यश्च प्राणत्यश्च शिश्यिरे च निषेदुश्च प्राणोदानौ हैवाभ्यो नापचक्रमतुरथान्याः सर्वा देवता अपचक्रमुस्तयोर्हैवास्य हेतोः प्रजा न पराबभूवुः'। (श० २।५।२।२)। 'ता एतेन हविषा प्रजापतिरभिषिज्यत्।''''ता अस्यानमीवा अकिल्बिषाः प्रजाः प्राजायन्त। (श० २।५।२।३)। पुरा वैश्वदेवेन प्रजापतिना सृष्टाः प्रजा वरुणसम्बन्धिनो यवान् भक्षयामासुः। सृष्टिसमये सृज्यमानो यवो वरुणसम्बन्धी एवासीत्। अतो यवो वरुणस्य स्वभूतः। तत्प्रसङ्गाद्वरुणप्रघासो नाम निर्वृत्तम्। एवं वरुणसम्बन्धियवप्रघासनात् (प्रभक्षणात्) पाशगृहीतानां पाशविमोक्षणाय क्रियमाणा यागा अप्युपचारेण वरुणप्रघासाख्या जाताः। वरुणसम्बन्धियवभक्षणेन वरुणस्ता जग्राह। ते परिदीर्णाः परितो दीर्यमाणावयवा अनत्यश्चेष्टमाना हस्तपादादिविधूननं कुर्वाणाः प्राणत्यः श्वासोच्छ्वासं कुर्वत्यः शिश्यिरे निषेदुश्च शयनासनाभ्यामेव कालं नीतवत्यः, व्यापारान्तराक्षमा बभूवुः। केवलं प्राणोदानौ नापचक्रमतुः। अन्या वाक्-चक्षुरादीन्द्रियदेवा अग्न्यादयोऽपचक्रमुः। प्राणापानयोरनपक्रमणान्न विनष्टाः। वरुणपाशजनितामुक्तावस्थां विलोक्य प्रजापतिर् एतेन वरुणप्रघासाख्येन हविषा ताः प्रजा अभिषज्यद् अचिकित्सत्। तेन प्रजा वरुणपाशात् प्रामुञ्चत। ततः प्रजापतेः प्रजा अनमीवा रोगरहिता अकिल्विषा रोगनिदानभूतपापरहिताश्चाभवन्। इत्यादिभिश्चातुर्मास्यविधानम्।

तत्र वेदिद्वयम्—दक्षिणा वेदिरुत्तरा वेदिश्च। ऋत्विजो यथा वैश्वदेवपर्वणि। एकः प्रतिप्रस्थाताऽधिकः। तत्र दक्षिणोत्तरयोर्द्वयोर्वेद्योर्हविःष्वासादितेषु प्रतिप्रस्थाता पत्नीमुदानयंस्तदीयजारं पृच्छेत् केन चरसीति। सापि तं ब्रूयात्। नन्वेवं जारसम्बन्धवत्या अपि पत्न्या यागाधिकारे सिद्धे व्यभिचारप्रश्रयेण ब्राह्मणत्वादिजाति-निर्णयोऽपि दुर्लभो भविष्यति, तत एव 'वयं ब्राह्मणा वा अब्राह्मणा वा' इति ब्राह्मण्यादिसन्देहवचनमपि स्वार्थपर्यवसाय्येव स्यात्, इष्टापत्तौ च ज्योतिष्टोमादिकर्मलोपप्रसङ्गः, वर्णाश्रमाधिकारिविशेषकर्तृकत्वादिति चेन्न, व्यभिचारनिषेधकश्रुतिस्मृतिवचनानुरोधेन श्रौतस्मार्तलक्षणानां कर्मणां वर्णाश्रममूलकत्वेन ब्राह्मणादिसन्देह-वचनस्य प्रवरानुमन्त्रणविधेरर्थवादत्वेन स्वार्थे तात्पर्याभावेन व्यभिचाराभावस्यैव स्वाभाविकत्वेनास्य वचनस्य मानसव्यभिचारपरत्वेन दोषाभावात्, प्रश्नस्य तादृशव्यभिचारजनितपापनिवृत्त्यर्थत्वेनोपपत्तेः। तदाह—'स पत्नीमुदानेष्यन् पृच्छति केन चरसीति वरुण्यं वा एतत्स्वीकरोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरत्यथो नेन्मेऽन्तःशल्या जुहवदिति तस्मात्पृच्छति निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति सत्य꣡ꣳ हि भवति तस्माद्वेव पृच्छति सा यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो हास्यै तदहित꣡ꣳ स्यात्' (श० २।५।२।२०)। करम्भपात्राणां होमस्य पत्नीकर्तृकत्वेन तच्छुद्ध्यै प्रश्नः—हे पत्नि! केन जारेण चरसि। पुरुषान्तरसङ्गतेर्दोषेण वरुणपाशसम्बन्धो भवति। यदन्यस्य सती अन्येन सह वर्तते एषा पत्नी अन्तःशल्या पापरूपेण शल्येन युक्ता सती नैव मदीयेऽग्नौ जुहुयात्। तस्मात् पृच्छति सा यदि पृष्टमर्थं न प्रब्रूयात् तदा तस्या ज्ञातिभ्योऽनिष्टं भवति। तस्माद् विद्यमानं वृत्तान्तमाचक्षीत। असौ मे जार इति निर्दिशेत्। ततः प्रतिप्रस्थाता प्रघासिन इति मन्त्रं वाचयति। कण्वोऽपि—'केन चरसीति वरुण्यं ह वा एतत्स्वीकरोति यदन्यस्य सत्यन्येन' इति, वरुण्यमपकृत्यत्वेन निवारणीयमित्यर्थः। तित्तिरिरप्याह—'पत्नीं वाचयति मेध्यामेवैनां करोति, अथो तप एवैनामुपनयति यज्जार꣡ꣳ सन्तं न ब्रूयात् प्रियं ज्ञाति꣡ꣳ

रुन्ध्यात्। असौ मे जार इति निर्दिशेत्। निर्दिश्यैवैनं वरुणपाशेन ग्राहयतीति' (तै०ब्रा० १।६।५।२)। आपस्तम्बोऽपि दर्शयति 'प्रतिप्रस्थाता पत्नीं कति ते जाराः ? यानाचष्टे तान् वरुणो गृह्णात्विति निर्दिशति। कात्यायनोऽपि -- 'आख्याते प्रघासिन इत्येनां वाचयति नयन्निति' (का० श्रौ० ५ ५।९)। जारे पत्न्या कथिते सत्येनां पत्नीं नयन् प्रतिप्रस्थाता प्रघासिन इति मन्त्रं वाचयेत्। यथा प्रवरानुमन्त्रणमन्त्रैः सन्दिग्धब्राह्मण्यस्यापि ब्राह्मण्यं जायते। तत्रैव कस्यचिदेवं मतिः स्यादहं तु ब्राह्मण एवेति किमर्थं प्रवरानुमन्त्रणमन्त्रमाश्रयेयेति, तदर्थमेवार्थवादः -'ब्राह्मणा वा अब्राह्मणा वा' इति, मातुश्चारित्र्ये सन्देहसम्भवादवश्यमेव तदाश्रयणं युक्तम्, तथैव मानसव्यभिचारजनितपातकनिराकरणाय प्रश्नोत्तरोपयोगः। 'संस्तुतानाचष्टे, तृणानि वोद्गृह्णाति प्रतिसंस्तुतम्' (का० श्रौ० ५।५।६-७)। अर्थाद् यदि लज्जावशान्न कथयेत्तदा प्रतिजारं तृणानि उद्गृह्णाति, 'अनाख्यातमहितं ज्ञातिभ्य इति श्रुतेः' (का० श्रौ० ५।५।८) इति सूत्रात्। 'यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो ह्यस्यै तदहितꣳ स्यात्' (श० २।५।२।२०) इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

प्र॒घा॒सिनो॑ हवामहे म॒रुत॑श्च रि॒शाद॑सः। क॒र॒म्भेण॑ स॒जोष॑सः ॥ ४४ ॥

मारुती गायत्री। वयं मरुतश्चकारात् तत्परिचारकांश्च हवामहे। कथंभूतान् ? प्रघासिनः प्रकर्षेण घस्यते भक्ष्यत इति प्रघासो हविर्विशेषः, सोऽस्त्येषां ते प्रघासिनः, तान् एतन्नामकान् देवान्, शुक्रज्योतिरित्यादयः सप्तसप्तका मारुतगणाः, तत्र स्वतवांश्च प्रघासी चेति पठ्यते (१७।८५), प्रघास्युपलक्षितान् मरुत आह्वयामः। पुनः कीदृशान् ? रिशादसः रिषतिर्हिंसार्थः, रिशो वैरिकृतां हिंसां दस्यन्ति उपक्षयन्तीति रिशादसः। यद्वा रिशन्ति हिंसन्तीति रिशा हिंसकाः, तान् दस्यन्ति क्षपयन्तीति रिशादसः। यद्वा रिशान् हिंसकान् दस्यन्तीति रिशादसः, रिशतोऽस्यन्तीति क्षिपन्तीति रिशादसः। अस्यतेर्विच्। करम्भेण सजोषसः समानप्रीतयः, तांस्तथाविधान् मरुतो हवामहे। ये वैरिकृतां हिंसां क्षपयन्ति, हिंसकान् वा क्षपयन्ति, रिशतो हिंसां कुर्वतः क्षिपन्ति, ये च यवमयहविर्विशेषात्मककरम्भेण सप्रीतयः, तान् प्रघास्युपलक्षितान् सपरिचारकान् मरुद्गणान् हवामहे। मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् करम्भपूर्णत्वात् करम्भपात्रेषु करम्भपदप्रयोगः।

अध्यात्मपक्षे तु—प्रघासिनः प्रकर्षेण घस्यते भक्ष्यत इति प्रघासो हविः, सोऽस्त्येषामिति प्रघासिनो मरुतो मरुद्विशेषाः प्राणास्तान् हवामहे। कीदृशान् ? रिशादसः रिशतो हिंसकान् दस्यन्ति उपक्षियन्तीति रिशादसस्तान्। करम्भेण सजोषसः करम्भः पूर्वोक्तभृष्टयवमयचरुविशेषपूर्णः पात्रविशेषः, तेन सजोषसः समानप्रीतयः करम्भोपलक्षितान्नविशेषेण समानप्रीतयः। छान्दोग्यबृहदारण्यकादिषु प्राणोपासनं विहितम्, प्राणस्य न किञ्चनान्नमित्यादिना तस्यैव सर्वात्तृत्ववर्णनात्।

मन्त्रार्थ—हम मरुद्गणों को बुलाते हैं। वे मरुद् देव 'प्रघासी' नाम के हैं, अर्थात् 'प्रघासी' संज्ञक हविर्भाग विशेष का भक्षण किया करते हैं। इन मरुद्गणों की 'शुक्रज्योति' आदि संज्ञा भी है और वे हिंसा करने वालों के नाशक हैं। उसी प्रकार उन्हें 'करम्भ' संज्ञक यवमय हविर्द्रव्य रुचिकर रहता है। चातुर्मास्येष्टि में प्रतिप्रस्थाता नाम का ऋत्विग् यजमान पत्नी के मुख से 'प्रघासिनः' मन्त्र को कहलावे ॥ ४४ ॥

भाष्यसार—ये चातुर्मास्य याग के मन्त्र 'प्रजापति' के द्वारा दृष्ट हैं। इस चातुर्मास्य याग में चार पर्व होते हैं। वे चार पर्व—वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय—इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यह मन्त्र द्वितीय पर्व से सम्बद्ध है।

अध्यात्मपक्ष में—इस मन्त्र के द्वारा प्राणोपासना बताई गई है।

कश्चित्तु—'उत्तमान्नभोजिनो हिंसकविनाशकान् साधुकर्मकृतप्रीतिमतः शूरान् स्वगृहे निमन्त्रयामः' इति, तत्तु प्रघास-करम्भ-मदादिशब्दानां वैदिकद्रव्यदेवतासम्बन्धाज्ञानविजृम्भितमेव। एतद्रीत्या वैदिकदेवतानां स्थाने राजकर्मचारिणः सैनिका एवाहूयन्ते पूज्यन्ते च।

शतपथे च—'तां वाचयति। प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः। करम्भेण सजोषस इति यथा पुरोऽनुवाक्यैवमेषैतयैवैनानेतेभ्यः पात्रेभ्यो ह्वयति' (श० २।५।२।२१)। तां वाचयतीति वाचनं विधत्ते। आशीर्वाचनीयो मन्त्रार्थस्तूक्त एव। एतन्मन्त्रं पुरोऽनुवाक्यासादृश्येन स्तौति—यथेति। पुरोऽनुवाक्या हि यक्ष्यमाणदेवताह्वानार्था। एवमेव एषा प्रघासिन इति ऋक्। एतया एव एनान् मरुत एतेभ्यः पात्रेभ्यः करम्भपात्रेभ्यो ह्वयति, होष्यमाणं करम्भपात्रलक्षणं हविर्भोक्तुमाह्वयतीत्यर्थः। करम्भपात्रस्वरूपमुच्यते—'अथ पूर्वेद्युः। अन्वाहार्यपचनेऽतुषानिव यवान् कृत्वा तानीषदिवोपतप्य तेषां करम्भपात्राणि कुर्वन्ति यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि' (श० २।५।२।१४)। यस्मिन् दिवसे वरुणप्रघासयागो भवति, ततः पूर्वेद्युर् अतुषान् तुषरहितान् यवान् कृत्वा तैः पात्राणि सम्पूर्य तानत्यल्पमिवोपतप्य श्रपयित्वोदकेनालोडय तैः करम्भपात्राणि, भृष्टयवचूर्णाः करम्भाः, तन्मयानि पात्राणि करम्भपात्राणि, अध्वर्युयजमानादयः कुर्वन्ति। कियन्ति तानीत्यपेक्षायां यावत्संख्याका यजमानस्य पुत्रपौत्रादिरूपा ज्ञातयो भवेयुस्तावन्ति जनिष्यमाणापत्यार्थमेकेनाधिकानि कार्याणि।

तदुक्तं शतपथे—'तानि वै प्रतिपूरुषम्। यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति' (श० २।५।२।२२) इत्यादिभिः। यजमानस्य याः प्रजाः प्रजाताः, ताः प्रतिपुरुषं प्रत्येकम् एकैकेन पात्रेण वरुणपाशात् प्रमुञ्चति। जनिष्यमाणानां प्रजानां वरुणपाशविमोचनार्थमेकमतिरिक्तं कर्तव्यमित्युक्तम्। 'पात्राणि भवन्ति। पात्रेषु ह्यशनमश्यते यवमयानि भवन्ति। यवान् हि जक्षुषीर्वरुणो गृह्णात् शूर्पेण जुहोति शूर्पेण ह्यशनं क्रियते पत्नी जुहोति मिथुनादेवैतद् वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति' (श० २।५।२।२३)। पुरोडाशादिरूपतां विहाय पात्ररूपेण निर्माणमुपपाद्य तर्हि यस्मात् पात्रेषु कांस्यादिनिर्मितेष्वशनमन्नमश्यते, अतो मरुतां पयस्यारूपस्यान्नस्य भोजनीयपात्ररूपेणैवैतानि निर्मातव्यानि, तानि च यवमयानि निर्मातव्यानि। तत्प्रशंसति— यवमयानीति। जक्षुषीः भक्षितवतीः प्रजाः वरुणोऽगृह्णात्। तस्माद्यवमयान्येव तानि स्युः। तेषां होमं विधत्ते—शूर्पेण जुहोतीति। यतः शूर्पेण तुषापाकरणद्वारा अन्नं क्रियते, अतः शूर्पहवनं प्रशस्तम्। पत्नी जुहोतीति कर्तृविधिः। स्त्रिया अपि कर्तृत्वेन होमेऽन्वयाद् मिथुनं सम्पद्यते। तस्माद् यजमानपत्नीरूपाद् मिथुनादेव वरुणपाशात् प्रमुक्तिः।

'पुरा यज्ञात् पुराहुतिभ्यो जुहोति। अहुतादो वै विशो विशो वै मरुतः' (श० २।५।२।२४) इत्यादिना स्रुवाघारहोमादेः करम्भपात्रहोमस्य पूर्वभावित्वं विहितम्। यज्ञो वषट्कारप्रदानो यजतिचोदित आग्नेयः। आहुतयः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतिचोदिताः। यतोऽहुतं होमसंस्काररहितम् अदन्ति तस्मादहुतादः। मरुतां वैश्यजातित्वेन अहुतादानधर्मवत्त्वात् सर्वहोमात्पूर्वं तेभ्यो हविःप्रदानं युक्तम्। यदा प्रजापतेः प्रजा वरुणगृहीताः परिदीर्णा रोगगृहीतास्तदा तासां प्रजानां पाप्मानं मरुतो विमेथिरे विलोपयन्ति स्म। तथैव यजमानस्य प्रजानां वरुणगृहीतानां पाप्मानं पाशविमोचनाद् मरुतो विमथ्नन्ति। तस्माद् यज्ञाद् आहुतिभ्यश्च पूर्वमेव करम्भपात्राणां होमेन मरुतां शमनं युक्तम्।

दयानन्दस्तु—'प्रघासिनः प्रघस्तुं शीलमेषां तान् मरुतोऽतिथीन् रिशादसः रिशान् दोषान् शत्रूंश्च हिंसन्ति तान् करम्भेण अविद्याहिंसनेन सजोषसः समानप्रीतिसेविन ऋत्विजो हवामहे' इत्याह, तच्च निर्मूलम्। करम्भेणे-

किसी व्याख्याता ने वैदिक देवताओं के बजाय राजकर्मचारी सैनिकों को बुलाना और पूजना बताया है।

त्यस्य विद्याहिंसनमर्थः कथं ग्रहीतुं शक्यः ? शतपथश्रुतिविरोधस्त्वस्मिन्नर्थे स्पष्ट एव, तस्य वरुणप्रघासे विनियुक्तत्वात् ।

यत्तु—'क् विष्णुः, अ ब्रह्मा, रः अग्निः, म् शिवः, भः पराशक्तिः, तेषां समूहः करम्भः' इति, तन्न, एकाक्षरकोशाधारेण ये मन्त्रास्तेषामेवानेन प्रकारेण बोधो युक्तः, नहि गवानयनादौ प्रयुक्तस्य गामानयेति वाक्यस्यैकाक्षरानुसारेणार्थापनं युक्तम्, अभिप्रायाननुरोधिनस्तात्पर्याविषयस्याप्यर्थस्य एकाक्षरकोषाद्यनुसारेण बोधसम्भवात् ॥ ४४ ॥

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥ ४५ ॥

'करम्भपात्राणि जुहोति शूर्पेण मूर्धनि कृत्वा दक्षिणेऽग्नौ प्रत्यङ्मुखी जायापती वा दक्षिणेनाहृत्य तीर्थेन पूर्वेण वेदिमपरेण वा यद् ग्राम इति' (का० श्रौ० ५।५।१०)। यवपिष्टनिर्मितानि सन्तानपरिमितान्येकाधिकानि करम्भपात्राणि पत्नी मस्तकस्योपरि शूर्पे निधाय जुहूस्थानापन्नेन शूर्पेण प्रत्यङ्मुखी दक्षिणाग्नौ जुहोतीत्येकः पक्षः। दक्षिणस्यां वेद्यां स्थित आहवनीयेऽग्नौ जुहोतीत्यभिप्रायः, नान्वाहार्यपचनरूपे दक्षिणाग्नौ। तौ च दक्षिणेन मार्गेण तानि पात्राण्याहृत्य वेदेः पूर्वदिशि पश्चिमदिशि वा स्थित्वा जुहुयातामित्यपरः पक्षः। मन्त्रार्थस्तु—ग्रामे निवसन्तो वयं यदेनः पापं ग्राम्योपद्रवरूपं चकृमा कृतवन्तः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। तथा अरण्ये निवसन्तो यदेनो मृगवृक्षाद्युपद्रवरूपं कृतवन्तः। यच्च सभायां महाजनतिरस्कारादिरूपम् एनः चकृम। यच्चेन्द्रिये जिह्वोपस्थरूपे प्रीतियुक्ता वयमेनः कलञ्जभक्षणपरस्त्रीगमनादिकं चकृम तथान्यत्रापि भृत्यस्वाम्यादौ यदेनस्ताडनावज्ञादिकं चकृम तदिदं सर्वं पापमवयजामहे विनाशयामः। अवपूर्वो यजिर्नाशार्थः। स्वाहेत्येतद्धविर्देवतायै पापविनाशिन्यै दत्तमस्तु। यत्र यत्र ग्रामादिष्ववस्थिताः सन्तस्तत्सम्बन्धि पापं कृतवन्तो वयं तत् सर्वं नाशयामः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर ! यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये मनसा वाचा कायेन वा एनो निषिद्धाचरणं भूतावमानलक्षणं भगवदवमानलक्षणं वा चकृम अकार्ष्म तत्सर्वं नाशयामः। त्वयि स्वसर्वस्वनिवेदनलक्षणेन स्वाहाकारेण सुष्ठुरीत्या सम्यग् आसमन्ताद् मनसा वाचा कायेन स्वसर्वस्वत्यागः स्वाहा। 'ओहाक् त्यागे'। प्रह्लादध्रुवादयो विष्णुं ब्रह्मविष्ण्वादयः शिवं सर्वे भक्ता वानरभल्लूकादयो रामम् अर्जुनादयः कृष्णं भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा स्वकर्तृकभगवदवज्ञादिलक्षणम् एनः क्षमापयन्तः प्रार्थयन्ते—यद् ग्राम इति।

स्वामी दयानन्द ने मन्त्रगत शब्दों का मन-माना अर्थ किया है, उस कारण श्रुतिविरोध उपस्थित होता है। अतः वह व्याख्या उपेक्षा के ही योग्य है ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—ग्राम में रहते हुए, वन में रहते हुए, सभा में बैठे हुए और इन्द्रियों की प्रीति के कारण जो पाप हमसे हुआ हो तथा भृत्यादि वर्गों की ताड़ना करके जो पाप हमसे हुआ हो, उन समस्त पापों का विनाश इस आहुति से हम कर रहे हैं। यह आहुति पाप का विनाश करने वाली देवता को प्राप्त हो। यजमानपत्नी अथवा यजमान और यजमानपत्नी दोनों ही एक सूर्प में यव के पिष्ट से निर्मित करम्भ पात्रों को रखकर दक्षिणाग्नि में 'यद्ग्रामे' इस मन्त्र से उनका हवन करे ॥ ४५ ॥

कश्चित्तु—'वयं यत्पापमयुक्तकार्यं निषिद्धाचरणं ग्रामेषु अरण्येषु सभायां चक्षुरादीन्द्रियसम्बन्धि निषिद्धाचरणं कुर्मः, तत्परित्यक्ष्याम इति सर्वोऽपि भावयेत्' इति, तदप्यविचाररमणीयम्, तादृशभावनाविधायक-पदाभावात्। भावनायाः प्रभावेण तदुत्तरभाविपापनिरोधसम्भवेऽपि पुराकृतानां विनाशः कथं स्यादित्य-समाधानात्। इदमपि वेदस्य लोकायतिकमतपरत्वापादनम्।

शतपथे तु—'सा वै दक्षिणेऽग्नौ जुहोति। यद्ग्रामे ""यन्मानुष इति तदाह यदिन्द्रिय इति यद्देवत्रेति तदाह यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहेति यत्किञ्च वयमेनश्चकृमेदं वयं तस्मात् सर्वस्मात् प्रमुच्यामह इत्येवैतदाह' (श० २ ५।२।२५)। दक्षिणेऽग्नौ दक्षिणस्यां वेद्यामवस्थिते आहवनीयेऽग्नौ जुहोति। पदशोऽनूद्य व्याचष्टे— यत्सभायामिति। सभाशब्दं व्याचष्टे—यत्सभायामिति। यन्मानुषसंचैरेनः क्रियत इति तदर्थः। इन्द्रियपदस्य देवपरत्वमाह—इन्द्रियसम्बन्धिनि देवसमूहे निमित्तभूते यदेनः क्रियत इति। मन्त्रांशस्यार्थः करम्भपात्रलक्षणेन हविषा अवयजामहे समर्पयामः। स्वाहेति निपातो दानार्थः। सुहुतमस्त्वित्यर्थः। अवयजनं नाम तस्मात् सर्वस्मात् प्रमोचनं विश्लेषः। ग्रामारण्यादिस्थानभेदेन बहुविधस्यैनसः संग्रहाय सर्वस्मादिति विशेषणम्।

दयानन्दस्तु—'स्वयं यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये यद्यत्रैनश्चकृमेदं तदवयजामहे दूरीकुर्मः। यद्यत्र ते स्वाहा सत्यवाचा पुण्यकर्म चकृम तत्सर्वं सङ्गच्छामहे' इति, तदपि न सङ्गतम्, शतपथादिसिद्ध-करम्भहोमे मन्त्रस्य विनियुक्तत्वात्।

यत्तु कश्चित्—'पत्नी मन्त्रं पठति' इत्याह, तन्निर्मूलम्, 'तां वाचयति' (श० २।५।२।२१) इति श्रुति-विरोधात्॥ ४५॥

'अथैन्द्रीं मरुत्वतीं जपति। यत्र वै प्रजापतेः प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमेथिरे तद्धेक्षाञ्चक्र इमे ह मे प्रजा न विमथ्नीरन्निति। स एतामैन्द्रीं मरुत्वतीमजपत्। क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः क्षत्रं वै विशो निषेद्धा निषिद्धा असन्निति तस्मादैन्द्री' (श० २।५।२।२६–२७)। पाशबद्धानां प्रजानां प्रमोकाय प्रजापतिरिमामैन्द्रीं मरुत्वतीमजपत्। तस्माद्यजमानोऽपि जपेत्—

भाष्यसार—भाष्यार्थ की स्पष्टता मन्त्रार्थ से हो जाती है।

अध्यात्मपक्ष में—भक्तजन अपने कायिक वाचिक-मानसिक सभी कर्मों का समर्पण भगवच्चरणारविन्द में किया करते हैं।

किसी व्याख्याकार ने इस मन्त्र को भावनापरक बताकर उससे पूर्वकृत पापों का विनाश करने की बात कही है। किन्तु मन्त्र में वैसी भावना का विधायक पद कोई है ही नहीं। भावना के प्रभाव से उत्तरभावी पापों का तो निरोध कदाचित् हो भी सकता है, तथापि उससे पूर्वकृत पापों का नाश कैसे हो सकेगा? अतः शतपथानुसारी व्याख्या यदि की होती, तभी वह प्रामाणिक होती, अन्यथा नहीं।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह प्रस्तुत प्रसङ्ग से कोई सम्बन्ध नहीं रख रही है। प्रस्तुत प्रसंग तो करम्भहोम का चल रहा है॥ ४५॥

मोषूणं इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः ।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥ ४६ ॥

ऐन्द्रमरुद्देवत्या विराट् । तत्र दशाक्षराश्चत्वारः पादाः । अत्र चतुर्थ एकाधिकः । 'मोषूण इति यजमानो जपति' (का० श्रौ० ५।५।११) । 'पृत्स्विति संग्रामवचनम्' (नि० २।१७।२१) । हे इन्द्र ! पृत्सु संग्रामेषु वर्तमानो देवैर्मरुद्भिस्त्वया सह सख्यं प्राप्तैर्मरुन्नामकैर्देवैः सहितस्त्वं मा विमन्थीर्मा हिंसीः । मोशब्दः प्रतिषेधार्थको निपातः पुरस्तादाख्यातस्य भवति । 'सु' इति सौष्ठववाची निषेधस्य सौष्ठवं वक्ति । मन्त्र आख्याताभावात् 'यत्र वै प्रजापतिः प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमेथिरे' इति श्रुत्युक्तमध्याह्रियते । निषेधबलाद्विनाशरूपनिषेध्यस्याक्षेपो वा । तथा चास्मद्विनाशलेशोऽपि मा भूदित्यर्थः । कः प्रसङ्गो विनाशस्येत्याशङ्क्य अस्ति हीत्यादिना प्रसङ्गोऽभिधीयते । हे शुष्मिन् ! बलवन् ते तव अवया अवेक्षारूपो व्यापारः, अस्ति हि स्म विद्योतत एव । अवपूर्वस्य अयतेर् अवया इति रूपम्, यजतेर्वा । अवयुतो यागोऽवयाः यागाभावः । यद्यप्येवं तत्कालोचितत्वाद्यजनाभावरूपोऽपराधोऽस्त्येवास्मासु, तथापि दयापारवश्यात् त्वमस्मान् मो सु किञ्चिदपि मा हिंसीः । मो निषेधार्थक एव । मीढुषः वृष्टिप्रदत्वेन सेक्तुः । हविष्मतो हविर्भागयोग्यस्य तव यव्या यवमयैः पिष्टैः करम्भपात्रैर्निष्पाद्या होमादिक्रिया महश्चित् पूजा । तस्य तव यथोक्तपूजोपेतस्य तव कृपालुत्वं युक्तमेव । किञ्च, गीः स्तुतिरूपा मदीया वाग् मरुतेन भवत्सखीन् वन्दते नमस्करोति । 'नमो मरुद्भ्यः' इत्येवमादिकायाः स्तुतेर्मरुद्विषयकनमस्कारेणापि तुष्टस्य तव कृपैव युक्तेति ।

उव्वटरीत्या तु क उपकारः, उपकृत्य हि प्रत्युपकारः प्रार्थ्यते, अस्ति हि यस्मात् स्मेत्यनर्थकः । हे शुष्मिन् ! अवयाः अवयुतो यागोऽवयाः । 'अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च' (पा० सू० ८।२।६७) । पृथक् त्वदीययागभागोऽस्ति । महश्चित् पूजा । यद्वा महतश्चिद्यस्य तव मीढुषो महतः सेक्तुः । मरुत्सम्पादितः पृथग् यागभागोऽस्ति । तस्मात्तवास्मासु कृपा युक्ता । यवमयैः करम्भपात्रैर्हविष्मतो हविर्योग्यस्य तव मरुतः स्वभूतान् गीः वाक् स्तोतॄणां स्तुतिरुपवन्दते स्तौति । 'मोषूण' अत्र 'सुञः' (पा० सू० ८।३।१०७) इति षत्वम् । 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः । 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा० सू० ८।४।२७) इति नस्य णत्वम् । स्मेत्यस्यापि 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (पा० सू० ८।४।३) इति षत्वम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर ! अत्र पृत्सु संसारसंघर्षमयेषु संग्रामेषु नोऽस्माकं विनाशः पराभवो मैव भूत् । कुत इति चेत् ? हे शुष्मिन् अतुलितबलशालिन् ! अस्ति हि देवैर्द्योतनवद्भिरिन्द्रियमनोबुद्धिरूपैरनुष्ठीयमानः अवयाः त्वदीयो यागभागः, त्वदाराधनबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानस्वधर्मलक्षणो मानसाराधनरूपो वा । तेनास्मासु तवानुग्रहोऽस्तु । स च तव महश्चित् पूजा । यद्वा यस्य महतो निरतिशयबृहतः, चिन्मीढुषोऽभीष्टवर्षणशीलस्य

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! इस संग्राम में देवताओं के साथ रहनेवाले तुम हमारा किञ्चिन्मात्र भी नाश मत करना। हे शक्तिसम्पन्न इन्द्र ! इस यज्ञ में तुम्हारा भाग पृथक् है। वृष्टि के द्वारा जलसिञ्चन करने वाले तथा हवि के योग्य समझे जानेवाले तुम्हारी यवमय करम्भपात्र से की जानेवाली हवनक्रिया पूजा ही है। उस पूजा का स्वीकार करके तुम हम पर अनुग्रह करो। हमारी स्तुतिरूपा वाणी मरुत् देवताओं को नमस्कार कर रही है। यजमान 'मोषूण' इस मन्त्र का जप करे ॥ ४६ ॥

भाष्यसार—भाष्य का अर्थ मन्त्रार्थ से ही स्पष्ट हो जाता है।

हविष्मतस्तव यव्यानि यवादिनिर्मितानि विविधानि हव्यानि वेदेषु प्रसिद्धानि तस्य तव मरुतः प्राणरूपान् गुणान् गीः मदीया स्तुतिरूपा गीः वेदरूपा वा गीः सरस्वती वन्दते। तावत्तव प्रसन्नः सन् संसारपराभवादस्मान् रक्ष जननमरणाविच्छेदलक्षणायाः संसृतेरुद्धृत्य स्वात्मनावस्थानं सम्पादयेति भावः।

कश्चित्तु—'हे राजन्! राष्ट्रियानस्मान् मा मारय प्रत्युत सम्यग् रक्ष। हे बलशालिन्! विनयिनः ससैनिकस्य तव पृथग् भागोऽस्ति। राज्ञा प्रजाभ्यो नियतो निजभागोऽन्नाद्यर्थं ग्राह्यः। तदर्थं प्रजोत्सादं न कुर्यात्। सुखप्रवर्षकाय राज्ञे अन्नं निर्मिताः पदार्था महान् सत्कारः। अन्नैरस्त्रादिभिश्च सम्पन्नानां प्रजागणानामधिकारिगणानां च वाणीयं वन्दते तस्येन्द्रस्य कृतेऽवश्यं पृथग्भागः' इति, तदयं महीधरादिभाष्येभ्योऽर्थं गृहीत्वा स्वाभिप्रायानुसारेण विकृतिं नीतवान्। अथ चास्मिन्नर्थे इन्द्रशब्दस्य राजा, देवशब्दस्य सैनिकाः, पृत्स्वित्यस्य राष्ट्रम्, अवया इत्यस्य राजभाग इत्यादयोऽर्थाः किंमूलका इत्यपि चिन्त्यम्।

शतपथे—'मोषूण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः। महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः॥' (श० २।५।२।२८)। तामृचं पठति मोषूण इति। अवपूर्वाद् यजेः 'अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च' (पा० सू० ८।२।६७) इति निपात्यत इति सायणः।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र! शूरवीर ईश्वर वा। कृपया त्वमत्र पृत्सु देवैर्विद्वद्भिः सहितान् नोऽस्मान् सुरक्ष मो हिन्धि। हे शुष्मिन् स्म ते महो गीर्होतान् यस्य मीढुषो हविष्मतो मरुतो वन्दते चिदेते त्वां सततं वन्दन्ते, अभिवाद्यानन्दयन्तीव। योऽवया यजमानोऽस्ति स त्वदाज्ञया यानि यव्या यव्यानि हवींष्यग्नौ जुहोति तानि सर्वान् प्राणिनः सुखयन्ति' इति, तन्न सङ्गतम्, मन्त्रे रक्षहिन्धिपदाभावात्। मह इति पदं गिरो विशेषणं महः पूर्वस्या गिरो वेदवाचकत्वे हेतुर्वक्तव्यः। 'एते त्वां सततं वन्दन्ते' इत्यपि निर्मूलम्। शतपथविरोधस्तु स्पष्ट एव। सिद्धान्ते तु श्रुत्युक्तस्यैव विमन्थीरित्यस्याध्याहारः। अध्याहारोऽपि यावता विनाऽर्थो नोपपद्यते तावत एव।

यत्तु—'हे इन्द्र अर्जुन! इन्द्रांशत्वात्, शुष्मिन् महापराक्रम नः सुहृदो मैव ग्लासीः। अस्माकं राज्यं कपटद्यूतेनापहृतं दुर्योधनादिभिः। न केवलमेतावदेव, इन्द्रप्रस्थान्निष्कासिता वयं वनं प्रेषिताश्च। द्वादशवर्षाणि वस्तव्यमरण्ये। त्रयोदशेऽज्ञातवासैः स्थातव्यम्। ज्ञाते पुनर्दण्डावृत्तिः। कीदृशोऽस्माकमनागतसमयो बोभविता। दुस्तरे दुःखसागरे निमग्नान्न कश्चिदुद्धर्तुं करं गृह्णाति। वामो विधाता। नियतिरपि अतितरां दुःसहदुःखदानदक्षा। न जाने कदा को विपत्पर्वतपातो नः शिरसि भवेत्, इत्यनुतापं मा कार्षीः। हि यस्मात् पृत्सु प्रवर्तिष्यमाणेषु संग्रामेषु देवैरिन्द्राग्न्यादिभिरनुगृह्यमाणस्य ते तव अवयाः, अवयजति पृथक्करोति इतरेभ्यो भिनत्ति कोऽपि विशेषः। अग्निना अक्षय्यमहेषुधिदिव्यरथगाण्डीवधनूंषि प्रदत्तानि। वनवासव्याजेन युधि प्रसादितात् त्रिशूलपाणेः पाशुपतास्त्रं तपसैव परितुष्टात् तातात् सस्नेहं समाहूतो भवान् पञ्चवर्षाणि तत्पादमूलमुपासीनः प्रहारप्रतिसंहारकृत्स्नविधिसंयुक्तदिव्यास्त्रपञ्चदशकैः, अन्येभ्योऽपि वरुणयमकुबेरेभ्यो दण्ड-पाशान्तर्धान-प्रक्षेपणास्त्रं च लप्स्यते। इन्द्रेणैव गुरुदक्षिणां याचितोऽधि समुद्रं युधि व्यापादितनिवातकवचाद्यसुरगणः

अध्यात्मपक्ष में—संसार के संघर्षमय संग्राम में हमारा पराभव न हो। हमारे द्वारा स्तुति, पूजा आदि के द्वारा जो अर्चन किया जा रहा है, वह सब तुम्हारा ही हो रहा है। उससे प्रसन्न होकर जन्म-मरणरूपी संसार से हमारा उद्धार कर दो और अपने में हमें मिला लो।

किसी अन्य व्याख्याकार ने महीधरादि के भाष्यों से ही अर्थग्रहण कर अपने अभिप्राय के अनुसार उसे विकृत कर दिया है। अतः वह उचित नहीं है।

स्वर्गं प्रत्यावर्त्य हिरण्यमयीं मालां देवदत्तं शङ्खं दुर्भेद्यकवचं हृष्टात् शक्रादवाप्स्यति । ततो लब्धविविधास्त्रं भवन्तं कोऽपि जेतुं न शक्ष्यते, का कथा कौरवाणां वराकाणाम् । तस्माद्वनवासोऽपि नाभिशापः, किन्तु वर एव । निखिलसपत्नविजयक्षमदिव्यशक्तिसम्पादनहेतुः दुर्दैवोपनतदुर्बुद्धिना दुर्योधनेन भवद्भ्यो वनवासं प्रयच्छता नूनं विहितः स्वपादे कुठाराघातः । उषित्वा वने न चेद्दिव्यानि देवानुग्रहसमासादितान्यस्त्राणि लभेथास्त्वं तदा कथं कथापथातीतपराक्रमान् भीष्मद्रोणकर्णप्रमुखान् जेतुं क्षमेथाः । अतो देवानुग्रहलक्षणो विशेषस्त्वयि वर्तते । अतोऽनागतकालोऽतीव शोभनः । शत्रुभिरपहृतं राज्यमनायासेन प्रत्यायास्यति'''''' । किञ्च, मीढुषोऽभीष्टवर्षकस्य देवगणस्य यव्या यौति कुटुम्बिभ्यो वियुनक्तीति यवस्तपश्चर्या, तत्र भवा तत्साध्या महादेवेन्द्रादिसाक्षात्कृतिः, महश्चित् महती प्रसक्ता एव । तस्य देववर्गस्य हविष्मतो मरुतं महैश्वर्यलक्षणं गीः वेदवाक् वन्दते' इति, तदेतत् सर्वं रोचकं दयानन्दादिव्याख्यानादतिसुन्दरमपि कल्पनाबहुलमस्वाभाविकमेव ॥ ४६ ॥

अक्र॑न् कर्म॑ कर्म॒कृत॑ः स॒ह वा॒चा म॑यो॒भुवा॑ ।
दे॒वेभ्य॒ः कर्म॑ कृ॒त्वास्तं॒ प्रेत॑ सचाभुवः ॥ ४७ ॥

आग्नेय्यनुष्टुप् । 'अक्रन् कर्मेत्येनां वाचयति प्रतिनयन्' (का० श्रौ० ५।५।१२) । पत्नी ऋत्विजो ब्रवीति —हे सचाभुवः परस्परं यजमानेन तत्पत्न्या वा सचा सहावस्थिता ऋत्विजः कर्मकृतो वरुणप्रघासाख्य-कर्मकारिण ऋत्विजः, मयोभुवा मयः सुखं भवति यया सा मयोभूस्तया सुखोत्पादयित्र्या वाचा मन्त्रस्तुतिरूपया सह कर्म वरुणप्रघासाख्यं अक्रन् :कृतवन्तः । देवेभ्यो देवार्थं कर्म कृत्वा वरुणप्रघासाख्यं कर्मानुष्ठाय अस्तं गृहं प्रेत गच्छत । मय इति सुखनाम । सचेति सहार्थमव्ययम् । अस्तमिति गृहनाम (निघ० ३।४।५) । सचाभुवः पत्न्या यजमानेन च सह वर्तमानाः । अयमेव मन्त्रार्थ इति तित्तिरिराह—'अक्रन् कर्म कर्मकृत इत्याह । देवानृणं निरवदाय अनृणा गृहानुपप्रेतेति । वा वैतदाह' (तै० ब्रा० १।६।५।५) देवानुद्दिश्य कर्तव्यो यज्ञ ऋणं तन्निरवदाय निःशेषेण परिहृत्येति सायणाचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—हे कर्मकृतः कर्माधिकारिणः ! यूयं मयोभुवा सुखप्रसवित्र्या मन्त्रस्तुतिलक्षणया वाचा सह कर्म श्रौतस्मार्तलक्षणम् अक्रन् कृतवन्तः । सचाभुवः सहभवनशीलाः परस्परं यजमानेन पत्न्या च कर्मसु सहावस्थिताः । देवेभ्यः पूजायां बहुवचनम्, देवाय परमेश्वराय तत्समर्पणबुद्ध्या कर्मानुष्ठाय तत्प्रसादेन तद्धामलक्षणमस्तं गृहं प्रेत प्रगच्छत । वागादयो वा सम्बोध्यन्ते, तेषामेव कर्मकर्तृत्वात् । वाचा मन्त्ररूपया मयोभुवा सुखयित्र्या देवेभ्यः कर्म अक्रन् कृतवन्तः । ते च शरीरे सचा सुहृद्भावेन वर्तमानाः कर्म कृत्वा अस्तं भगवद्धामलक्षणं प्रेत । यत्तु आत्मरूपं अस्तं यातेति तन्न, वागादीनां कैवल्यमोक्षेऽनन्वितत्वात् । ब्रह्मेन्द्रादयो भगवन्तं श्रीरामं श्रीकृष्णं वा वैकुण्ठं नेतुं प्रार्थयन्ते । बहुवचनमादरार्थम्, अवतारानेकत्वाभिप्रायेण वा ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह भी असंगत ही है । किसी अन्य व्याख्याकार ने पाण्डवपरक व्याख्या की है, वह यद्यपि रोचक है और दयानन्द की व्याख्या से कहीं सुन्दर है, तथापि कल्पना का बाहुल्य है, जो अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—वरुणप्रघास कर्म करनेवाले ऋत्विजों ने सुखकारक मन्त्रात्मक स्तुति के द्वारा उस कर्म को किया है । यजमान और यजमानपत्नी सहित हे ऋत्विजों ! तुम लोग देवताओं के निमित्त वरुणप्रघास कर्म का अनुष्ठान करके अपने घर जाओ । 'अक्रन् कर्म' इस मन्त्र को यजमान पत्नी से कहलावे ॥ ४७ ॥

हे भगवन्तः ! कर्म विश्वपालनलक्षणं कुर्वन्तीति कर्मकृतः, यद्वा दुष्टनिग्रह-साधुपरित्राण-धर्मसंस्थापनलक्षणं कर्म कुर्वन्तीति । देवेभ्यो देवानां हिताय अक्रन् कृतवन्तः । मयोभुवा सुखयित्र्या वाचा भक्ता आश्वासिता इति शेषः । देवेभ्यो द्योतनात्मकेभ्यो भक्तेभ्यो हिताय श्रवणाय वर्णनाय च दिव्यं कर्म कृत्वा अस्तं स्वभवनं सचाभुवा पार्षदैः भक्तैः प्रजाभिश्च सह वर्तन्त इति सचाभुवा भवन्तः स्वभक्तैः सार्धं वैकुण्ठं साकेतं गोलोकं वा प्रेत प्रगच्छत । साधारणस्य त्वेकस्यैव गतिर्भवति ।

दयानन्दस्तु—'ये मयोभुवा वाचा सह सचाभुवः कर्मकृतः कर्माक्रंस्त एतत्कर्म कृत्वा देवेभ्योऽस्तं सुखमयं गृहं प्रेत प्राप्नुवन्ति । पदार्थव्याख्याने कर्म 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा० सू० १।४।४९) कर्तुर्यदीप्सिततममभीष्ट-योग्यं चेष्टामयमुत्क्षेपणादिकर्म····वाचा वेदवाण्या स्वकीयया वा' इत्याह, तदेतत्सर्वं प्रकरणविरुद्धम् । वरुणप्रघास-सम्बन्धी मन्त्रोऽयम् । तस्मान्नोत्क्षेपणादिलक्षणं कर्म, किन्तु कर्मसामान्यमत्र गृहीतम् । वाक् चात्र प्रकृतिविहितमन्त्र-लक्षणा स्तुतिरेव ।

शतपथविरुद्धं चैतत् । तथाहि—'अथैनां वाचयति । अक्रन् कर्म कर्मकृत इत्यक्रन् हि कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवेति सह हि वाचाऽक्रन् देवेभ्यः कर्म कृत्वेति देवेभ्यो हि कर्म कृत्वाऽस्तं प्रेत सचाभुव इत्यन्यतो ह्योढया सह भवन्ति तस्मादाह सचाभुव इत्यस्तं प्रेतेति जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी तामेतत्प्राचीं यज्ञं प्रासीषदद् गृहा वा अस्तं गृहाः प्रतिष्ठा तद्गृहेष्वेवैनामेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति' (श० २।५।२।२९)। पत्न्या वाचनं विधत्ते—अथैनामिति । वाचनीयं मन्त्रं पदशोऽनूद्य व्याचष्टे—कर्म कुर्वन्तीति कर्मकृतः । ये यजमानस्या-मात्यरूपा ऋत्विजस्ते हीदानीं करम्भपात्रहोमरूपं कर्म अक्रन् अकार्षुः । द्वितीयपादस्यार्थः प्रसिद्ध इत्याह—सह हि मयोभुवो मयसः सुखस्य भावयित्र्या मन्त्ररूपया वाचा सह एतत् कर्म अक्रन् । परस्परसहयोगेन यज्ञकर्मकर्तारः ऋत्विजो यूयं वरुणप्रघासाख्यं करम्भपात्रहोमाख्यं कर्म देवार्थं कृत्वा अस्तं यजमानस्य गृहान् सचाभुवो यजमानपत्न्या सह वर्तमानाः प्रेत आगच्छत । सचाभुव इत्येतद् व्याचष्टे—इत्यन्यत इति । अन्यस्माद् देशात् पत्न्यासनलक्षणाद् ऊढया आहवनीयसमीपं प्रापितया पत्न्या सह खल्विदानीं वर्तन्ते, तस्मात् सचाभुव इत्येतद् यथार्थम् । जघनार्धो वा एतद्यज्ञस्य यत् पत्नी । एतत् एतर्हि प्राचीं प्राग्गच्छन्तीं पूर्वभागसम्बन्धिनीं यज्ञं प्रासीषदत् प्रापीपत् प्रतिप्रस्थाता । गृहा वा अस्तमिति । सर्वाणि वस्तून्यत्र क्षिप्यन्त इति अस्तम् । गृहा प्रतिष्ठा । एषु प्रतितिष्ठति । तस्मात्तत्र ये प्रतितिष्ठन्ति तत्प्रतिष्ठायामेव प्रतितिष्ठन्ति ।

अन्यस्तु—'कर्मकृतो वाचा परस्परसुखशान्तिप्रदानं कुर्वन्तः कर्म कुर्युः । हे कर्मचारिपुरुषाः ! विदुषां राज्ञां धनदातॄणां पूज्यपुरुषाणां वा कृते कार्याणि सेवां वा कृत्वा परस्परसाहाय्येन समर्थाः सुप्रसन्ना

भाष्यसार—'मय' शब्द 'सुख' की संज्ञा है । 'सच' सहार्थक अव्यय है । 'अस्तम्' शब्द 'गृह' वाचक है । देवों के उद्देश्य से किया गया यज्ञ 'देवऋण' का अपाकरण करता है ।

अध्यात्मपक्ष में—कर्म के अनुष्ठाताओं से कहा जा रहा है कि भगवत्समर्पण बुद्धि से कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे भगवत्प्रसाद प्राप्त कर तुम वैकुण्ठादि धाम को जा सको । वाणी को भी सम्बोधित किया गया है तथा ब्रह्मादि देवता भगवान् श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण से वैकुण्ठ ले चलने की प्रार्थना कर रहे हैं । इत्यादि अनेक अर्थ भाष्यकार ने किये हैं ।

स्वामी दयानन्द ने प्रकरण के विरुद्ध ही व्याख्या की है ।

गृहानागच्छत' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, 'मयोभुवा वाचा' इत्यंशस्य सुखयित्र्या वाचेत्यर्थः। परन्तु परस्परं सुखशान्तिप्रदानं कुर्वन्तः कर्म कुर्वन्त्विति कस्य पदस्यार्थः? सचेति सहार्थकम्। सचाभुव इत्यस्य सहभाविन इत्यर्थस्य सत्त्वेऽपि सामर्थ्यवान् भूत्वा प्रसन्ना गच्छत इत्ययमप्यर्थो निर्मूल एव ॥ ४७ ॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥ ४८ ॥

यज्ञदैवतं यजुः। 'मज्जयत्यवभृथेति' (का० श्रौ० ५।५।२९)। वरुणप्रघासकर्मान्ते तदङ्गभूतमवभृथाख्यं कर्म जलसमीपे क्रियते। तत्रानेन मन्त्रेण दम्पतीभ्यां स्नानं कार्यम्। अवाचीनानि पात्राणि भ्रियन्ते जलमध्ये क्रियन्ते यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽवभृथ इति सायणः। हे अवभृथ यज्ञ! त्वं निचुम्पुण नितरां मन्दं गच्छ। 'चुप मन्दायां गतौ' उणप्रत्ययो मुमागमश्च। निचेरुरसि नितरां चरतीत्येवं शीलोऽत्यन्तशीघ्रगमनशीलोऽसि तथाप्यत्र निचुम्पुणो नितरां मन्दगमनशीलो भव। यद्वा—हे निचुम्पुण इति सम्बोधनम्, नितरां मन्दं चोपति गच्छतीति निचुम्पुणस्तत्सम्बुद्धौ। यद्वा नीचैरुपांशु क्वणन्ति चलन्ति ऋत्विजोऽस्मिन्निति निचुम्पुणः, 'उपांशु अवभृथेष्ट्या चरन्ति' इति श्रुतेः। 'वीण-स्थूणत्रण-भ्रूण' इत्यादिना नीचैरित्युपपदात् क्वणतेः णक्प्रत्ययान्तो निपातः। धातोः पुंभाव उपपदस्य निचुम्भावश्च निपातितः। अवभृथोऽपि निचुम्पुण उच्यते। नीचैरस्मिन् क्वणन्ति नीचैर्दधतीति वा। 'अवभृथ निचुम्पुण इत्यपि निगमो भवति' (नि० ५।१८)। हे अवभृथदेवते वरुण! नीचक्वणनो भूत्वा गृहे गृहे यज्ञेऽवतिष्ठसे। मन्दगमनस्य किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते - देवैर्विषयावद्योतनस्वभावैरिन्द्रियैर्देवकृतं देवेषु हविःस्वामिषु कृतमेनः पापं तदवयासिषम् अस्मिन् जलेऽहमवनीतवानस्मि। तथा अमात्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिर्मर्त्यकृतं मर्त्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञारूपं यदेनोऽस्ति तदप्यहमवासिषमित्यनुवर्तते। इदमस्माभिः परित्यक्तमेनो यथा त्वां न प्राप्नोति तथा हे अवभृथ!

किसी अन्य व्यक्ति ने कर्मचारी पुरुषपरक व्याख्या की है, वह भी अविचारितरमणीय है। मन्त्रगत शब्दों के स्वकल्पित नवीन अर्थ कर दिये हैं, जो निर्मूल हैं। अतः ऐसी व्याख्या को उपेक्षणीय ही समझना चाहिये ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अवभृथ यज्ञ! **(इस यज्ञ में वरुणप्रघास कर्म के अन्त में यज्ञपात्रों को औंधा करके जल में डुबाया जाता है, इसलिये इसे अवभृथ कहते हैं। यह अवभृथ संज्ञक कर्म, वरुणप्रघास कर्म का अंगभूत है। इस यज्ञ के कर्म मन्द स्वर से ऋत्विजों के द्वारा किये जाते हैं, इसलिये इसे 'निचुम्पुण' कहते हैं। 'चुप् मन्दायां गतौ' धातु है। नितरां चोपति मन्दं गच्छति निचुम्पुणः।) यद्यपि तुम अत्यधिक वेगयुक्त गमन करते हो, तथापि अपनी गति को मन्द कर लेना, अर्थात् मन्दगतिवाले हो जाओ, क्योंकि हविर्भागों के स्वामी जो देवता हैं, उनके विषय में हमारी इन्द्रियों के द्वारा किये गये पापों को हम जल में डुबा रहे हैं। उसी तरह हमारी सहायता करनेवाले ऋत्विजों के द्वारा यज्ञदर्शनार्थ आये हुए लोगों का अपमान कर जो पाप किया है, उसे भी मैं जल में डुबा रहा हूँ। हमारे द्वारा त्यागा हुआ यह पाप तुम्हें व्याप्त न कर पाये, तदर्थ तुम मन्दगतिशील हो जाओ और हे अवभृथ यज्ञ! तुम्हारे प्रसाद से हमारा विरुद्ध फलदायी वध न हो, अर्थात् हमें विरुद्ध फल देनेवाला पाप न लगे। अवभृथ कर्म में 'अवभृथ०' इस मन्त्र से यजमान अपनी पत्नी सहित जल में स्नान करे ॥ ४८ ॥**

भाष्यसार—हे अवभृथाख्य यज्ञ! संसार-बन्धन से हमारी रक्षा करो।

मन्दं गच्छ। हे देव अवभृथाख्य यज्ञ! रिषो वधात् पाहि। रिषतेर्हिंसार्थस्य क्विबन्तस्य पञ्चम्यन्तम्। कथम्भूताद् रिषः? पुरुराव्णः पुरु बहु विरुद्धं फलं राति ददातीति पुरुरावा, तस्मात् पुरुराव्णः। 'रा दाने'। वधात् पाहि पालय। त्वप्रसादाद्विरुद्धफलदायिपापकर्मरूपो वधोऽस्माकं मा भूदित्यर्थः। यद्वा रुवन्ति शब्दं कुर्वन्ति प्राणिनो यस्मिन् संसार्यमाणाः स पुरुरावा संसारः, तस्मात् संसारबन्धनरूपाद् वधाद् बन्धनाद्वा अस्मान् पाहि रक्ष।

अध्यात्मपक्षे—हे निचुम्पुण समुद्र! 'समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते निचमनेन पूर्यते' (नि० ५।१८)। निचमनेन उदकेन लक्षणया। परमानन्दसमुद्र परमेश्वर! अवभृथ अनेकशताश्वमेधावभृथादपि प्रणतानां पावन! 'एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः। दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥' (म० भा० शा० ४७।९१) इति श्रीमन्महाभारतवचनात्। अवाचीनान् पतितान् बिभर्ति धारयति पोषयति चेत्यवभृथः पतितपावनः, तत्सम्बुद्धौ। त्वं बाललीलायां निचेरुर्नितरां चरणस्वभावश्चपलोऽपि निचुम्पुणो योगेश्वररूपेण नितरां मन्दगतिः निश्चलोऽसि, 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥' (कठो० २।३।१०) इति श्रुतेः। यद्वा सोपाधिकरूपेण निचेरुरसि, निरुपाधिकरूपेणाचलोऽसि, 'तदेजति तन्नैजति' (वा० सं० ४०।५) इति श्रुतेः। देवैर्ज्ञानेन्द्रियैः सह देवकृतमेनः पापम् अवायासिषं त्वदीयज्ञानामृतावगाहनेन कथामृताब्धिपरिवर्तेन मर्त्यैर्देवैः सह मर्त्यकृतं देहकृतमेनः पापमवायासिषम्। हे देव स्वप्रकाश जगदुद्धरणक्रीडापरायण! पुरुराव्णो रिष आत्महननलक्षणात् पातकाद् ब्रह्मात्मनिष्ठासम्पादनेन पाहि।

अपरस्तु—'हे अवभृथ! नीचैरुच्चैश्च भरणपोषणकारिन् हे मन्दगते! नीचैः स्वरेण सभ्यतापूर्वकवदनशील ज्ञानिपुरुष' इत्यादि। दयानन्दस्तु—'अवभृथ विद्याधर्मानुष्ठानेन शुद्ध निचुम्पुण धैर्येण शब्दविद्याध्यापक' इत्यादि। एतदुभयमपि व्याख्यानं कात्यायनसूत्रश्रुत्यादिविरुद्धमेव, तत्रास्य मन्त्रस्य अवभृथस्नाने विनियुक्तत्वात्।

तथाहि—'वरुणप्रघासैर्वै प्रजापतिः प्रजा वरुणपाशात् प्रामुञ्चत्ता अस्यानमीवा अकिल्बिषाः प्रजाः प्राजायन्तार्थैतैः साकमेधैरेतैर्वै देवा वृत्रमघ्नन्नेतैर्वेव व्यजयन्त। येयमेषां विजितिस्तां तथो एवैष एतैः पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यꣳ हन्ति। तथो एव विजयते। तस्माद्वा एष एतैश्चतुर्थे मासि यजते स वै द्व्यहमनूचीनाहं यजते' (श० २।५।३।१)। प्रजापतिर्वरुणप्रघासैः प्रजा वरुणपाशादमुञ्चत् ताश्चानमीवा अकिल्विषाश्च प्राजायन्त। एतैर्विधित्सितैः साकमेधैः प्रजापतिः प्रजा विजितपापा अकरोत्। देवाः साकमेधैर्वृत्रमघ्नन्। एतैरेव व्यजयन्। एषां देवानां येयं वृत्रहननकर्मणा विजितिः प्रसिद्धा, तां विजितिमेतैरेवाप्नुवन्। एष यजमान एतैरेव पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति तथो एव विजयते। तस्मादेतैश्चतुर्थे मासि यजते। अनीकवत्यादीनां साकमेधगतानामिष्टीनां बाहुल्यादेतैरिति बहुवचनम्। द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहम्। अनु सम्यगञ्चतीति अन्वक्। अन्वगेवानूचीनम्। अनूचीने नैरन्तर्येण वर्तमानमहोऽनूचीनाहं यजते दिनद्वयं यावन्नैरन्तर्येण साकमेधैर्यजते॥ ४८॥

अध्यात्मपक्ष में—हे परमानन्दसमुद्र परमेश्वर! हमें आत्महनन पातक से बचाकर ब्रह्मात्मनिष्ठा का सम्पादन कराकर हमारी रक्षा करो।

स्वामी दयानन्द तथा अन्य किसी और का भी व्याख्यान दोनों ही सूत्र और शतपथ के विरुद्ध हैं, अतः त्याज्य हैं॥ ४८॥

पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत । वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्ज॑ शतक्रतो ॥ ४९ ॥

द्वे ऐन्द्र्यावनुष्टुभौ । 'स्थाल्या दर्व्यादत्ते पूर्णा दर्वीति' (का० श्रौ० ५।६।३०) । चातुर्मास्यस्य पर्वविशेषे साकमेधे किञ्चित् कर्मोच्यते । तत्र प्रथमयाऽनुष्टुभाज्यस्थालीत ओदनग्रहणं करोति, द्वितीयया तं जुहोति । यजमानोऽध्वर्युर्वा वदति—हे दर्वि ! अन्नप्रदानसाधनभूते काष्ठनिर्मितपात्रविशेषरूपे ! त्वं पूर्णा स्थाल्याः सकाशादन्नं गृहीत्वा पूर्णत्वादेव परा उत्कृष्टा सती पत इन्द्रं प्रति गच्छ । सुपूर्णा कर्मफलेन सुष्ठु पूर्णा सती पुनरापत भूयोऽस्मान् प्रत्यागच्छ । एवं दर्वीमुक्त्वा इन्द्रमाह—हे शतक्रतो ! शतमनन्ताः क्रतवो यदुद्देश्येन प्रवर्तन्ते, अर्थाद् बहुकर्मन् इन्द्र ! त्वं चाहं चोभौ वस्नेव मूल्येनेव, तृतीयायाः पूर्वसवर्णः । वस्नशब्दो मूल्यवचनः । इषमभीष्टहवीरूपमन्नमूर्जं हविर्दानफलरूपं रसविशेषं परस्परद्रव्यविनिमयरूपं विक्रीणावहै विक्रयं करवावहै । तुभ्यमहं हविर्ददामि त्वं मह्यं फलं देहि ।

अध्यात्मपक्षे—हे दर्वि बुद्धिरूपे ! दृश्यरूपेण पूर्णानुरागरूपेण वा हविषा पूर्णा सती स्वप्रकाशपरमात्मरूपं परमात्मानं परापत प्रतिगच्छ, ततो ब्रह्मात्मभावेन तत्कृपाप्रसादरूपेण वा सुष्ठु पूर्णा सती पुनरापत । हे शतक्रतो सृष्ट्यादिशतलोकोत्तरालौकिककर्मकृत् ! वस्नेव मूल्येनेव आवामिषमूर्जं च विक्रीणावहै । यथा कश्चिद्वणिग् वस्तुविनिमयेन पण्यं ददात्येवमावां विक्रीणावहै । अहं तुभ्यं दृश्यमयं विश्वं हविः समर्पयामि, त्वं च मह्यं स्वस्वरूपानन्दमनुग्रहप्रसादं वा प्रयच्छ ।

दयानन्दस्तु—'या दर्वी परापत ऊर्ध्वं द्रव्यं गमयति याऽऽहुतिराकाशं गत्वा वृष्ट्या पूर्णा भूत्वा पुनरापतति, हे शतक्रतो ! तव कृपया आवामृत्विग्यजमानौ वस्नेवेषमूर्जं च विक्रीणावहै व्यवहारयोग्यानि वस्तूनि दधाव गृह्णीयाव' इति, तदपि न संगतम्, संबोध्येनैव विक्रीणनस्य न्यायप्राप्तत्वात् तव कृपयेत्यध्याहारस्य निर्मूलत्वात्, किं देयं किं ग्राह्यमित्यस्यानुक्तत्वाच्च ।

शतपथे तु —'अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि.........' (श० २।५।३।१५) इत्यादिना स्विष्टकृद्यागेडोपह्वान-समनन्तरं यत्प्राशनं तत्र गृह्याणां पुत्रपौत्रादीनामृत्विजामन्येषां च ब्राह्मणानां समावेश उक्तः । तत्र कुम्भीनिधानम्—'अथैतामनिरशितां कुम्भीमपिधाय निदधाति पूर्णदर्वाय मातृभिर्वत्सान् समवार्जन्ति' (श० २।५।३।१६) । निःशेषेणाशिता निरशिता तद्विपरीतमनिरशिता तां शेषसहितां पात्रान्तरेणापिधाय पूर्णदर्वाय पूर्णा दर्वी यस्मिन् कर्मणि तत्पूर्णदर्वं तस्मै कर्मणे तदर्थं स्थापयेत् । अस्यां रात्रौ वत्सानां मातृभिः सहवासं विधत्ते—मातृभिरिति । तेन वत्ससंगमेन पशवोऽपि मेधमात्मीयं सारं दधते । अग्निहोत्रार्थमपि तस्यां रात्रौ पयो न दोग्धव्यमिति द्रव्यान्तरं विधत्ते—तत्रैव यवाग्वैतां रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति । एवं समेषां वत्सानां मातृसमावर्जनप्राप्तौ 'अर्ज गतिस्थानार्जनेषु' पितृयज्ञार्थं दोह्याया निवान्याया गोर्वत्सस्य बन्धनं कर्तव्यमित्यभिप्रेत्याह—'निवान्यां

मन्त्रार्थ—अन्नदान की साधनभूत हे काष्ठनिर्मित दर्वि ! तुम स्थाली में से अन्न को लेकर पूर्ण हो जाओ । पूर्ण हुई तुमको उठाने पर तुम इन्द्र के समीप जाओ । वहाँ कर्मफल से पूर्ण होकर पुनः तुम हमारे समीप आओ । हे इन्द्र ! तुम और मैं दोनों परस्पर मूल्य देकर एक-दूसरे से हविरूप अन्न और उस हविर्दान के फलरूप रस का क्रय करेंगे, यानी हे इन्द्र ! मैं तुम्हें हविर्दान करता हूँ और तू मुझे फल दे । इस प्रकार हम दोनों परस्पर लेन-देन करें । 'पूर्णा दर्वि' इस मन्त्र से दर्वी (करछी) के द्वारा स्थाली में से ओदन का ग्रहण करे । यह कर्म 'साकमेध' संज्ञक तृतीय पर्व का है ॥ ४९ ॥

प्रातर्दुहन्ति पितृयज्ञाय' (श० २।५।३।१६)। स्वयं नष्टवत्सा अन्यदीयेन वत्सेन या गौर्दुह्यते सा निवान्या। तां प्रातः पितृयज्ञार्थं यतो दुहन्ति तस्मात्तद्वत्सस्य बन्धनं कर्तव्यम्। 'मातृभिर्वत्सान् संसृज्य निवान्यावत्सं बध्नाति' (का० श्रौ० ५।६।२८)। 'अथ प्रातर्हुते वाऽहुते वा। यतरथा कामयेत सोऽस्या अनिरशितायै कुम्भ्यै दर्व्योपहन्ति पूर्णा दर्वि परापत·······शतक्रतविति यथा पुरोऽनुवाक्यैवमेषैतयैवैनमेतस्मै भागाय ह्वयति' (श० २।५।३।१७)। पूर्णदर्व्याख्यस्य कर्मणः कालं विधत्ते–अथेति। प्रातः अग्निहोत्रे हुते वा अहुते वा अनयोः पक्षयोः यतरथा येन प्रकारेण कामयेत तथैवानुष्ठेयम्। होमाय समन्त्रकहविर्ग्रहणं विधत्ते—सोऽस्या इति। षष्ठयर्थे चतुर्थी। सोखाया गृहमेधीयकुम्भ्याः सकाशात् पूर्णा दर्वि इति मन्त्रेण दर्व्या आघातेन उपहत्निगृह्णीयात्। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। एतन्मन्त्रोच्चारणं प्रशंसति—एनमिति। एनमिन्द्रम्, एतस्मै पूर्णदर्व्याख्याय भागाय पुरोवाक्यास्थानीयया पुरावक्तव्यया एतया आह्वयति। श्रुतौ एनमित्यनेन शतक्रतुरेवोक्तः। वस्तुतस्तु याज्ञिकसमयानभिज्ञतया एष यत्किञ्चित् प्रलपति।

यत्तु—दर्वि भोजनपरिवेषणसाधिके ! पूर्णा स्थालीं प्रवेश्य भृता भोक्तृभ्यः परापत प्रत्यावर्तस्व। पुनर्वारं वारं वीप्सार्थगर्भितः पुनःशब्दः। सुपूर्णा अतिशयेन शोभनान्नादिना भृता आपत आगच्छ। धौम्योपदिष्टयुधिष्ठिरा-नुष्ठितसूर्याराधनेन सूर्याल्लब्धा अक्षय्यभोजनस्थाली यावद् द्रौपदी न भुङ्क्ते कृत्स्नस्यापि विश्वस्य परितर्पणक्षमा। तस्यां दर्व्यां सहस्रशोऽप्योदनाद्यादाने सा न क्षीयते स्म। स्थाली वस्ना वस्नेन मूल्येनेव विक्रीडावहै विक्रीडामहे वयं सपत्नीकाः पाण्डुतनयाः। शतक्रतो हे इन्द्र ! इषमन्नमूर्जं बलं दध्यादिरसं विशेषेण सम्पादयामः। विपूर्वकः क्रीडतिः सम्पादनकर्मा। यथा मूल्येन किञ्चिदात्मसात्क्रियते तथा भास्कराराधनेन हीयमक्षय्यस्थाली लब्धेति भावः' इति, तदसङ्गतमेव, अक्षरार्थाननुगमात्। 'परापत' 'आपत' शब्दयोर्गमनप्रत्यागमनरूपावर्थावपहाय परापतेत्यस्य प्रत्यावर्तस्वेति, आपतेत्यस्य आगच्छेत्यर्थकरणस्यासङ्गतेः, उभयोरैकार्थ्यापत्तेः। एवं विक्रीणावहै इत्यस्यापि विक्रीडामहै इति वचनव्यत्ययः प्रकृतिव्यत्ययश्च निष्प्रमाणक एव। सम्बोध्यसम्बोधकापेक्षया 'विक्रीडावहै' इति द्विवचनमेव स्वाभाविकम्। तयोश्चादानप्रत्यादानाभ्यामेव वस्तुविनिमयरूपं विक्रीडनं सङ्गच्छते, विपूर्वस्य क्रीडतेः सम्पादनार्थतायां प्रमाणानुपलब्धेश्च। किञ्चोभयोः साकाङ्क्षत्वेन वस्तुविनिमयरूपो व्यापारो भवति। उभाभ्यां च स्वस्वलाभोऽभिप्रेयते। हविर्भुजो देवा यष्टारश्च कथञ्चित्तत्र युज्यन्ते। सूर्यविष्ण्वादयस्त्वीश्वरा आप्तकामाः पूर्णकामाः स्वल्पेनाप्याराधनेन दयापरवशा उपासकहितकामनया बहु प्रयच्छन्तीति न ते तत्रोपमानमर्हन्ति ॥ ४९ ॥

भाष्यसार—भाष्य का अर्थ स्पष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में—मन्त्र को बुद्धिपरक लगाकर बुद्धि को सम्बोधित किया गया है कि तुम अनुराग से पूर्ण होकर उस स्वप्रकाश परमात्मा के पास जाओ और ब्रह्मात्मभाव से पूर्ण होकर वापस आओ। इस प्रकार अन्न और रस का हम लेन-देन करें।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या में कोई संगति ही नहीं है, याज्ञिक परम्परा तथा उनके सिद्धान्तों का ज्ञान न रहने से इस प्रकार असंगत व्याख्या होना स्वाभाविक ही है।

किसी अन्य व्यक्ति ने इस मन्त्र को पाण्डवों की कथापरक बताया है, किन्तु वह भी असंगत ही है, क्योंकि इसमें मन्त्राक्षरों का अनुगमन नहीं है ॥ ४९ ॥

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ ५० ॥

'देहि म इति जुहोति' (का० श्रौ० ५।६।३४)। इन्द्रो वक्ति—हे यजमान त्वं मह्यमिन्द्राय देहि हविः प्रयच्छ। ते तुभ्यं ददामि अपेक्षितं फलं पश्चात् प्रयच्छामि। पुनरपि द्वितीयपादेनादरातिशयार्थमुच्यते—मे निधेहि, प्रथमं त्वं हविर्नितरां सम्पादय। अपेक्षितं फलं ते तुभ्यं यजमानाय निदधे पश्चान्नितरां सम्पादयामि। एवमिन्द्रवाक्यं श्रुत्वा यजमान आह— नितरां ह्रियते निहारो मूल्येन क्रेतव्यपदार्थोऽर्थात् क्रेतव्यवस्तुस्वरूपं फलं मे मह्यं यजमानाय हरासि प्रयच्छ। हरतेः 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमे हरासीति रूपम्। उत्तरो निहारशब्दो मूल्यवाची ; तत्रापि नितरां ह्रियत इत्येव व्युत्पत्तिः। निहारं मूल्यभूतं हविस्तुभ्यमिन्द्राय निहराणि नितरां प्रयच्छामि। स्वाहेति हविर्दानात्मकः। पूर्वार्धे पादद्वयेनेन्द्रेणोक्तमर्थमुत्तरार्धेन यजमानः सम्यगङ्गीकरोति। हे इन्द्र! वस्ना मूल्येनेव आवामिषमिष्यमाणमन्नमूर्जं बलकरं रसं च विक्रीणावहै। त्वया दत्तं फलं स्वीकृत्य हविर्दास्यामि त्वयि, मया दत्तं हविर्गृहीत्वा मह्यं फलं दास्यसि त्वम्। एवं व्यतिहारेण कर्म क्रीणावहा इति।

यत्तु कश्चित्—'निहारं देयमभीष्टफलं निहृत्य अवचित्यावचित्य। निपूर्वकाद् हरतेर्णमुलन्तस्येदं रूपम्। नितरां ह्रियत इति निहारो घञन्तः क्रेतव्यपदार्थपर्याय इतीवाभिमानो महीधरः स्वरदोषादमान्यः…… इन्द्राय निहारं निहृत्य चित्वा चित्वा यन्मत्समीपे सर्वोत्तमं देयं द्रव्यं तद् निहराणि निःशेषेण नितरां समर्पयामि' इति, तदसङ्गतमेव, वैदिके कर्मणि देयद्रव्यस्य तदीयमात्रायाश्च नियतत्वात्। नहि यजमानगृहे यद्यदुत्तमं देयद्रव्यमस्ति तन्निःशेषेण दीयते, प्रवृत्तिनिवृत्त्यादेर्वेदवचनायत्तत्वात्। अत एव नातिथ्यादिपूजनवद् वैदिककर्मणा देवतापूजनम्। अतिथिर्यद् भोजनादिकं कामयते यावच्च कामयते तद्दातव्यं भवति। इह तु यद् यावच्च दातव्यत्वेन विहितं तत्तावच्च दीयते। विहितत्वादेव स्वरोः काष्ठविशेषस्यापि होमो भवति। एवं फलमपि नियतमेव। नह्यवचित्यावचित्य यद्यद्यजमानाभीष्टं भवति तत्तद्दीयते। तथात्वे एकेनैव कर्मणा सर्वाभीष्टसिद्धौ फलभेदेन कर्मभेदानुपपत्तेः। अत एव न केवलो महीधरः, किन्तु सायणाचार्योऽपि काण्वसंहितायां तथैव व्याख्याति। स्वरदोषस्तु व्यत्ययेनाप्यपाकर्तुं शक्यः।

दयानन्दस्तु—'त्वं यथा स्वाहा सत्या वागाहेत्येवं मे मह्यमिदं देहि, अहं च ते तुभ्यमिदं ददामि, त्वं मे ममेदं वस्तु निधेहि, अहं च ते तवेदं निदधे। त्वं मे मह्यं निहारं हरासि, अहं ते तुभ्यं निहारं निहराणि। सर्वैर्मनुष्यैर्दानग्रहणनिःक्षेपोपनिध्यादिव्यवहाराः सत्यत्वेनैव कार्याः……' इत्यादि, तदसत्। 'देहि मे ददामि ते' इति दानप्रतिबोधेऽपि सर्वव्यवहाराणां सत्यत्वेन कर्तव्यतानवबोधात्, स्वाहाशब्दस्य नियतार्थातिरिक्तसत्यवागर्थत्वासिद्धेः।

'अथर्षभमाह्वयितवै ब्रूयात्। स यदि रुयात् स वषट्कार इत्यु हैक आहुस्तस्मिन् वषट्कारे जुहुयादित्यथो इन्द्रमेवैतत् स्वेन रूपेण ह्वयति वृत्रस्य वधायैतद्वा इन्द्रस्य रूपं यदृषभस्तस्स्वेनैवैनमेतद्रूपेण ह्वयति वृत्रस्य

मन्त्रार्थ—हे यजमान! तू मेरे लिये प्रथमतः हवि दे, मैं इन्द्र तुम्हें अपेक्षित पुष्कल फल दूँगा। इन्द्र के इस वचन को सुनकर यजमान कहता है कि हे इन्द्र! मूल्य देकर क्रय करने योग्य फल तू मुझे दे और मूल्यभूत हविर्द्रव्य मैं तुमको देता हूँ। यह हवि सुहुत बनी रहे। 'देहि मे' इस मन्त्र से उस ओदन का होम करे ॥ ५० ॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ सरल है।

वधाय स यदि रुयादा म इन्द्रो यज्ञमगन्त्सेन्द्रो मे यज्ञ इति ह विद्याद्यद्यु न रुयाद् ब्राह्मण एव दक्षिणत आसीनो ब्रूयाज्जुहुधीति सैवैन्द्री वाक्' (श० २।५।३।१८) । ऋषभध्वनौ होतव्यमिति विधित्सुराह—अथेति । आह्वयितवै आह्वातुं स यदि आहूत ऋषभो रुयात् स वषट्कारः, तस्मिन् वषट्कारे जुहुयादित्येक आहुः । तथा चोक्तं तैत्तिरीयके—'ऋषभमाह्वयति । वषट्कार एवास्य स' इति (तै० ब्रा० १।६।७।४) । तस्मिन् वषट्कारे जुहुयादित्येकं मतम् । पक्षान्तरमाह—अथो इति । योऽयमृषभस्य ध्वनिर्नासौ वषट्कारः, किन्तु इन्द्रस्य स्वभूतेन ऋषभाख्येन स्वरूपेण तमेव इन्द्रम् एतेन शब्देन ह्वयति । किमर्थम् ? वृत्रस्य वधाय वृत्रमसुरं हन्तुम् । एतदेव विवृणोति—एतद्वा । अभिभवनशीलो वृषभ इन्द्रस्य रूपम्, नहीन्द्रादन्यस्याभिभवनसामर्थ्यमस्तीत्यभिप्रायः । यदि स ऋषभः शब्दं कुर्यात् तदा आ म इन्द्रो यज्ञमगन् आगमत् । तथा च मदीयो यज्ञ इन्द्रसहितोऽभवदिति विद्यात् । यज्ञे ऋषभस्य शब्दाकरणेऽनुष्ठानप्रकारमाह—यद्यु न रुयादिति । यदि शब्दं न कुर्यात्तदा दक्षिणत उपविष्टो ब्राह्मणो ब्रह्मैव जुहुधीत्यध्वर्युं प्रति ब्रूयात् । सैवैन्द्री इन्द्राह्वानार्था वाक् । 'स जुहोति देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहेति ॥' (श० २।५।३।१९) । दर्व्या गृहीतं हविः 'देहि मे' इत्यादिमन्त्रेण तयैव दर्व्या आहवनीये जुहोति । 'प्रातर्हुत्वाऽहुत्वा वा स्थाल्या दर्व्यादत्ते पूर्णा दर्वीति । ऋषभमाह्वयितवै ब्रूयात् । रुते जुहोति । अव्याहरति ब्रह्मा जुहुधीत्याह । देहि म इति जुहोति' (का० श्रौ० ५।६।३०–३४) । पूर्णिमायां प्रातरग्निहोत्रं हुत्वाऽहुत्वा वा सशेषाया गृहमेधीयचरुस्थाल्याः सकाशात् पूर्णा दर्वीति मन्त्रेण दर्व्याम् ओदनं गृह्णीयात् । अत्र दर्वीहोमे होममात्रं भवति न यजतयः । 'परतन्त्रोत्पत्तयो जुहोतिमात्राः' (का० श्रौ० ६।१०।२५) । परतन्त्रे उत्पत्तिर्येषां ते परतन्त्रोत्पत्तयो जुहोतयः । ते जुहोतिमात्रा होममात्रावसानाः । अर्थाद् ये होमा अन्यस्य कर्मणः प्रयोगमध्ये विहितास्तेषां यानि होमस्वरूप-निष्पादकद्रव्यनिष्पादकानि सन्निपत्योपकारकाण्यङ्गानि, तादृशाङ्गानुष्ठानपूर्वकं होमाः कर्तव्याः, न तु तदङ्गत्वेन प्रयाजानुयाजाद्यारादुपकारकाङ्गकलापानुष्ठानम् । यथा वाजपेये सर्वान्नहोमो विहितः, तादृशान्ननिष्पादकानि यान्यवहननपाकादीनि सन्निपत्योपकारकाणि तदनुष्ठानपूर्वकहोमः कार्यः । ऋषभो यथा शब्दं करोति तथाह्वाने यत्नं कुर्याद् इति प्रैषार्थः । ऋषभे कृतशब्दे दर्व्या जुहुयात् । ऋषभे शब्दमकुर्वति ब्रह्मा जुहुधीति ब्रूयात् । देहि म इति मन्त्रेण जुहुयादिति सूत्रार्थः ।

अध्यात्मपक्षे- सर्वेश्वरो वेदमुखेन जीवात्मानं प्राह—हे प्रत्यगात्मन् ! त्वं मे मह्यं शोधितत्वंपदार्थं त्वंपदलक्ष्यं देहि समर्पय त्वंपदलक्ष्यस्य तत्पदलक्ष्यार्थेनाभेदमनुसन्धेहि । अहमपि ते तुभ्यं स्वात्मस्वरूपं ददामि त्वंपदलक्ष्यार्थेनात्मनोऽभेदं पश्यामि । ते तत्पदार्थस्य प्रत्यक्चैतन्याभेदेन स्वप्रकाशत्वं परमानन्दरूपत्वं व्यज्यते । त्वंपदार्थे च पूर्णत्वमपरिच्छिन्नत्वं च त्यज्यते । तदन्तरा तु तत्पदार्थः परोक्ष एवापरमानन्दरूप इव भवति । त्वंपदार्थस्तु अपरोक्षोऽपि परमानन्दरूपोऽपि परिच्छिन्न इवापूर्ण इव च भवति । तदेवादरातिशयार्थं द्वितीय-पादेनापि वदति—मह्यं निधेहीति । नितरां सर्वस्वं समर्पय । अहमपि तुभ्यं स्वात्मानं निदधे स्वात्मानं समर्पयामि । ब्रह्मविदपि तथैवाह—हे सर्वेश्वर ! निहारं भक्तिपूर्वकं तुलस्यादिमूल्येन क्रेतव्यं स्वात्मानं मे मह्यं हरासि प्रददासि, निहारं तन्मूल्यभूतं तुलस्यादिपुष्पफलादिसहितं स्वात्मानमहं ते तुभ्यं निहराणि समर्पयानि ।

किसी व्याख्याकार ने समीप स्थित द्रव्य के निःशेष देने की जो बात कही है, वह असङ्गत है, क्योंकि वैदिक कर्म में देय द्रव्य और उसकी मात्रा नियत बताई गई है ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह भी असंगत है, क्योंकि मन्त्रगत पदों से वह अर्थ नहीं निकल रहा है ।

स्वाहा मदीयं सर्वस्वं त्वयि सुहुतमस्तु, 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च। विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥' इति सूक्तेः, 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति' (भ० गी० ९।२६) इत्यादिगीतावचनाच्च।

दध्यादिविक्रेतुं ग्रामान्तरं गच्छन्तं व्रजसीमन्तिनीजनमवरुद्धय सगोपालमण्डलः कृष्णः कथयति—देहि मे दध्यादिकम्, अहमपि तुभ्यं सर्वविधं पुरुषार्थं स्वात्मानं च ददामि। किञ्च, त्वं मे मह्यं मनः स्वात्मानमपि निधेहि, ततोऽहं ते तुभ्यम् ऋणित्वेन स्वात्मानं निदधे त्वदधीनमात्मानं सम्पादयामि, 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः' (भा० पु० १०।३२।२२) इत्यादिवचनात्। निहारं सर्वस्वं मे मह्यं हरासि अर्पयसि तदाऽहमपि ते तुभ्यं निहारं हरणीयं स्वात्मानं तुभ्यमहं निहराणि स्वाहा सुष्ठु आह —'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इति गीतावचनं चेह संवादि। दध्यादिविक्रेतुं ग्रामान्तरं गच्छन् दध्यादिकं याचितो गोपिकागणो ब्रवीति—हे कृष्ण! त्वं प्रथमं मे मह्यं स्वपादपद्मानुरागं स्वसन्निधिवसनं वा देहि, ततः परमहं ते तुभ्यं दध्यादिकं ददामि। त्वं मे शिरसि स्वकरसरोरुहं धेहि, ततः परमहं ते हस्ते आत्मीयं सर्वस्वं निदधे। निहारमनन्यभावं हरासि मह्यं प्रापयसि, अहं नितरां हरणीयं वस्तुजातं निहराणि श्रीचरणयोः। भगवाननुमोदते सु आह साधु ब्रूते गोपिकागणः' इति, तत्तु सुन्दरमेव यद्यपि, तथापि कर्मसु विनियुक्तानां मन्त्राणामन्यशेषत्वान्न प्रमाणान्तरासिद्धार्थसाधने सामर्थ्यम्, स्वप्रधानत्वाभावात्। न वाऽयमेवार्थ इति नियन्तुं शक्यते, अर्थान्तरस्यापि सम्भवेन विनिगमनाविरहात्।

इदमिह विचारणीयमध्यात्मपक्षीयेऽर्थे कथं नैष आक्षेप इति? मैवम्, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० १।२।१५) इति रीत्याऽध्यात्मप्रतिपादनेऽपि वेदानां तात्पर्यात्, विनियोगाविरोधेनैवाध्यात्मार्थस्य ग्राह्यत्वाच्च।

यत्तु—'अनेन साधकेन गुरवे देवाधिदेवाय च तनुरन्ते धनानि च समर्पणीयानि। जनको भूपतिः स्वाचार्याय याज्ञवल्क्याय तत्त्रयमर्पयाञ्चकार—'नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मीति' (बृ० ४।२।४) इत्यादिना प्रथमचरणेन धनस्य, द्वितीयेन मनसः, उत्तरार्धेन शरीरस्य समर्पणम्' इति, तत्तु लोकप्रतारणामात्रम्, पादत्रयस्य तदर्थत्वे मानाभावात्, मन्त्रस्य तादृशार्थे विनियोगाभावाच्च, विनियोगे नान्यपरस्य मन्त्रस्यान्यार्थबोधने तात्पर्याभावाच्च ॥ ५० ॥

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ५१ ॥

सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि। प्र नूनं पूर्णबन्धुरः स्तुतो यासि वशाँ अनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ५२ ॥

अध्यात्मपक्ष में—सर्वेश्वर वेदमुख से जीवात्मा से कह रहा है कि हे जीवात्मन्! तू मुझे शोधित 'त्वम्' पदार्थ का अर्पण कर। मैं भी तुझे स्वात्मस्वरूप देता हूँ ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—पितृयज्ञसंज्ञक कर्म में जो पितर हैं, उन्होंने हमारे दिये हुए हवि का भक्षण किया और सन्तुष्ट होकर हमारी भक्ति को देख अपना शिर हिलाकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। स्वयम्प्रकाश ब्राह्मणों ने धारणा शक्ति से युक्त होकर तथा नवीन बुद्धि धारण कर उनकी स्तुति की। (इस यजमान ने पर्याप्त मधु-अन्न

ऐन्द्रयौ पङ्क्त्यौ। तयोः साकमेधगतपितृयज्ञकर्मण्याहवनीयोपस्थाने विनियोगः। 'यज्ञोपवीतिनः सर्वे निष्क्रम्योदञ्चोऽक्षन्नमीमदन्तेत्याहवनीयमुपतिष्ठन्ते' (का० श्रौ० ५।९।१६)। कण्वोऽप्याह—'ऐन्द्रीभ्यामुपतिष्ठते। इन्द्रो ह्याहवनीयोऽक्षन्नमीमदन्त' इति। 'अद् भक्षणे' इति धातोर्लुङि घस्लादेशे अक्षन्निति रूपम्। पितृयज्ञकर्मणि ये पितरः सन्ति, तेऽस्माभिर्दत्तं हविःस्वरूपमन्नमक्षन् भक्षितवन्तः। कथमेतदवगम्यत इति चेदुच्यते—यतोऽमीमदन्त हर्षं प्राप्ताः, 'मदी हर्षे'। तृप्ता वा संजाताः, 'मदी तृप्तौ'। अत्रास्माकं भक्तिमवगत्य प्रीताः, अवप्रिया अतिप्रीताः, अधूषत स्वकीयं शिरः कम्पितवन्तः, 'धूञ् कम्पने'। स्वभानवः स्वेनैव प्रकाशवन्तः, विप्रा मेधाविनः सन्तो नविष्ठया नवतमया मती मत्या युक्ता अस्तोषत स्तुतिं कृतवन्तः। यद्यपि ते स्तुतिभाजस्तथापि अहो स्वादु हविर्बहु दत्तमहो भक्तिरिति भक्तिप्रशंसां कृतवन्तः। हे इन्द्र! नु क्षिप्रं ते हरी हरिनामकावश्वौ योज गमनाय रथे योजय, अहं वा योजयामि, त्वदभीष्टायाः पितृतृप्तेः सम्पन्नत्वे त्वद्गमनवेलाया अप्युपस्थितत्वात्।

हे मघवन्! सुसन्दृशं सु सम्यक् पश्यतीति सुसन्दृशं शोभनदर्शनं त्वा त्वां वयमनुष्ठातारः, वन्दिषीमहि अभिवादयामः। पूर्णबन्धुरः (बन्धुरशब्दो रथनीडवाची) स्तोतृभ्यो देयैर्धनैः सम्पूर्णरथनीडोपेतो भूत्वा स्तुतः स्तूयमानः, वशान् कामान् 'वश कान्तौ'। अनु अस्मत्कामाननुलक्ष्य नूनं प्रयासि गच्छसि। अस्मत्कामान् दातुमेव स्वस्थानं गच्छसि। हे मघवन् धनवन् परमानन्दमयधनसम्पन्न परमेश्वर! सुसन्दृशं सुष्ठु सम्यग् द्रष्टारं सुष्ठु सम्यग् दर्शनीयं वा त्वा त्वां वन्दिषीमहि। स्तुतस्त्वं वशान् कामयमानान् भक्ताननुलक्ष्य नूनं प्रयासि। पूर्णबन्धुरो दातव्यपरिपूर्णरथनीडोपेतो गच्छसि। स त्वं हरी अश्वौ रथे योज।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर! श्रोत्रादयः प्राणा दिव्यानि ब्रह्मात्मकानि त्वदीयदिव्यशब्दस्पर्शादीनि, अक्षन् अभुञ्जत, यतो अमीमदन्त परमतृप्ता बाह्यविषयेभ्यस्तृप्तिमुपगतास्ततो विरक्ता इत्यर्थः। प्रहृष्टा वा। अवप्रिया लोकोत्तरं माधुर्यमनुभूय प्रीता अधूषत बाह्यरूपादिविषयिणीं तृष्णामवाधूषत व्यापादितवन्तः। स्वेनैवात्मनैव भानुः प्रकाशो येषां ते स्वभानवः, 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यत्' (केनोप० १।२) इति श्रुतेः। विशेषेण प्रान्ति अखण्डानन्दं पूरयन्तीति विप्राः नविष्ठया नवतमया मती मत्या स्तुत्या त्वामेव प्रतिक्षणं अस्तोषत स्तुवन्ति। हे इन्द्र! नु क्षिप्रं तान् स्वसमीपमानेतुं हरी अश्वौ योज योजय। 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' (कठोप० २।१।१) इति स्वयम्भुवा निर्मितानि पराञ्चीन्द्रियाणि भगवद्वियोगेन स्वहिंसामवगत्य तपश्चेरुः। तत्तपस्तुष्ट इव भगवान् स्वीयया अचिन्त्यदिव्यलीलाशक्त्या स्वात्मानमदृश्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमशब्दमस्पर्शमरूपमगन्धमपि दिव्यशब्दस्पर्शादिविशिष्टरूपेण प्रादुर्भावितवान्। तेनैवेन्द्रियाणां भगवत्स्वरूपानुभवेन पूर्णतृप्तिर्भगवत्प्राप्तिश्च।

यत्तु—'अव अधूषत स्वीयानि शिरांसि अधस्तात् कम्पितवन्तः। अवधूननं नाम कव्यस्वीकारार्थमधस्तात् शिरःकम्पनम्' इति, तन्न, अवेत्यस्य प्रियेति सम्बन्धेन गतार्थत्वात्, अत एव अवप्रिया इत्यस्य अस्माकं भक्तिमवगम्य प्रीताः प्रसन्ना इत्येवार्थः। हविःस्वीकारार्थमधस्तात् शिरःकम्पनं तु भोजनात् प्रागेव सङ्गच्छते।

हमको दिया। इस यजमान की भक्ति प्रशंसनीय है)। अतः हे इन्द्र! हरित वर्ण के दो घोड़ों को अपने रथ में शीघ्र जोतकर और तृप्त होकर पितरों के सहित गमन करो। साकमेधान्तर्गत पितृयज्ञ कर्म में सब लोग यज्ञोपवीती होकर 'अक्षन्नमीमदन्त' इत्यादि दो मन्त्रों से आहवनीय का उपस्थान करें॥ ५१॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में—भगवत्स्वरूप का अनुभव होने से इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से तृप्त हो गई हैं और भगवत्प्राप्ति हो गई है।

अत्र तु अक्षन्निति पितृयज्ञाख्ये कर्मणि श्रद्धया मयोपनतमन्नमक्षन्निति त्वयाप्यर्थापितम्। तदनन्तरं हविःस्वीकारार्थमधस्तात् शिरःकम्पनस्य प्रसङ्ग एव नास्ति। यत्तु –'अथवा कव्यदातार एव पितॄन् दृष्ट्वा प्रसन्नतातिशयेन सुदीप्तमुखा नवनवया स्तुत्या तान् स्तवन्ते' इति, तदप्यसङ्गतम्, विनियोगानुसारेण कव्यदातॄणामेव मन्त्रोच्चारयितृत्वेन स्वकर्तृकस्तुतेस्तत्रोल्लेखासम्भवात्। न च यजमानः प्रत्यक्षं पितॄन् पश्यति, तेषामतीन्द्रियत्वात्। ईश्वरोऽनादिर्वेदो वा सर्वज्ञत्वेन शक्नोत्येव तथा वर्णयितुम्।

सर्वमेतच्छतपथे–'ते सर्व एव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा उदञ्च उपनिष्क्रम्याहवनीयमुपतिष्ठन्ते। देवान् वा एष उपावर्तते य आहिताग्निर्भवति यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजतेऽथैतत् पितृयज्ञेनेवाचारिषुस्तदु देवेभ्यो निह्नवते' (श० २।६।१।३७)। आहवनीयोपस्थानं विधत्ते—ते सर्व इति। ते सर्वे ऋत्विजो यजमानाश्च यज्ञोपवीतिनो भूत्वा (पूर्वं प्राचीनावीतिन आसन्) उदङ्मुखाः पिण्डपितृयज्ञस्थानान्निर्गत्य आहवनीयमुपतिष्ठन्ते। य आहिताग्निर्भवति यश्च दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते एष देवान् उपावर्तते उपगतो भवति। देवतासम्बन्धगतस्य यजमानस्य देवान् परित्यज्य यत् पिण्डपितृयज्ञाचरणभूतेन देवानां मनसि क्रोधोऽभूत्, पुनरावृत्त्याहवनीयोपस्थानेन उदासीनताजनितापराधं निह्नवते शमयन्ति। 'ऐन्द्रीभ्यामाहवनीयमुपतिष्ठन्ते। इन्द्रो ह्याहवनीयोऽक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी॥ सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि। प्र नूनं पूर्णबन्धुरः स्तुतो यासि वशाँ॥ अनु योजा न्विन्द्र ते हरी इति' (श० २।६।१।३८)। ननु ऐन्द्र्या कथमग्न्युपस्थानम्? लिङ्गविरोधादिति चेत्तत्राह—इन्द्रो ह्याहवनीय इति। परमैश्वर्ययोगादाहवनीय एवेन्द्रः। अतस्तदुपस्थाने ऐन्द्र्याः करणत्वं न विरुद्ध्यते। अत एवैन्द्र्यौ पठति—अक्षन्निति। व्याख्याते च। यद्वा सायणरीत्येत्थं व्याख्यानम्—अक्षन् अस्माभिर्दत्तं हविः पितरोऽभुक्षत। अदेर्लुङि 'लुङ्सनोर्घस्लृ' (पा० सू० २।४।३७) इति घस्लादेशे 'मन्त्रे घसह्वरणश.....' (पा० सू० २।४।८०) इति च्लेर्लुकि 'गमहन.....' (पा० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपे रूपम्। हि यस्मादेवंमनसः पितरो हविःस्वीकारेण अमीमदन्त तृप्ता अभवन्, 'मद तृप्तियोगे'। तृप्तिरपि कुतो ज्ञायते तत्राह—अवप्रिया आत्मीयास्तनूः पितरः अधूषत भुक्तस्य हविषो रसातिशयस्याभिव्यक्त्यर्थम् अवाकम्पयन्, 'धूञ् कम्पने'। तदनन्तरं स्वभानवः स्वायत्तदीप्तयो विप्रा मेधाविनस्ते पितरो हविःप्रदातारं यजमानं नविष्ठया अतिशयेन नवा नविष्ठा तया नवतरया, मती मत्या स्तुत्या अस्तोषत। उपभुक्तं हविः प्राशंसन् सम्यगेतत् सञ्जातमिति। आहवनीयस्थित हे इन्द्र! त्वमपि ते त्वदीयौ हरी अश्वौ नु क्षिप्रं योज योजयेति। हे मघवन् धनवन् आहवनीयरूपेन्द्र! सुष्ठु सम्यग् दर्शनीयं त्वा त्वां वन्दिषीमहि नुमोऽभिवादयामो वा। अस्माभिर्वन्दितस्त्वं पूर्णबन्धुरो दत्तेन हविषा पूर्णेन रथनीडेन युक्तः स्तुतः सन् अस्माभिः कृतं स्तोत्रं हविश्च स्वीकृत्य वशान् कामान् अनु यथाकामं यथेष्टं प्रयासि।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र! ते तव ये स्वभानवोऽवप्रिया विप्रा नविष्ठया मती मत्या हि खलु परमेश्वरमस्तोषत स्तुवन्त्यक्षन् श्रेष्ठान्नादिकमदन्ति अमीमदन्तानन्दयन्ति च तस्मात्ते शत्रून् दुःखानि च न्वधूषत क्षिप्रं धुन्वन्ति।

किसी व्याख्याकार ने 'अव अधूषत' का अर्थ 'शिरांसि अधस्तात् कम्पितवन्तः' किया है, वह उचित नहीं है।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह भी विश्रृङ्खल है॥ ५१॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र! तुम सभी पर अनुग्रह करने वाले हो, तुम्हारी हम स्तुति करते हैं। इस प्रकार हमारे द्वारा स्तुति किये गये तुम कामना करनेवाले यजमान के यहाँ अवश्य जाते हो और जाते समय अपनी स्तुति करने वालों के लिये देय द्रव्यों को अपने रथ में भरकर ले जाते हो। हे इन्द्र! तुम अपने हरित वर्ण के घोड़ों को रथ में जोतो॥ ५२॥

त्वमप्येतेषु स्वकीयौ हरी बलपराक्रमौ योज संयोजय' इति, तदपि न सङ्गतम्, निष्प्रमाणव्यत्ययाश्रयणादिदोषबाहुल्यात् । ये, ते, शत्रून्, दुःखानि चेति पदानि मूले न सन्त्येव । किञ्च, परमेश्वरस्तुतेर्दुःखावधूननहेतुत्वेऽपि भक्षणानन्दनयोः कथं तत्र हेतुत्वम् ? हरी इत्यस्येन्द्राश्वत्वे तु निघण्टुः कोषश्च प्रमाणम्, किन्तु बलपराक्रमार्थे प्रमाणं वक्तव्यम् । कथं च परमेश्वरीयबलपराक्रमयोर्जीवेषु योगः सम्भवति, अन्यसमवेतस्यान्यत्र समवायायोगात् ।

यदपि च—'हे मघवन्निन्द्र ! वयं सुसन्दृशं त्वा त्वां नूनं वन्दिषीमहि, अस्माभिः स्तुतः पूर्णबन्धुरः पूर्णश्चासौ बन्धुरो बन्धनहेतुर्वा', हिन्दीव्याख्याने तु पूर्णबन्धुरिति संस्त्वं वशान् कामान् यासि प्रापयसि ते तव हरी त्वमनुप्रयोज इत्येकः, वयं सुसन्दृशं मघवन् मघवन्तं पूर्णबन्धुरं त्वा तमिमं सूर्यलोकं नूनं वन्दिषीमहि । स्तुतः प्रकाशितगुणः सन्नयं वशानुत्कृष्टव्यवहारसाधकान् प्रति यासि प्रापयति । हे विद्वंस्त्वं ! यथा तेऽस्येन्द्रस्य हरी अस्मिन् जगति युक्ते, तथैव विद्यासिद्धिकराण्यनुप्रयोज इति द्वितीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विशृङ्खलत्वात्, बन्धुरशब्दस्य बन्ध्वर्थत्वे मानानुपलब्धेः । त्वद्रीत्या सूर्यलोको जडः, स कथं स्तुतिं ज्ञास्यति ? स्तुतिं विनापि यत्करोति तत्करिष्यत्येव, गुणप्रकाशस्य तत्राकिञ्चित्करत्वात् ॥ ५१–५२ ॥

मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन । पितॄणां च मन्मभिः ॥ ५३ ॥

तिस्रो मनोदेवत्या गायत्र्यो बन्धुदृष्टा ऋचः । 'मनो न्वाह्वामह इति गार्हपत्यं तिसृभिः' (का० श्रौ० ५।९।१७) । उपतिष्ठन्त इत्यनुवर्तते । नु क्षिप्रं मन आह्वामहे । ननु चित्तं प्रतिपुरुषं विद्यत एवेति चेत्सत्यम्, तथापि पितृयज्ञानुष्ठानेन पितृलोकं गतमिव भवतीति तदाह्वानं युक्तम् । यद्वा मनःपदेन मनोऽभिमानिदैवतस्यैवाह्वानमत्र क्रियते । केन स्तोमेन स्तोत्रेण, कीदृशेन नाराशंसेन नराणां मनुष्याणां शंसः प्रशंसनं येन सः, यद्वा नराः प्रशंस्यन्ते दीर्घायुषः पुत्रवन्तो भूयासुरित्यादिभिर्गुणैर्येन स नाराशंसः स्तोमस्तेन । यत्र देवाः स्तूयन्ते तद्दैवं स्तोत्रं यत्र मनुष्याः स्तूयन्ते तन्मानुषं स्तोत्रम् । पुनः कीदृशैः ? पितॄणां च मन्मभिः । पितरो यैः स्तोत्रैर्मन्यन्ते अवगम्यन्ते ते मन्मानस्तैः, पितृयाथात्म्यबोधकैः स्तोत्रैरित्यर्थः । पितॄणां मननीयैर्वा स्तोत्रैर्मन आह्वायामः ॥ ५३ ॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है ।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, उसमें अनेक दोष हैं, जो भाष्य में दिखाये गये है ।। ५२ ।।

मन्त्रार्थ पितृयज्ञ के अनुष्ठान से चित्त परलोक में गया हुआ-सा प्रतीत होता है । इस कारण नाराशंस नामक स्तोत्र से उसे हम बुलाते हैं । (मनुष्य की उचित स्तुति को नाराशंस कहते हैं और तत्सम्बन्धी जो स्तोत्र है, उसे भी नाराशंस कहा गया है । यह स्तोत्र दैव और मानुष भेद से दो प्रकार का है । जिससे देवता की स्तुति की जाती है, उसे 'दैव' और जिससे मनुष्य की स्तुति की जाती है, उसे 'मानुष' कहते हैं ।) उसी प्रकार हम पितरों को मननीय स्तोत्रों से भी पितृलोकगमन का आह्वान करते हैं । 'मनो न्वाह्वामहे' इत्यादि तीन मन्त्रों से सब लोग गार्हपत्य का उपस्थान करें ।। ५३ ।।

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है । मन्त्र ५३, ५४, ५५ का अर्थ संसृष्ट रहने से अग्रिम दो मन्त्रों को एक साथ देकर उनकी व्याख्या भाष्यकार ने की है ।। ५३ ।।

इत आरभ्य त्रयाणां मन्त्राणां संसृष्टार्थत्वाद् अधस्तान्मन्त्रद्वयं व्याख्यायते—

आ न॑ एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे । ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ५४ ॥

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः । जीवं व्रातᳪ सचेमहि ॥ ५५ ॥

आ एतु आगच्छतु नोऽस्माकं मनः पुनः । किमर्थं क्रत्वे क्रतुः सङ्कल्पो यज्ञो वा दक्षाय सङ्कल्पसमृद्धये कर्मण्युत्साहाय वा, 'स यदेव मनसा कामयते इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुरथ यदास्मै तत् समृद्ध्यते' (श० ४।१।४।१) इति श्रुतेः । ज्योक् चिराय जीवसे जीवनाय सूर्यं दृशे द्रष्टुम् ।

हे पितरः ! पुनरस्माकं मनो ददातु दैव्यो जनो देवसम्बन्धी जनः । भवदनुज्ञया देवसम्बन्धी जनोऽस्मभ्यं चित्तं पुनर्भूयः प्रयच्छत्वित्यर्थः । जीवं जीवनवन्तं व्रातं पुत्रपौत्रपश्वादिगणं सचेमहि सेवेमहि ।

अध्यात्मपक्षे तु—नोऽस्माकं मनः चेतः, एतु वशमागच्छतु किमर्थं क्रत्वे क्रतवे निर्गुणसगुणोपासनलक्षणाय क्रतवे उपासनाय दक्षाय बलाय उपासनस्य दाढर्याय जीवसे जीवितुम्, उपासनपरायणानामुपासनमेव जीवनम् । ज्योक् चिरकालं सूर्यं दृशे स्वप्रकाशं परमात्मानं सगुणं निर्गुणं च द्रष्टुं साक्षात्कर्तुम् ।

हे पितरः गुरवः ! भवदनुग्रहेण दैव्यो जनो देवानां सम्बन्धी जनो देवदेवः परमेश्वरः, मनो ब्रह्माकाराकारितं मनः प्रयच्छतु । केवलस्य मनसः प्राप्तत्वादेव सामर्थ्याद् विशिष्टं भगवदाकाराकारितं मनः प्रयच्छतु । तदर्थं जीवं जीवनवन्तं सप्राणं व्रातं सत्यादिव्रतानां समूहं सचेमहि सेवेमहि, दृढप्राणसत्यादिसेवनस्य ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपे मनसि हेतुत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'वयं नाराशंसेन स्तोमेन पितॄणां मन्मभिर्मनो न्वाह्वामहे स्पर्धामहे । नराणां समन्तात् शंसः प्रशंसनम्, तेन निर्वृत्तम् इत्यर्थे 'तेन निर्वृत्तम्' (पा० सू० ४।२।६८) इत्यणि नाराशंसेन स्तुतियुक्तेन व्यवहारेण पितॄणां पालकानामृतूनां ज्ञानवतां मनुष्याणां वा । मनुष्यैर्जन्मसाफल्यार्थं विद्यादिगुणयुक्तं मनः कर्तव्यम् । यथर्तवः स्वान् स्वान् गुणान् क्रमेण प्रकाशयन्ति, यथा च विद्वांसः क्रमशोऽन्यामन्यां विद्यां साक्षात्कुर्वन्ति, तथैव सततमनुष्ठाय विद्याप्रकाशौ प्राप्तव्या इति भावार्थः' इति, तदपि विशृङ्खलम्, मन्त्रशब्दैस्तथार्थाननुगमात् । मन्त्रे स्पष्टमेव मनस आह्वानमुक्तम्, व्याख्यायां तु 'स्पर्धामहे' इत्युक्तम्, भावार्थे तु विद्यादिगुणयुक्तं मनः कर्तव्यमित्युक्तम्, हिन्द्यां तु दृढं करोमीत्युक्तम् । द्वितीयमन्त्रव्याख्यायामेतन्मतं यथा—'यन्मनश्चित्तं ज्योग् निरन्तरं सूर्यं दृशे क्रत्वे दक्षाय जीवसे चान्येषां शुभकर्मणामनुष्ठानायास्ति तन्नोऽस्मान् पुनरा समन्तादेतु प्राप्नोतु' इति, एतदपि निरर्थकम्, निरन्तरजन्महेतुकर्मभिर्जन्मप्राप्तौ चित्तप्राप्तेर्नान्तरीयकत्वेन तदर्थं प्रार्थनाया

मन्त्रार्थ—हमारा मन यज्ञ का संकल्प करने के निमित्त तथा कर्मानुष्ठान में उत्साह प्राप्त होने के लिये पुनः हमें प्राप्त हो और चिरकाल तक जीवन प्राप्त करने के लिये तथा चिरकाल तक सूर्य का अवलोकन करने के लिये वह मन पुनः हमें प्राप्त हो ॥ ५४ ॥

हे पितरो ! तुम्हारी आज्ञा से देवसम्बन्धी पुरुष हमारा मन हमें पुनः प्रदान करे । तदनन्तर तुम्हारे प्रसाद से जीवित पुत्र और पशुसमूह हमें प्राप्त हो ॥ ५५ ॥

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है ।

अनावश्यकत्वात् । एतदीयं तृतीयमन्त्रव्याख्यानं यथा—'हे पितरो जनका विद्याप्रदाश्च भवच्छिक्षया दैव्यो जनो विद्वान् नोऽस्मभ्यं पुनर्मनोधारणावतीं बुद्धिं ददातु येन वयं जीवं व्रातं सचेमहि समवेयाम' इति, तदपि यत्किञ्चिदसङ्गतेः । त्वद्रीत्या विदुष एव देवत्वेन देवेत्युक्त्यैव समीहितसिद्धौ यञ्प्रत्ययप्रयोगवैयर्थ्यापत्तिः । विद्वांसः शिक्षया बुद्धिदातारो भवन्ति, धारणावत्या बुद्धेः प्रदाने ते कथं क्षमन्ते ?

शतपथविरुद्धं चैतत् । तत्र हि—'अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमुपतिष्ठन्ते । मनो न्वाह्वामहे नाराश ँ सेन स्तोमेन पितॄणां च मन्मभिः । आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ज्योक् च सूर्यं दृशे । पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनो जीवं व्रातं सचेमहीति पितृयज्ञेनेव वा एतदचारिषुस्तद्‌ खलु पुनर्जीवानपिपद्यन्ते तस्मादाह जीवं व्रातं सचेमहीति' (श० २।६।१।३९) । गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते– अथेति । प्रतिपरेत्य आहवनीयस्थानात् प्रतिनिवृत्य गार्हपत्यसमीपमागत्य गार्हपत्यमुपतिष्ठन्त इत्यर्थः । तदर्थं त्रयो मन्त्राः पठिताः । तेषामयमर्थः— अस्मदीयं मनो नु क्षिप्रं नाराशंसेन स्तोमेन साधनेन नरैः शंसनीयेन स्तोमेन स्तोत्रेण च पितॄणां सम्बन्धिभिः मन्मभिः मननैश्च आह्वामहे । पितृयज्ञकरणादपक्रान्तं मनः पुनरस्मानेतु आगच्छतु । किमर्थं क्रत्वे क्रतुलक्षणाय कर्मणे दक्षाय बलाय जीवसे जीवनाय ज्योक् चिरकालं सूर्यं च दृशे द्रष्टुम्, 'दृशे विख्ये च' (पा० सू० ३।४।११) इति तुमर्थे निपात्यते । मनोऽन्तरा न क्रतुर्न बलं न जीवनं न वा चिरं सूर्यदर्शनं सम्पद्यतेऽतस्तदाह्वानं क्रियते । हे पितरः ! दैव्यो देवसम्बन्धी जनो नः अस्मभ्यं मनः पुनः ददातु । जीवं जीवनवन्तं व्रातं गणं पुत्र-पौत्रादिसमूहं सचेमहि प्राप्नुयाम । अन्तिमपादस्थजीवपदस्याभिप्रायं श्रुतिराह—पितृयज्ञेनेवेति । पितृयज्ञे खलु एत इदानीमचारिषुः । अतः पितृयज्ञस्य कर्तार ऋत्विग्यजमानाः पितृसंभक्ताः सन्तः प्रजायुक्ता भवेयुः । तत् तथा सति जीवं व्रातमनेन मन्त्रभागेन जीवान् पुत्रपौत्रादीन् स्वयं जीवन् पुनरपि गच्छन्ति ।

यत्तु—'विदूषितान्नपानेन गोभिः सह मृतान् गोपालान् पुनरुज्जीवयितुकामो भगवान् कथयति—भो व्रजवासिनो न खिद्यध्वम्, एतेषु मृतशरीरेषु मनः अन्तःकरणोपलक्षितं सूक्ष्मशरीरं आह्वामहे । केन ? नाराशंसेन आशंसनमाशंसः शुभाशंसनम्, नराणामाशंसो मनुष्याभिलाषपूरकेण अमृतवर्षिकृपादृष्टिसमूहेन पितॄणां पितृतुल्यानां व्रजौकसां वयोवृद्धानां मन्मभिः आकाङ्क्षाभिः वयोवृद्धानामनुरोधाद् दृष्टिपातमात्रेण लिङ्गशरीरमाहूय मृतशरीरेषु चानुप्रवेश्य गोभिः सहितान् गोपालान् पुनरुज्जीवयामि' इति, एतत् कृष्णचरित्रस्मारकत्वाद् रोचकमपि कल्पनागौरवावहमेव । एवं युधिष्ठिरदत्तस्वप्रश्नोत्तरतुष्टहृदयं वरं दातुमुद्यतं यक्षं प्रति युधिष्ठिर आह— नः त्वदवज्ञावशान्मृतानामस्माकं भ्रातॄणां चैतन्यसम्पादकं मनो लिङ्गशरीरं पुनरेतु तेषां शरीरेषु पुनः प्रविशतु । क्रत्वे श्रौतकर्मार्थं दक्षाय स्मार्तपूर्तदत्तादिकर्मसमर्थाय जीवसे जीवनाय ज्योक् च सूर्यं दृशे चिरं सूर्यं द्रष्टुम्' इति, तदपि गौणार्थमेव मन्तव्यम्, श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वात् ॥ ५४–५५ ॥

•

अध्यात्मपक्ष में—हमारा मन सम्पूर्ण जीवन चिरकाल तक हे भगवन् ! तुम्हारी निर्गुण-सगुण उपासना में लगा रहे तथा चिरकाल तक तुम्हारा ही साक्षात्कार करता रहे ।

हे पितरो ! आपके अनुग्रह से दैव्य जन हमें ब्रह्माकाराकारित मन दें ।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या मन्त्र के शब्दों के अनुसार न हो पाने से विशृङ्खल है तथा शतपथ के भी विरुद्ध है ।

किसी अन्य व्यक्ति ने जो व्याख्या की है, वह भी गौण अर्थ से ही भरी है और श्रुति-सूत्र के विरुद्ध है ॥ ५४–५५ ॥

वय॑ॅसोम व्रते तव मन॑स्तनूषु बिभ्र॑तः । प्रजाव॑न्तः सचेमहि ॥ ५६ ॥

अस्य मन्त्रस्य बन्धुर्ऋषिर्गायत्री छन्दः सोमो देवता जपे विनियोगः । पितृयज्ञे सोमनामको देवोऽस्ति, सोमाय पितृमत इत्येवं हविषो विहितत्वात्, 'सोमाय पितृमते स्वाहा' (वा० सं० २।२९) इति श्रुतेः । वयं यष्टारस्तव व्रते त्वत्सम्बन्धिनि कर्मणि वर्तमानाः । 'व्रतमिति कर्मनाम' (निघण्टु २।१।७) तनूषु भवदीयशरीरेषु नानावस्थाभेदभिन्नेषु मनो बिभ्रतः अस्मदीयचित्तं धारयन्तः, त्वत्कारुण्यात् प्रजावन्तः पुत्रपौत्रादिसम्पन्नाः सचेमहि सर्वदा भवन्तं सेवेमहि ।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम ! उमया पार्वत्या सहितः सोमस्तत्सम्बुद्धौ हे सोम ! वयं तव परमेश्वरस्य तोषणार्थे व्रते संराधने वर्तमाना विविधासु त्वदीयासु तनूषु विशुद्धसत्त्वोपहितचिन्मयशरीरेषु मनोऽन्तःकरणं बिभ्रतो धारयन्तः प्रजावन्तः पुत्रशिष्यादिसहिताः, त्वां सचेमहि सेवेमहि ।

दयानन्दरीत्या तु—'सुवति चराचरं जगदिति सोमस्तत्सम्बुद्धौ हे सोम परमेश्वर ! सूयन्ते वा रसा यस्मात् स ओषधिराजः, तव व्रते सत्याचरणरूपे वर्तमानाः, तनुषु विस्तृतसुखशरीरेषु मनोऽन्तःकरणस्याहङ्कारादिवृत्तिं धारयन्तः प्रजावन्तः सन्तः सर्वैः सुखैः सचेमहि समवेयाम । सोमस्योषधिराजस्य वा व्रते सत्याचरणनिमित्ते तनुषु मनो बिभ्रतः सन्तः प्रजावन्तो वयं सर्वैः सुखैः सचेमहि' इति, तत्तु श्रुतिविरुद्धमेव, तद्रीत्या मन्त्रस्य देवताविशेषस्य सोमस्य स्तुतौ पर्यवसानात् ।

यत्तु—'राज्ञीभिरर्थितः श्रीकृष्णः शैवाचार्यादुपमन्योः शैवीं दीक्षामवाप्य भगवन्तं शिवं प्रार्थयते—हे सोम ! वयं तनूषु गौणात्मसु पुत्रपौत्रादिसन्ततिषु मनो बिभ्रतः संलग्नचेतसः, तव व्रते संराधने वर्तमानास्त्वत्प्रसादात्प्रजावन्तो भूत्वा त्वां सेवेमहि' इत्यादिकम्, तत्तु महाभारतादिसिद्धार्थद्योतकमपि व्याख्यानं युक्तमेव ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम ! तुम्हारा कर्म करनेवाले हम तुम्हारे शरीर में अपने चित को स्थापन करेंगे । तुम्हारे प्रसाद से पुत्र-पौत्रादिकों से युक्त होकर सेवनीय वस्तुओं का सेवन करेंगे । 'वय॑ॅसोम' इस सोमदेवताक गायत्री मन्त्र का उपयोग जप में होता है ॥ ५६ ॥

(मन्त्रसंख्या ५६ के आगे साकमेध पर्व के त्र्यम्बक हवि से सम्बद्ध मन्त्र हैं) ।

भाष्यसार—भाष्यार्थ स्पष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में—पार्वती के सहित रहने वाले हे सोम परमेश्वर ! हम भक्तगण 'परमेश्वर' के सन्तोषार्थ आराधना में लगे रहते हैं । तुम्हारे विशुद्धसत्त्वोपहित चिन्मय शरीर में अपने मन को लगाने वाले पुत्र-शिष्यादिकों के सहित हम लोग तुम्हारी ही सेवा करते रहें ।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या श्रुतिविरुद्ध होने से उपेक्षणीय है ।

किसी व्याख्याकार ने महाभारतादि प्रसिद्धार्थ द्योतक व्याख्या की है और वह ठीक भी है ॥ ५६ ॥

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः ॥ ५७ ॥

अत्र द्वौ मन्त्रौ, उभयोर्बन्धुर्ऋषिः, रुद्रो देवता (पूर्वमन्त्रस्य प्राजापत्या बृहती) याजुषी जगती च्छन्दः । पूर्वमन्त्रस्यावदानहोमे द्वितीयस्याखूत्करे पुरोडाशनिर्वापार्थे विनियोगः । 'पात्र्यां कृत्वा दक्षिणाग्न्युल्मुकमादाय चतुष्पथे पलाशपत्रमध्यमेन होमः' (का० श्रौ० ५।१०।७) । पुरोडाशान् पात्र्यां निधाय दक्षिणाग्न्युल्मुकमादाय चतुष्पथे गत्वा तत्रोल्मुकं संस्थाप्य तत्र पलाशपत्राणां यन्मध्यमं तेन जुहूस्थानीयेन होमः कार्यः । 'एष त इति जुहोति' (का० श्रौ० ५।१०।१०) । हे रुद्र रुतो रोगान् द्रावयतीति रुद्रः । 'यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१) । रोदयति शत्रूनिति वा रुद्रः । ते तव स्वस्रा भगिन्या अम्बिकानाम्न्या सह एषोऽस्माभिर्दीयमानः पुरोडाशो भागो भजनीयः स्वीकर्तुं योग्यस्तं जुषस्व सेवस्व । स्वाहा इदं हविर्दत्तमस्तु । अम्बिकाया रुद्रभगिनीत्वं च श्रुत्युक्तम्—'अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा तयास्यैष सह भागः' (श० २।६।२।९) । योऽयं रुद्राख्यो देवस्तस्य विरोधिनं हन्तुमिच्छा भवति, तदानया भगिन्या क्रूरदेवतया साधनभूतया तं हन्ति । सा चाम्बिका शरद्रूपं प्राप्य जरादिकमुत्पाद्य तं हन्ति । रुद्रात्मकयो रुद्रत्वमनेन हविषा शान्तं भवति । तथा च तित्तिरिः—एष ते रुद्रभागः सह स्वस्राम्बिकयेत्याह । शरद्वा अस्याम्बिका स्वसा तया वा एष हिनस्ति । यꣳ हिनस्ति । तयैवैनꣳ सह शमयति' (तै० ब्रा० १।६।१०।४) ।

ननु रुद्रस्य पत्नीत्वेनाम्बिका प्रसिद्धा, कथमत्र स्वसेत्युच्यते ? इति चेन्न, व्युत्पत्त्या स्वसृशब्देन पत्न्या अपि बोधसम्भवात् । तथाहि—स्वमात्मानं सरति भजतीति स्वसा, आहोस्वित् सुष्ठु आत्मना अस्यते प्राप्यत इति स्वसा । 'असु गत्यादिषु' रूपसिद्धिः ।

'अतिरिक्तमाखूत्कर उपकिरत्येष त इति' (का० श्रौ० ५।१०।११) । यजमानस्य यावन्तः पुत्रभृत्यादयः पुरुषाः सन्ति तान् गणयित्वा प्रतिपुरुषमेकैकं पुरोडाशं ततोऽप्यधिकमेकैकं निर्वपेत् । सोऽयमतिरिक्त उच्यते, 'त्रैयम्बकान् निर्वपति रौद्रानेककपालान् यावन्तो यजमानगृह्या एकाधिकान्' (का० श्रौ० ५।१०।१) इति कात्यायनोक्तेः । तत्र योऽयमतिरिक्तस्तं न जुहुयात्, किन्तु मूषकोत्खातेऽतिरिक्तं रौद्रं पुरोडाशं मूषकैरुत्कीर्णे पांसुराशौ उपगूहति पांसुभिरन्तर्हितं करोति—एष त इत्यनेनेति । हे रुद्र ! एषोऽस्माभिरुत्कीर्यमाणोऽतिरिक्तः पुरोडाशस्ते भागो भजनीयः । तथा ते तव आखुः मूषकः पशुत्वेन कल्पितः । आखुदानेन तुष्टो रुद्रस्तयाम्बिकया यजमानपशून्न मारयतीत्यर्थः । यथाह तित्तिरिः—'प्रतिपुरुषमेककपालान्निर्वपत्येकमतिरिक्तम्' (तै० सं० १।८।६।१)। इति काण्वसंहितासायणभाष्यानुसारि व्याख्यानम् ।

*शतपथे च—'ते वै रौद्रा भवन्ति । रुद्रस्य हीषुस्तस्माद्रौद्रा भवन्त्येककपाला भवन्त्येकदेवत्या असन्निति तस्मादेककपाला भवन्ति । ते वै प्रतिपुरुषं यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त एकेनातिरिक्ता भवन्ति तत्प्रतिपुरुषमेवै-तदेकैकेन या अस्य प्रजा जातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चन्त्येकेनातिरिक्ता भवन्ति' (श० २।६।२।३–४) । 'महाहविषा

मन्त्रार्थ—हे रुद्र ! तुम अपनी अम्बिकानामक बहिन के सहित हमारे द्वारा दिये गये पुरोडाश (हविर्द्रव्य) का सेवन करो । हमारे द्वारा दिया हुआ हवि सुहुत रहे । हे रुद्र ! हमारे द्वारा दिया गया यह पुरोडाश तुम्हारे द्वारा सेवन किया जाय । मूषकसंज्ञक पशु को हमने तुम्हें अर्पित किया है । 'एष ते' इस मन्त्र से अवदानहोम करना चाहिये ॥ ५७ ॥

ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः' (श० २।६।२।१) इत्यादिना विधित्सितानां त्र्यम्बकहविषां शल्यनिर्हरणहेतुत्वमितिहासमुखेनोक्तम् । तस्मिन् संग्रामे देवानां मध्ये यानेवेन्द्रप्रभृतीन् वृत्रमुक्ता इषव आर्छन् प्राप्नुवन् तान् देवान् एतैरेव त्र्यम्बकहविर्भिस्तस्माच्छल्यान्निरहरन्त वियोजितवन्तः । निर्हरणप्रकारमाह—तानिति । व्यबृहन्त शल्यप्रोतांस्तान् अस्माच्छल्याद् एतैरेव त्र्यम्बकैर्हविर्भिर्निरहरन्त । अम्बिकानाम स्त्री अस्य स्वसा । अतस्त्र्यम्बको रुद्रः । देवतावाचिना शब्देन लक्षणयात्र हवींष्युच्यन्ते । अथेदानीन्तनो यजमान एतैर्यजते । तेन त्रैयम्बकहविर्योगेनाद्यापि यजमानस्य सम्बन्धिनं कमपि पुरुषं इषुर्नैव ऋच्छति । तस्य प्रजा जाता अजाताश्च प्रजनिष्यमाणाश्च ताः सर्वा रुद्रियात् रुद्रकृताद् हिंसनात् प्रमुञ्चन्ति, प्रतिपुरुषं संख्याय क्रियमाणैस्त्र्यम्बकैर्हविर्भी रुद्रस्य प्रीणितत्वात् । रुद्रा देवता एषां ते रौद्राः । रुद्रसम्बन्धी इषुस्त्रिपुरविजयार्थं रुद्रस्यायुधत्वेन निर्मितः, 'त इषुं समस्कुर्वत' (तै० सं० ६।२।३।१) इति त्रिपुरविजयप्रस्तावे उक्तत्वात् । ते रौद्रा एककपाला एकस्मिन् कपाले संस्कृता एकदेवत्या असन् भवन्ति । कियन्तस्त्र्यम्बकाः कार्या इत्याह—ते वा इति । यावत्परिमाणविशिष्टा यजमानस्य गृह्या ज्ञातयः, तत्र प्रतिपुरुषमेकैकस्य एकैकः पुरोडाश इति गणयित्वा एकेनाधिकाः कार्याः । तेन जाता अजाताश्च प्रजा रुद्रियात् प्रमुञ्चन्ति ।

स्त्रीरूपाम्बिकासम्बन्धाद् रुद्रस्यैते पुरोडाशा आदिवर्णलोपेन त्र्यम्बका इत्याख्यायन्ते । यावदुक्तचोदना ह्येते पुरोडाशाः, अतस्तेषां संस्कारप्रकारोऽपि तत्रैव पञ्चम्या कण्डिकयोक्तः । गार्हपत्यस्य पश्चाद् यज्ञोपवीती भूत्वा उदङ्मुख आसीन एतान् पुरोडाशान् निर्वपेत् । 'जुहोतयोऽवषट्कारान्' (का० श्रौ० ५।१०।५) । त्रैयम्बका जुहोतयो न यजतयः । अत एव अवषट्कारान् प्रतीयात् । प्रागुदीच्यां रुद्राधिष्ठितत्वेनोत्तरदिशो रुद्रसम्बन्धित्वाच्च तत्कर्मस्ववहननादिष्वपि सर्वत्रोदक्सम्बन्धः कार्यः । पुरोडाशाश्च त आज्येनाभिघारिता अक्ता एव स्युरित्येकः, अनक्ताः स्युरित्यपरः पक्षः । 'तान् सार्धं पात्र्या१७ समुद्वास्य । अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादायोदङ् परेत्य जुहोत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक् पथि जुहोति पथा हि स देवश्चरति चतुष्पथे जुहोत्येतद्धि वा अस्य जान्धितं प्रज्ञातमवसानं यच्चतुष्पथं तस्माच्चतुष्पथे जुहोति' (श० २।६।२।७) । पुरोडाशपात्र्यां सार्धमेव तान् समुद्वास्य अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादायोदङ् परेत्य एतस्य रुद्रस्योत्तरस्यां दिशि यः पन्था विद्यते तत्रोमुल्कं निधाय तस्मिन् पुरोडाशान् जुहुयात् । यतः खलु स रुद्रो देवः पथा मार्गेण हि चरति । पथ्यपि किञ्चिद्विशेषं विधत्ते—चतुष्पथे जुहोतीति । चतसृभ्यो दिग्भ्य आगताः पन्थानो यत्र सङ्गच्छन्ते तत्र जुहुयात् । एतद्रुद्रस्य जान्धितं जनैः परिकल्पितं प्रज्ञातमवसानं स्थानं यच्चतुष्पथम्, 'वटे वटे वैश्रवणश्चत्वरे चत्वरे शिवः' इत्यभियुक्तोक्तेः । 'पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन जुहोति । ब्रह्म वै पलाशस्य पलाशं ब्रह्मणैवैतज्जुहोति स सर्वेषामेवावद्यत्येकस्यैव नावद्यति य एषोऽतिरिक्तो भवति' (श० २।६।२।८) । तस्मिन् होमे साधनं विधत्ते—पलाशस्येति । पलाशवृक्षस्य पलाशेन मध्यमेन पर्णेन जुहूस्थानीयेन जुहोति । पलाशवृक्षस्य ब्रह्मत्वश्रवणात् पर्णमपि ब्रह्मैव भवति । 'देवा वै ब्रह्मन्नवदन्त तत्पर्ण उपाशृणोत्' (तै० सं० ३।५।७।३) । यावन्तः पुरोडाशाः कृतास्तत्रैकमतिरिक्तं विहाय सर्वेषामेव सकाशात् तस्मिन् मध्यमपत्रेऽवद्येत ।

'स जुहोति । एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहेत्यम्बिका ह वै नामास्य स्वसा तयास्यैष सहभागस्तद्यदस्यैष स्त्रिया सह भागस्तस्मात् त्र्यम्बका नाम तद्या अस्य प्रजा जातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति'

भाष्यसार—इस रुद्रसंज्ञक देव की अपने विरोधी को मारने की जब इच्छा होती है, तब वह अपनी भगिनी के द्वारा उस विरोधी का नाश करवा देता है । वह भगिनी अम्बिका शरद् रूप बनकर जरा आदि रोग-व्याधियों को उत्पन्न कर उस विरोधी का नाश कर देती है । उस समय के रुद्रत्व की शान्ति इस हवि से होती है ।

(श० २।६।२।९)। इत्थं सर्वेभ्यः समवत्तस्य हविषः समन्त्रकं होमं विधत्ते—स जुहोतीति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। सह स्वस्राम्बिकयेति मन्त्रभागस्याभिप्रायमाविष्कुर्वन् तेषां हविषां त्र्यम्बकनाम निर्ब्रूते—अम्बिका ह वा इति। ततः तथा सति अस्य रुद्रस्य तया स्त्रिया सह एष भागः कल्पितः। तस्मात् स्त्रीरूपाम्बिकासम्बन्धात् रुद्रस्यैते पुरोडाशा आदिवर्णलोपेन त्र्यम्बका इत्याख्यायन्ते। 'अथ य एष एकोऽतिरिक्तो भवति। तमाखूत्कर उपकिरत्येष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुरिति। तदस्मा आखुमेव पशूनामनुदिशति तेनो इतरान् पशून् न हिनस्ति तद्यदुपकिरति तिर इव वै गर्भस्तिर इवैतद्यदुपकीर्णं तस्माद्वा उपकिरति तथा एवास्य प्रजा अजातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति' (श० २।६।२।१०)। अवदानकाले परिशेषितस्यैकस्य पुरोडाशस्य विनियोगमाह—अथेति। आखुभिः कृते आखूत्करे तमतिरिक्तं पुरोडाशम् उपकिरति उपक्षिपति तेन मन्त्रेण आखुमेवास्मै रुद्राय पशुत्वेन निर्दिशति। तेन कारणेन नृगवाश्वादिपशून् स रुद्रो न हिनस्ति। अतिरिक्तस्यैकस्य यदुपक्षेपणं विहितं तदुपपादयति—तिर इवेति। तिरोहिता इव हि गर्भा भवन्ति, उत्कीर्णं च द्रव्यमपि तिरोहितं भवति, अतो गर्भस्थानामजातानां प्रजानां रुद्रकृतहिंसनविमोचनाय पुरोडाशस्योपकीर्णत्वं युक्तमेव।

अध्यात्मपक्षे—हे रुद्र हे परमेश्वर! 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' (श्वे० उ० ३।२) इति श्रुतेः। एष अपरोक्षः प्रत्यगात्मा ते तव भागो भजनीयोंऽशः, स्वस्रा सौभाग्यवत्या पत्न्याम्बिकया पराशक्त्या तं जुषस्व, त्वद्भोग्यरूपेण समर्पितस्तं जुषस्व सेवस्व। भक्ताः साधकाः स्वात्मानं भगवदुपकरणवल्युपहारादिरूपेण परिकल्पयन्ति, 'अहमन्नमहमन्नम्' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रुतेः। हे रुद्र! एष ते भागः, आखुः मूषकः तद्वत्सर्वहरः कालस्ते पशुरुपभोग्यो नियोज्यश्च। आखुर्मूषकश्चौरो रागादिर्वा पशुः, 'तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्' (भा० पु० १०।१४।३६) इति श्रीमद्भागवतवचनात्।

श्रीदयानन्दरीत्या तु -'हे रुद्र स्तोतस्ते तवैष भागोऽस्ति, तं स्वस्राम्बिकया सह जुषस्व। हे रुद्र तवैष भागः स्वाहास्ति तं सेवस्व। तवैष आखुः पशुश्चास्ति तं जुषस्वेत्येकः, योऽयं रुद्रः प्राणस्तेऽस्य रुद्रस्य योऽयं भागोऽयमम्बिकया स्वस्रा सह जुषस्व सेवते तेऽस्य रुद्रस्यैषोऽयं स्वाहाभागः, तथा यस्तेऽस्याखुः पशुश्चास्ति यमयं सततं सेवते तं सर्वे मनुष्याः सेवन्ताम् इति द्वितीयः। रुद्रपदेन रोदयत्यपकारिणो जनान् स रुद्रः स्तोता प्राणो वा, सुष्ठु अस्यति प्रक्षिपति यया विद्यया क्रियया वा। अम्बते शब्दयति यया सा अम्बिका वेदवाणी तया, शोभनं देयमदेयमाह यया सा स्वाहा। आ समन्तात् खनति दृणाति येन भोजनसाधनेन स आखुः पशुः, यो दृश्यते भोग्यपदार्थसमूहः समक्षे स्थापितः। हिन्द्यां तु—हे विद्वन् यस्तवैष भोगयोग्यः पदार्थसमूहोऽस्ति, तं त्वमम्बिकया वेदवाण्या उत्तमविद्यया क्रियया वा सह जुषस्व। तथा यस्ते भागो धर्मसिद्धोंऽशो वेदवाणी अस्ति तां सेवस्व। यश्च ते खननयोग्यं शस्त्रं वा पशुः भोग्यपदार्थस्तं जुषस्वेति प्रथमः, य एष रुद्रः प्राणोऽस्ति तस्यैष भागो यमम्बिकया वाण्या स्वस्रा विद्यया क्रियया वा सह सेवते यस्य सत्यवाणीरूपो भागः, यश्च ते आखुः खनितृपदार्थो दर्शनीयो भोग्यपदार्थस्तं जुषस्व सेवते सर्वे तं सेवेरन्' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, स्तोतृषु रोदयितृत्वानुपपत्तेः। सुष्ठु अस्यतीति व्युत्पत्त्या क्रिया विद्या वा कथं बोध्यते? न च भोग्यपदार्थभोगे विद्याकर्मसम्बन्धोऽनिवार्यः। एवमेव स्वाहापश्वादिशब्दार्थोऽपि चिन्त्यः।

अध्यात्मपक्ष में—साधक भक्तगण भगवान् के उपकरण—बलि आदि के रूप में अपने को समझा करते हैं और अहर्निश भगवदाराधना में तत्पर रहा करते हैं।

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह मन्त्राक्षरों के अनुगुण नहीं है। शतपथ, निरुक्त आदि के विरुद्ध होने से वह उपेक्षणीय है।

निरुक्ते तु—'रुद्रो रौतीति सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्। यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्' (नि० १०।५) इति। 'रुद्रः कस्मात्? रौतीति सतः। स हि स्तनयित्नुशब्दं करोति, रोरूयमाणो द्रवतीति वा। शब्दं कुर्वाणो मेघोदरस्थो द्रवतीति। रोदयतेर्वा शत्रूनसौ रोदयति दुःखयति। ब्राह्मणमपि च भवति—'यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्'। ऐतिहासिकैस्तत्सङ्गच्छते। स किल पितरं प्रजापतिमिषुणा विध्यन्तमनुशोचन्नरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं यदरोदीदिति हारिद्रविकम्' इति दुर्गाचार्यः। नहि स्तोतृष्वयमर्थः सङ्गच्छते, न वा प्राणे सम्भवति, रोदनादेः शरीरिधर्मत्वात्, पूर्वोक्तशतपथविरोधाच्च।

यच्च—'सुभद्राहरणानन्तरं बलरामोऽर्जुनाय कथयति—हे रुद्र! शत्रुरोदक, महाभारतसारानुसारेण रुद्रावतार वा, एष ते भागो भजनीयो वरवधूपहरणलक्षणः, तं मयोपहूतं स्वस्रा मम पितृभगिन्या कुन्त्या सहेति पुनरुक्तिरादरार्था। पशुरनागत(दूर)दर्शी मानुषः, बुद्धिरिति यावत्, ते तव आखुः मूषक इव धरायामाखननेन यथार्थतत्त्वे अन्तः प्रविशति। सत्तर्कादिना मीमांसैवात्र खननम्' इति, तदेतन्न मनोज्ञम्, तादृशाध्याहारादीनां निर्मूलत्वात् ॥ ५७ ॥

अव॑ रु॒द्र म॑दीमह्यव॑ दे॒व त्र्य॑म्बकम्। यथा॑ नो॒ वस्य॑सस्कर॒द्यथा॑ नः॒ श्रेय॑सस्कर॒द्यथा॑ नो व्यवसा॒यया॑त् ॥ ५८ ॥

द्वे रौद्र्यौ पङ्क्तिककुभौ। बन्धोरार्षम्। यस्य द्वितीयः पादो द्वादशाक्षरः प्रथमतृतीयावष्टाक्षरौ सा ककुप्। द्वयोरपि जपे विनियोगः। 'आगम्यावरुद्र मदीमहीति जपन्ति' (का० श्रौ० ५।१०।१२)। 'अथ पुनरेत्य जपन्ति। अव रुद्र' इत्याशीरेवैषैतस्य कर्मणः' (श० २।६।२।११)। अथ तदनन्तरं चतुष्पथादग्निसमीपमागत्य अवरुद्र भेषजमिति च मन्त्रौ सर्वे जपेयुः। मन्त्रार्थस्तु—अवादीमहि अवदीयामहै हविर्भागेन रुद्रमयुत्य पृथक्कृत्य प्रजा रक्षामहै दुःखानि नाशयामः। 'दीङ् क्षये, दीङ् रक्षणे' लोटि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) शब्लुकि 'घुमास्था···' (पा० सू० ६।४।६६) इतीत्वम्। देवं देवनशीलं त्र्यम्बकं स्त्रियाम्बिकया सहितम् अवादीमहि। स च रुद्रो यथा येन प्रकारेण नो अस्मान् वस्यसो वसीयसो वसुमत्तमान् करत् कुर्यात्, नो यथा श्रेयसः प्रशस्यतरान् करत् कुर्यात्, यथा नो व्यवसाययाद् व्यवस्येत व्यवसितार्थान् करत् कुर्यात्, तथा अवादीमहीति। यद्वा—रुद्रं रागादिद्रावकं देवमसौ रुद्र इति मनसावगम्य अवादीमहि। यथा त्वदनुग्रहादन्नं भक्षयेम तथा त्र्यम्बकं त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य तं तादृशं देवमवगम्य त्रिनेत्रोऽयमिति मनसावगम्य अवादीमहीत्यनुवर्तते, यथा नोऽस्मान् वस्यसः वसुमत्तमान् करत् कुर्यात्, यथा नः श्रेयसः प्रशस्यतरान् कुर्यात्, यथा येन

किसी ने इस मन्त्र को बलराम-अर्जुन संवादपरक लगाया है। वह भी उचित नहीं है, क्योंकि जो अध्याहार आदि किये हैं, वे सब निर्मूल हैं ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—चित में रुद्र का और त्र्यम्बक का ध्यान करके अथवा अन्य देवताओं से पृथक् करके हम रुद्र को अन्न खिलाते हैं। वह रुद्र हमें निवसनशील और ज्ञाति में श्रेष्ठ कर दे। तथा वह हमें समस्त कार्यों में शीघ्र निर्णय लेने की शक्ति प्रदान करे, एतदर्थ हम उसका जप करते हैं। 'अव रुद्र मदीमहि' इत्यादि दो मन्त्रों का जप करे ॥ ५८ ॥

भाष्यसार—वह रुद्र हमें धन-पुत्र-धर्म-दीप्ति को यथेष्ट दे। हम अच्छी तरह से अपने घर में रह सकें, ऐसा गृह, सुन्दर यश-प्रतिष्ठा और निर्णायक शक्ति हमें वह प्रदान करे। यह प्रार्थना की गई है।

प्रकारेण नो व्यवसाययात् सर्वेषु कार्येषु निश्चययुक्तान् कुर्यात्, तथैवैनं भजामः। यद्वा अवयुत्य अन्याभ्यो देवताभ्यः पृथक्कृत्य रुद्रं अदीमहि आदयामो भोजयामः। 'अद् भक्षणे' इत्यस्मात् 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इत्यार्धधातुकत्वाल्लिङि णिचो लोप । अवगम्य त्र्यम्बकमादयामः। यथा नो वस्यसः वस्तुतरान् अतिशयेन वसनशीलान् दीप्तिमत्तमान् वा करत् कुर्यात्, सर्वकार्येषु निश्चययुक्तान् कुर्यात्. तथैवैनं जपामः। धनपुत्रादिभिर्दीप्तिमत्तमान् स्थितिशीलान् प्रशस्यतमान् व्यवसितमतीन् यथा भगवान् कुर्यात्तथा जपामः।

अध्यात्मपक्षे—रुद्रं सर्वदुःखद्रावकं दुष्टरोदकं वा देवं जगद्रूपेण क्रीडमानं द्योतमानं वा त्र्यम्बकं त्रिनेत्रं त्रिकालज्ञं वा भगवन्तं शिवं परप्रेमास्पदप्रत्यगात्मत्वेनावगम्य अदीमहि सर्वदुःखमयं संसारं नाशयामः, आत्मानं रक्षयामो वा। यथा भगवान् नो वस्यसो ब्रह्मणि स्थितिशीलान् करत् कुर्यात्, यथा नः श्रेयसो ब्रह्मात्मरूपान् करत्, यथा सोऽस्मान् परावरे ब्रह्मणि व्यवसितमतीन् करत्, तथा तमनुकूलयामः।

दयानन्दस्तु—'वयं त्र्यम्बकं देवं रुद्रं जगदीश्वरमुपास्य दुःखान्यवादीमहि अवक्षयायेम, स यथा नोऽस्मान् वस्यसोऽवकरत्, यथा नोऽस्मान् श्रेयसोऽकरत्, यथा नो व्यवसाययेत्, तथा तं वसीयांसं श्रेयांसं व्यवसायप्रदं परमेश्वरमेव प्रार्थयामः' इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, त्रिषु कालेष्वेकरसं ज्ञानं यस्येत्यत्र कालाद्यध्याहारापेक्षया त्रीण्यम्बकानि यस्येति व्युत्पत्तेर्लाघवयुक्तत्वात्। शतपथरीत्या तु मन्त्रस्य रुद्रदेवपरत्वमेव युक्तम् ॥ ५८ ॥

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै ॥ ५९ ॥

हे रुद्र ! त्वं स्वरूपेणैव भेषजम् औषधमसि, सर्वरोगमूलदुरितनिबर्हणहेतुत्वात्। अतस्त्वं सुखं सुप्राप्तं भेषजम् अस्मदीयेभ्यो गवाश्वादिभ्यो देहि। यद्वा भेषजवत् सर्वोपद्रवनिवारकोऽसि, अतोऽस्मदीयेभ्यो गवाश्वपुरुषेभ्यः सुखं प्राप्तुं शक्यं यद् भेषजं सर्वव्याधिनिवारकमस्ति तद्देहि, 'यावन्त एव ग्राम्याः पशवस्तेभ्यो भेषजं करोति' (तै० ब्रा० १।६।१०।४) इति तित्तिरिश्रुतेः। मेषाय मेष्यै च सुखं देहि, सु हितं खेभ्यः प्राणेभ्य इति सुखम्।

अध्यात्मपक्षे तु—'हे रुद्र परमेश्वर ! त्वं भेषजमसि ब्रह्माकारवृत्तावभिव्यक्तः सन् सर्वस्यैवाविद्यातत्कार्यात्मकप्रपञ्चस्य बाधकत्वाद् अस्मदीयगवे इन्द्रियोपलक्षिताय बाह्यान्तःकरणसमूहाय भेषजमसि भवदीयध्यानेन

अध्यात्मपक्ष में—भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि वह हमारी बुद्धि को परावर ब्रह्म में स्थिर कर दे।

स्वामी दयानन्द ने शतपथ के विपरीत ही अर्थ किया है, अतः उसे अप्रामाणिक ही कहा जायगा ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ हे रुद्र ! तुम औषधि के तुल्य समस्त अपद्रवों के निवारक हो। अतः हमारे गाय, अश्व और भृत्य आदि को सर्वव्याधिनिवारक औषधि दो और मेष तथा मेषी के प्राणों की हितकारक औषधि को दो ॥ ५९ ॥

भाष्यसार—रुद्रदेवता स्वरूपतः ही औषधिरूप हैं, क्योंकि वे समस्त रोगों के मूलभूत पापों के नाशक हैं। अतः तुम सुप्राप्त औषध हमारे गवाश्वादिकों को दो।

अध्यात्मपक्ष में—हे रुद्र परमेश्वर ! तुम ब्रह्माकारवृत्ति में अभिव्यक्त होकर सम्पूर्ण अविद्या और उससे उत्पन्न हुए प्रपञ्च के नाशक हो। अतः हमारे बाह्याभ्यन्तर करणसमूह के लिये भेषज (औषध) रूप हो, अर्थात् आपके अनुग्रह से समस्त करणों के दोष दूर हो जाते हैं और साद्‌गुण्य का लाभ होता है।

भवदनुग्रहेण तस्य सर्वदोषबाधात् साद्गुण्यसम्पत्तेश्च। पुरुषाय प्रत्यगात्मने च भेषजमसि, अविद्यादिदोषनिवर्तकत्वात्। मेषाय 'मिषु सेचने' सेक्त्रे सर्वाभीष्टवर्षकाय, मेष्यै सर्वाभीष्टवर्षित्र्यै बुद्ध्यै च, अश्वाय व्यापनशीलाय प्राणाय च सुखं देहि स्वात्मतादात्म्यापादनेन स्वात्मरूपान् कुरु।

दयानन्दस्तु 'हे रुद्र जगदीश्वर! यस्त्वं शरीररोगनाशकत्वाद् भेषजमसि, आत्मरोगदूरीकरणाद् भेषजमसि, एवं सर्वेषां दुःखनिवारकत्वाद् भेषजमसि, स त्वं नोऽस्माकं गवेऽश्वाय पुरुषाय मेषाय मेष्यै सुखं देहि' इति, तत्तु श्रुतिसूत्रविनियोगविरुद्धत्वान्न सङ्गतम् ॥ ५९ ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥ ६० ॥

द्वे अनुष्टुभौ! उभयोः परिक्रमणार्थे विनियोगः। 'अग्निं त्रिः परियन्ति पितृवत् सव्योरूनाघ्नानास्त्र्यम्बकमिति' (का० श्रौ० ५।१०।१३)। सर्वेऽप्रदक्षिणं दक्षिणेन पाणिना सव्यानूरूंस्ताडयन्तः परियन्ति। 'अथापसलवि त्रिः परियन्ति। सव्यानूरूनुपघ्नानास्त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव " मामृतादित्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते तदु ह्येव शमिव यो मृत्योर्मुच्यातै नामृतात्तस्मादाह मृत्योर्मुक्षीय मामृतादिति' (श० २।६।२।१२)। अथाप्रदक्षिणं त्रिरग्नेः परिगमनं विधत्ते—अथापसलवीति। त्र्यम्बकस्य हविषः कर्तारः सर्वे चतुष्पथेऽग्निमपसलवि अपसव्यं त्र्यम्बकमिति मन्त्रेण परियन्ति। किं कुर्वन्तः सव्यान् वामानूरून् उपघ्नाना हस्तेन वादयन्तः।

मन्त्रार्थस्तु त्रीणि अम्बकानि सूर्यशशाङ्कवह्निरूपाणि नेत्राणि यस्य सः, यद्वा स्त्री अम्बिका स्वसा पत्नी यस्य सः। सुगन्धिं शोभनो गन्धो यस्यासौ सुगन्धिस्तं दिव्यगन्धोपेतं पुष्टिवर्धनं पुष्टेर्धनधान्यबुद्धिवैभवादेर्वर्धयितारं रुद्रं वयं यजामहे पूजयामः। तत्प्रसादादहम् उर्वारुकं कर्कटीफलं परिपक्वं सद् यथा प्रसवबन्धनात् स्वयमेव मुच्यते, तथा मृत्योर् अपमृत्योर् मरणात् संसारमृत्योर्वा मुक्षीय मुक्तो भूयासम्। अमृताद् अमरणात् स्वर्गरूपाद् मुक्तिरूपाद्वा मा मुक्षीय मा वियोगो भवत्विति—आशीरेवैषा। ब्राह्मणं तात्पर्यमाह—मृत्योर् मरणाद्

स्वामी दयानन्द की व्याख्या श्रुति-सूत्र प्रतिपादित विनियोग के विरुद्ध होने से असंगत है ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ — दिव्य गन्ध से युक्त, मृत्युरहित, धन-धान्यवर्धक, त्रिनेत्र जो रुद्र, उसकी हम पूजा करते हैं। उस कारण हम अपमृत्यु और संसाररूप मृत्यु से मुक्त हो जायेंगे। जिस प्रकार ककड़ी का फल अत्यधिक पक्व होनेपर अपने वृन्त (वण्ठल) से टूट जाता है (मुक्त हो जाता है), उसी प्रकार हम भी, मृत्यु से छूट (मुक्त) जायेंगे। किन्तु अभ्युदय और निःश्रेयसरूप अमृत से मात्र हमारा सम्बन्ध न छूटने पावे। (अग्रिम वाक्य कुमारिकाओं का है) पति की प्राप्ति करानेवाला, सुगन्धविशिष्ट त्रिनेत्र जो इन्द्र, उसकी हम पूजा करती हैं! ककड़ी का फल परिपक्व होने पर जैसे अपने वण्ठल से छूट जाता है, उसी प्रकार हम कुमारियाँ माता, पिता, भाई आदि मातृगृह के बन्धुजनों से, उस कुल से, उस घर से दूर जायेंगी। किन्तु त्र्यम्बक के प्रसाद से हम अपने पति से दूर न जाँय, अर्थात् पतिगोत्र में ही बनी रहें।

जिस प्रकार पितृमेध में पुत्रादिकों के द्वारा तीन बार उलटी प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करनी होती है और देवता के पूजन में तीन बार सीधी प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करनी होती है, उसी प्रकार यहाँ पर सबको 'त्र्यम्बकम्' इस मन्त्र

मुच्यातै मुक्तो भवेत् सोऽमृतान्न मुक्तो भवति, एतदेव प्राणिनां शमिव सुखं भवति। 'तदु हापि कुमार्यः परीयुः। भगस्य भजामहा इति या ह वै सा रुद्रस्य स्वसा अम्बिका नाम सा ह वै भगस्येष्टे तस्मादु हापि कुमार्यः परीयुर्भगस्य भजामहा इति' (श० २।६।२।१३)। अस्य परिगमनस्य भगप्रसिद्धिहेतुत्वमुपपादयति—तस्मादिति। तदा कुमार्यस्तमग्निमुक्तप्रकारेण परीयुः। भगस्य सौभाग्यस्य कर्मणि षष्ठी, सौभाग्यं भजामहै प्राप्नुयामहै। अम्बिका नाम या रुद्रस्य स्वसा सा भगस्येष्टे सौभाग्यस्य स्वामिनी। तस्माद्भगप्राप्तिकामाः कुमार्योऽपि परीयुः। तत्र कुमारीणां परिगमनेऽन्योऽपि मन्त्रस्तमाह—'तासामुतासां मन्त्रोऽस्ति। त्र्यम्बकं ···मामुत इति। सा यदित इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह मामुत इति। पतिभ्यस्तदाह पत्यो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा तस्मादाह–मामुत इति' (श० २।६।२।१४)। त्र्यम्बकं त्रिनेत्रं सूर्यशशाङ्कवह्निनयनं पतिवेदनं पतिर्विद्यते लभ्यते 'विद्लृ लाभे' अनेनेति पतिवेदनः पतिलम्भयिता रुद्रस्तम्। अन्यत् पूर्ववदेव। चतुर्थपादस्य तात्पर्यमाह—इत इति। इदंशब्देन पितृकुलं परामृश्यते। अस्मात् पितृकुलाद् ज्ञातिभ्यः सकाशादहं मुक्षीय मुक्ता भूयासम्। अमुतोऽमुष्माद् विवाहादूर्ध्वं पत्युः कुलाद् मा मुक्षीय विप्रयुक्ता न भवेयम्। जनकस्य कुलं गोत्रं च परित्यज्य पत्युर्गेहे गोत्रे सर्वदा वसामीति। अग्निहोत्रादिधर्मे पत्या सहैव स्त्रिया अधिकारः। अतः स्त्रीणां पतय एव प्रतिष्ठा। एतेन नियोगेनैकादशपतिवरणमत्यन्तमेव वेदबाह्यमिति मन्तव्यम्।

अध्यात्मपक्षे तु—त्र्यम्बकं त्रिनेत्रं सगुणसाकारं सूर्यशशाङ्कवह्निनयनं महाविराजं तदुपलक्षितं निर्गुणं निराकारं परमेश्वरं यजामहे भेदेनाभेदेन वा समर्चयामः। सुगन्धिं दिव्यगन्धं सुयशसं वा, परमेश्वरस्य सर्वकामसर्वरससर्वगन्धादिविशिष्टत्वादशेषविशेषातीतत्वाच्च। सर्वाभीष्टानां पुष्टेः पोषणस्य वर्धयितारं प्राणान्तःकरणादेर्विशिष्टरूपेण तस्यैव सर्ववृद्धिहेतुत्वात्, 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते' इति छान्दोग्यश्रुतेः। बन्धनाद् वृन्तादुर्वारुकमिवाहं तत्प्रसादात् संसारबन्धनाद् मुक्षीय मुक्तो भूयासम्। तथैव पतिवेदनं जीवानां पत्युः परमेश्वरस्य प्रापकम्, तदनुग्रहादेव तत्प्राप्तिप्रसिद्धेः, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठोप० १।२।२२) इति श्रुतेः। इतः कर्मबन्धनाद् देहादिपञ्चकोशबन्धनाद् वृन्तादुर्वारुकमिव मुक्षीय, अमृतात् पत्युः परमेश्वरस्य सान्निध्यलक्षणादमृतान्न मुक्षीयेति।

दयानन्दस्तु—'वयं सुगन्धिं पुष्टिवर्धनं देवं यजामहे नित्यं पूजयेमहि। एतस्य कृपयाहं बन्धनादुर्वारुकमिव मृत्योर्मुक्षीय मुक्तो भूयासम्। अमृतान्मा मुक्षीमहि मा श्रद्धारहिता भूयास्म वयं सुगन्धिनं पतिवेदनं त्र्यम्बकं जगदीश्वरं यजामहे। एतदनुग्रहेण वयं बन्धनादुर्वारुकमिवेतो मुक्षीय, अमुतो मोक्षसुखात् सर्वस्य सुखफलाद् धर्माद् विरक्ता मा भूयास्म' इति, तदपि शतपथविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव। सुगन्धीत्यत्र गन्धपदेन कीर्तिग्रहणं मुख्यार्थ(गन्ध)त्यागश्च निर्मूले एव। तस्मात् त्र्यम्बकपदेन त्रिनेत्रः सुगन्धिपदेन दिव्यगन्धोपेतः सगुणः

से अग्नि की तीन परिक्रमा उलटी और तीन परिक्रमा सीधी लगानी चाहिये। उसी तरह यजमान के घर की कुमारिकाएँ भी उत्तरार्ध के 'त्र्यम्बकम्' मन्त्र से अग्नि की तीन प्रदक्षिणा करें॥ ६०॥

भाष्यसार—अग्निहोत्रादि धर्मानुष्ठान में पति के सहित ही स्त्री को अधिकार है, अतः पति के रहने में ही स्त्रियों की प्रतिष्ठा है।

अध्यात्मपक्ष में—ककडी के फल की तरह देहादि पञ्चकोष रूप बन्धन से हमारा छुटकारा हो, किन्तु परमेश्वर के सान्निध्य लक्षण अमृत से हम दूर न हो पावें।

साकारश्च भगवानित्येव सिद्धयति। शतपथे द्वितीयस्य मन्त्रस्य कुमारीणामग्निपरिक्रमणे विनियोग उक्तः। एकस्यैवार्थस्य बोधकत्वे पौनरुक्त्यापातश्च।

यत्तु—'अर्जुनोऽन्ये वा त्र्यम्बकप्रार्थनया मृत्योः संसारभयात् प्रतिज्ञाभङ्गभयाद्वा भगवन्तं प्रसाद्याभीष्टं प्राप्नुवन्ति। सीतारुक्मिणीसुभद्राद्या. कुमार्योऽपि भगवन्तमभ्यर्थ्य स्वाभीष्टं पतिं लभन्ते। एतेन मोक्षात्पुनरावृत्ति-सिद्धान्तो जीवन्तं मृतं वा पतिं पतिकुलं परित्यज्य पत्यन्तरस्वीकरणसिद्धान्तश्चापास्तो वेदितव्यः ॥ ६० ॥

एतत्ते॑ रुद्राऽव॒सं तेन॑ प॒रो मूज॑व॒तोऽती॑हि। अव॑ततधन्वा॒ पिना॑कावस॒ः कृत्ति॑वासा॒ अहि॑ᳪसन्नः शि॒वोऽती॑हि ॥ ६१ ॥

इयमपि रौद्री तारपङ्क्तिश्छन्दः। यस्या अन्त्यौ द्वादशाक्षरावाद्यावष्टाक्षरौ पादौ सा तारपङ्क्तिः। सर्वे चैते प्रजापतिदृष्टाश्चातुर्मास्यमन्त्राः। 'अथैतान् यजमानोऽञ्जलौ समोप्य। ऊर्ध्वानुदस्यति यथा गौर्नोदाप्नुयात् तदात्मभ्य एवैतच्छल्यान् निर्मिमते। तान् विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति भेषजमेवैतत्कुर्वते तस्माद्विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति' (श० २।६।२।१६)। अत्र हुतावशिष्टानां त्र्यैम्बकानां पुरोडाशानां प्रतिपत्तिं विधत्ते—अथैतानिति। उपयुक्तद्रव्याणां विधिनोत्सर्गः प्रतिपत्तिः। एतान् पुरोडाशान् यजमानस्याञ्जलावध्वर्युः संवपेत्। यजमानश्च तान् ऊर्ध्वानुत्क्षिपति यथा गौः पृथिवी तान् पुरोडाशान् नोदाप्नुयात् उत्क्षिप्ताः पुरोडाशा यथा भूमौ न पतन्ति तथान्तरिक्षे पुनरञ्जलिना धारयेत्। तदुक्तं कात्यायनेन 'रौद्रान् यजमानोऽञ्जलिनोदस्यत्यगोः प्रापणम्' (का० श्रौ० ५।१०।१७)। एतेन उदसनेन (उत्क्षेपणेन) आत्मभ्य ऋत्विग्यजमानाः स्वस्वशरीरेभ्य एव शल्यान् निर्मिमते निर्हरन्ति। तेषामुत्क्षिप्तानां पुरोडाशानां पुनर्ग्रहणाशक्तौ उपस्पर्शनं विधत्ते— तान् विलिप्सन्त इति। लब्धुमिच्छन्तो लिप्सन्तः, तद्विपरीता विलिप्सन्तः लब्धुमशक्ताः, भूमौ पतितान् तान् पुरोडाशान् पश्चादुपस्पृशन्ति। 'प्रतिगृह्णात्येनानशक्य उपस्पर्शनम्' (का० श्रौ० ५।१०।१८)। अशक्ये अन्तरिक्षात् पततो ग्रहणे भूमौ पतितानुपस्पृशेदिति सूत्रार्थः। 'तान् द्वयोर्मूतकयोरुपनह्य वेणुयष्ट्यां वा कुपे वोभयत आबध्योदङ परेत्य यदि वृक्षं वा स्थाणुं वा वेणुं वा वल्मीकं वा विन्देत्तस्मिन्नासजत्येतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहीत्यवसेन वा अध्वानं यन्ति। तदेनᳪ सावसमेवान्ववार्जति यत्र यत्रास्य चरणं तदन्वत्र ह वा अस्य परो मूजवद्भ्यश्चरणम्। तस्मादाह तेन परो मूजवतोऽतीहीत्यवततधन्वा पिनाकावस इत्यहिᳪसन्नः

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह शतपथ के विरुद्ध है। मुख्यार्थ का त्याग करने में कोई कारण भी नहीं है॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र! तुम्हारा यह 'अवस' संज्ञक हविःशेष भोज्य है ('अवस' का अर्थ है—प्रवास में किसी सरोवर के समीप विश्राम करने पर भक्षण योग्य ओदनविशेष)। उसके सहित तुम अपने धनुष की प्रत्यंचा को एक प्रान्तभाग से हटाकर मूजवान् पर्वत के उस पार जाओ। (मूजवान् पर्वत पर रुद्र निवास करते हैं)। प्रवास करते समय तुम अपने 'पिनाक' नामक धनुष को सब ओर से आच्छादित कर लेना, जिससे कोई भी प्राणी तुम्हारे धनुष को देखकर भयभीत नहीं होगा। हे रुद्र! तुम चर्माम्बर धारण करके हिंसा न करते हुए हमारी पूजा से सन्तुष्ट होकर मूजवान् पर्वत को लाँघ जाओ। व्रीहि और यव की गड्डी बाँधकर बाँस की कावड के दोनों छींकों में हविर्द्रव्य का अवशिष्ट भाग डालकर उस कावड़ को ऊँचे वृक्ष पर, बाँस पर या बामी पर 'एतत्ते' इस मन्त्र से रख दे॥ ६१ ॥

शिवोऽतीहीत्येवैतदाह कृत्तिवासा इति निष्वापयत्येवैनमेतत्स्वपन्नु हि न कश्चन हिनस्ति तस्मादाह कृत्तिवासा इति' (श० २।६।२।१७) । द्वयोर्मूतकयोः, यत्र तृणमय आवपने व्रीहियवादिधान्यमाबध्यते तन्मूतम्, मूतमेव मूतकम्, तयोर्द्वयोर्मूतकयोः, रौद्रान् पुरोडाशानुपनह्य वेणुयष्ट्यामुभयत आबध्य यद्वा कुपे, वेणुनिर्मितभाजनद्वययुक्तो यज्ञियवृक्षजो दारुविशेषो वीवधापरपर्यायः (तुलादण्डः), तस्मिन्नुभयत उभयपार्श्वयोर्वैणवभाजनयोस्तान् पुरोडाशानाबद्ध्य स्कन्धेनादाय उदङ् परेत्य उदङ्मुखो दूरं गत्वा वृक्षस्थाण्वादीनामन्यतमस्मिन्नुपलब्धे मूतकद्वयोपेतां यष्टिं वीवधं वा आसजति आलगयति । ततो गोभिराघ्रातुमशक्यत्वाद् गावो रोगं न प्राप्नुवन्ति । तदप्युक्तं सूत्रकृता—'मूतयो कृत्वा वेणुयष्ट्यां कुपे वाऽऽसज्ञोभयतः स्थाणुवृक्षव??शबल्मीकानामन्यतमस्मिन्नुत्क्षेपणवदासजत्येतत्त इति' (का० श्रौ० ५।१०।१९) । आसजने मन्त्रमाह—एतत्त इति ।

मन्त्रार्थस्तु—हे रुद्र ! ते तव एतत् तृप्तिकरं हविःशेषाख्यं भोज्यम् असवं पाथेयमन्नं तत्स्वीकृत्य तेन साधनेन मूजवतः परो मूजवान्नामोदीच्यः पर्वतः तस्य परः परस्तात् भागम् अतीहि अतिक्रम्य गच्छ । मास्मानधितिष्ठेति भावः । मूजवान्नाम कश्चित्पर्वतो रुद्रस्य वासस्थानं 'मूजवान् पर्वतः' (नि० ९।८) । अवसशब्देन देशान्तरं गच्छतो मार्गे तडागादिसमीपे भोक्तव्यो भोज्यविशेष उच्यते । हे रुद्र ! एतेन मूतद्वयगतेन हविःशेषाख्येन भोज्येन सहितस्त्वं मूजवतः परस्ताद्भागमतीहि अतिक्रम गच्छ । कथंभूतस्त्वम् ? अवततधन्वा आरोपितधनुष्कः, अस्मद्विरोधिनां निवारितत्वादित ऊर्ध्वं ज्यासमारोपणस्य प्रयोजनाभावादवरोपणमेव युक्तम् । पुनः कीदृशः ? पिनाकावसः । 'पिनाकः प्रतिपिनष्टि अनेनेति' (नि० ३।२१) पिनाकाख्यं त्वदीयं धनुरावस्ते सर्वत आच्छादयतीति पिनाकावसः । यथा धनुर्दृष्ट्वा प्राणिनो न बिभ्यति तथा त्वदीयं धनुर्वस्त्रादिना प्रच्छाद्य गच्छेत्यादि सायणसम्मतोऽर्थः । 'कृत्तिवासा इति । अनपेक्षमेत्योपस्पृशन्त्यपः (का० श्रौ० ५।१०।२०-२१) इति । कृत्तिवासा इति मन्त्रेण आसक्तानवलग्नान् पुरोडाशान् निश्चलीकुर्यात् । उन्नते वृक्षादौ मूतद्वयमवसज्य प्रत्यावर्तमाना मूतद्वयस्यावेक्षणमकृत्वा वेदिसमीपे समागत्योदकमुपस्पृशेयुः ।

शतपथार्थस्तु—हे रुद्र ! त्वं कृत्तिवासा हस्तिचर्माम्बरो नोऽस्मानहिंसन् हिंसामकुर्वन् शिवः अस्मदीयपूजया सन्तुष्टः शान्तः कोपरहितो भूत्वा अतीहि पर्वतमतिक्रम्य गच्छ । पूर्वोक्तशतपथब्राह्मणे मन्त्रगतमवसमिति शब्दं प्रशंसति - अवसेन वा इति । लोके अवसेन अन्नेन पाथेयेन हि जना दूरमध्वानं यन्ति । तत् तथा सति एनं रुद्रं सावसं वससहितमेव अस्मात् स्थानाद् अन्ववार्जति अनुगमयति रुद्रस्य गन्तव्यप्रदेशम् । यत्र यत्रेति । यस्मिन् यस्मिन् स्थाने अस्य देवस्य चरणं वर्तनं भवति तत्तत्स्थानमनुलक्ष्य मूजवतः परस्ताद् भागमतीहि । परो मूजवत इति भागस्याभिप्रायमाह—अत्र ह वेति । अस्य रुद्रस्य अत्र मूजवत्पर्वतसम्बन्धिनि परः परस्ताद् भागे चरणं वर्तनं भवति । तस्मात् तेन परो मूजवतः । द्वितीयभागमनूद्य व्याचष्टे—अवततधन्वेति । अवततमनारोपितज्यं धनुर्यस्य स तथोक्तः । पिनाकावसः पिनाक इति तस्य धनुषो नामधेयम् । तस्य अवसो व्यापारो परमो यस्य स तथा । एतेन विशेषणद्वयेन फलितमर्थमाह—अहिंसन्निति । हे रुद्र ! नः अस्माकं हिंसामकुर्वन् शिवः सुखकरः सन्नतीहि अतिक्रम्य गच्छेति । अन्तिमं भागमनूद्य तात्पर्यमाह—कृत्तिवासा इति । कृत्तिः त्वग् वास आच्छादनं

भाष्यसार—हुतावशिष्ट त्रैयम्बक पुरोडाशों की प्रतिपत्ति का विधान किया गया है । रुद्र के लिये तृप्तिकर पर्याप्त पाथेय के रूप में यह हविःशेष है, उसको स्वीकार कर के उत्तर दिशा में स्थित मूजवान् पर्वत के उस पार चले जाओ । हमारे बीच में मत रहो ।

अध्यात्मपक्ष में—हे रुद्र परमेश्वर ! तुम्हारा जो यह वेदान्त प्रसिद्ध 'रुद्र' नाम है, वह भक्तों के लिये पाथेय रूप है । भक्तों के लिये तुम स्वात्मतादात्म्य रूप से प्राप्त हो जाओ ।

यस्य सः। निःष्वापयत्येवैतत् स्वपन्नुहि न कश्चन हिनस्ति। कृत्तिवासा इत्यनेन विशेषणेन कृत्तेर्मृदुतरत्वेन सुखकरत्वात् रुद्रस्वापो भवति। स्वापोऽपि किमर्थमित्यत आह—स्वपन्नुहीति। अत्र खलु लोके स्वपन् निद्रालुः पुरुषः कश्चन न हिनस्ति। अतो रुद्रकृतबाधाविरहाय तस्य स्वापो युक्तः।

अध्यात्मपक्षे तु—हे रुद्र परमेश्वर! ते तव एतत् प्रसिद्धं रुद्रनाम वेदान्तप्रसिद्धं जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलं स्वरूपं वा अवसं पाथेयं भक्तानामिति शेषः। शब्दादिमतो जगतः परः परस्ताद् भागमतीहि अतिक्रम्य प्रपञ्चातीतरूपेण इहि भक्तसाक्षात्कारगोचरो भव। शब्दार्थकस्य मुज्धातोश्छान्दसं दैर्घ्यम्। सगुणरूपेण अवततधन्वा अवतारितज्यधनुष्क आच्छन्नपिनाकः कृत्तिवासास्त्वं नोऽस्मान् अहिंसन् शिवः कल्याणरूपः सन्नतीहि स्वात्मतादात्म्येन प्राप्तो भव।

दयानन्दस्तु—'हे रुद्र शूरवीर युद्धविद्याविचक्षण सेनाध्यक्ष! अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाः परः प्रकृष्टसामर्थ्यः संस्त्वं मूजवतः पर्वतात् परं शत्रूनतीह्युल्लङ्घ्य तस्मात् परं गमय। यदेतत्ते तवावसं पालनमस्ति तेन नोऽस्मान् अहिंसन्नतीहि' इति, तदसङ्गतमेव, सम्भवति शक्यार्थे भाक्तस्यार्थस्याग्राह्यत्वात्। रुद्रपदस्य वेदेतिहासपुराणप्रसिद्धस्य सेनाध्यक्षपरत्वे मानाभावात्। बहूनां शत्रुरोदकानां मध्ये सेनाध्यक्षस्यैतन्नामत्वे विनिगमनाविरहाच्च। किञ्च, अतीहीत्यत्रापि ण्यर्थताङ्गीकारोऽपि निर्मूल एव। पिनाकपदं शिवधनुषि प्रसिद्धम्। तथा चामरसिंहः—'पिनाकोऽजगवं धनुः' (१।१।३५)। कृत्तिवद्वास इत्यपि गौणार्थतैव, कृत्तिर्वासो यस्येत्यर्थस्यैव स्वाभाविकत्वात्। शतपथविरोधस्तु स्पष्ट एव।

यत्तु कश्चित्—'पिनाको रुद्राङ्कुशो रुद्रधनुर्वा, तेनैवावसं रक्षणं कुशलं यस्य सः, स्वधनुष्कृतकुशलस्त्वमसि। वस्त्रापरपर्यायोऽवसशब्दो महीधराभिप्रेतो न मनोज्ञः' इति, तत्तुच्छम्, हेत्वनुक्तेः। सङ्कल्पमात्रेण सर्वसंहारकस्य रोगदोषादीनां द्रावकस्य नित्यनिरस्तारात्यादिसमस्तानर्थव्रातस्याकुशलत्वाप्रसक्त्या धनुष्कृतरक्षणानपेक्षणात्, भक्तानां रक्षणाश्वासनायैव तु धनुरादि धार्यते। भक्तविरोधिनां निवारितत्वेन यथा अवततज्यधनुष्कत्वमुक्तम्, तथैव लोकभयवारणाय पिनाकावरणस्यैवापेक्षितत्वात्।

यत्तु—'हे रुद्र प्राण! एतद् ब्रह्माण्डं ते अवसमन्नम्, तेन साधनेन परः श्रेष्ठः सन् मूजवतो नाडीवेष्टितहृदयस्थलस्योन्नतस्थानमतिक्रम्य भ्रूकुटिं गच्छ' इति, तदसङ्गतमेव, प्राणस्य जडत्वेन प्रार्थनाप्रेरणयोरविषयत्वात्, मूजवत्पदेन हृदयोन्नतस्थलग्रहणे प्रमाणाभावाच्च। अवततधन्वा अवरोपितप्रणवधन्वेत्यप्यसङ्गतम्, प्राणस्य प्रणवधन्वत्वाभावात्, साधकस्यैव तत्त्वाद् भ्रूकुटीं प्रति प्राणप्रवेशाय समाततप्रणवधनुष्कत्वापेक्षणात्। पिनाकः प्रणवोऽवसः अन्नं यस्य तथाभूतः स्वात्मनि प्रणवस्य लयस्य कारक इत्यपि बालभाषितम्, प्रणवस्यैव प्राणादीनां लयाधिकरणत्वात्, माण्डूक्यादौ व्यष्टिसमष्टिमयस्य स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चस्य प्रणवे लयप्रतिपादनात्। समष्टिप्राणो हिरण्यगर्भोऽपि तत्रैवान्तर्भूतः, 'यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव' (माण्डूक्योप० १।१) इति श्रुतेः। 'कृत्तिर्गृहमेव वासो यस्य' इत्यप्यसङ्गतम्, प्राणस्य पाण्डरवासस्त्वप्रसिद्धेः। अत एवाजातशत्रवे 'बृहन् पाण्डरवासाः सोमो राजेति गार्ग्येण प्राण उपदिष्टः। पाण्डरं शुक्लं वासो यस्य सोऽयं पाण्डरवासाः, अप्शरीरत्वात् प्राणस्य। अजातशत्रुणा सुप्तं पुरुषं प्रति बृहत् पाण्डरवासः सोम राजन्नित्यादिभिः प्राणः

स्वामी दयानन्द ने जो व्याख्या की है, वह असंगत ही है, क्योंकि शक्यार्थ के संभव रहते भाक्त (लाक्षणिक) अर्थ ग्राह्य नहीं होता। यह व्याख्या शतपथ के विरुद्ध भी है, अतः उपेक्षणीय ही उसे समझना चाहिये।

सम्बोधितः (बृ० उ० २।१।१५)। गगनमण्डलमतिक्रम्य प्राणप्रेषणादिप्रलापोऽपि मूढजनप्रतारणायैव, मन्त्रे तद्बोधकपदाभावात्।

एवमेव बाणासुरयुद्धप्रसङ्गे बाणरक्षणायागतं शिवं जृम्भणास्त्रेण मोहयित्वा श्रीकृष्णो रुद्रमाह—'गच्छ रुद्र! स्वस्थानं मुञ्जवन्नामपर्वतं ततोऽपि वा परस्ताद् गच्छ शिवमिच्छसि चेत्परित्यज भक्तपक्षपातम्' इत्यादि, तदुन्मत्तप्रलपितमेव, श्रीमद्भागवतविरुद्धत्वात्। 'यदात्थ भगवंस्त्वं नः करवाम प्रियं तव। भवता यद् व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम्॥' (भा० पु० १०।६३।४६) इति हि श्रीमद्भागवतीयं पद्यम्। अनेन भगवता कृष्णेन भगवन्तं शिवं प्रति श्रद्धैव प्रकटिता॥ ६१॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥ ६२॥

आशीर्देवतोष्णिक्। यस्याश्चत्वारः पादाः सप्ताक्षराः सोष्णिक्। 'त्र्यायुषमिति यजमानो जपतीति' (का० श्रौ० ५।२।१६)। जपश्चायं वपनकालिकः। मन्त्रार्थस्तु—कश्यपस्य कश्यपनाम्नः प्रजापतेः सम्बन्धि त्र्यायुषं त्रयाणां बाल्य-यौवन-स्थविररूपाणामायुषां समाहाररूपम्। तथा जमदग्नेस्तन्नामकस्यर्षेस्त्र्यायुषं देवानामिन्द्रादीनां च यत् त्र्यायुषमस्ति तत् त्र्यायुषं सर्वं ममास्तु। अर्थात् कश्यपादीनां बाल्यादिषु यादृशं चरितं तादृशं चरितं मम भूयात्।

अध्यात्मपक्षेऽपि—साधका भगवन्तं प्रति जमदग्न्यादीनामिव ब्रह्मात्मसाक्षात्कारोपयोगिबहिरङ्गान्तरङ्गसर्वविधसाधनमुक्तं त्र्यायुषं प्रार्थयन्ते। योगाभ्यासेन तपस्यया दीर्घायुष्ट्वं भवत्येव, 'ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः' (म० स्मृ० ४।९४) इत्यादिस्मरणात्। मार्कण्डेयादीनां दीर्घायुष्ट्वमपि स्मर्यते।

यत्तु कश्चित्—'आयुषां पूर्णत्वमभिप्रेतम्' इति, तत्तुच्छम्, तथात्वे कश्यपस्य जमदग्नेर्देवेष्विति प्रयोगवैयर्थ्यापत्तेः। न च कश्यपादीनामिवायुष्ट्वं सम्भवति, मनुष्येषु तादृङ्मन्त्रपरायणानामपि तादृशायुष्ट्वादर्शनात्।

दयानन्दस्तु—'हे रुद्र जगदीश्वर! तव कृपया यद् देवेषु त्र्यायुषं यज्जमदग्नेस्त्र्यायुषं यत्कश्यपस्य त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु…' इति, भावार्थवर्णनप्रसङ्गे तूक्तम्—'अत्र चक्षुरिन्द्रियाणां कश्यप ईश्वरः स्रष्टॄणामुत्तमोऽस्तीति विज्ञेयम्। त्र्यायुषमित्यस्य चतुरावृत्त्या त्रिगुणादधिकं चतुर्गुणमप्याहुः। संगृह्यैतत्प्राप्त्यर्थं जगदीश्वरं प्रार्थ्य स्वेन पुरुषार्थश्च कर्तव्यः। तद्यथा—हे जगदीश्वर! भवत्कृपया यथा विद्वांसो विद्यापरोपकारधर्मानुष्ठानेनानादितया त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत् तावदायुर्भुञ्जते। तद्वयं प्राप्य त्रिशतवर्षं चतुःशतवर्षं वायुः सुखेन भुञ्जीमहि' इति, तदेतत्सर्वं मूर्खजनव्यामोहनमेव, प्रकृते चक्षुष इन्द्रियोत्तमत्वस्य कश्यपस्य स्रष्ट्रुत्तमत्वस्य चाप्रसक्तत्वात्, मन्त्रे

किसी अन्य व्याख्याकार ने भी जो मनमानी व्याख्या की है, वह भी 'हेतु' पूर्वक न रहने से निःसार है। मन्त्र में तदर्थबोधक कोई शब्द ही नहीं हैं। शब्द के बिना भी अर्थ बताना प्रतारणा मात्र है। श्रीकृष्ण-रुद्र संवादपरक व्याख्या तो उन्मत्तप्रलाप के समान ही की गई है॥ ६१॥

मन्त्रार्थ—जमदग्नि, कश्यप और इन्द्रादि देवताओं ने अपनी बाल्य, यौवन और वार्धक्य अवस्थाओं में जो प्रशंसनीय चरित्र किये, वैसे चरित्र हमसे भी सम्पन्न हों। 'त्र्यायुषम्' इस मन्त्र का जप यजमान करे॥ ६२॥

तादृशार्थबोधकपदाभावाच्च । न चात्र जमदग्निकश्यपपदाभ्यां चक्षुरीश्वरयोर्विवक्षा, तयोस्त्र्यायुषत्वाप्रसिद्धेः । कश्यपस्य प्रजापतेर्महर्षेर्जमदग्नेर्देवानां च बाल्ययौवनवार्धकप्रसिद्धिः । देवानाममरत्वमिव निर्जरत्वमप्यापेक्षिकमेव ।

यदुक्तम्—'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः' (श० ८।१।२।३), 'जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति' (नि० ७।२४) । अनेनापि प्रमाणेन रूपगुणग्राहकं चक्षुर्गृह्यते। कश्यपस्य आदित्यस्येश्वरस्य । 'प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात् तत्कूर्मः । कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति' (श० ७।५।१।५) । अनेन प्रमाणेनेश्वरस्य कश्यपसंज्ञा । एतन्निर्मितं त्रिगुणमायुर्लभेमहि' इति, तदपि न सङ्गतम्, प्रकृतमन्त्रे तदसङ्गतेरुक्तत्वात् । न च नित्यस्येश्वरस्यायुः परिमितम्, नित्यत्वेनैवेश्वरस्यानन्तत्वात् । अत एव त्रिगुणितत्वमपि न तस्य सम्भवति, अनन्ते त्रिगुणत्वायोगात् । न चेश्वरेण त्रिगुणं किञ्चिदायुर्निर्मितमित्यत्र प्रमाणमस्ति । न चायमेव मन्त्रस्तत्र प्रमाणम्, तस्य प्रसिद्धप्रजापतेस्त्र्यायुषानुवादेनापि सार्थकत्वोपपत्तेः ।

किञ्च, नात्र वस्तुतश्चक्षुरेव जमदग्निः, किन्तु गुणवृत्त्यैव चक्षुषि जमदग्नित्वारोप एव, त्वदुद्धृतनिरुक्तविरोधात् । तत्र हि जमदग्नेर्होतृत्वं प्रज्वलिताग्नित्वं चोक्तम् । न च तच्चक्षुषि सम्भवति, शतपथोक्तिविरोधात् । तथाहि शतपथस्याष्टमः काण्डश्चितिनाम्ना प्रसिद्धः । तत्र प्रथमाध्यायारम्भ एव प्राणभृत्संज्ञकानामिष्टकानामुपधानं विहितम् । तत्र प्राणभृतां प्राणरूपत्वमुक्तम् । तत्प्रशंसार्थानि—'प्राणा वै प्राणभृतः प्राणानेवैतदुपदधाति' (श० ८।१।१।१) इत्यादीनि वचनानि । याः प्राणभृदाख्या इष्टकास्ताश्चक्षुरादिप्राणात्मिकाः । एतेन प्राणभृदुपधानेनाग्नौ प्राणनेवोपदधाति । ताश्च प्राणभृदाख्या इष्टकाः पञ्चाशत्संख्याका दश दश उपधेया इत्यपि तत्रैवोक्तम्। 'ता दश दशोपदधाति' (श० ८।१।१।२) । दशसंख्याकाः प्राणाः सप्त शीर्षण्या द्वाववाञ्चौ नाभिर्दशमीति संख्यासामान्यात् तासां प्राणरूपता सिद्धेति । ताश्च दशदशसंख्याका इष्टकाः पञ्चकृत्व उपदधाति । तेनाध्वर्युः पञ्चसंख्याकान् पशूनुपदधाति । एकैकस्मिन् पशौ दश दश प्राणान् स्थापितवान् भवति । तत एव तासामुपहितानां पशुशीर्षाणां समीप उपधानं विहितम् । 'अनन्तर्हिताः पशुभ्य उपदधाति' (श० ८।१।१।२) इति । तत्रैव तृतीयकण्डिकायां प्राणभृदुपधानेन प्रजापतेर्विस्रस्तप्राणानामुपधानमुक्तम् । पृष्ठसाम्नो वशिष्ठ उत्पन्न इत्युक्तम् । 'पृष्ठं निरमिमीत' (श० ८।१।१।५) । तत्रैव प्रसङ्गेन 'वशिष्ठ ऋषिः । प्राणो वै वशिष्ठ ऋषिः । यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वशिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः' (श० ८।१।१।६) इति श्रैष्ठ्ययोगेन प्राणो वसिष्ठ उक्तः । तथैव 'मनो वै भरद्वाजः' (श० ८।१।१।९), तथैव—'यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः' (श० ८।१।२।३) इति । तेन गौण्या वृत्त्यैव चक्षुषो जमदग्नित्वमुक्तम् । यथा योषाया अग्नित्वम् । न तावता प्रसिद्धजमदग्न्यादिमहर्षीणामपलापः सम्भवति । जमदग्निप्रसङ्गस्तु निरुक्ते (७।२४) इत्थं प्रतिपादितो दुर्गाचार्येण—'छन्दोभयज्ञेषु दाशरात्रिकेषु यत्सूक्तं तत्सौर्यवैश्वानरम्, तदस्यैवाग्नेः । कुतस्तत्र ह्येतद्विशिष्टं पार्थिवाग्नेर्वाचकं लिङ्गं भवति—'जमदग्निभिराहुतः' (आ० श्रौ० ८।९) इति । जमदग्नयो ह्येनमाहुतिभिर्जुह्वति नादित्यम-विधानादसम्भवाच्च । तस्मादत्रापि वैश्वानरलिङ्गं तदप्यस्य पार्थिवस्याग्नेर्व्यञ्जकं भवति ।

भाष्यसार—भाष्यार्थ सुबोध है ।

अध्यात्मपक्ष में—साधक मनुष्य भगवान् से प्रार्थना कर रहा है कि जमदग्नि आदि के समान ब्रह्मसाक्षात्कारोपयोगी बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग सर्वविध साधनयुक्त त्र्यायुष हमें प्राप्त हो । योगाभ्यास से दीर्घायुष्ट्व प्राप्त होता है ।

किसी व्याख्याकार ने आयु की पूर्णता अभिप्रेत बताई है, किन्तु वह व्याख्या ठीक नहीं है ।

'वृषा पावक दीदिहि' इति मन्त्रभागः। वृषा वर्षिता हे वैश्वानर पावक! द्युमद् दीप्तिमद् यस्त्वं जमदग्निभिराहुतः अभिहुतः स त्वमस्माकं कर्मसु नित्यं दीदिहि दीप्यस्व। के जमदग्नय इत्यत आह—नित्यं प्रजमिताग्नयः प्रभूताग्नयः प्रज्वलिताग्नयो वा। इत्येवमत्र न जमदग्निपदेन चक्षुरुच्यते, किन्तु ये प्रभूताग्नय ऋषयो ये यज्ञार्थं नित्यं प्रज्वलिताग्नयस्त एवात्र जमदग्निपदेनोच्यन्ते। तैरेवाग्नेरभिहुतत्वमपि सम्भवति। नात्र जमदग्निपदेन चक्षुषो ग्रहणं सम्भवति, तस्याहुतिकर्तृत्वासम्भवात्। तथैव कश्यपस्य प्रजापतेः कूर्मत्वोक्त्यापि न तत्स्वरूपापलापः सम्भवति। अत्रापि 'कूर्ममुपदधाति रसो वै कूर्मः' (श० ७।५।१।१) इत्यादिना कूर्मोपधानमुक्तम्। तत्रैव कूर्मस्य पृथिव्यादिलोकत्रयात्मकत्वमुक्तम्। 'तस्य यदधरं कपालम्। अयꣳ स लोकः''''यदुत्तरꣳ सा द्यौः''''यदन्तरा तदन्तरिक्षम्' (श० ७।५।१।२)। अतः कूर्मोपधानेन लोकत्रयस्योपधानं सम्पद्यते। अथ कूर्म इति नाम्नः प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति—'स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात् कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति' (श० ७।५।१।५)। एतत्कूर्मसम्बन्धिरूपात्मनः कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। असृजतेत्यस्य व्याख्यानमकरोदिति। तेन कूर्मरूपेणाकरोत्। यस्मात्तदकरोत्तस्मात् कूर्म इति नामधेयम्। करोतेरौणादिके 'इषुयुधीन्दि०' (उ० सू० १।१०) इति मक्प्रत्यये 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।१०३) इत्युत्वे 'हलि च' (पा० सू० ८।२।७७) इति दीर्घे कूर्म इति रूपं भवति। कूर्मशब्दस्य करणप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात् कश्यपस्य प्रजापतित्वेन प्रजाकारकत्वात् कश्यपः कूर्मः खलु। अत एव सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इत्याहुः। अतश्च कूर्मस्य कश्यपात्मकत्वात् कूर्मोपधानं प्रशस्तमिति निर्गलितार्थः। तेन नात्र कश्यपप्रजापतेरपलापः। परमेश्वरस्य सर्वाधिपत्वेऽपि प्रजापतिशब्देनावान्तरसृष्टिकर्तार एव विवक्ष्यन्ते। तेन मन्त्रे कश्यपप्रजापतेर्यत् त्र्यायुषं जमदग्नेऋर्षेर्यत् त्र्यायुषं तथा देवेषु यत् त्र्यायुषं तादृशं सुचरितं त्र्यायुषं ममास्त्वित्येवं प्रार्थ्यते। नात्र त्रीणि चत्वारि वा वर्षाणां शतानि प्रार्थ्यन्ते, तादृगर्थबोधने प्रमाणाभावात्, तादृशायुष्मतामदर्शनाच्च। ईश्वरस्य नित्यत्वादनन्तमेवायुर्भवति। न तस्य त्रिगुणितत्वं सम्भवति। तस्माद्यत्किञ्चिदेव तादृशं व्याख्यानम्।

अत एव 'जमदग्नेर्महर्षेर्यत्प्रमाणं त्र्यायुषं कश्यपनाम्नः प्रजापतेर्यत्प्रमाणं त्र्यायुषमिन्द्रादिदेवेषु यत्प्रमाणं त्र्यायुषं तत् तावत्प्रमाणमस्माकं यजमानसहितानां त्र्यायुषं बाल्यतारुण्यवार्धकानामायुषां पूर्णत्वमस्तु' इति यत्, तदप्यसङ्गतम्, केषाञ्चिदपि यजमानानामृत्विजां च देवप्रमाणायुष्ट्वादर्शनात्। सम्भावितमेव प्रार्थ्यते नासम्भावितम्। तस्माद्यादृशं जमदग्नेर्महर्षेस्तपोमयं सुचरितं शास्त्रसम्मतं त्र्यायुषं यादृशं च कश्यपस्य दैत्यदानवकाद्रवेयवैनतेयादिविविधप्रजावत्त्वेऽपि सहिष्णुत्व-सामरस्यसर्वहितकारित्व-ब्रह्मात्मनिष्ठत्वयुक्तं त्र्यायुषम्, यादृशं च देवेष्विन्द्रादिषु विविधैश्वर्यवत्त्वेऽपि सत्त्वमयं भगवदाश्रितं त्र्यायुषम्, तथैवास्माकमपि धर्मब्रह्मभावोपेतं शास्त्रीयसदाचारधैर्यविवेकसमत्वाद्युपेतं त्र्यायुषमस्त्वित्येव तु युक्तम्। यद्यपि मार्कण्डेयादीनां दीर्घायुष्ट्वमपि स्मर्यते, तथाप्यनेन मन्त्रेण त्रिगुणितायुःप्राप्त्यर्थं जपो विधीयत इति निर्मूलमेव, तादृग्विधानस्यादर्शनात्।

यत्तु—'पुरा भारते बभूवुस्त्रीण्यायुर्वर्धनप्रयोगभवनानि—जमदग्नेः, कश्यपस्य, इन्द्रादिदेवस्य च। प्रथमे भवने शतायुषे पुरुषाय अपरे द्वे आयुषी शतवर्षपरिमिते स्वाविष्कारप्रभावात्प्रदाय शतत्रयपरिमितजीवनं तं नरं विधातुं क्षमन्ते। तद्भवनानुगृहीता जनास्त्रीणि शतानि वर्षाणि जीवन्ति स्म। द्वितीयभवने एकमायुर्दश-

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किया है, वह भी मूर्खों के लिये व्यामोहन मात्र ही है, क्योंकि उस अर्थ के बोधक कोई शब्द यहां नहीं हैं ॥ ६२ ॥

सहस्रपरिमितं प्राकृतजनानां शतं दिनानि दशाधिकास्त्रयो मासास्तेषामेकदिनमासीत्। एकमायुर्दशसहस्रपरिमितं प्राकृतजनानां शतं दिनानि दशाधिकास्त्रयो मासास्तेषामेकं दिनमासीत्। अतस्तत्परिमाणानुरूपं तदीयं वर्षशतं प्राकृतजनानां वर्षदशसहस्रम्। तस्मात्तेष्वाश्रितं जनं त्रिंशद्वर्षपरिमितायुष्कं कर्तुं शेकिरे। तृतीये भवने मानवानां षट्त्रिंशद्वर्षसहस्रात्मकं तत्त्रिगुणितं षट्सहस्राधिकलक्षपरिमितं जायते। तदेवं तद्भुवनं प्रपन्नास्तावद्दीर्घं जीवितं समापेदिरे' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, तद्बोधकश्रुतिस्मृतिपुराणादिवचसां प्रमाणत्वेनोपस्थापयितव्यत्वात्। न चोपस्थापितम्। प्रमाणमन्तरा सुसूक्ष्मस्यापि कल्पयितुमशक्यत्वात्। तादृशानि भवनानि भारते बभूवुरिति तथ्यापेतं वचः। किञ्च, प्रकृतमन्त्रे तु प्रथमो जमदग्निर्द्वितीयः कश्यपस्तृतीयकोटौ देवाः समायान्ति। कश्यपस्तु प्रजापतिर्देवानामपि जनकत्वेन प्रसिद्धः। उपनिषत्सु देवानन्दापेक्षया प्राजापत्यानन्दस्योत्कर्ष उक्तः। इति द्वितीयापेक्षया तृतीयस्य दीर्घायुष्ट्वमसङ्गतमेव। देवानां षण्मासा दक्षिणायनं रात्रिः। षण्मासा उत्तरायणं दिनम्। कृष्णपक्षः पितॄणां दिनम्। शुक्लपक्षश्च रात्रिः।

अथ प्रसङ्गप्राप्तं कालविभागनिरूपणं प्रस्तूयते। तद्यथा मनुस्मृतौ—

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला। त्रिंशत्कला मूहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः॥ (१।६४)

अक्षिपक्ष्मणोः स्वाभाविकस्योन्मेषस्य सहकारी निमेषः। तेऽष्टादश काष्ठानाम कालः। त्रिंशच्च काष्ठाः कलासंज्ञकः कालः। त्रिंशत्कला मुहूर्ताख्यः कालः। त्रिंशन्मुहूर्तैरहोरात्रं भवति।

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके। रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः॥ (१।६५)

मानुषदैवसम्बन्धिनौ दिवसरात्रिकालौ सूर्यः पृथक्करोति। तयोर्मध्ये भूतानां स्वप्नार्थं रात्रिर्भवति, कर्मानुष्ठानार्थं चाहो भवति।

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः। कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी॥ (१।६६)

मानुषाणां मासः पितॄणामहोरात्रे भवतः। कर्मानुष्ठानाय कृष्णपक्षोऽहः। स्वापार्थं शुक्लपक्षो रात्रिः।

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः। अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम्॥ (१।६७)

मानुषाणां वर्षं देवानामहोरात्रे। तयोरप्येवं विभागः—नराणामुत्तरायणं देवानामहः, दक्षिणायनं तु रात्रिः।

ब्राह्मस्य तु क्षयाहस्य यत्प्रमाणं समासतः। एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत॥ (१।६८)

ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य प्रत्येकं युगानां कृतादीनां च यत्प्रमाणं तत्संक्षेपतः प्रवक्ष्यामि, शृणुतेत्यर्थः।

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्। तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः॥ (१।६९)

देवानां मानेन त्रिंशता अहोरात्रैर्मासः, द्वादशभिश्च मासैर्वर्षः। अर्थान्मानुषाणां त्रिंशता वर्षैर्देवानां मासः। षष्ट्युत्तरशतत्रयवर्षैश्च (३६० वर्षं) देवानां वर्षः। एतेन मानेन कृतयुगस्य चतुर्वर्षसहस्राणि, अर्थान्मानुषवर्षप्रमाणेन ४०० × ३६० = १४४००० वर्षाणि कृतयुगस्य कालः, अर्थाच्चत्वारिंशत्सहस्रोत्तरचतुर्दशलक्षवर्षाणि। तथा देवानां मानेन चतुर्वर्षशतानि, अर्थान्मानुषवर्षेण ४०० × ३६० = १४४००० सन्ध्याकालः। एतावानेव च सन्ध्यांशकालः, अर्थाच्चतुश्चत्वारिंशत्सहस्रोत्तरलक्षैकवर्षमितः सन्ध्याकालः। तावानेव सन्ध्यांशकालः।

तथा च सन्ध्यासन्ध्यांशसहितस्य कृतयुगस्य १७२८००० मानुषवर्षाणि कालः। अष्टाविंशतिसहस्रोत्तर-सप्तदशलक्षमानववर्षाणि यावत् कृतयुगस्य कालः। युगस्य पूर्वं सन्ध्याकालः, युगस्यानन्तरं सन्ध्यांशकालः। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

तत्प्रमाणैः शतैः सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते। सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि सः॥
सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तमः। युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञकः॥ इति।
(१।३।१३-१४)

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥ (१।७०)

अन्येषु त्रेता-द्वापर-कलियुगेषु सन्ध्यासन्ध्यांशसहितेषु एकहान्या सहस्राणि शतानि च भवन्ति। तथा च देववर्षाणि ३००० (अर्थात् ३०००×३६०=१०८०००० मानुषवर्षाणि) त्रेताकालः। तस्य सन्ध्याकालः ३०० दैववर्षाणि (अर्थात् ३००×३६०=१०८००० मानुषवर्षाणि), सन्ध्यांशकालश्च ३०० दैववर्षाणि (अर्थात् ३००×३६०=१०८००० मानुषवर्षाणि सम्भूय १२९६००० मानुषवर्षाणि) त्रेताकालः। द्वापरस्य च २००० दैववर्षाणि (अर्थात् २०००×३६०=७२०००० मानुषवर्षाणि) कालः। तस्य सन्ध्याकालः २०० दैववर्षाणि (अर्थात् २००×३६०=७२००० मानुषवर्षाणि), सन्ध्यांशकालश्च तावत्परिमाण एव, सम्भूय ८६४००० वर्षाणि द्वापरकालः। कलयुगस्य च १००० दैववर्षाणि (अर्थात् १०००×३६०=३६०००० मानुषवर्षाणि)। तस्य सन्ध्याकालः १०० दैववर्षाणि (अर्थात् १००×३६०=३६००० मानुषवर्षाणि), सन्ध्यांशकालश्चैतावानेव। सम्भूय ४३२००० वर्षाणि कलियुगस्य कालः। तथा च ४३२०००० वर्षाणि, विंशतिसहस्रोत्तरत्रिचत्वारिंशल्लक्षवर्षाणि चतुर्युगीसमयः।

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्। एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥ (१।७१)

यदेतच्चतुर्युगं परिसंख्यातं देवानां वर्षमानेन कृतस्य चत्वारि शतानि सन्ध्या चत्वारि शतानि सन्ध्यांशश्चत्वारि सहस्राणि कृतस्य भोगः, त्रेतायास्त्रिशती सन्ध्या त्रिशती च सन्ध्यांशस्त्रीणि सहस्राणि त्रेताया भोगः, द्वापरस्य द्वे शते सन्ध्या द्वे शते सन्ध्यांशो द्वे सहस्रे च द्वापरस्य भोगः, शतमेकं सन्ध्या शतमेकं सन्ध्यांशः सहस्रमेकं च कलेर्भोगः, तदेतत् सम्भूय देवानां मानेन द्वादशसहस्रवर्षाणि चतुर्युगीमानम्। मानुषं यच्चतुर्युगं तदेव देवानां युगमिति।

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च॥ (१।७२)

देवयुगानां सहस्रम्, अर्थान्मानुषचतुर्युगसहस्रं मानवर्षसंख्यया ४३२०००००० द्वात्रिंशत्कोट्युत्तर-चतुरर्बुदवर्षाणि यावद् ब्राह्ममेकमहः। एतावन्त्येव मानववर्षाणि यावद् रात्रिः। तदेवं ८६४००००००

चतुःषष्टिकोटयुत्तराष्टार्बुदवर्षपरिमितं ब्रह्मणोऽहोरात्रं भवति । ब्रह्मण एकस्मिन् दिने चतुर्दशमनवो व्यतियन्ति । तदेवं साग्रमेकसप्ततिर्दैवयुगमेकस्य मनोर्भोगकालः । तथा च मनुः—

यत्प्राग्द्वादशसहस्रमुदितं दैविकं युगम् । तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ (१।७९)

कृतयुगे निरुपद्रवा अरोगाश्च मनुष्या जायन्ते । तथा च मनुः—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः । कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥-(१।८३)

इत्येतान्युपरि निर्दिष्टानि मनुसंहितायाः प्रथमाध्यायगतानि प्रमाणानि ।

एवं तु ब्रह्मणो वर्षं तथा वर्षशतं भवेत् । गते वर्षशते ब्रह्मा परमात्मनि लीयते ॥ (अग्निपु०)
ब्रह्मा विष्णुदिने चैकः पतत्येवं वदन्ति ते । मनीषिणस्तथा विष्णुरहन्युग्रस्य शङ्करः ॥
ईश्वरस्य तथा चासौ स सांख्यप्रकृतेस्तथा । अतः परं परे धाम्नि कालसंख्या न विद्यते ॥

इति शब्दकल्पद्रुमे ।

चतुर्युगसहस्रेण ब्रह्मणो दिनमुच्यते । पितामहसहस्रेण विष्णोश्च घटिका स्मृता ॥
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्धं रौद्रमुच्यते । रुद्रस्यार्बुदसंख्यानां ततो ब्रह्माक्षरं भवेत् ॥

इति पञ्चाङ्गेषु । शिवमहापुराणरीत्या तु—

चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते । रात्रिश्च तावती तस्य मानमेतत् क्रमेण ह ॥
तेषां त्रिंशद्दिनैर्मासो द्वादशैस्तैश्च वत्सरः । शतवर्षप्रमाणेन ब्रह्मायुः परिकीर्तितम् ॥
ब्रह्मणो वर्षमात्रेण दिनं वैष्णवमुच्यते । सोऽपि वर्षशतं यावदात्ममानेन जीवति ॥
वैष्णवेन तु वर्षेण दिनं रौद्रं भवेद् ध्रुवम् । हरो वर्षशते याते नररूपेण संस्थितः ॥
(रुद्रसंहितासृष्टिखण्डे १०।१६-१९)

'श्रीकृष्णस्य निमेषेण ब्रह्मणः पतनं भवेत्' (१।१४।१९) इति च नारदपञ्चरात्रे ।

यद्यप्यायुर्वेदेषु तन्त्रेषु च त्रिगर्भकुटीरप्रवेशपूर्वकतत्तद्रसायनसेवनेन ब्रह्मविष्ण्वायुष्ट्वमानन्दकन्दादौ वर्णितम्, परं प्रकृतमन्त्रे तादृशी चर्चापि नास्ति ।

यदपि च—'अपि वा चतुर्थचरणस्य नः अस्माकं चतुर्वक्त्र-चतुर्भुज-पञ्चवक्त्राणां त्रि इति लुप्तषष्ठी । त्रयाणां रजःसत्त्वतमोगुणानां हरेर्ब्रह्मणः शिवस्य आयुरेव त्र्यायुषम्, स्वार्थिकोऽण्' इति, तदप्यसत्, यत्तदोः सम्बन्धविच्छेदापत्तेः, यज्जमदग्न्यादिषु त्र्यायुषं तत् त्र्यायुषं नोऽस्त्वित्यस्यैव श्लिष्टत्वात् । यथाश्रुतसमस्त-पदार्थानुपपत्तावेव त्रीत्यस्य लुप्तषष्ठीकत्वं कल्पनीयम् । न चात्रानुपपत्तिः, सायणादिरीत्याप्युपपन्नत्वात् । कथञ्चित्तदभ्युपगमेऽपि त्रयाणामित्युपस्थितत्वात् प्रथमं बाल्यादीनामेवोपस्थितिर्न गुणानाम्, तेषामप्रत्यासन्नत्वात्,

गुणानामपि स्वीकारे ततो विष्ण्वादिग्रहणे लक्षितलक्षणाप्रसङ्गात्। यदपि च—'ब्राह्माहोरात्रपरिमाणेन वर्षशतं द्विपरार्धपरिमितं यद् ब्राह्ममहस्तत्ते भूयात्' इति, तदतीव मन्दम्, त्र्यायुषमित्यसम्बद्धत्वात्।

यदपि च—'तद्यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा महर्षीणामित्यत्र ऋषिमनुष्याभ्यां सह देवस्य पाठो दृष्टः, तस्माद्यद्देवेष्वित्यस्मिन् मन्त्रे देवसहचरिता मनुष्या ऋषयश्च ग्राह्याः। तदेवं जमदग्निपदेन मनुष्यस्य कश्यपपदेन ऋषेश्चोपलक्षणान्मानुषमार्षं दैवं चतुर्थं च ब्राह्ममायुः पर्यवस्यति। आर्षं मानुषादधिकं दशसहस्रपरिमितम्। मानुषाणां शतं दिनानि ऋषीणामेकं दिनमित्युक्तमेव। युक्तं चैतद् यत्सुवर्णकारस्य प्रहरणं शतं तदेकमयस्कारस्येति न्यायेनाल्पशक्तेर्यच्छतं तत्तुल्यं बलवत एकमिति लोकप्रसिद्धेः' इति, तदपि निर्मूलमेव, यतो हीदृशेन न्यायेनायस्कारस्य स्वर्णकारापेक्षया शतगुणायुष्ट्वापत्तेः। तेन मानुषायुषापेक्षया ऋष्यायुषः शतगुणितत्वे किमप्यार्षं वचनमपेक्षितम्। तदस्ति चेदुपस्थापयितव्यम्। चतुर्थस्य ब्राह्मायुषः सत्त्वेऽपि प्रकृतमन्त्रेण तस्य कः सम्बन्धः ? तस्मात् सर्वमेतत् प्रलापमात्रमेव। भवनत्रयकल्पनमपि निर्मूलमेव, 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यन्ते सुबहून्यपि। अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो ह्यप्रमाणकः॥' (तन्त्रवार्त्तिके, २।१।२) इत्युक्तेः।

यच्च सम्प्रति तपस्यता तेन षट्पदार्थान् शिवो याचित इत्याह, अथवा युधि शौर्यानुरूपात् शिवं प्रति साक्षेपवचनान्न सोऽकुप्यदित्यत आह— नमस्कुर्वन्निति, तत्त्वसम्बद्धमेव ॥ ६२ ॥

शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः। निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥ ६३ ॥

[अस्य मन्त्रस्य स्वामिपादविरचितं भाष्यं नोपलब्धमिति तत्स्थाने उव्वट-महीधरभाष्ये दीयेते।]

उव्वटभाष्यम्

लोहक्षुरमादत्ते—शिवो नामासि। हे क्षुर! यतस्त्वं शान्तनामासि, यस्य च तव स्वधितिः पिता। स्वधितिः वज्रः। तस्मै नमः ते तुभ्यं भवतु। मा मां मा हिंसीः मा विनाशय। वपति—निवर्तयामि। निपूर्वो वपतिरिह मुण्डनार्थः। मुण्डयामि त्वाम्। आयुरर्थम्, अन्नाद्यर्थम्, धनस्य पोषार्थम्, शोभनापत्यतायै, शोभनवीर्याय च ॥ ६३ ॥

महीधरभाष्यम्

क्षुरदैवतं यजुः। 'शिवो नामेति लोहक्षुरमादाय' (का० श्रौ० ५।२।१७)। हे क्षुर! त्वं नाम नाम्ना शिवः शान्तोऽसि। स्वधितिः वज्रं ते तव पिता। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। मां मा हिंसीः। 'निवर्तयामीति वपति' (का० श्रौ० ५।२।१७)। यजमानदैवतं यजुः। निपूर्वो वृतिर्मुण्डनार्थः। हे यजमान! त्वां निवर्तयामि

मुण्डयापि। किमर्थम् ? आयुषे जीवनाय, अन्नाद्यायान्नभक्षणाय, प्रजननाय सन्तानाय, रायो धनस्य पोषाय पुष्ट्यै, सुप्रजास्त्वाय शोभनापत्यतायै, सुवीर्याय शोभनसामर्थ्याय ॥ ६३ ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—हे क्षुर ! तुम्हारा नाम 'शान्त' है। तुम्हारा पिता वज्र है। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम हिंसा मत करना। हे यजमान ! बहुत दिनों तक जीवित रहने के लिये, अन्न भक्षण करने के लिये, सन्तति के लिये, द्रव्यवृद्धि के लिये तथा उत्तम अपत्य उत्पन्न होने के लिये और उत्तम सामर्थ्य की प्राप्ति के लिये मैं तुम्हारा वपन (मुण्डन) करता हूँ। 'शिवो नामासि' इस मन्त्र से लौह क्षुर (उस्तरे) का ग्रहण करे और 'निवर्तयामि' इस मन्त्र से वपन करे ॥ ६३ ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥